हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार
उपेन्द्रनाथ अश्क
की
पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर
दो खण्डों में प्रकाशित
चुनी हुई रचनाओं
का
दूसरा खण्ड

अश्क 75

दूसरा खण्ड

(नाटक-एकांकी, आत्मकथ्य, विविध गद्य और पत्र)

पहला संस्करण
1986

मूल्य
100 रुपये

प्रकाशक
राधाकृष्ण प्रकाशन
2/38, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
कमल प्रिंटर्स
9/5866, गांधीनगर
दिल्ली-110031

—

प्रकाशकीय

14 दिसंबर 1985 को हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री उपेन्द्रनाथ अश्क ने अपने जीवन के पचहत्तर संघर्षशील वर्ष पूरे किये। लगभग साठ वर्षों में फैले अपने लम्बे साहित्यिक जीवन में अश्कजी ने उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी, कविता, संस्मरण, यात्रा-विवरण, ललित निवंध, समीक्षा आदि साहित्य की सभी विधाओं में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

अश्कजी की पचहत्तरवीं वर्षगाँठ के अवसर पर हम इन सभी विधाओं से चुनकर अश्कजी का श्रेष्ठ कृतित्व दो खंडों में प्रकाशित कर रहे हैं, ताकि पाठकों को अश्कजी के कृतित्व की एक समग्र झाँकी एक स्थान पर उपलब्ध हो सके।

अश्क 75 के पहले खण्ड में अश्कजी के बहुचर्चित उपन्यास—'पत्थर अल पत्थर'—के अलावा उनके वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' के अब तक प्रकाशित पाँच खण्डों तथा 'गर्म राख' और 'निमिषा' दो अन्य बड़े उपन्यासों के अंश संकलित हैं। साथ ही अश्कजी की चुनी हुई कहानियाँ, कविताएँ और समीक्षाएँ दी जा रही हैं।

अश्क 75 के इस दूसरे खण्ड में अश्कजी के अत्यंत लोकप्रिय नाटक—'अंजो दीदी'—के साथ उनके चुने हुए एकांकी, संस्मरण, यात्रा-विवरण, ललित निवंध, डायरी के पन्ने प्रकाशित किये जा रहे हैं। इनके अलावा अश्कजी के आत्म-कथ्य—आईने के सामने—तथा चुने हुए पत्रों के माध्यम से उनके विवादग्रस्त व्यक्तित्व को परखने का एक झरोखा भी उपलब्ध होगा।

क्रम

आत्म-कथ्य

आत्म-कथ्य

उस एक चेहरे का क्या ज़िक्र कीजियेगा 'अश्क'
अनेक चेहरों का जिस पर गुमान होता है।

आज से लगभग पच्चीस वर्ष पहले, जब 'सारिका' बंबई से प्रकाशित होती थी और मोहन राकेश उसके संपादक थे, उन्होंने 'आईने के सामने' शीर्षक से एक लेख-माला शुरू की थी, जिसमें उन्होंने विभिन्न लेखकों से उनके आत्म-कथ्य लिखवाये थे। अश्कजी ने भी इसके लिए एक आत्म-कथ्य लिखा था, जो काफ़ी कटकर छपा था। कई वर्षों तक यह लेख ऐसा-का-ऐसा अश्कजी की फ़ाइलों में रखा रहा। फिर लगभग दस साल पहले अश्कजी ने इसे उठाया और नये सिरे से लिखना शुरू किया। यही आत्म-कथ्य अश्कजी की बहुचर्चित, विवाद-ग्रस्त पुस्तक 'चेहरे : अनेक' का आधार है, जिसके प्रस्तावित दस खंडों में से अब तक चार खंड प्रकाशित हो चुके हैं।

स्व० भारत भूषण अग्रवाल ने किसी प्रसंग में अर्सा पहले खुद अश्कजी से कहा था कि—'एक अश्क में दस अश्क छिपे हैं।' मगर अश्कजी की मान्यता है कि उन्हीं पर बस नहीं, सभी लोगों के प्रकट दिखायी देने वाले चेहरों के पीछे अनेक चेहरे छिपे होते हैं, फ़र्क शायद यही है कि आम आदमी कई बार अपने उन चेहरों को नहीं देखता, नहीं जानता और न उनका विश्लेषण ही कर पाता है।

'चेहरे : अनेक' एक दृष्टि से अश्कजी की आत्म-कथा भी है और गत पचास वर्षों के साहित्यिक समाज की एक सैर-बीनी तसवीर भी, जिसमें अश्कजी ने अपने प्रकट नज़र आने वाले चेहरे के पीछे छिपे चेहरों का जायज़ा लिया है। इस प्रयास में कितने ही मित्रों के (और शत्रुओं के भी) प्रकट नज़र आने वाले चेहरों के पीछे छिपी रूपाकृतियाँ उजागर हो गयी हैं।

अश्कजी के इस औघड़ प्रयास की सबसे बड़ी विशेषता है—इसकी वस्तु-परकता। 'चेहरे : अनेक' में अश्कजी ने सिद्धहस्त यथार्थवादी कथाकार की तरह खुद को भी एक पात्र की तरह उठाकर चित्रित किया है और इसीलिए 'चेहरे : अनेक' में आत्म-कथा और जीवनी—दोनों के गुण दिखायी देते हैं।

यहाँ हम 'चेहरे : अनेक' का कोई चुना हुआ अंश देने की बजाय 'आईने के सामने' लेख-माला में प्रकाशित अश्कजी का मूल लेख ही अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, ताकि पाठक उस समग्र पृष्ठ-भूमि से परिचित हो सकें जो 'चेहरे : अनेक' का आधार है।

आईने के सामने

आईने के सामने जाना अश्क का प्रिय शग़ल है। लोग कहते हैं कि वह नारसिसस काम्प्लेक्स का शिकार है। थोड़ा-बहुत यह काम्प्लेक्स सभी में होता है। अपना चेहरा सबको अच्छा लगता है। लेकिन बात इतनी ही नहीं है। अश्क अपना वही चेहरा नही देखना चाहता, जिसे सब देखते हैं, जो कि उसे अच्छा भी लगता है। उस चेहरे के पीछे छिपे चेहरे भी वह देखना चाहता है और इसीलिए वह प्रायः आईने के सामने जाता है। वर्षों के परिश्रम और अभ्यास ने उसे ऐसी दृष्टि दे दी है जो चेहरों के पीछे झाँकने की क्षमता रखती है; और उसे अपने साधारण चेहरे के पीछे कई ऐसे चेहरे दिखायी देते हैं, जिन्हें देखकर कभी उसे हँसी आ जाती है, कभी वह काँप उठता है; कभी उदास हो जाता है और कभी अपने में अपूर्व शक्ति का आभास पाता है।

अश्क आईने के सामने जाता है तो प्रायः उसे सरकस के एक जोकर का चेहरा दिखायी देता है, जो अपना कला-कौशल और निपुणता एक लम्बी-सी टोपी, सफ़ेद और लाल रंग से पुते चेहरे और ढीले-ढाले लकीरदार कपड़ों में छिपाये रखता है और खेल दिखाने वालों को ही नहीं, देखने वालों को भी अपने मजाक का निशाना बनाया करता है। अश्क को अपना यह चेहरा ख़ूब पसंद है। जहाँ कहीं वह दिखावा और बनावट, अहंमन्यता और मूर्खता देखता है, अपने लेखक को भूलकर यह मुखौटा लगा लेता है और रस देता ही नहीं पाता भी है।...एक बार, कई वर्ष पहले, इलाहाबाद की एक स्थानीय गोष्ठी में हिंदी के एक सुप्रसिद्ध (यद्यपि किंचित कुंठित) उपन्यासकार आमंत्रित थे, जिन्होंने कभी दो-चार एकांकी और एक-आध नाटक भी लिखा था। उन दिनों अश्क ने इलाहाबाद में अपने नाटकों के प्रयोग पैलेस और लक्ष्मी टॉकीज़ के रंगमंचों पर कराये थे और चूंकि उनसे पहले उस शान से वहां केवल बंगाली नाटकों के अनुवाद ही होते थे, इसलिए अश्क के नाटकों की बड़ी धूम थी। 'नाटककार अश्क' नाम से एक वृहद ग्रंथ भी उन्हीं दिनों 'नीलाभ प्रकाशन' से छपा था। एक युवक नाटककार ने (प्रकट ही अश्क को खुश करने के लिए) कहा कि आजकल तो इलाहाबाद में

नाटककार अश्क की धूम है। तब बड़ी उपेक्षा से मुँह बिचकाकर उन्होंने कहा—'नाटककार क्या, जोकर हैं।'...अश्क पास ही खड़ा था। उनकी बात सुनकर वह मन-ही-मन हँसा, क्योंकि उनके लिए अश्क का वही चेहरा सत्य था।...

अश्क प्रायः यह चेहरा लगाता है और ऐसा करने में समय और स्थान का भी कभी ध्यान नहीं रखता। 1954 की बात है, पेप्सू के भाषा-विभाग में पटियाला में, सूचना विभाग के तत्कालीन मंत्री डॉ० केसकर की अध्यक्षता में श्री उदयशंकर भट्ट और अश्क का अभिनंदन किया। दूसरे दिन वहीं हिंदी साहित्य सम्मेलन पटियाला की ओर से दोनों कवियों के सम्मान में गार्डन पार्टी का आयोजन था, जहाँ दोनों कवियों को संस्था की ओर से मान-पत्र दिये जाने थे। चूँकि उस अवसर पर भी केसकर साहब आ रहे थे, इसलिए संयोजक महाशय मंत्री महोदय की आव-भगत में उन लोगों को बुलाना ही भूल गये, जिनके सम्मान में वह आयोजन किया जा रहा था। जब उन्हें अपनी ग़लती का एहसास हुआ तो बारहदरी भागे (जहाँ कि दोनों कवि टिके थे) और उन्हें लिवा लाये। चाय लगभग हो चुकी थी। मंत्री महोदय कुछ देर बाद आने के लिए कहकर कहीं दूसरी जगह चले गये थे। किसी तरह संयोजकों ने दोनों कवियों की मिन्नत-समाजत करके उन्हें मानपत्र दिये और चाय पिलायी। संस्था की ओर से कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम का भी आयोजन था। अश्क से कहा गया था कि कुछ स्थानीय कवि अपनी कविता पढ़ेंगे और आप तथा भट्टजी भी कुछ ज़रूर सुनाइयेगा। लेकिन डॉक्टर केसकर को चूँकि शास्त्रीय संगीत का शौक़ था, इसलिए जाने कहाँ से और जाने किस ग़रज़ से, संयोजक महोदय एक देवीजी को पकड़ लाये थे और सांस्कृतिक कार्यक्रम का समारंभ उन्हीं के शास्त्रीय संगीत से हुआ। इस उम्मीद में कि डॉ० केसकर अभी आ जायेंगे, वे आध-पौन घंटे तक राग अलापती रहीं। जब मंत्री महोदय न आये और वे थक गयीं और इस अनुरोध के बावजूद कि वे कोई दूसरा राग छेड़ें, वे टस-से-मस न हुईं तो संयोजकों को कवियों की याद आयी। उन्होंने भट्टजी से कविता सुनाने को कहा। भट्टजी ने कहा कि अश्क सुनायेंगे। अश्क अभी सोच ही रहा था कि कौन-सी कविता सुनाये कि डॉ० केसकर वापस आ गये। तब कविता-अविता की बात भूलकर संयोजक महोदय ने फिर उन देवीजी को अपना शास्त्रीय संगीत आरंभ करने के लिए कहा और (शायद उन्होंने एक ही राग पका रखा था) वे फिर वही राग अलापने लगीं, जिससे वे इतनी देर तक श्रोताओं को बोर कर चुकी थीं। जब मंत्री महोदय चले गये और संयोजकों को फिर कवियों का ख़याल आया तब अश्क ने चुपचाप यही चेहरा लगा लिया। जब उससे कविता सुनाने को कहा गया तो उसने कहा, 'कविता-अविता छोड़िये! आप पहले ही काफ़ी बोर हो चुके हैं, मैं आपको पंजाब के ख़ोंचे वालों की कुछ नकलें सुनाता हूँ।'...सभा एकदम उस गंभीर वातावरण को भूलकर, हर्ष और उल्लास से करतल-ध्वनि कर उठी। 'आ गये न अपनी औक़ात पर', अश्क के जोकर ने मन-ही-मन कहा और बड़े प्रेम भाव से नकलें सुनाने लगा।

और ऐसे दसियों मौकों पर अश्क ने यह चेहरा लगाया है। आजकल केन्द्रीय तथा प्रादेशिक राजधानियों अथवा अन्य बड़े शहरों में आला अफ़सरों, एम० एल० एओ० और मंत्रियों के यहाँ साहित्यिक गोष्ठियाँ होती हैं। दफ़्तरी ज़िंदगी अथवा राजनीति के दाँव-पेंच में उन बेचारों को चाहे साहित्य की कभी याद भी न आये, पर ये गोष्ठियाँ इसका प्रमाण अथवा विज्ञापन होती हैं कि मेजबान भी किंचित बौद्धिक स्तर रखता है और साहित्य-संस्कृति से उसका भी निकट का साथ है। फिर उन नगरों में कुछ ऐसे साहित्य-प्रेमी सेठ भी होते हैं, जो मुजरों के स्थान पर अपने यहाँ कवियों को बुलाते हैं और गोष्ठियाँ कराते हैं, जहाँ कविगण दूसरों की कविता सुनने के बदले मन-ही-मन अपनी कविता दोहराते हैं, श्रोता बिना समझे 'वाह वा' करते हैं और मेज़बान सारा वक़्त इस बात की चिंता में लगे रहते हैं कि उनके आमंत्रितों में कौन आया है, कौन नहीं। ऐसी गोष्ठियों में अश्क प्रायः यह मुखोश लगा लेता है। धीरे से वह कहता है, 'आप कहिये तो मैं आपको कुछ नकलें सुनाऊँ।' वह देखता है कि श्रोता कविता-अविता की बात भूल जाते हैं और उनके चेहरे खिल उठते हैं और तब वह घंटों उन्हें नकलें सुनाता है।

लेकिन इस मुखौटे की एक ट्रैजिडी भी है। कुछ लोग (उन उपन्यासकार ही की तरह) इसी मुखोश को अश्क का असली चेहरा समझ लेते हैं। कभी जब किसी चाय-पार्टी में अथवा पिकनिक पर वह बेहद उदास या गंभीर होता है, लोग उससे नकलें सुनाने की फ़रमाइश कर देते हैं। अश्क कभी उन्हें निराश नहीं करता। वह अपनी गंभीरता और उदासी को कहीं गहरे में डुबो देता है और लोगों का मन बहलाने लगता है।...लेकिन जब वह घर वापस आता है तो वही उदासी अपनी गहराइयों से निकलकर उसके मन-प्राण पर छा जाती है।

जोकर के इस चेहरे को देखते-देखते सहसा अश्क के सामने एक दूसरा चेहरा आ जाता है। सरकस के घेरे में जोकर को जोकर बनाने वाले उसके साथी का चेहरा, जो बड़ी सादगी से उसे ग़लत स्थितियों में डालकर न केवल दूसरों को रस देता है, वरन स्वयं भी रस पाता है। हालाँकि वह तमाशे का अंग है, पर वह तमाशाई भी है। उसके सिर पर नुकीली टोपी नहीं, न चेहरा रंगों से पुता है, न उसकी नाक पकौड़ा-सी है और न ही उसने ढीले-ढाले कपड़े पहन रखे हैं—आधुनिक ढंग के लकदक कपड़े पहने, सफ़ाई से बाल सँवारे, हाथ में एक छोटी-सी छड़ी लिए घेरे में घूमने वाले आदमी का सुंदर, सौम्य चेहरा है। लोग हँसते हैं, पर उसके होंठों पर मुस्कान भी नहीं आती। यह चेहरा अश्क के अंतर में छिपे विनोद-प्रिय तमाशाई—प्रैक्टिकल जोकर (व्यावहारिक मज़ाक करने वाले)—का चेहरा है। अश्क को अपना यह चेहरा भी पसंद है, क्योंकि उसका विश्वास है, इस तमाशाई वृत्ति के बिना मुँह में कड़वाहट भर देने वाले ज़िंदगी के इस कमर-तोड़ संघर्ष से (बिना कटु हुए अथवा हारे) पार पाना मुश्किल है। अश्क को तमाशा दिखाना ही नहीं, देखना भी पसंद है। प्रैक्टिकल जोक (व्यवहारिक मज़ाक) करने में उसे

ख़ासी सिद्धि प्राप्त है और इस सिलसिले में वह अपने मित्रों से लेकर अपने बीवी-बच्चों तक को नहीं बख़्शता ।

...अश्क को इलाहाबाद में आये कुछ ही वर्ष हुए थे। पत्नी की सहायता से उसने अपना प्रकाशन जमा लिया था और अपनी काफ़ी किताबें छाप ली थीं कि उसे एक युवक मित्र का उपन्यास पसंद आ गया और यद्यपि वे एक ऐसे ग्रुप से संबंध रखते थे, जिससे अश्क का कुछ सैद्धांतिक मतभेद था और जो अश्क के किंचित विरोधी भी थे, पर उसे रचना पसद आ गयी तो उसने अपनी पत्नी से उसे छापने की सिफ़ारिश कर दी। तभी उन मित्र के एक दूसरे मित्र ने (जिनके संबंध में प्रचारित था कि जन्मते ही वे विश्व साहित्य का सृजन करने लगे हैं।) अश्क को अपना उपन्यास छापने के लिए कहलवाया। यह भी कहलवाया कि उपन्यास बड़ा नहीं, ज़्यादा पूँजी नही लगानी पड़ेगी। अश्क ने कहा कि अच्छा होगा, तो मैं छाप दूँगा। उन्होंने उपन्यास (जो केवल बत्तीस ही फुलस्केप पृष्ठों का था; लेकिन वे उसे उपन्यास ही कहते थे।) भिजवा दिया। अश्क ने उसे पढ़ा तो उसे ख़ासा बोगस लगा। उसने प्रेस को दिखाया तो पता चला कि खुला-खुला टाइप किया हुआ है, बत्तीस ही पृष्ठों पर आयेगा। ज़्यादा होगा तो दो-चार पृष्ठ बढ़ जायेंगे। मित्र जब मिले तो अश्क ने उन्हें यही बात बता दी और कहा कि 'नीलाभ प्रकाशन' के लिए इसे पुस्तक रूप में छापना कठिन होगा। बड़े भोलेपन से उन्होंने कहा, 'मैं अमुक जी से चार डूडल्ज़ (व्यंग्य-चित्र) ला दूँगा। आप उन्हें आर्ट कार्ड पर छपवाकर लगवा दीजिये, उपन्यास मोटा हो जायेगा।'

अश्क क्या कहता। इशारा वे समझे नहीं। इसलिए उसने कहा, 'ठीक है, डूडल्ज़ ले आइयेगा, देख लेंगे।' कुछ दिनों बाद उन्होंने डूडल्ज़ भिजवा दिये। अश्क ने उन्हें सँभालकर फ़ाइल में रख दिया। फिर जब वे मिले तो अश्क ने बड़ी संजीदगी से कहा, 'मैंने उपन्यास पढ़ा है, मुझे बहुत पसंद है, पर यह बहुत छोटा है, दो-ढाई फ़ार्म में आयेगा। डूडल्ज के चार कार्ड इसे कितना मोटा बना देंगे? ढाई का न हुआ, तीन फ़ार्म का हो जायेगा, साढ़े तीन का हो जायेगा। इतनी छोटी चीज़ का छापना मुश्किल है। मैं सोचता हूँ...'

बात काटकर वे अधीरता से बोले, 'इसकी छोटाई पर न जाइये। रचना में कितनी गहराई है, इसका ख़याल कीजिये। कुछ दिन पहले मैंने 'परिमल' की गोष्ठी में पढ़ा था। सभी ने एक स्वर हो मुक्त कंठ से इसकी प्रशंसा की और अमुक जी ने (उन्होंने एक बड़े साहित्यकार का नाम लिया) तो यह कहा कि हिंदी में यह अपनी तरह की अकेली चीज़ है। इसका कहीं अंग्रेज़ी में अनुवाद हो जाये और यह बाहर छपे तो...'

अश्क ने उसी गंभीरता से कहा, 'वही मैं कहने जा रहा था। सचमुच आपने विश्व स्तर की चीज़ लिखी है, लेकिन मामूली 24-28 पौंड के काग़ज़ पर इसे छापना और एक-डेढ़ रुपया इसका मूल्य रखना इसका महत्व घटा देना है। मैंने इसे पढ़ा था तो मेरे दिमाग़ में एक स्कीम आयी थी कि इसे आर्ट-पेपर पर एक

तरफ़ छापा जाये। फिर उसे काट लिया जाये और उसी साइज़ के गत्ते कटवाकर उन पर किसी अच्छे दफ़्तरी से चस्पाँ कराया जाये। तब बत्तीस पृष्ठों की इतनी (अश्क ने दोनों हाथों से बताया कि कितनी) मोटी पुस्तक को, ख़ूबसूरत रिबनों से बाँधा जाये। बत्तीस रुपया उसकी कीमत रखी जाये और रेक्सिन के डिब्बों में बंद करके उसे बाज़ार में भेजा जाये...तब देखिये यह उपन्यास साहित्य में कैसा तहलका मचाता है'...बात करते समय अश्क की अपनी आँखें ही नहीं, उनकी आँखें भी फैलती गयीं।

अंत में अश्क ने उदास भाव से कहा, 'पर इस स्कीम के लिए बहुत पैसा चाहिए। कोई मोटा प्रकाशक ही वैसे छाप सकता है। आप अमुकजी से (उसने एक उद्यमी प्रकाशक का नाम लिया) मिलिये, उन्हें यह स्कीम बताइये। वे सहर्ष छापेंगे। इसमें आपका ही नहीं, उन्हीं का लाभ है। मैं भी उनको समझाऊँगा।'

मित्र मसौदा लेकर जो गये, आज तक नहीं आये। कभी मिलते भी हैं तो नमस्कार के रूखे आदान-प्रदान के सिवा कोई बात नही होती।

...शादी के बाद अश्क की पत्नी जब अपना सामान लेकर दिल्ली आयी तो अश्क ने उसकी कापी में कुछ छपी हुई कविताओं के तराशे (कटिंग्स) देखे। अश्क की कविताएँ तो उनमें थीं ही, लेकिन एक दूसरे कवि-मित्र की भी एक-दो कविताएँ थीं, जो बड़ी लम्बी भावुकतापूर्ण कविता लिखा करते थे और अपने को जन्मजात प्रेमी समझते थे। कुछ ही महीने बाद दिल्ली में हिंदी-उर्दू साहित्यकारों की एक बड़ी कॉनफ़रेंस हुई। वे कवि-मित्र भी उसमे सम्मिलित होने के लिए दिल्ली आ गये। शाम को अश्क के घर कुछ मित्रों का खाना था। वे भी निमंत्रित थे। खाना खाते-खिलाते रात के साढ़े दस-ग्यारह बज गये। कुछ मित्र तो चले गये, कुछ जाने को उठे, लेकिन वे प्रेमी मित्र बराबर जमे रहे। अश्क अपने इलाहाबाद के एक मित्र को (कि जिसके साथ मिलकर गप लड़ाना और छत-फाड़ ठहाके लगाना उसे प्रिय था) उनके निवास-स्थान पर छोड़ने जाना चाहता था। अश्क की पत्नी किचन का काम ख़त्म करके थकी-हारी आकर बैठी तो अश्क ने उसका परिचय देते हुए कहा, 'भाई, ये आपकी बड़ी प्रशंसिका हैं। इन्होंने आपकी कविताओं की कई कटिंग्स अपनी कापी में लगा रखी हैं। आप इनको एक-दो कविताएँ सुनाइये, मैं ज़रा इन मित्र को सब्ज़ीमंडी तक छोड़ आऊँ।'...उन्होंने जेब से लम्बी-लम्बी स्लिपें निकालीं और अश्क अपने इलाहाबादी मित्र के साथ उन्हें घर छोड़ने चला गया। लगभग बारह बजे जब वह वापस आया, तो वे प्रेमी मित्र धारा-प्रवाह कविता सुना रहे थे, पत्नी की आंखें झपी जा रही थीं और वह रोनक्की हो रही थी।...यह कहने की जरूरत नहीं कि उन कवि महोदय के लिए पत्नी के मन में जो प्रशंसा का भाव था, वह उनकी नुग़दियत को देखकर हमेशा-हमेशा के लिए ख़त्म हो गया। लेकिन इसमें भी कोई संदेह नहीं कि इस प्रैक्टिकल जोक के लिए वह अश्क को भी कभी क्षमा न कर सकी।

अपने अंदर के इस तमाशाई की प्रसन्नता के लिए अश्क ने कई बार अपना रुपया ही बर्बाद नहीं किया, अच्छे-भले मित्रों को शत्रु बना लिया है। उसने ऐसे मज़ाक किये हैं, जिन्हें उसने वर्षों तक निभाया है और जब भरम टूटा है तो दसियों गालियाँ खायी हैं, स्थायी दुश्मनियाँ मोल ली हैं और तमाशा देखते-देखते स्वयं भी तमाशा बन गया है। लेकिन उसे कुछ ऐसा रस इन व्यावहारिक मज़ाकों में मिलता है कि वह अपनी इस आदत से बाज़ नहीं आता। "I would rather lose a friend than a good joke," याने मैं एक अच्छे मज़ाक की अपेक्षा मित्र गँवाना पसंद करूँगा—किसी मसख़रे के इस कथन को अश्क ने अजाने ही अपना लिया है और परिणामतः मज़ाक तो नहीं, पर मित्र उसने ज़रूर गँवा दिये हैं।

आठ-दस वर्ष पहले उसका परिचय एक ऐसे लेखक से हुआ, जिनकी सूरत अमरीका के पहले शिक्षा प्राप्त हब्शी बुकर टी० वॉशिंगटन से मिलती थी। गठा, मझोला कद; काला रंग; चपटी नाक; मोटे-मोटे होंठ; हब्शियों के-से अति घुंघराले बाल—लगता था जैसे बुकर टी० वॉशिंगटन स्वर्ग या नरक से वापस मर्त्य-लोक में उतर आया है।—इतना ही अंतर था कि होंठों पर उनके सफ़ेदी न थी। जाने उनके पुरखे अफ़रीका से आये थे, अथवा किसी आदिवासी जाति के थे। अश्क ने यह भी सुना था कि वह नोनिया अथवा कलवार जाति से थे, पर फिर आर्यसमाजी आंदोलन के अधीन ऊँची जाति में शामिल हो गये थे, क्योंकि उन्होंने ताड़ी बेचना छोड़, चीनी बनाना और बेचना शुरू कर दिया था।...इस अनगढ़ आदिम सरापे में, जिसके तौर-तरीके और चाल-ढाल में ज़रा भी सोफ़िस्टिकेशन न थी, जाने क्या था, जिसने उन्हें लेखक बना दिया था—जाने ज़मींदारों के ज़ुल्म, जाने अपने से बड़ों द्वारा दबाये जाने से पैदा होने वाला आक्रोश अथवा प्रबल हीन-भाव या जाने आदिम मानव का हृदय, क्योंकि वे प्यार के बड़े हामी थे, अश्क को पत्थर-दिल समझते थे और अपने दुर्दमनीय प्यार के किस्से अश्क को प्रायः सुनाया करते थे। अश्क प्यार को ग़ालिब के शब्दों में दिमाग़ का ख़लल समझता है, शायद इसीलिए वे उन्हें भा गये। उनके प्यार की कहानियाँ सुनकर (जो उन्होने कभी किसी को न सुनायी थीं) अश्क को विक्टर ह्यूगो के प्रसिद्ध उपन्यास 'हंचबैक ऑफ नोत्रेदाम' के कुबड़े की याद आ जाती। वे एक पत्रिका में प्रूफ़-अरूफ़ पढ़ा करते थे और तरक्की करके संपादन में कुछ हाथ बँटाने लगे थे। सात-आठ कहानी संग्रह उनके प्रकाशित हो चुके थे, पर कहानी लेखक के नाते उन्हें कोई न जानता था। जब अश्क से उन्होंने अपनी व्यथा कही तो अश्क ने उनके नये संग्रह की भूमिका लिखी और उनकी प्रतिभा का भाला हिंदी साहित्य के वक्ष में गाड़ दिया कि लो साहित्य दादा हम तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सके, यह एक मर्दे-मैदाँ आया है तुम्हारा सुधार करने। शक्ति हो तो बचो। भूमिका पढ़कर मित्र बड़े प्रसन्न हुए और अपने दफ़्तर का वातावरण उन्हें अखरने लगा। अश्क ने उन्हें दूसरी नौकरी दिला दी और उनके एक और कहानी संग्रह के छापने की व्यवस्था

की और उन्हें प्रेमचंद और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकक्ष ला बैठाया। मित्रों ने लाख कहा कि उन दोनों महापुरुषों में से एक का असफल संपादन और दूसरे का असफल लेखन ही उन्होंने लिया है, पर अश्क ने अपना मज़ाक नहीं छोड़ा। उसने बार-बार उन्हें प्रेमचंद और आचार्य द्विवेदी का उत्तराधिकारी घोषित किया। यहाँ तक कि उन्हें स्वयं इसका विश्वास हो गया। अश्क ने उनका नेतृत्व स्वीकार कर लिया और जब वे आचार्य द्विवेदी के आसन पर बैठे अश्क को भरी मजलिस में कहते कि उसे कहानी की कोई समझ नहीं और जब वे उसे कहानी की कला और सौद्देश्यता, शहरी कहानियों की प्रतिक्रियावादिता और देहाती कहानियों की प्रगतिशीलता (कि वे स्वयं देहाती कहानियाँ लिखते थे) पर भाषण देते तो वह उन्हें कभी न टोकता, बल्कि मित्रों में इस बात की आम चर्चा करता कि कहानी के गुणों की जो समझ इस आधुनिक श्मश्रु-विहीन आचार्य द्विवेदी में है, वह किसी में नहीं। अश्क ने इस फुग्गे में इतनी हवा भरी, इतनी हवा भरी कि वह दानव-सरीखा साहित्य और पत्रकारिता के आकाश में गरजता मँडराने लगा। जाने कितनों को उसने डराया, कितनों को गरियाया और कितनों का अपमान किया, पर अश्क अपने मज़ाक से बाज नहीं आया। वह उस फुग्गे में हवा भरता गया। यहाँ तक कि एक दिन अपने में समा न पाने के कारण वह सहसा फटकर निर्जीव धरती पर आ रहा। तब उससे निकली ग़लाज़त से अश्क नख-से-शिख तक शराबोर हो गया और तमाशा देखते-देखते स्वयं तमाशा बन गया।

ऐसे में अश्क कभी आईना देखता है तो उसके सामने एक फक्कड़, मन-मौजी यारबाश आदमी का चेहरा उभरता है।...'मैं ठहरा अव्वल दर्जे का फक्कड़', या 'हम तो यार, फक्कड़ आदमी हैं'...यह उसका तकिया कलाम रहा है। अश्क की फक्कड़ता और मन-मौजीपन में किसी को संदेह नहीं—उसकी पत्नी, उसके बच्चों, अथवा उसके मित्रों को।...लेकिन अश्क जानता है कि यह उसका असली चेहरा नहीं है। यह उसने अपने पिता से उधार अथवा यों कहें कि उत्तराधिकार में ले लिया है। जब वह आईने में अपना यह चेहरा देखता है तो उसके सामने गले में कॉलर विहीन कमीज़ पहने, कमर में तहमद लगाये, बगल में पगड़ी दबाये एक गठे, मजबूत बदन के व्यक्ति का, नुकीली नींबू-टिकाऊ मूँछों वाला, गोल, रौबीला चेहरा घूम जाता है—क्षण में जीने वाले, प्लानिंग से कोसों दूर भागने वाले, 'कौड़ी न रख कफ़न के लिए' में परम विश्वास रखने और घर फूँक तमाशा देखने वाले परम फक्कड़ और मनमौजी आदमी का चेहरा—यह अश्क के पिता का चेहरा है और उसके लिए यह हमेशा आदर्श रहा है। उसने इस चेहरे के कई कोण अपने उपन्यासों में उभारे हैं, पर वह जानता है कि वह कभी इस चेहरे के साथ पूरा न्याय नहीं कर सकेगा। वह यह भी जानता है कि वह स्वयं भी कभी उस आदर्श पर नहीं पहुँच पायेगा और न ही क्षण में जीने के उस दर्शन को अपना पायेगा।

और तभी अश्क के सामने एक ऐसा चेहरा आता है जो बचपन ही में बूढ़ा हो गया है, ज़िंदगी के अधिकांश राज़ जिस पर लड़कपन ही में प्रकट हो गये हैं और जिसने उस छोटी उम्र ही में पूरी-की-पूरी ज़िंदगी की योजनाएँ बना डाली हैं।—बारह-तेरह बरस के एक पतले-दुबले, मरियल, बीमार लड़के का चेहरा, जो अपने परिवार के साथ लोहे की कुर्सी पर फोटो खिंचवाने के लिए अकड़ा बैठा है। चूँकि उसके पैर ज़मीन तक नहीं पहुँचते, इसलिए दोनों पैर मिलाकर उनके पंजे उसने ज़मीन से लगा रखे हैं और उटंग पायजामा, क़मीज़ और गबरून का कोट पहने तन कर कुर्सी पर बैठा है। चेहरे पर यतीमी बरस रही है, लेकिन सिर पर उसने लटकेदार पगड़ी बाँध रखी है, ऊपर से उसका शिमला आगे कर रखा है और अपने-आपको यूसुफ़ से कम सुंदर नहीं समझ रहा।

अपने लड़कपन का यह चित्र अश्क के सामने बार-बार आता है। दुसूआ के स्टेशन पर उसके पिता ने सभी बेटों के साथ यह चित्र खिंचवाया था। पास के क़स्बे 'गढ़ दीवाला' से फ़ोटोग्राफ़र आया था। उसने जो चित्र लिया, उसमें सिवा पिता के, शेष सब भाइयों के चित्रों में कुछ-न-कुछ दोष रह गया। बड़े भाई की (जो बड़ी शान से तलवार की तरह छड़ी हाथ में लिये बैठे थे) एक आँख ही न जाने कैसे गायब हो गयी थी।

अश्क को अपना यह चित्र देखकर बड़ी निराशा हुई थी। उसके यतीम चेहरे पर वह लटकेदार पगड़ी, ज़मीन से लगे हुए उसके नंगे पैर, लोहे की कुर्सी पर उसका वह तनकर बैठना—सब कुछ ऐसा हास्यापद लग रहा था कि भाइयों ने चित्र को देखकर इतने व्यंग्य किये थे कि उसकी आँखों से आँसू आ गये थे और मन-ही-मन बीस गालियाँ उसने गढ़ दीवाला के उस महान फ़ोटोग्राफ़र को दी थीं। अश्क लड़कपन में अत्यंत गंभीर, भावप्रवण, चिड़चिड़ा और जल्दी बुरा मान जाने वाला छात्र था। उसके भाइयों को जब उसे चिढ़ाना होता, वे उस फोटो को निकाल लाते और तरह-तरह की फब्तियाँ कसकर उसका मज़ाक उड़ाते। उस चित्र को लेकर न जाने भाइयों ने कितना चिढ़ाया और कितनी बार वह उनसे लड़ा। लेकिन कॉलेज में दाख़िल होते ही अश्क ने अपना चोला बदल लिया। वह बाक़ायदा कसरत करने लगा। उसका पतला-दुबला शरीर गठ गया। वह थर्ड ईयर में था कि कॉलेज के एक प्रसिद्ध गुंडे से उसकी लड़ाई हो गयी। अश्क ने उसे पीट दिया। इस घटना ने न केवल उसके जीवन, बल्कि उसके स्वभाव को भी बदल दिया। अपार आत्म-विश्वास उसमें पैदा हो गया। कॉलेज की वाद-विवाद प्रतियोगिताओं और नाटकों में वह भाग लेने लगा। जहाँ वह बात-बात पर चिढ़ता था, वहीं दूसरों को चिढ़ाने लगा। फिर जब उसके बड़े भाई ने वही फ़ोटो निकाला तो अश्क ने न केवल अपना मज़ाक उड़ाया, वरन बड़े भाई की तलवार मार्का छड़ी और गायब हो जाने वाली आँख पर भी व्यंग्य किये। जब उसने दो-तीन बार ऐसा किया तो एक दिन बड़े भाई ने चिढ़कर फ़ोटो की तीनों कापियाँ फाड़-कर चूल्हे में झोंक दीं।...अश्क को उस फोटो के नष्ट हो जाने का बड़ा दुःख

है, क्योंकि उसका ख़याल है कि उस फ़ोटो को देखकर उसे अपनी हक़ीक़त मालूम हो जाती थी और वह घंटों हँस-हँसा सकता था।

अश्क अपने ऊपर हँसना सीख गया है, दूसरों पर हँसना सीख गया है, अपने पिता के अनुकरण में फक्कड़, मनमौजी और यार-बाश और घर-फूँक-तमाश-देखने-वाला बन गया है, उसका चेहरा भर गया है और वहाँ ढूँढ़े से भी उस यातीमी का आभास नहीं मिलता, लेकिन अंतर में वह अब भी कहीं वही पतला-दुबला, अकेला, माता-पिता के रहते भी यतीम, अत्यधिक भावप्रवण, हस्सास, ज़ूदरंज लड़का है, जो अपने साथ किये गये ज़रा-से अपमान को भी न भूल पाता था; जो उसका बदला लेने की लम्बी स्कीमें बनाता था; जिसने अपने भाइयों, हमजोलियों, अपने से आगे रहने वाले समकक्षों को पीछे छोड़ जाने की ही प्रतिज्ञाएँ नहीं कीं, वरन जो लड़कपन ही में प्रौढ़ों की तरह सोचना सीख गया। जिसने अपने पिता से चाणक्य की नीति-कुशलता की बातें सुनकर दुनिया से लोहा लेने के लिए उस महर्षि को मन-ही-मन अपना गुरु मान लिया।

अश्क आईने में अपने इस चेहरे को देखता है तो सहसा काँप जाता है। उसके सामने नंगे शरीर पर केवल एक धोती और यज्ञोपवीत पहने, काला भुजंग ब्राह्मण युवक आता है, जो कुश की पैनी घास से पैर का अँगूठा कट जाने पर उसकी जड़ों में मठा डालकर उसे जला रहा है, महानंद की सभा में अपमानित होने पर चुटिया को खोलकर प्रतिज्ञा कर रहा है कि उस महापापी के रक्त ही से वह चुटिया को बाँधेगा।...अश्क को किसी महानंद से अपने अपमान का बदला लेने की नौबत नहीं आयी। (यद्यपि उसे विश्वास है कि यदि वह राजनीति में होता और महानंद जैसे किसी शक्तिशाली से उसे जूझना पड़ता तो वह असफल न रहता।) लेकिन अपने क्षेत्र में उसने कभी अपमान को मौन रूप से सहन नहीं किया और अपमान करने वाले को सदा उतनी ही तकलीफ़ पहुँचा दी है, जितनी कि उसे उससे पहुँची थी।

अपने इस चेहरे को देखते ही उसके सामने एक लम्बी दाढ़ी और बड़ी-बड़ी आँखों वाला गोरा-गोरा चेहरा आ जाता है—ओरिएंटल कॉलेज, लाहौर के एक सिक्ख प्रोफ़ेसर का चेहरा। अश्क जिस ज़माने में 'वंदे मातरम' लाहौर में चालीस रुपये पाता था, बड़ी ग़रीबी में उसके दिन कटते थे और वह प्रायः खादी की कमीज़-तहमद पहने, चप्पल फटफटाता घूमा करता था, उसके सामने अपने तीसरे कहानी-संग्रह की भूमिका लिखवाने की समस्या पैदा हुई। उसके दूसरे कहानी-संग्रह की संक्षिप्त-सी भूमिका प्रेमचंद लिख चुके थे। लेकिन चूँकि उस संग्रह की कहानियाँ कुछ भिन्न थीं, इसलिए अश्क उन पर किसी अधिकारी आलोचक द्वारा विस्तृत भूमिका चाहता था और एक दिन वह अपनी कहानियों का मसौदा लेकर उन प्रोफ़ेसर साहब की ख़िदमत में जा पहुँचा। वे उर्दू-फ़ारसी के एम० ए० थे।

कुछ शेर भी कहते थे, 'दीवाना' तख़ल्लुस रखते थे, लेकिन शेरों से ज़्यादा उस ज़माने में उनकी आलोचनाओं की धूम थी। उनका थीसिस शान से छपा था और वे प्रसिद्ध आलोचक थे। उन्होंने उसी ज़माने में दूसरी शादी की थी और बात-बात में अपनी पत्नी के साहित्य-प्रेम का उल्लेख किया करते थे।...अश्क को डेवढ़ी ही में रोककर (कि ड्राइंग रूम में बैठाने लायक कपड़ों में वह कभी न होता था) उन्होंने उससे मसौदा ले लिया, और अपनी पत्नी के साहित्य-प्रेम का ज़िक्र किया और कहा कि वे उन कहानियों को शौक से पढ़ेंगी और वचन दिया कि वे जल्दी ही भूमिका लिख देंगे।

अश्क अपने दफ़्तर के निकट ही चंगड़ मुहल्ले की एक कोठरी में रहता था। प्रोफ़ेसर साहब का घर उसके घर से डेढ़-दो मील दूर था। अश्क चौथे-पाँचवें चप्पल फटफटाता, पैदल ही वहाँ जाता, प्रोफ़ेसर साहब कभी उसे दहलीज़ ही से लौटा देते और कभी खिड़की ही से झाँककर वापस कर देते। जाने छह महीने में अश्क ने कितने चक्कर उनके घर के लगाये। तब एक दिन जब वह उनके यहाँ गया तो वे मसौदा लिए नीचे डेवढ़ी में आये और उन्होंने कहा कि उनकी पत्नी ने कहानियाँ पढ़ी हैं, इन पर भूमिका-लेखक के रूप में अपना नाम देना उनके लिए मुश्किल है। अश्क का चेहरा उतर गया। होठों ही में उसने कहा कि उसकी कहानियों को तो प्रेमचंद ने पसंद किया है और उनकी भूमिका लिखी है।...'प्रेमचंद को कहानी की क्या समझ है ?' प्रोफ़ेसर साहब ने उपेक्षा से कहा और पलटकर अंदर चले गये।

अश्क अपनी कहानियों का मसौदा लिए, मन-मन भर के पैर उठाता प्रबल आक्रोश से खौलता हुआ वापस फिरा। उसे इस बात का दुख न था कि प्रोफ़ेसर साहब ने भूमिका नही लिखी। उसे दुख था कि उन्होने उससे उतने चक्कर क्यों लगवाये और उर्दू के सबसे बड़े कहानीकार के बारे में यह क्यों कहा कि उसे अफ़साने की समझ नहीं।...क्रोध के मारे वह लगभग अंधों की तरह चलता हुआ घर आया...लेकिन वह क्या करता ? वह घाटे में चलने वाले एक दैनिक का जूनियर ट्रांसलेटर (जो अपने आपको जूनियर एडीटर कहता था) और वे ओरिएंटल कॉलेज के प्रोफ़ेसर, डबल एम० ए० और प्रसिद्ध आलोचक।...अश्क ने उस अपमान को मन में कहीं गहरे उतार लिया। उसने डिस्टिंक्शन से लॉ किया। उसकी कहानियाँ सभी प्रसिद्ध उर्दू मासिकों में छपने लगीं। उसके दो-तीन कहानी-संग्रह बड़ी सज-धज से निकले (जिनकी एक-एक प्रति वह उन प्रोफ़ेसर महोदय को भेंट करना नहीं भूला) प्रांत का वह प्रमुख कहानी-लेखक समझा जाने लगा। उसके डॉक्टर भाई की दुकान चल निकली। चंगड़ मुहल्ले को छोड़कर वह अनारकली के पीछे माहीराम स्ट्रीट में उठ आया। एक दिन वह पुरानी अनारकली में एक धुनिये की दुकान के निकट लिहाफ़ में रुई भरे जाने की प्रतीक्षा कर रहा था कि किसी ने उसे पीछे से बाँह में भर लिया—वही प्रोफ़ेसर साहब...उसने उनकी बाँह में भिचे-भिचे उन्हें 'सत श्री अकाल' कहा। प्रोफ़ेसर साहब ने उसे

अपनी नज़्मों का ताज़ा छपा संग्रह दिखाया और बोले कि लोगों का ख़याल है, 'इक़बाल' पर उर्दू शायरी ख़त्म हो गयी, वे उनकी चीज़ें पढ़ेंगे तो उन्हें मालूम होगा कि 'दीवाना' 'इक़बाल' से कितना आगे है?...'क्यों नहीं, क्यों नहीं!' अश्क ने मन-ही-मन हँसते हुए, पर उन पर से एकदम गंभीर बने रहकर अपना रद्दा जमाया, 'अदब किसी के बाप की मीरास नहीं। अगर 'ग़ालिब' के बाद 'इक़बाल' पैदा हो सकता है तो फिर 'इक़बाल' के बाद 'दीवाना' क्यों नहीं पैदा हो सकता?'

प्रोफ़ेसर साहब खुश हो गये। बातों-बातों में उन्होंने अपना मंतव्य प्रकट किया कि वे चाहते हैं कोई मित्र 'इक़बाल' की कविताओं के साथ उनके संग्रह की तुलना करते हुए लेख लिखे। अश्क ने कहा कि यह काम वह सहर्ष कर देगा, प्रोफ़ेसर साहब इतना कष्ट करें कि कुछ सामग्री उसे जुटा दें। उन्होंने परम प्रसन्न होकर उसे बग़ल में भींचते हुए कहा कि वे दूसरे दिन ही पर्याप्त सामग्री उसे भिजवा देंगे।

अश्क का घर ओरिएंटल कॉलेज के रास्ते ही में पड़ता था। दूसरे ही दिन प्रोफ़ेसर साहब अपने संग्रह की एक प्रति (जिस पर अभी रैपर भी नहीं चढ़ा था) और 'इक़बाल' पर कुछ सामग्री उसे दे गये। उनके पीठ मोड़ते ही अश्क ने वह किताब और सामग्री कोने में फेंक दी—'साला इक़बाल का!'—उसने मन-ही-मन कहा और काम में रत हो गया।...प्रोफ़ेसर साहब हर छठे-सातवें दिन कॉलेज को जाते अथवा वहाँ से आते हुए उसके घर का फेरा डालने लगे। बहुत दिनों तक तो अश्क यही कहता रहा कि वह सामग्री का अध्ययन कर रहा है। फिर उसने यह कहना शुरू किया कि अब उसने 'बाँगे दरा' और 'बाले-जबरील'—इक़बाल के कविता-संग्रहों—का गहरा अध्ययन शुरू किया है ताकि वह कोई मौलिक बात लिख सके...फिर वह प्रोफ़ेसर साहब के आने-जाने के समय पर घर से ग़ायब रहने लगा। कभी वह बाहर चला जाता और कभी कमरा बंद करके ऊपर चला जाता और भाभी से कहलवा देता कि वह घर पर नहीं है। लेकिन जब वह कहीं किसी गोष्ठी आदि में उनसे मिलता तो उन्हें आस बँधा देता कि उसने खूब मसाला तैयार कर लिया है और वह लिखना शुरू करने ही वाला है। इस बीच में वह एक दिन उर्दू के प्रसिद्ध व्यंग्यकार चिराग़ हसन 'हसरत' से मिला, जो उन दिनों लाहौर से एक व्यंग्य-पत्रिका निकालते थे। बातों-बातों में उसने 'दीवाना' साहब के संग्रह का ज़िक्र किया और कहा कि 'दीवाना' साहब समझते हैं, वे 'इक़बाल' को कहीं पीछे छोड़ गये हैं। और जैसा कि अश्क का ख़याल था दूसरे ही अंक में चिराग़ हसन 'हसरत' ने अपनी व्यंग्य-भरी शैली में (जो उन्हीं की विशेषता थी) 'दीवाना' साहब की बेहद गत बनायी। अश्क ने वह लेख पढ़ा तो उस दिन से वह स्वयं दीवाना साहब की प्रतीक्षा में नीचे बैठक में आकर बैठने लगा। कुछ दिन बाद एक सुबह कॉलेज को जाते हुए उन्होंने नीचे गली से आवाज़ दी। अश्क ने ऊपर से झाँका तो उन्होंने शिकायत की कि वह तो उसका संग्रह

लेकर सो ही गया है। तव अश्क ने चिराग़ हसन 'हसरत' के लेख का ज़िक्र किया और कहा कि उस लेख के वाद वह उनके संग्रह से साथ कैसे अपना नाम जोड़ सकता है ?

'ठीक है, ठीक है', प्रोफ़ेसर साहव ने वहीं से लाल होते हुए कहा, 'तुम वो रिसाले (पत्रिकाएँ) लौटा दो।'

और अश्क ने कोने से सब पत्रिकाएँ उठाकर एक-एक करके वहीं से नीचे फेंक दीं।...ऊपर से गिरती पत्रिकाओं को दवोचते हुए प्रोफ़ेसर साहव के चेहरे पर जो भाव आया—जो क्रोध-मिली दयनीयता, वह अश्क के सीने में दूर तक उतर गयी। मुड़कर वह कुर्सी पर वैठा तो उनकी वह खिसियानी दयनीयता वार-वार उसकी आँखों में आने लगी और वर्षों से संचित क्रोध का ज्वार चुक जाने पर कुछ अजीव-सी—कीचड़ मिली रेत सरीखी—थकन उसके मन-प्राण पर छा गयी। अपनी इस नीचता पर उसे बड़ा दुख हुआ।...अगर वह नीचे जाकर उन्हें पत्रिकाएँ लौटा आता तो क्या वही वात न होती ? लेकिन अजीब वात यह है कि उस खेद के वावजूद अपने इस कुकृत्य पर उसे अजीव-सी राहत भी मिली।

और पिछले तीस वर्षों से अश्क को इन दोनों भावों का एहसास वार-वार हुआ है। जाने उसने कितनी पीड़ा पायी और कितनी पहुँचायी है और घाते में कितनी यातना सही है। क्योंकि जो आदमी मन में कीना (विद्वेष) रखता है, वह उतनी देर तक यातना सहता है जब तक कि उसे निकाल नहीं देता और सच्ची बात यह है कि कीना निकालकर भी उसे सुख नहीं मिलता। अपनी मूर्खता में अजाने दुःख पहुँचाने वाला यातना नहीं पाता, लेकिन जान-वूझकर ऐसा करने वाला उसकी तुलना में कहीं अधिक यातना सहता है, जितनी कि वह दूसरे को देता है। विडंबना यह है कि अपने अहं में आदमी यह सव नहीं सोचता और यातना भोगता रहता है...और अश्क भी शायद ज़िंदगी भर तक यही करता—स्वयं पीड़ा सहता, दूसरों को देता और वदले में अपनी नज़रों में आप गिरता, लेकिन अपनी यह आदत छोड़ न पाता—यदि कुछ ही वर्ष पहले वावू शिवपूजन सहाय ने ऐसे ही एक अवसर पर अचानक उसे, तत्काल मन में पैठ जाने वाले शब्दों में, उसकी ग़लती न सुझायी होती।

...1956-57 की वात है। इलाहावाद के कुछ प्रगतिशील मित्रों ने अश्क दम्पति के विरुद्ध दुनिया-जहान का झूठ प्रचारित करना शुरू कर दिया था और अश्क चुन-चुनकर सवसे हिसाव चुका रहा था कि सहसा पटना के एक मित्र ने एक निहायत ही ज़लील नोट अश्क की वीवी के वारे में अपनी पत्रिका में लिखा। अश्क से उन मित्र का परिचय लाहौर का था। कुछ वर्ष पहले जव पटना में सहसा उनसे भेंट हो गयी तो पुराने परिचय का तार उन्होंने फिर से जोड़ लिया था, अश्क ने तभी अपनी दो-एक पुस्तकें भी उन्हें भेंट दीं। इधर कुछ वर्षों में उन्होंने अपनी तथा अपने गुट वाले कुछ कवियों की आठ-आठ आने, रुपये-रुपये की पुस्तकें छापी

थीं और जब 1954 या '55 में वे अपने मित्रों सहित उसे सहसा श्रीनगर में मिल गये तो उन्होंने उन पुस्तकों का एक सैट अश्क को सस्नेह भेंट किया था और बदले में अश्क का पूरा सैट माँगा था। अब अश्क की चालीस-पैंतालीस पुस्तकें। अपनी पुस्तक भेंट करने वाले हर मित्र को यदि वह अपना सैट देने लगे तो उसकी पुस्तकों का पूरा संस्करण ऐसे ही निकल जाये। सो उसने अपनी प्रकाशक पत्नी का नाम लेकर टाल दिया। लेकिन मित्र महज़ कवि ही न थे, एक मासिक भी निकालते थे और हर महीने किसी-न-किसी लेखक की 'पोल' भी उसमें खोला करते थे। सो उन्होंने इलाहाबाद के उस झगड़े का लाभ उठाकर अश्क को तीन शादियों के संदर्भ में, दशरथ और कौशल्या का उल्लेख करते हुए, अश्क पर कम और कौशल्या पर ज़्यादा कीचड़ उछाला (कुछ इसलिए भी इलाहाबाद के मित्र उसी से ज़्यादा नाराज़ थे) और लिखा कि उसने 'अमुक' लेखक से केवल जल-पान करा के उपन्यास लिखा लिया है। अब हक़ीक़त यह थी कि 'अमुक लेखकजी' अश्क के घर मेहमान बनकर आये, पठान बनकर दो महीने रहे, जितना पैसा उन्हें लेना था, उससे चौगुना ले गये और घाते में अश्क के यहाँ काम करने वाली एक लड़की के चक्कर में फँसकर मेज़बान की बीवी को गालियाँ भी दे गये। लेख पढ़कर अश्क का ख़ून खौल गया। उसने तय किया कि वह पटना जायेगा, वहीं रहेगा और वहीं उन मित्र से सुलटेगा। वह पटना पहुँचा। एक मीटिंग में उसने उन्हें ख़ासा कोंचा। वहाँ से उठकर वह बाबू शिवपूजन सहाय से मिलने गया और जैसा कि उसकी आदत है, उसने सविस्तार उस झगड़े का उल्लेख किया और कहा कि वह पटना इसीलिए आया है कि उन्हें उनकी बदतमीज़ी का मज़ा चखाये और वह तब तक वहीं रहेगा, जब तक उनसे उस कमीनगी का बदला न ले ले।

शिव पूजन बाबू पाँव कुर्सी पर रखे हुए, पीछे टेक लगाये बैठे थे। उन्होंने बड़े धीमे स्वर में, बड़ी आत्मीयता से अश्क को समझाया कि उसे हर किसी की बात को यों दिल में न लगाना चाहिए। 'बाज़ार में यदि कोई रिक्शे वाला आपसे झगड़े या गाली दे दे (कि वह उसके लिए स्वाभाविक है) तो क्या आप उससे लड़ेंगे। आप अब प्रौढ़ हो गये हैं, आपका इतना नाम है। आपको अपने से छोटे लोगों के मुँह आकर दुखी न होना चाहिए।'

और जाने कैसे, यह बात न केवल अश्क के मन में पैठ गयी, बल्कि उसके सोचने की धारा भी बदल गयी। उसके बारे में प्रसिद्ध है कि यदि कोई उसके विरुद्ध लिखता है तो वह अवश्य उसका उत्तर देता है। लेकिन यद्यपि अपनी आदत को एकदम छोड़ देना अश्क के लिए कठिन था, तो भी उस दिन के बाद अश्क हमेशा यह देखने लगा कि उसका विरोधी उसके बराबर का है या नहीं और बहुत-सी बातों को, जो पहले उसकी रातों की नींद हराम कर देतीं, वह अनायास नज़र-अंदाज़ करने लगा। इधर हिंदी के एक घटिया प्रगतिशील साहित्यकार ने अश्क से नाराज़ होकर उसके साहित्यकार को कोई नुक़सान न पहुँचा सकने की असमर्थता के कारण अपनी एक पुस्तक में उसके और उसकी पत्नी के चरित्र पर ओछे हमले

किये हैं और अपने देहाती शब्द-कोश की सारी गालियाँ अपनी इस उपन्यास कही जाने वाली पुस्तक में भर दी हैं और जो लोग अश्क की प्रतिशोध-प्रियता को जानते हैं, उन्हें यह देखकर हैरत हुई है कि अश्क ने उनके इस भागीरथ प्रयत्न का कोई नोटिस ही नहीं लिया। मन में कभी प्रतिशोध की भावना आती भी है तो उसके कानों में बाबू शिवपूजन सहाय के शब्द गूँज जाते हैं।

उन अपमानों ने, जो अपने साहित्यिक जीवन के आरंभ में उसे अपने से उम्र में बड़े साहित्यिकों अथवा आलोचकों के हाथों सहने पड़े हैं, अश्क को इतना सतर्क बना दिया है कि नये युवा लेखकों के साथ अपने व्यवहार में यथा-शक्य वह किसी ऐसी बात को नहीं आने देता, जिससे उन्हें दुख: पहुँचे अथवा वे अपमानित महसूस करें। यही कारण है कि वह किसी तरह का साहित्यिक पोज़ नहीं बनाता। खुलकर मिलता है, खुले दिल से बात करता है। कोई चाहे तो खुले दिल से परामर्श देता है; किसी का कोई काम न करना चाहे तो भी बिना लाग-लपेट के अपनी विवशता समझा देता है और इसीलिए उससे मिलने वालों को अपनत्व का एहसास होता है।...कई बार उसे घर से डाँट सुननी पड़ती है कि वह कितना ही कीमती वक्त लौंड़े-लपाड़ों के साथ गप्पों में गुज़ार देता है...तब अश्क को अपनी वही यतीम सूरत और प्रोफ़ेसर 'दीवाना' का व्यवहार याद हो आता है और वह कहता है—'कौन जाने, इनमें से कौन बड़ा साहित्यकार बन जाये। महानता किसी के चेहरे पर थोड़े ही लिखी है। मुझे किसी का दिल दुखाने या अपमान करने का क्या अधिकार है?'...

लेकिन अश्क की पत्नी का कहना है कि यह सब उसका ढोंग है। वास्तव में उसे बातें करने का मरज़ है...बातें...बातें...बातें...कोई उसके चंगुल में फँस जाता है तो वह अपना काम-वाम भूलकर उससे गप्पें लगाने लगता है और अपना ही नहीं, दूसरों का वक्त भी बर्बाद कर देता है। अश्क इस बात से इनकार नहीं करता। दिनों, हफ्तों, महीनों वह लगातार लिखता-पढ़ता है। महीनों सिनेमा नहीं देखता, कोई खेल नहीं खेलता, ताश-शतरंज से उसे नफ़रत है और दूसरा कोई शौक उसे है नहीं, इसलिए जब कोई मित्र या परिचित (या अपरिचित) आ जाता है तो सब कुछ भूलकर वह गप्पें लगाने लगता है। उसका भूतपूर्व सहयोगी सुरेंद्रपाल इन गप्पों को टॉनिक का नाम देता है और अश्क उससे पूर्णतः सहमत है, क्योंकि गप लगाकर वह स्वस्थ मन से फिर काम में जुट जाता है। लेकिन इधर अपनी पत्नी की लगातार आलोचना से वह अपने इस दोष के प्रति सजग हो गया है और इस बात की कोशिश करता है कि वह व्यर्थ की बातों में अपनी पत्नी के कथनानुसार शक्ति और समय का अपव्यय न करे। लेकिन इस प्रयास में वह कई बार अनचाहे भी रूखा व्यवहार कर जाता है, जिसका प्रभाव एकदम उल्टा पड़ता है और मिलने वाले को कष्ट पहुँच जाता है।

अश्क को बातें करने का रोग है। ज़्यादा बातें करने वाले में एक दोष यह होता है कि वह कई बार ग़ैर-ज़िम्मेदारी की बातें कर जाता है और अपने तमाम अनुभव; आत्मालोचना और ग्रहणशीलता के बावजूद अश्क इस दोष से मुक्त नहीं हो पाया। विनोद-वृत्ति उसमें बेहद है और कई बार वह बिना सोचे-समझे ऐसी बात कर जाता है, जो दूसरे के मन को साल जाती है। एक बार इस ग़ैर-ज़िम्मेदारी से बात करने के कारण उसने मंटो को बिन देखे, बिना ज़्यादा पढ़े—उसकी केवल एक कहानी देखकर—कह दिया कि वह दो कौड़ी का लेखक है और इसका 'सुफल' उसे वर्षों भुगतना पड़ा। फिर अपनी विनोद-वृत्ति के कारण कुछ ही वर्ष पहले उसने एक युवा लेखक को (और यह अकेली मिसाल नहीं) ऐसी बात कह दी कि वे सख़्त नाराज़ हो गये और अश्क को उनके हाथों ख़ासी कटु आलोचना का सामना करना पड़ा।

लेकिन इस किस्से की एक भूमिका है—कुछ वर्ष पहले दिल्ली के एक नये कवि अश्क को ख़्वाह-म-ख़्वाह परेशान करने लगे। अश्क ने उन्हें कोई नुकसान न पहुँचाया था। उनकी कहीं निंदा नहीं की थी। उन पर कोई फब्ती नहीं कसी थी। उसने तो बल्कि 'संकेत' में विशेष कवि के रूप में उन्हें हिंदी पाठकों के सामने रखा था और उनकी अनगढ़, बेतरतीब कविता को तरतीब देकर, काट-छाँट-सँवारकर, ठीक करके छापा था और वह कविता इतनी पसंद की गयी थी कि उन्होंने अपने संग्रह का नाम भी उसी के नाम पर रखा और उसकी प्रति अश्क को भेंट करते हुए आभार प्रकट किया। हुआ सिर्फ यह, कि इस बीच अश्क के एक पुराने मित्र ने दिल्ली से एक पत्रिका निकाली और उन्हें सहकारी के तौर पर रख लिया। दुर्भाग्य से अश्क के ये मित्र उससे किसी बात पर नाराज़ हो गये। अपने सीनियर एडीटर को खुश करने के लिए ये जूनियर एडीटर अश्क को परेशान करने लगे। अश्क जब भी दिल्ली जाता, अपने उन मित्र के यहाँ ज़रूर हाज़िरी देता। वे तो मौना-वतार बने बैठे रहते। अश्क की किसी फब्ती अथवा मज़ाक का जवाब न देते, लेकिन यह छुटके भैया अश्क पर लगातार व्यंग्य कसा करते। अश्क की उन कहा-नियों में, जिनकी कभी उन्होंने प्रशंसा की थी, उन्हें दोष दिखायी देने लगे। उसकी सत्तर कहानियों का संग्रह, जो उन्हीं दिनों छपा था, उन्हें हिंदी-साहित्य के साथ मज़ाक लगने लगा। अश्क उनकी किसी बात का कभी जवाब न देता। छोटा-सा उनका क़द, छोटी उमर—उसे वह बच्चे ऐसे लगते। जैसे गोद में बैठा बच्चा दाढ़ी नोचता रहता है और बुज़ुर्ग परवा नहीं करता, वैसे ही अश्क उनकी किसी बात को ख़ातिर में न लाता। एक बार अश्क शाम को टी-हाउस के सामने से निकला जा रहा था कि वे अंदर से लपकते हुए आये और उन्होंने अश्क से कहा कि बड़के भैया—अंदर बैठे हैं। अश्क टी-हाउस में चला गया। मित्र अपने दोस्तों में घिरे बैठे थे। अश्क के वहाँ बैठते ही छुटके भैया उसे घेरकर बैठ गये। उन दिनों 'कहानी' में नामवर के लेख के उत्तर में अश्क ने एक लेख लिखा था, जिसकी बड़ी चर्चा थी। उसी का ज़िक्र चला तो छूटते ही छुटके भैया ने कहा, 'अश्कजी, मेरा

जी होता है मैं एक सख़्त लेख आपके खिलाफ़ लिखूँ ।'

अश्क ने हँसकर कहा, 'लिखो !'

'लेकिन उससे आपको लाभ होगा ।'

'तब मेरी तारीफ़ में लिखो ।'

'उससे तो सीधा आपको लाभ होगा ।'

'तो भई चुप रहो ।'

'उससे भी आपको लाभ होगा ।'

'तो यार ऐसे करो', अश्क ने कहा, 'रस्सी का एक फंदा बनवा लो, मैं उसमें अपनी गर्दन डाले देता हूँ ।'

इस पर निकट बैठे कुछ दूसरे लोगों ने ज़ोर का ठहाका लगाया ।

कुछ क्षण तक वे चुप रहे, फिर उन्होंने अश्क को कोंचा । अश्क तरह दे गया । उन्होंने फिर कोंचा, अश्क फिर तरह दे गया । तब झल्लाकर उन्होंने कहा, 'अश्कजी, आप मेरी बात का जवाब क्यों नहीं देते ?'

अश्क ने बड़े धीरे-से कहा, 'देखो भाई, तुम्हारी उमर मेरे बेटे के बराबर है । तुम्हारी बात का मैं क्या जवाब दूँ ।'

'हा-हा—बेटे के बराबर—हा-हा ।' वह ज़ोर से हँसे ।

बिना अप्रतिभ हुए अश्क ने पूछा, 'तुम्हारी क्या उम्र होगी ?'

'अट्ठाईस बरस ।'

'मेरा बड़ा लड़का छब्बीस का है ।'

हँसते हुए उन्होंने कहा, 'अश्कजी, जब आप जवाब नहीं दे पाते, तो ऐसी ही बात कर देते हैं ।'

उस वक्त तो अश्क ने इस बात पर ग़ौर नहीं किया, लेकिन जब वह घर आया तो सहसा उनकी यह बात उसे परेशान करने लगी । दूसरे दिन ही वह इलाहाबाद आ गया । जब भी कभी उनका ज़िक्र आता, उनकी वह बात उसे याद आ जाती और उसके मन को कचोट जाती । साल भर बाद वह फिर दिल्ली गया तो सहसा एक शाम जब वह कॉफ़ी-हाउस में राजेंद्र यादव का इंतज़ार कर रहा था, वही छुटके भैया अचानक कॉफ़ी-हाउस के बाहर नज़र आये । यादव भी उसी वक्त आ गये और यद्यपि अश्क को यादव से बड़ी ज़रूरी बातें करनी थीं, लेकिन वह उनको बड़े प्यार के साथ अंदर ले गया । कैबिन में ले जाकर बैठाया । गरम-गरम कॉफ़ी और नमकीन का ऑर्डर दिया और जब वे बड़ी शान से पोज़ बनाकर बैठ गये (कि वे बड़े विटी प्रसिद्ध हैं और सदा एग्रेसिव-सा पोज़ बनाकर बैठते हैं) तो अश्क ने बड़े प्रेम भाव से पूछा, 'भई, तुम मुझसे नाराज़ क्यों हो ?'

वे सहसा ढीले हो आये, 'नहीं अश्कजी, मैं तो आपका पुराना प्रशंसक हूँ । (इस बीच बड़के भैया इलाहाबाद चले गये थे और छुटके भैया पत्रिका के लगभग सर्वे-सर्वा हो गये थे ।) यह आपका महज़ भ्रम है ।'

'कहो, आजकल क्या तीर मार रहे हो ?' अश्क ने पूछा ।

वे फिर तनकर बैठ गये। 'अश्कजी एक कहानी लिखी है। बड़ी चर्चा है उसकी।'

'कहानी ?' अश्क ने हैरत से आँखें सिकोड़ कर कहा (यद्यपि अश्क को यह मालूम था कि वे इधर कहानी भी लिखने लगे हैं, लेकिन उसने ऐसा प्रकट किया मानो वह कोई चकित कर देने वाली बात सुन रहा हो।) 'तुम कहानी भी लिखते हो ?...तुम तो कविता करते थे।'

'नहीं अश्कजी, हमसे तो किसी ने कहा कि आपको वह खूब पसंद आयी और आप उस पर लिखने वाले थे।'

'मैं—एँ-एँ—?' अश्क ने साश्चर्य कहा, 'क्या नाम है तुम्हारी कहानी का ?'

'टोरसो !'

'अच्छा।' अश्क ने हाथ-पर-हाथ मारा। 'वह तुम्हारी कहानी है ? वह तो निहायत बोगस है।'

छुटके भैया का चेहरा तमतमा गया। यादव की ओर एक नज़र फेंकते हुए उन्होंने कहा, 'आपने उसे ध्यान से नहीं पढ़ा होगा।'

'नहीं यार, मैंने उसे खूब ध्यान से पढ़ा है। वही कहानी है न, जिसमें एक लौंडिया एक युवक को अपने तनहा कमरे में फँसा लाती है, लेकिन कुछ मुआमला-आमला नहीं होता और वह लौंडा चला जाता है।'

'नहीं साहब, इतनी बात नहीं।' अपनी खिसियाहट को छिपाते हुए उन्होंने बड़े तमतराक से कहा, 'वह खंड़ित प्रेम की कहानी है।'

'तो भाई, तुमको टोरसो के ऊपर स्टार देकर पृष्ठ पर फ़ुटनोट देना चाहिए था—टोरसो उर्फ़ खंडित प्रेम।'

न चाहकर भी यादव उठकर हँस दिया। छुटके भैया बड़े हतप्रभ हो गये। कद तो उनका पहले से ही गिठ-मुठिया-सा था, वे और भी छोटे लगने लगे। उनका नन्हा-सा तिकोना चेहरा और भी नन्हा हो आया। किसी तरह अपने आपको सँभालकर उन्होंने कहा, 'उसको लेकर तो आंदोलन चलने वाला है। आप गद्दीधारी लोग नयी कहानी के मर्म को...'

वे एक भाषण पिलाने जा रहे थे, कि अश्क ने बात काटकर कहा, 'देखो मित्र, तुम चाहे अपनी उस बोगस कहानी का आंदोलन चलवाओ, चाहे उसे बाँस पर चढ़ाओ, लेकिन वह जहाँ की है, वहीं आ रहेगी। डी० एच० लॉरेंस के 'लेडी चैटरलीज़ लवर' से लेकर हेमिंग्वे की 'सूरज भी उगता है' और अज्ञेय की 'मेजर चौधरी की वापसी' तक इस थीम पर दसियों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। इस कहानी में तुमने कौन-सी नयी बात कही है ? मियाँ, कोई अपनी बात कहो, अपनी देखी-सुनी सुनाओ, अपनी अनुभूतियों को कहानी में रखो, किसी फ्रेंच, अंग्रेज़ी या अमरीकी थीम को चुराकर लिखोगे तो कौन-सा नेज़ा चला दोगे।' और अश्क ने अपनी उसी रौ में छुटके भैया को वो रगेदा कि बेचारे रोनक्खे हो आये।

तब जान छुड़ाने और बात बदलने के लिए उन्होंने कहा, 'अश्कजी, आप

हमारे लिए कोई चीज़ लिखिये ।'

अश्क ने उसी री में कहा, 'भाई, मैंने चार लाइन की एक कविता लिखी है। एक ही शर्त पर दे सकता हूँ। पतले टाइप में पृष्ठ के ऊपर कविता छाप दो और बाकी पेज पर मेरे बड़े से हस्ताक्षर का ब्लॉक।'

मित्र की सारी विट ग़ायब हो चुकी थी। बोले, 'अश्कजी, कविताएँ तो हम पैसे लेकर छापते हैं।'

उनकी पत्रिका के उसी अंक में इलाहाबाद के एक नये युवक कवि की पांच कविताएँ छपी थीं। अश्क ने उनका नाम लेकर पूछा, 'तो क्या उन्होंने कविताएँ छपवाने के पैसे दिये हैं?'

'जी हाँ', उन्होंने तनकर कहा।

अश्क ने सिर झुकाकर हाथ मलते और बड़ी बेबसी का अभिनय करते हुए कहा, 'यार, यह तो बड़ी मुश्किल है। कविताएं छापने के तुम पैसे लेते हो, कहानी छापने को देंगे तो तुम कहोगे अश्कजी, दिल्ली में मकान की बड़ी किल्लत है, कोई कमरा दिलवाइये और कहीं नाटक छापने को कहें तो तुम कुँवारे हो, शायद कहीं मुआमले-आमले का जुगाड़ करने की कहो...'

मित्र इतना परेशान हो गये कि घड़ी की तरफ़ देखकर सहसा उठ खड़े हुए और फिर कभी मधुरालाप करने का वादा करके चले गये।

उनके जाते ही यादव ने कहा, 'अश्कजी, आपने बेचारे को बेतरह घिस दिया।'

'यही कम्बख़्त कहता था कि मैं उसकी बात का जवाब नहीं देता।'

अब इस भूमिका के बाद असली किस्सा सुनिये—

अश्क जब इलाहाबाद वापस आया, तो दूसरे दिन वह शाम को अपने बीवी-बच्चों के साथ पैदल सिविल लाइंज़ से वापस आ रहा था। आगे-आगे वह और उसकी बीवी, पीछे उसकी बहू और छोटा लड़का। पानी की टंका से जब वह रेलवे के फाटक की ओर को मुड़ा तो उसने देखा कि सामने सड़क की दूसरी ओर बड़के भैया मुट्ठी बाँधे हाथ हिलाते हुए दो नये कवियों के बीच भाषण देते चले आ रहे हैं और पीछे-पीछे उनकी पत्नी घिसटती आ रही है। तब जाने अश्क को क्या सूझी, वहीं से उसने चिल्लाकर कहा, 'अरे यार, इनको क्या भाषण दे रहे हो। ये मन में तुम्हें चुग़द समझते हैं।'

मित्र सकपका गये। उनकी हिलती हुई मुट्ठी वहीं हवा में रह गयी। सड़क पार करके वे अश्क के पास आ गये और उन्होंने हँसते हुए उन दोनों नये कवियों का परिचय दिया—'ये हैं अमुकजी, अमुकजी के पुत्र।' अश्क ने केवल इतना कहा, 'मैं इन्हें जानता हूँ।'

तब उन्होंने दूसरे युवक कवि का परिचय दिया। अश्क उनसे पहले नहीं मिला

था, लेकिन उनका नाम सुनते ही उसे उन पाँच कविताओं की याद आ गयी, जो उनकी पत्रिका में उसी महीने छपी थीं। उसने छूटते कहा, 'अच्छा तो यही हैं जो तुम्हारे यहाँ पैसे देकर कविताएँ छपवाते हैं?' पतला-सा, छरहरा-सा, गोरा-सा युवक। उसका रंग लाल हो गया। उसने विरोध किया तो अश्क ने कहा, 'भाई, मैं यह नहीं कहता, इन्हीं के सहकारी कहते हैं...' और वहीं सड़क पर खड़े-खड़े उन्हें दिल्ली का किस्सा संक्षेप में सुनाकर वह हँसता हुआ आगे बढ़ गया।

अपनी इस विनोद-वृत्ति में अनजाने, अनचाहे किये गये मज़ाक का खामियाज़ा अश्क को कैसे भुगतना पड़ता है, उसे जानने के लिए उस समीक्षा के कुछ वाक्यों और गालियों की बानगी देखिये, जो उन नये कवि ने अश्क के उन्हीं दिनों प्रकाशित कविता-संग्रह—'सड़कों पे ढले साये'—पर 'ज्ञानोदय' में की। समीक्षा का आरंभ उन्होंने कवि शमशेर की पंक्तियों से किया जो न जाने उन्होंने कुंठा के किस क्षण में लिखी थीं :

> 'नहीं तो मैथिलीशरण; यशपाल, अश्क, वगैरह की तरह अपनी दुकान अलग खोलनी पड़ती है, ताकि दाल-रोटी का काम चले और दुकानदारी के उसूलों पर मेहनत के साथ पापुलर साहित्य रचना पड़ता है और अपने ढर्रे और अपनी पॉलिसी पर डटे रहना पड़ता है।'
>
> ('श्री शमशेर बहादुरसिंह—कवि की नोट बुक से'—प्रकाशित 'लहर' जनवरी-फरफरी 1961)
>
> 'पापुलर साहित्य से शमशेर ने जो संकेत किया है, अश्क के लिए और दूसरों के लिए वह स्पष्ट ही है। इसके इलावा 'मेहनत' और 'पॉलिसी' और उस पॉलिसी पर डटे रहना—माने कि यह दुकानदारी है। **और इस दुकानदारी में अश्क सर्वाधिक सफल हैं।** उनकी उपलब्धि मात्र इतनी ही है और इससे ज़्यादा हो भी क्या सकती है?
>
> 'अश्क की एक और आदत है—अपनी इसी दुकानदारी की पॉलिसी का एक अधिनियम—कि उनके बारे में ऐरा-ग़ैरा-नत्थू-ख़ैरा कोई भी आलोचना के नाम पर उनकी प्रशंसा लिख दे तो वे अपनी पुस्तक के किसी अगले संस्करण में संकलित कर लेंगे। अगर किसी ने उनके बारे में कुछ सच बात कह दी (चाहे वे शिवदानसिंह चौहान हों या और कोई भी) तो अश्क उसके लिए व्यक्तिगत राग-द्वेष का सहारा लेते हैं, और वर्षों तक चिट्ठी-पत्रियों में उसके प्रमाण जुटाते हैं। और उसके पीछे उनका अपना स्वार्थ तो सिद्ध होता ही चलता है—कि इस बहाने साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में नाम तो सामने रहता ही है। **अश्क के लिए 'चर्चा' सबसे बड़ी उपलब्धि है, क्योंकि वह उनकी दुकानदारी का विज्ञापन है।**
>
> 'और साहित्य-लेखन के नाम पर अश्क के पास यही फ़ंडामेंटल्स हैं, याकि कुछ भी नहीं। और अश्क इसे बहुत बड़ी बात भी मानते हैं। 'मशक्कत' से महसूस की गयी चीज के लिए फ़ंडामेंटल्स की क्या ज़रूरत है। और दुकान-

दारी के कारण अब उनके पास पैसे हैं कि ये विशाखापट्टनम से लेकर कुल्लू की घाटी तक कहीं भी रम सकते हैं, उपन्यास, नाटक सभी कुछ रच सकते हैं। जीवन की संपूर्णता का अनुभव उन्हें किस से कम है?—उन्होंने रेडियो में काम नहीं किया, फ़िल्मी कहानी नहीं लिखी, भूखों वे नहीं मरे, स्वास्थ्य के लिए खून नहीं दिया, बीमार नहीं रहे...क्या नहीं है उनके पास—?

'ख़ाली इन सबकी रचनाशीलता की पकड़। जिसे समझाना अश्क के लिए घातक होगा, क्योंकि तब उन्हें पता चल जायेगा कि वे कहीं नहीं हैं साहित्य में। और सब जगह हैं...क्योंकि लिखते जो हैं, दुकान जो है उनकी...'

और इसी शैली में लगभग एक पृष्ठ लिखकर और अश्क को चुहलबाज़ी छोड़कर कुछ पढ़ने का शुभ-परामर्श देते हुए उन्होंने 'कविता-संग्रह की उग्र समालोचना' के अंत में लिखा :

'काग़ज़ बहुत अच्छा है, लगता है बनिया ने धन को गाड़ के रखा हो और निकालकर नये व्यापार में लगाना शुरू किया हो। छपाई-सफ़ाई के क्या कहने—जैसे सड़े रसगुल्ले का शीशे में चमचमाता हुआ शो-केस...। किताब मुझे सस्नेह भेजी गयी है—उसके लिए आभार—बस।'

अश्क ने समीक्षा पढ़ी तो अंतिम शब्द 'बस' उसे मज़ा दे गया। युवा कवि की सारी झुँझलाहट जैसे उस एक शब्द में केन्द्रीभूत हो गयी थी।

समीक्षा की अंतिम पंक्ति के संबंध में अश्क के तमाशाई स्वभाव का एक और पहलू उजागर होता है।—पानी की टंकी के पास किये गये उस अजाने मज़ाक से वे युवा कवि बेतरह नाराज़ हो गये हैं, इस बात का पता अश्क को उनके मित्रों से चल गया था। जब उसकी कविताओं का नया संग्रह छपा तो अश्क के सहयोगी सुरेन्द्रपाल ने एक दिन कहा—'अश्कजी मेरे मित्र अमुकजी (वही युवा कवि) इस पर लिखना चाहते हैं पर उनके पास पुस्तक नहीं है, आप एक पुस्तक उन्हें भिजवा दें तो वे उस पर ज़रूर लिखेंगे। लेकिन एक बात देख लीजिये, लिखेंगे वे विरोध में...'

'मैं और जाऊँ दर से तेरे बिना सदा किये—' अश्क ने हँसकर कहा और पुस्तक उन्हें सस्नेह भिजवा दी।

और अश्क के सामने ऐसी गालियाँ सुनकर, जो प्रायः उसे मिलती रहती हैं, अपना एक ऐसा रूप आता है, जो नंबरी दुश्नाम-ख़ोर का है। गालियाँ खाने में जिसे ख़ासा रस मिलता है।

अश्क का बचपन और जवानी एक ऐसे शहर के घिचपिच मध्यवर्गीय मुहल्ले में बीती, जिसमें ताँगा-इक्का तक न जाता था। और 'सिविल लाइंस' जहाँ से मीलों दूर थी। जहाँ सभ्यता और संस्कृति की वैसी पहुँच न थी और जहाँ मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ प्रायः खुल-खेलती थीं।—प्यार में अनायास पूरे जोश से

मित्र को मुहब्बत-भरी भयानक अश्लील गालियाँ देते हुए बग़लगीर कर लेना और नफ़रत में बे-सोचे-समझे वैसी ही भयानक गालियाँ देते हुए सिर फोड़-फुड़वा लेना—उस संस्कृति की आम बात थी। कूटनीतिज्ञता, डिप्लोमेसी, सामने मुस्कराते हुए प्रेम-भाव से प्रशंसा करना और पीठ मोड़ते ही मुँह बिचकाते हुए निंदा, तथा सभ्यता-संस्कृति-जनित शहरी-मैत्री के हथकंडे और नीति-कुशलता से जो वातावरण नितांत अछूता था—उस वातावरण में संकीर्णता थी, घुटन थी, लेकिन इस सबके बावजूद एक अजीब-सा खुलापन था और उस खुलेपन की याद में अश्क के मानस-पट पर केवल गालियाँ अंकित हैं।—गालियाँ—गालियाँ—गालियाँ।

माँ-बहनों, बेटियों के सामने बाप, बेटे और भाई निर्बाध गालियाँ देते थे। उन गालियों में जैसे कुछ भी गंदा और गलीज़ न था। अश्क को याद है, मुहल्ले में औरतें तुतलाते बच्चों को वही गंदी गालियाँ सिखाती थीं और जब कोई अबोध बच्चा अपने बाप, माँ या भाई को गंदी गाली देता था, तो खूब खुश होती थीं। अश्क के पिता को इस बात का गर्व था कि वे नित-नयी गाली ईजाद कर सकते हैं और अश्क के लँगोटिये यार जब एक-दूसरे से मिलते थे तो कुफ़्र-तोड़ गालियाँ देते हुए हाल-चाल पूछते थे...

इस सबमें कुछ आपत्तिजनक भी है, इस बात का एहसास अश्क को पहले-पहल लाहौर में हुआ। वह दैनिक 'भीष्म' के संपादक श्री सागरचंद गोरखा के साथ रेलवे-रोड पर चला जा रहा था, कि सामने से उसका लड़कपन का दोस्त कुलवंतसिंह आता मिल गया। और जब दूर ही से लपककर माँ-बहिन की गालियाँ देते हुए दोनों बग़लगीर हुए, हर वाक्य के साथ एक-दो गालियाँ जोड़कर उन्होंने एक-दूसरे का हालचाल पूछा तो श्री सागरचंद गोरखा अवाक्, मुँह बाये, बीच-बाज़ार खड़े रह गये। उनकी वह विस्मय-भरी भंगिमा अश्क को कभी नहीं भूली। कुलवंत के चले जाने के बाद उन्होंने अश्क से पूछा कि यह कौन था?

'मेरा पुराना यार था', अश्क ने केवल इतना कहा तो गोरखा बोले, जब तुम्हारे यार ऐसे हैं तो किसी सभ्य आदमी का तुम्हारे साथ चलना मुश्किल है।'

अश्क का ख़याल था कि गोरखा सिर्फ़ मज़ाक कर रहे हैं, लेकिन सच ही श्री गोरखा फिर कभी बाज़ार में उसके साथ नहीं निकले।

दूसरी बार लगभग एक साल बाद उसे फिर एक ऐसी ही घटना का सामना करना पड़ा। जब अपने मित्रों के चेहरों से उसे लगा जैसे वह किसी प्रागैतिहासिक काल का जीव है। उसे हिंदी में लिखते हुए दो-तीन साल हो गये थे। और लाहौर के हिंदी कवियों में उसका उठना-बैठना काफ़ी हो गया था। एक दिन उसकी बैठक में श्री उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, डी० पी० माधव, श्री वरुण और भारती (लाहौर वाले) बैठे हुए थे कि सहसा नीचे से किसी ने ज़ोर से अश्क का घरेलू नाम लेकर उसे आवाज़ दी, 'ओये पिंदो!'

जब तत्काल उत्तर नहीं मिला तो फिर उसी आवाज़ के साथ एक भारी-भरकम गाली का ढेला दीवारों को तोड़ता अंदर आ गिरा।

अश्क का छोटा नौकर तुलसी भागकर सीढ़ियाँ उतर गया और उसने आगंतुक का नाम पूछा।

उत्तर में आगंतुक ने इतने ज़ोर से कि अश्क और उसके मित्रों को सुनायी दे गया कहा, 'उसे कहो तेरा पेओ (पिता) जालंधरों आया है।'

यद्यपि वर्षों बाद उसे यह आवाज़ सुनने को मिली थी, तो भी अश्क समझ गया कि उसका बचपन का दोस्त बलवंतराय है और वह उठा।

लेकिन बलवंत नीचे नहीं रुका। नौकर के पीछे-पीछे और भी भयानक गालियाँ देता हुआ चढ़ा चला आया और बिना इस बात की परवाह किये, कि कमरे में कौन बैठा है, वैसे ही गालियाँ देते हुए उसने अश्क को बग़लगीर कर लिया। अश्क भी एकदम भूल गया, कि वह एक लब्ध-प्रतिष्ठ (यह शब्द प्रायः अश्क के नाम के साथ उस ज़माने में पत्र-पत्रिकाओं में छपता था हालांकि इसके अर्थ भी उसे मालूम नहीं थे।) कवि और कथाकार है और उसने खादी का धोती-कुर्ता पहन रखा है और वह हिंदी के प्रतिष्ठित, सम्भ्रांत कवियों में बैठा है। वह एकदम वर्षों पहले का—जालंधर की गली-बाज़ारों में तन पर केवल तहमद लगाये, नंगे बदन, नंगे पैर घूमने वाला—लड़का बन गया। तब उन दोनों मित्रों में गालियों का जो आदान-प्रदान होने लगा, उसे सुनकर वहाँ उपस्थित कवियों की सुकोमल भावनाओं को गहरा आघात लगा और उसके बाद अश्क को सदा महसूस हुआ कि वह लाहौर के उस साहित्य वातावरण में नितांत अजनबी है।

अश्क के यहाँ अजनबीयता का यह एहसास दिनों-दिन बढ़ता ही गया। लाहौर के उस वातावरण में यद्यपि अश्क ने गाली देना छोड़ दिया था, तो भी उसके मुँह में एकाध गाली रहती थी, जिसका प्रयोग वह प्रायः तकिया-कलाम के तौर पर किया करता था, लेकिन 1941 में अश्क ने कौशल्या के साथ शादी कर ली और कौशल्या उच्च मध्यवर्ग के एक सम्भ्रांत परिवार में पली थी। उसके नाना जिन्होंने उसे पाला, बैरिस्टर थे और मामा, जिन्होंने उसे पढ़ाया और शिक्षा-दीक्षा दी, अमरीका हो आये थे। अपने परिवार में किसी को उसने गाली देना तो दूर रहा, ज़ोर से बोलते तक न सुना था और अश्क की वह गाली भी उसके तहमदों की तरह न जाने कहाँ बिला गयी। और वह अपने ही घर में अजनबी हो गया।

अश्क ने गाली देना-दिलाना छोड़ दिया। तहमदों के स्थान पर उसने सूट-बूट, अचकन, टोपी, कुर्ते-पाजामे पहनने सीख लिए, लेकिन अंतर में वह वही पुराना जालंधरी 'दुश्नाम-गो' और 'दुश्नाम-ख़ोर' है, जिसे गालियाँ देने-दिलाने में बड़ा मज़ा आता है। राजेंद्रसिंह बेदी ने अपनी कहानी 'गाली' में जो दर्शन दिया है, अश्क उससे पूर्णतः सहमत है। अश्क यह मानता है कि उसके इर्द-गिर्द की मुस्कानों-भरी ज़हर-आलूद मैत्री में जो ग़लाज़त है, उसकी अपेक्षा उसे निश्छल हृदय से निकली हुई प्रकट गंदी गालियों में छिपा प्यार प्रियतर है। वह उन गालियों के लिए तरस गया है। उसका एक भी ऐसा मित्र नहीं है, जिससे वह उस तरह खुलकर गाली का आदान-प्रदान कर सके और चूँकि उसे गालियाँ खाने

की वर्षों आदत रही है, इसलिए वह लोगों को छेड़कर ऐसी 'बनास्पति' गालियाँ खाता है, जो उससे चिढ़ने वाले उसे प्रायः देते रहते हैं।...ऐसे में कभी अश्क आईने के सामने जाता है तो उसे ऐसे व्यक्ति का चेहरा दिखायी देता, जो नितांत अकेला है। और इधर चौथाई सदी से अकेला चलता आ रहा है। रास्ते में उसे साथी मिले हैं तो उसने उन्हें गले लगाकर अपना भला-बुरा निहायत फक्कड़पने से उन्हें बता दिया है, पर उसने बार-बार देखा है कि पथ के साथी कभी उसकी सच्चाई की ताब नहीं ला सके और उसे झूठा, तिकड़मी, चतुर, तेज़ और न जाने किन-किन नामों से याद करते हुए प्रायः अलग हो गये हैं। अश्क ने लड़कपन में कहीं बुल्हे शाह की काफ़ी पढ़ी थी :

झूठ आक्खाँ ते कुछ बच्चदा ई
सच आक्खाँ ते भाम्बड़ मच्चदा ई
दिल दोहाँ गलाँ तों अच्चदा ई
जच्च-जच्च के जिह्वा कहन्दी ए
मुँह आयी बात ना रहन्दी ए ॥[1]

उसने जाना है कि सच कहने पर भाम्बड़[2] तभी मचता है यदि वह सच सामने वाले के बारे में हो, अपने बारे में सच बोलने पर कभी भाम्बड़ नहीं मचता, बल्कि उस सच को लोग सच ही नहीं समझते, हमेशा झूठ समझते हैं, इसलिए अपने बारे में सच बोलना सबसे आसान है।

कभी अश्क को आईने में एक प्रचारक की शक्ल दिखायी देती है, जो लोगों को आकर्षित करने के लिए सिर पर घुँघराले बाल सजाये, महीन धोती और रेशमी कुर्ता पहने, गले में आगे-पीछे विज्ञापन लटकाये, घंटी बजा रहा है। अश्क पढ़ता है—सामने वाले विज्ञापन पर मोटे अक्षरों में लिखा है।

- अश्क महान कथाकार है
- अश्क महान उपन्यासकार है
- अश्क महान नाटककार है
- अश्क महान कवि है
- अश्क... ...

और दूसरी ओर लिखा है :

- अश्क साहित्य का प्रचार हिंदी साहित्य का प्रचार है।
- कोई व्यक्ति, अर्ध सरकारी अथवा सरकारी पुस्तकालय अश्क साहित्य के बिना पूर्ण नहीं कहला सकता।

---

1. झूठ कहता हूँ तो कुल बचाव होता है। सच कहता हूँ तो शोले लपकते हैं। दिल दोनों ही बातों से (झूठ और सच से) झिझकता है। झिझक-झिझककर जबान कहती है। मुंह आयी बात (बाहर आने से) नहीं रहती है।
2. शोलों का लपकना।

० अश्क साहित्य पढ़िये, अश्क साहित्य पढ़ते-पढ़ते सो जाइये, सर्दी हो तो अश्क साहित्य को ऊपर ओढ़ लीजिये।

और अश्क जोर से ठहाका मारकर हँस देता है और फिर सहसा उदास हो जाता है और उसके सामने कई चित्र आ जाते हैं :

...वह फ़र्स्ट ईयर में पढ़ता है। उर्दू में शायरी करता है। अपने एक मित्र के साथ लगभग रोज एक ग़ज़ल लिखता है। लेकिन मित्र खूबसूरत है, खुश-पोश है, खुश-अदा है। वह बड़े दिल-फ़रेब ढंग से ग़ज़ल पढ़ता है। उसे खूब दाद मिलती है। यहाँ तक कि उन शेरों की भी दाद उसे मिलती है, जो अश्क के लिखे हुए हैं और अश्क को कोई नहीं पूछता। उसकी ग़ज़ल को लोग ऐसे सुनते हैं, जैसे मरसिया सुन रहे हों। यहाँ तक कि एक दिन जलकर वह कह उठता है :

नहीं है क़द्रदाँ कोई
तो मैं हूँ क़द्रदाँ अपना

...लाहौर में साहित्यिक जीवन के आरंभिक दिन...अश्क अनारकली के चौरस्ते में 'फ़ज़ल बुक डिपो' पर एक बड़ी ही सुंदर छपी पुस्तक देखकर आकर्षित होता है। किसी तरह ढाई रुपये जमा करता है और पुस्तक खरीद लाता है। रॉयल साइज़, खूब बढ़िया मोटा सफ़ेद काग़ज़, आकर्षक किताबत और छपाई और रंगीन चित्र! पुस्तक एम० असलम की कहानियों का संग्रह है। अश्क को कहानियाँ एकदम निकम्मी लगती हैं, लेकिन पुस्तक की किताबत और छपाई पर वह मुग्ध हो जाता है। प्रकाशक का पता नोट करके वह उसके यहाँ आना-जाना शुरू करता है। साल भर में वह उससे दोस्ती गाँठ लेता है। उसे अपनी कहानियाँ सुनाता है। प्रकाशक को उसकी कहानियाँ पसंद आती हैं। वह उन्हें छापना भी चाहता है, पर वह पारिश्रमिक कुछ नहीं देना चाहता। उसकी दलील यह है कि इतनी सुंदर पुस्तक छापकर वह अश्क का प्रचार करेगा, इसी को वह अपना पारिश्रमिक समझे। अगर अश्क पुस्तक का कॉपीराइट उसे दे दे तो वह पुस्तक को आर्ट पेपर पर छाप देगा।...जब-जब कहानियों को छापने की बात चलती है, तार इसी पर टूटता है। जलकर एक दिन अश्क कहता है कि अपना प्रचार मैं स्वयं कर लूँगा तभी तुम्हें पुस्तक दूँगा और रॉयल्टी लूँगा।

और तीन साल बाद ही उसका कहानी-संग्रह वहीं से छपता है और वह पेशगी रॉयल्टी भी लेता है।

...अश्क देखता है कि जो लेखक मुफ़्त कहानियाँ देते हैं, संपादक कहानी के ऊपर उनके चित्र छापते हैं और उनकी प्रशंसा में ज़मीन आसमान के कुलावे मिलाते हैं, लेकिन चूँकि उसे पारिश्रमिक देते हैं उसकी कहानी बेदिली से पत्रिका के अंत में छाप देते हैं। लेकिन इससे अश्क के रवैये में कोई अंतर नहीं पड़ता। वह तय करता है कि वह अभी तो अपने श्रम का पारिश्रमिक लेगा, जब उसे प्रशंसा की जरूरत होगी, वह खुलेआम स्वयं अपनी रचना की प्रशंसा करेगा और मिथ्या ढोंग का सहारा नहीं लेगा।

...दिल्ली में रेडियो की नौकरी का आरंभ। अश्क लाहौर से दिल्ली आता है। उर्दू के प्रसिद्ध मासिक 'साक़ी' के दफ़्तर पहुँचता है। पत्रिका के मालिक और संपादक श्री शाहिद अहमद दहलवी से मिलता है। बातों-बातों में शाहिद साहब 'साक़ी' के लिए कहानी माँगते हैं। अश्क पूछता है कि वे कुछ पारिश्रमिक भी देते हैं कि नहीं? 'साक़ी में कहानी का छप जाना ही बड़ी बात है', शाहिद साहब गर्व से कहते हैं, 'अदीब का प्रॉपेगैंडा होता है, दूर-दूर के अदब-नवाज़ उसके नाम से वाकिफ़ हो जाते हैं।'...

इधर-उधर की बात करके अश्क सहसा पूछता है—'शाहिद साहिब आप 'साक़ी' में एक सफ़हे के इश्तिहार का क्या लेते हैं?'

'तीस रुपये। शाहिद जवाब देते हैं।'

'तो जब मेरे पास तीस रुपये होंगे, मैं 'साक़ी' के पूरे सफ़हे पर अपने बारे में जो चाहे छापकर अपना प्रॉपेगैंडा कर लूंगा, अभी तो आप मुझे कहानी के कम-से-कम दस रुपये दिया कीजिये।'

...अश्क के साथ रेडियो के लेक्सिकॉन विभाग में हिंदी के प्रसिद्ध उपन्यास-कार और कवि काम करते थे। लम्बा-सा, ख़ासा मुश्किल नाम है उनका, उपनाम भी मुश्किल है। तब अश्क के पंजाबी लहजे से दोनों ही का ठीक उच्चारण नहीं होता था। ये महानुभाव 'उपनाम' से कविता, कहानी, उपन्यास लिखते हैं और नाम से आलोचना-लेख, इत्यादि। एक दिन अश्क उनके नाम से एक लेख पढ़ता है, जिसमें उन्होंने अपने उपनाम की बड़ी प्रशंसा कर रखी है। उसे हिंदी का युग-प्रवर्तक कवि और उपन्यासकार घोषित कर रखा है। यह लेख उन्होंने अंग्रेज़ी में लिखा है और विदेशियों के लिए है। चूंकि अंग्रेज़ी पाठक नहीं जानते कि जिस 'उपनाम' वाले व्यक्ति की उन्होंने प्रशंसा की है वह स्वयं उस लेख का लेखक है, इसलिए अश्क को उनकी यह हरकत कायरता और बददयानती से भरी और किंचित दय-नीय भी लगती है और वह मन-ही-मन तय करता है, कि जब उसे अपनी रचनाओं के बारे में कोई बात कहने की ज़रूरत पेश आयेगी, वह डंके की चोट स्वयं कहेगा, किसी मित्र आलोचक अथवा छद्म नाम की आड़ नहीं लेगा।...और अश्क इधर वर्षों से यही करता आ रहा है।

प्रचार का उद्देश्य (वह हमदर्द आलोचकों द्वारा हो, प्रकाशकों द्वारा हो अथवा स्वयं लेखक द्वारा) अश्क केवल इतना मानता है कि पाठक लेखक की रचनाओं की ओर आकृष्ट हों। किसी घटिया पुस्तक को प्रचार द्वारा बेचा तो जा सकता है, पर उसे उच्चकोटि की नहीं बनाया जा सकता। यदि प्रचार द्वारा किसी घटिया पुस्तक को ऊपर उठा भी दिया जायेगा तो समय पाकर वह नीचे उसी जगह आ बैठेगी, जो कि उसका उचित स्थान होगा। इस हक़ीक़त में अश्क का पक्का विश्वास है, इसलिए अपनी रचनाओं का प्रचार करने से पहले वह उन पर महीनों-वर्षों श्रम करता है। किसी वक्ती मसलहत, रेडियो के किसी सामयिक प्रोग्राम, अथवा किसी पत्रिका के वार्षिकांक के लिए वह अपने हाथ का काम छोड़कर, प्रायः नहीं लिखता,

लिख भी लेता है तो बिना पूरे तौर पर संतुष्ट हुए उसे कभी पुस्तक रूप में छपने को नहीं देता और अनगढ़ रचनाएं महीनों-वर्षों उसकी फ़ाइलों में पड़ी रहती हैं।

तभी आइने में विज्ञापन बाज प्रचारक का चित्र मंद पड़ जाता है और उसकी जगह एक निहायत गंभीर, आत्म-केन्द्रित और परिश्रमी रचनाकार की कृति उभरती है, जो अव्वल और आखिर लेखक है और जैसाकि राजेन्द्र यादव ने उसके बारे में ठीक ही लिखा है—उसके लिए बीवी-बच्चे, घर-द्वार, मित्र,शत्रु, नौकरियां और त्याग-पत्र, संघर्ष और शांति—जिंदगी का हर ब्यौरा—अनुभव का अंग है, जिसे वह किसी दिन किसी कथा, नाटक, उपन्यास अथवा काव्य में पिरो देगा—कभी अतीव गंभीरता से और कभी हास्य अथवा व्यंग्य का पुट देकर।...कभी जब अश्क के सामने जिंदगी का उद्देश्य स्पष्ट न था और वह लिखने के साथ कई दूसरे क्षेत्रों में हाथ-पाँव मारता था, एक दिन उसे इलहाम हुआ (और इलहाम उसे प्रायः होता है) कि उसकी नियति लेखक बनने ही में है।—वह सेशन जज बनना चाहता था और उसने बड़े श्रम से डिस्टिंक्शन लेकर कानून पास किया था और वह कम्पीटी-शन में बैठने वाला था कि उसके जीवन में एक ऐसी दुखद घटना घटी कि उसके सामने सब एकदम सुस्पष्ट हो गया—कम्पीटीशन का ख़याल छोड़, कानून की पुस्तकें बेच, वह साहित्य-सृजन में रत हो गया। वह दिन सो आज का दिन, वह फिर नहीं भटका...वह रेडियो में गया, सेना में गया, फ़िल्म में गया, उसने प्रकाशन किया, वह किताबों का बैग लेकर सेल्ज़ एजेंट की तरह पूरे देश में घूमा, पर उसने साहित्य का दामन नहीं छोड़ा। आत्म केन्द्रित और एकनिष्ठ होकर वह साहित्य-सेवा करता रहा और इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवन के अंतिम क्षणों तक करता जायेगा।...

कभी अपने इस चेहरे को देखते हुए अश्क के शरीर में कँपकँपी पैदा हो जाती है, क्योंकि वह जानता है कि इस अंधे महत्वाकांक्षी ने न जाने अपनी कितनी कोमल भावनाओं का गला, अपने ही हाथों, अतीव निर्ममता से घोंट दिया है, कितने सुखद-मधुर क्षणों को निहायत बेदर्दी से अपने रास्ते से हटा दिया है, कितनी सुख-सुविधाओं को अपने द्वार से निराश लौटा दिया है और बाहर से चाहे वह कितना भी शौक़ीन-मिज़ाज, लक-दक, नजर क्यों न आये, अंदर से वह पुराना संयमी और वीतरागी है।—जिस प्रकार संन्यासी आत्मा और उसके द्वारा परमात्मा को पाने के लिए संयम और तप करता है, इसी प्रकार अश्क साहित्यात्मा को पाने के लिए संयम और साधना में निरत है—एकनिष्ठ होकर। उसका विश्वास है कि उसी के माध्यम से वह अपने भगवान को पायेगा।

अश्क आत्म-निष्ठ, आत्म-केन्द्रित और संयमी है, इससे शायद उसे जानने वाले इनकार न करें, पर वह वीतराग या संन्यासी है, इसे सुनकर उसके परिचितों में से 95 प्रतिशत अविश्वास से हँस देंगे। लेकिन वास्तविकता यही है कि उसके व्यक्तित्व का एक बड़ा भाग वीतरागी का है, जो संसार के छल-कपट, संघर्ष-द्वंद्व

में रहता हुआ, उसमें भाग लेता हुआ भी उससे दूर है—एकदम निर्लिप्त !...
अश्क की माँ अत्यंत धार्मिक वृत्ति की महिला थीं और अपनी गहरी धार्मिकता का एक बड़ा अंश वे अश्क को उत्तराधिकार के रूप में दे गयी हैं। अश्क को धर्म के दिखावे में किसी प्रकार की आस्था नहीं। वह मंदिर नहीं जाता, व्रत-नियम नहीं रखता, पूजा-पाठ नहीं करता, गंगा के किनारे रहकर गंगा-स्नान नहीं करता, बात-चीत और चाल-ढाल से नितांत नास्तिक लगता है, लेकिन धर्म के सारतत्व में उसकी गहरी आस्था है। संसार में रहकर वह आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पिता, आदर्श मित्र और आदर्श शत्रु बनना चाहता है—काफ़ी हद तक वह सफल भी हो जाता है—पर यह सब वह जन्मधारी के नाते कर्तव्यवश करता है। उसके व्यक्तित्व का एक हिस्सा उस सांसारिकता से एकदम अछूता रह जाता है और जब वह पहाड़ों और वीरानों में जाता है तो उसकी वीतरागिता सजग हो उठती है और वह वहाँ से वापस आना नहीं चाहता। जगदीशचंद्र माथुर ने एक जगह लिखा है :

> 'प्रकृति के एकाकी साहचर्य में न सिर्फ़ अश्कजी की तीव्र दृष्टि सजग रहती है, बल्कि उनकी आस्थाएँ सो जाती हैं और चातुर्य, तत्परता तथा व्यावहारिक कौशल के सभी बंधन जो जीवन-संघर्ष और सामाजिक सपर्कों के कारण उन्हें मजबूर-सा कर देते हैं, उस क्षण दो टूक हो जाते हैं। प्राकृतिक सौंदर्य की मौजूदगी में अश्क का व्यक्तित्व निराली आभा से अभिभूत हो उठता है।'

और अश्क जानता है कि उस सौंदर्य के साहचर्य में जाकर (जिसे वह 'उस असीम शक्ति का साहचर्य मानता है, जिसका एक कोना भी वर्षों में नहीं जाना जा सकता') कैसे फिर वापस आने को उसका मन नहीं होता और कैसे वह बरबस अपने आपको वापस ले आता है। उसका कवि और नाटककार वहाँ से आकर अपूर्व प्रेरणा और शक्ति का आभास पाता है और दुगने वेग से निपट सांसारिक समस्याओं पर लिखता है, लेकिन उसका वीतरागी रूप वहीं रह जाता है—नितांत अकेला। और उस महान सत्ता के निकट साहचर्य में नीम पागल-सा जंगलों और वीरानों में भटकता रहता है...

अश्क को अपने इस चेहरे पर सचमुच कभी नीम-पागल का धोखा होता है और कभी किसी ऋषि-मुनि का। उसे अपनी सनकें और आत्म-निष्ठा सामान्य नहीं लगतीं और कभी-कभी वह ऐसी हरकत कर बैठता है, जो केवल एक नीम-पागल ही कर सकता है।...इस नीम-पागल को देखते हुए उसके सामने एक पहाड़ की ढलवान उभरती है, जहाँ वह कुछ पंजाबी युवकों के साथ बैठा, नीचे मैदान में उस पहाड़ी प्रदेश के मुख्यमंत्री द्वारा उद्घाटित की गयी टट्टुओं की दौड़ देख रहा है और लौंडों के साथ मिलकर आवाज़ें कस रहा है कि मुख्यमंत्री और संयोजक हेडमास्टर की (जो दोनों मोटे-तगड़े हैं) दौड़ होनी चाहिए। सहसा उसकी आवाज़ सुनकर संयोजक हेडमास्टर मुड़ता है, उसे पहचान लेता है, नीचे आने का अनुरोध करता है और किसी को उसे बुला लाने का संकेत करता है। अश्क घबराकर उठता

है। वह नाइट सूट का पायजामा पहने है। हाथों में उसके कॉफ़ी का डिब्बा और दूसरी घरेलू जरूरत की चीजें हैं। वह बाज़ार में सामान ख़रीदने आया था कि कुछ परिचित युवकों के साथ मिलकर वहाँ जा बैठा। ऊपर कोई पगडंडी नहीं, पर वह अपनी घबराहट में ऊपर ही को चल देता है। हाथ उसके ख़ाली नहीं हैं, इसलिए कुछ दूर चलने के बाद वह फिसलने लगता है। सहसा उसकी निगाह नीचे की ओर जाती है, जहाँ दूर ढलान ख़त्म होती है और स्त्रियाँ रंग-बिरंगे कपड़े पहने बैठी हैं...और सहसा उसके दिमाग़ में एक ख़याल कौंधता है कि यदि वह फिसलने से बचने का प्रयास छोड़कर लुढ़कने लगे, और लुढ़कता हुआ 'बचाओ-बचाओ' का शोर मचाता, चिल्लाता, ऐन उस जमघट में जा गिरे तो क्या हो? उस हड़बौंग की कल्पना करके उसे कुछ अजीब पागलों की-सी ख़ुशी होती है। एक ऑवसेशन-सा उसे बाँध लेता है और सोच-समझ की शक्ति जवाब दे जाती है। वह अपने आपको ढीला छोड़कर लुढ़कने ही वाला होता है कि सहसा ज़रा ऊपर, गायों-बकरियों के पैरों से बनी एक पगडंडी पर, उसे गाँव का एक छोकरा आता दिखायी देता है। उसकी चेतना लौट आती है। वह मदद के लिए उसकी ओर हाथ बढ़ा देता है। लड़का एक-दो पग नीचे उतरकर उसे पगडंडी पर खींच लाता है। ऊपर पहुँचकर अश्क सुख की लम्बी साँस लेता है—उपेन्द्रनाथ अश्क—दो युवा लड़कों का पिता—यह क्या करने जा रहा था। वह अपने खेमे की ओर पलटता है, पर उसके दिमाग़ में उसका शरीर निरंतर ढलवान पर लुढ़कता रहता है...

वापस इलाहाबाद पहुँचने पर अपने एक निकट संबंधी को वह आगरा के पागलख़ाने में छोड़ने जाता है तो अस्पताल के तत्कालीन सुपरिंटेंडेंट तथा मानसिक रोगों के प्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० लाल को यह और ऐसी कितनी ही बातें बताता है और इच्छा प्रकट करता है कि उसे भी कुछ दिन पागलख़ाने में रखकर उसके मस्तिष्क की जांच की जाये। डॉ० लाल बड़े धैर्य से उसकी बातें सुनते हैं और किंचित हँसकर कहते हैं—'आप पागल जरूर हैं, पर ऐसे पागलों की देश को जरूरत है।' और यद्यपि डॉ० लाल के उस कथन से अश्क का लेखक प्रसन्न होता है, पर स्वयं उसे बड़ी निराशा होती है, क्योंकि उसे पक्का विश्वास है कि उसके दिमाग़ का कोई पुर्ज़ा निश्चित रूप से ख़ासा ढीला है।

और शायद इसी ढीले पुर्ज़े के कारण अश्क को आइने में कभी-कभी एक ऋषि बैठा दिखायी देता है। इस ऋषि को प्राय: जीवन के कठिन क्षणों में इलहाम होता है और इन्हीं इलहामों के बल पर ज़िंदगी के पेचीदा रास्तों के खाई-खड्डों से बचता वह अपनी मंजिल के क़रीब आ पहुँचता है। इसी ऋषि ने, ऐसे ही इलहामी क्षणों में अश्क को बताया है:

° कि ज़िंदगी में जो व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है, वह कुछ भी नहीं पाता और अपने अंतिम दिनों में कुंठित होकर दुनिया-जहान को गाली देता है।

o कि जिंदगी में आदमी को चुनना होता है। बहुतों में से एक—जो अत्यंत रुचिकर हो।

o कि उस परम रुचिकर उद्देश्य को पाने के लिए अग्रसर होने से पहले अच्छी तरह अपने बाजुओं की शक्ति को तोलना होता है।

o कि एकबार उस पथ पर चलकर, परम एकनिष्ठ भाव से, रास्ते के खाई-खड्डों से बचते हुए, लोभ-लालच को तजते हुए, आत्मालोचना द्वारा अपने दोष दूर करते हुए, सतत प्रयास करना होता है।

o कि यदि मार्ग में दृष्टि नहीं धुँधलाती—सतत मंज़िल पर लगी रहती है तो चाहे मार्ग दाँये हाथ को भटका ले जाये अथवा बाँये हाथ को, आदमी उस मंज़िल पर ज़रूर पहुँच जाता है, उस परम रुचिकर को अवश्य पा लेता है।

लेकिन अश्क ने जब-जब इस ऋषि को देखा है, उसे लगा है कि वह पूर्व जन्म का कोई शाप-ग्रस्त देवर्षि है, जिसकी साधना मेनका जैसी कोई अप्सरा भंग कर देती है और जिसे भगवान शाप देता है कि जा तू मर्त्य लोक में जाकर जन्म ले और काम के हाथों दुख पा।...जब ऋषि गिड़गिड़ाता है और अपनी साधना और तपस्या का वास्ता दिलाता है तो भगवान इतना और जोड़ देते हैं कि जा, उसी के माध्यम से तेरी साधना सफल होगी और तू मुझे पायेगा।

अश्क दस-बारह वर्ष का था जब किसी ज्योतिषी ने उसकी पत्री देखकर कहा था कि उसके नवें ग्रह में शुक्र है और बुद्ध-शुक्र के योग से कई पत्नियों का संयोग है। जब वह बड़ा हुआ तो किसी दूसरे ज्योतिषी ने उस ग्रह की ऐसे व्याख्या की कि शुक्र उद्योग भाव और आयु का स्वामी होकर कर्म-भाव में पड़ा है। उत्तम ग्रह है। वह स्त्री-लोलुप है, रमणियों का संसर्ग उसे रुचिकर है। कामी है। उचित-अनुचित का विवेक नहीं रखता—और अश्क ने यह सुनकर फ़ैसला किया था कि इस विवेक को हाथ से नहीं छोड़ेगा और इस जन्म-जात त्रुटि को (ज्योतिष चाहे जो भी कहे, अश्क जानता है कि उसकी नसों में अपने पिता-पितामह का अत्यंत गर्म ख़ून प्रवाहित है) अपने उद्देश्य के मार्ग की बाधा नहीं बनने देगा। और उसकी ज़िंदगी इसी गर्म ख़ून से लड़ते बीत गयी है। अपनी सफलता पर उसे गर्व भी है। यद्यपि वह सफलता उसकी विवशता है—नियति !

अश्क आईने के सामने जाता है तो कभी-कभी हँसकर पूछता है—'कहिये ऋषिवर ! कैसे मिज़ाज हैं ? इस लोक में तो मेनकाओं ने आपको परेशान नहीं किया ? विघ्न-बाधाएँ उपस्थित करने के बदले आपकी साधना में योग ही दिया उन्होंने !' ऋषि के होंठ कभी गंभीरता से भिंच जाते हैं और कभी वह मुस्करा देता है, जैसे कहता है—'यदि मैंने लगातार तेरा पथ-निर्देशन किया होता बेटा, तो तेरा भी वही हश्र होता जो पिछले जन्म में मेरा हुआ था।'

प्रख्यात उपन्यासकार, कथाकार, नाटककार एवं कवि...अश्क इस व्यक्ति का

चेहरा भी कभी-कभी आईने में देखता है और वह यह भी जानता है कि यह व्यक्ति 'प्रख्यात' शब्द को काटकर 'महान' लिखना चाहता है, लेकिन उसके आलोचक को यह प्रिज़म्पचुअस (presumptuous) लगता है और वह समझता है कि यह 'करणीय' काम उसे आने वाली पीढ़ियों पर छोड़ देना चाहिए...और 'एवं कवि' के आगे वह संस्मरणकार, निबंधकार, यात्रा-विवरणकार और न जाने क्या-क्या 'कार' लगाना चाहता है, लेकिन उसके प्रकाशक को लगता है कि पंक्ति लम्बी भौंडी और हास्यास्पद हो जायेगी और उसका उचित प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसलिए वह 'एवं कवि' पर ही संतोष कर लेता है।

संस्मरण

रचनात्मक विधा के रूप में संस्मरण-लेखन हिंदी में आज भले ही काफ़ी हद तक गद्य-साहित्य का अंग बन चुका हो, लेकिन 50 के दशक से पहले यह विधा प्रायः विरल ही थी। जो थोड़े-बहुत नमूने मिलते भी थे, वे श्रद्धा-विगलित, भावुकतापूर्ण, परिचयात्मक या प्रभावात्मक निबंधों से आगे नहीं बढ़ पाये थे। गद्य की जिस निःसंग शैली, प्रवहमान भाषा और वस्तु के बिखराव को टुकड़ों-टुकड़ों में अंकित करने की जिस सहज क्षमता की जरूरत संस्मरण-लेखन के लिए अनिवार्य है, वह दुर्लभ थी। कारण शायद यह है कि संस्मरण लिखना बेहद जोखिम-भरा काम है। संस्मरण लिखते समय सुनी-सुनायी बातों से आगे बढ़कर संस्मरण-लेखक व्यक्तिगत, प्रत्यक्ष संपृक्ति और व्यक्तिगत जानकारी के क्षेत्र में प्रवेश करता है। यही नहीं, बल्कि वह स्वयं एक पात्र होता है। वह जिस निःसंगता से किसी व्यक्ति के चरित्र, स्वभाव अथवा जीवन की सूक्ष्म विशेषताओं और गहराइयों के अंदर पाठकों को झाँकने का अवसर प्रदान करता है, उसी निःसंगता और वस्तुपरकता से उसे अपनी पोल भी खोलनी होती है। यही वजह है कि 50 के दशक में जब अपने दिवंगत सहकर्मी मंटो पर अश्कजी का लम्बा संस्मरण 'मंटो : मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ तो एक तहलका मच गया था। पहली बार हिंदी में एक ऐसी रचना सामने आयी थी, जिसमें तटस्थ निर्ममता के साथ-साथ आस्था, सहानुभूति, स्नेह और सदाशयता से काम लिया गया था। और कहना न होगा कि 'मंटो : मेरा दुश्मन' ने बाद के 'मेरा हमदम : मेरा दोस्त' वाले संस्मरणों से लेकर इन संस्मरणों तक—सभी पर गहरा असर डाला।

क्या इमारत ग़मों ने ढायी है : निराला

पहले-पहल निरालाजी का नाम मैंने अपनी बी० ए० की पाठ्य-पुस्तक में पढ़ा। मैं उन दिनों बड़े ज़ोरों से उर्दू में ग़ज़लें लिखता था। हिंदी की ओर विशेष रुचि न थी। केवल 50 नंबर की हिंदी थी और वे नंबर भी डिवीज़न में शामिल न होते थे, इसलिए छात्र निहायत बेपरवाही से हिंदी पढ़ते थे। हमारे पंडित वयोवृद्ध थे, हमने उनसे मैट्रिक में भी हिंदी पढ़ी थी, एफ़० ए० में भी और जब हमारा कॉलेज बी० ए० तक हो गया और हमारा पहला ग्रुप थर्ड ईयर में बैठा तो वे ही हमें हिंदी पढ़ाने आये। छात्र उनका ज़रा भी रौब न मानते थे, पर वे बड़ी निष्ठा से पढ़ाते थे। निरालाजी की कविता उन्होंने कुछ ऐसी व्याख्या से पढ़ाई कि वह मुझे कंठस्थ हो गयी। यह अजीब बात है कि उस पाठ्य-पुस्तक के किसी कवि का नाम मुझे याद नहीं, केवल दो नाम याद हैं—नाथूराम शर्मा 'शंकर' और पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'। मुझे याद है 'शंकर'जी की कविता भी बड़ी ओज-भरी थी और मुझे वह भी कंठस्थ थी। पर आज यद्यपि उस कविता का एक भी बंद याद नहीं, पर निरालाजी की कविता उसी तरह याद है :

तुम तुंग हिमालय शृंग और
मैं चंचल गति सुर सरिता
तुम विमल हृदय उच्छ्वास
और मैं कांत कामिनी कविता
तुम प्रेम और मैं शांति
तुम सुरापान - घन - अंधकार
मैं हूँ मतवाली भ्रांति

लेकिन निराला हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं—फक्कड़, अलमस्त और औघड़—उनका व्यक्तित्व इतना विशाल और विषम है, यह सब मुझे नहीं मालूम था। कविता मुझे याद रह गयी कि पंडितजी ने बड़े मनोयोग से पढ़ायी थी और मैंने ध्यान से सुनी थी। उसका छंद, प्रवाह और विचारों की गहराई और ऊँचाई मुझे भायी थी और चूंकि कविता याद रह गयी, इसलिए कवि का नाम भी याद रह गया। लेकिन फिर जब 1934-35 में हिंदी की ओर झुका तो निरालाजी मेरे प्रिय

कवि नहीं थे। मेरे मन पर शुरू-शुरू बच्चन का राज था—'मधुबाला' और 'मधु-कलश' की कविताएँ मुझे पूरी-की-पूरी याद थीं और अपने मित्रों को सुनाते हुए मैं झूम उठा करता था। फिर मैंने महादेवी वर्मा का नाम सुना। उनके कविता-संग्रह 'नीरजा' पर कोई पुरस्कार मिला था। मैं एक रुपये में वह पुस्तक ख़रीद लाया था और उसके गीतों को पढ़ते हुए रात भर जागता रहता था। उर्दू-दाँ होने के कारण बच्चन मुझे एकदम अपने से लगते थे—सरस, सुगम और बोधगम्य। महादेवी की कविताएँ सब-की-सब तो समझ में न आयी थीं, पर जाने उसमें कैसा दर्द, कैसी करुणा, कैसा प्रवाह और संगीत था कि समझ में न आने पर भी गुन-गुनाने को मन होता था। मेरी पत्नी क्षय-रोग में ग्रस्त थी, संघर्ष तीव्रतम था, मन उदास रहता था और ऐसे में महादेवी के गीत न जाने मन के किन तारों को झनझना जाते थे। अपनी समझ के अनुसार मैं उनके अर्थ लगाकर रात-दिन उन्हें गुनगुनाया करता था।

निराला के अस्तित्व का चेतन रूप से तब पता चला जब 1935 में पाठकजी (श्री वाचस्पति पाठक) से मेरा परिचय हुआ, जो शीघ्र ही मैत्री में बदल गया। पाठकजी निराला के मित्र ही नहीं थे, भक्त भी थे। वे जब-जब लाहौर आते थे, मेरे ही यहाँ ठहरते थे और कविता में मेरी रुचि देखकर उसके परिष्कार के लिए निराला की कविताएँ सुनाते थे। अजीब बात यह थी कि पाठकजी जिन कविताओं को पढ़ते-पढ़ते झूम जाया करते थे, मुझे उनमें से एक भी अच्छी न लगती थी। उनमें मुझे उस पहली कविता का-सा माधुर्य और रवानी न दिखायी देती थी, जो मैंने कॉलेज में पढ़ी थी। 'हफ़ीज़' जालंधरी और 'अख़्तर' शेरानी तब मेरे प्रिय कवि थे—उनकी सरल, प्रवहमान कविताओं से आशना मेरे कानों को निराला की क्लिष्ट, संस्कृतनिष्ठ, पौरुष भरे प्रतीकों और समासों से बोझिल भाषा-शैली बड़ी अजनबी और कठिन लगती थी। पाठकजी के संसर्ग में मैं 'गुंजन' के कवि को तो पसंद कर पाया, पर निराला बहुत दिन तक मेरी पहुँच से परे रहे। पाठकजी से निराला की कविताएँ और गीत सुनने और समझने पर दिमाग़ उनकी महानता मान लेता था, पर दिल बच्चन, महादेवी और पंत की ओर ही भागता था।

तभी कहीं मैंने निराला का चित्र देखा—गौर वर्ण; उन्नत ललाट; कंधों से [illegible] लहराते केश; तीखी नाक; कमर तक अनावृत, स्वस्थ, सुगठित शरीर—किसी यूनानी देवता-जैसी वह छवि सदा के लिए मानसपट पर अंकित हो गयी। पाठकजी से 'गीतिका' नयी-नयी पढ़ी थी। उस चित्र को देखकर उनकी कविताओं को पढ़ने और समझने का सचेत प्रयास किया और उनसे भेंट करने की प्रबल उत्कंठा जगी। मैं एक वर्ष पहले गोरखपुर के कवि-सम्मेलन में गया था और वापसी पर बच्चन, महादेवी तथा पंतजी के निवास पर जाकर उनसे मिल आया था, लेकिन इस बार फिर इलाहाबाद और बनारस जाने का संयोग हुआ तो मैंने तय किया कि मैं विशेष रूप से लखनऊ जाऊंगा और निरालाजी से मिलकर आऊंगा। उन दिनों '[illegible] दोहावली' के बड़े चर्चे थे और उसके प्रसंग में कई

तरह से निरालाजी का नाम आता था, तरह-तरह की बातें सुनने को मिलती थीं और उनसे भेंट करने को बड़ा मन होता था।

बरसात के दिन थे, सख़्त उमस थी, स्टेशन से उतरते ही पानी पड़ने लगा था। मैं बरसाती बूँदियों में इक्के पर नरोत्तम नागर के यहाँ पहुँचा था और सामान रखते ही मैंने उनसे कहा था कि मैं निरालाजी से मिलने आया हूँ, रात की ही गाड़ी से चला जाऊँगा, संभव हो तो दुलारे लाल भार्गव के भी दर्शन करा दो। नरोत्तम के होंठों पर बड़ी प्यारी मिस्कीन मुस्कराहट फैल गयी थी, जो केवल उनकी अपनी है और जो मुझे तब ख़ाह-म-ख़ाह कुटिल लगी थी कि मैं उनकी एक पुस्तक 'एक मातृ-व्रत' पढ़ चुका था और 'चकल्लस' में भी उनके व्यंग्यपूर्ण लेख पढ़ता था। 'अरे भाई आप बैठिये तो, आपको सबसे मिला देंगे।' उन्होंने कहा।

'गंगा पुस्तक-माला' का दफ़्तर कहीं पास ही में था। नरोत्तम मुझे पहले वहीं ले गये। दुलारेलालजी से मिलकर निराला से मिलने को और भी मन हुआ। इक्के पर बैठकर हम उनके यहाँ गये। (तब वे कहाँ रहते थे, मुझे याद नहीं, इतना याद है कि नरोत्तम के घर से काफ़ी दूर रहते थे और वहाँ कहीं निकट ही घास की सट्टी थी।) दूसरी मंज़िल के एक कमरे में तहमद लगाये, नंगे बदन में वे बैठे थे। नरोत्तम ने मेरा परिचय दिया। 'विशाल भारत' में मेरी दो-तीन कविताएँ और कहानियाँ छपी थीं और 'सरस्वती' और 'हंस' में लगातार मैं लिखने लगा था। मेरी कहानी 'डाची' की उन दिनों बड़ी चर्चा थी। श्री विनोद शंकर व्यास ने उसे 'मधुकरी' के लिए ले लिया था। नरोत्तम ने शायद यही कुछ उन्हें बताया। निरालाजी कुछ उद्विग्न हो उठे। खूँटी पर टँगा कुर्ता उन्होंने पहना और बोले, 'चलो चौक चलें, वहीं तुम्हें कुछ खिलाते-पिलाते हैं।'

मुझे उस भेंट के बारे में और कुछ भी याद नहीं। निरालाजी ने क्या बातें कीं, मैंने कुछ कहा या नहीं, कुछ भी तो याद नहीं। केवल इतना याद है कि हल्की-हल्की बूँदियाँ पड़ रही हैं और वे मस्त बाज़ार में चले जा रहे हैं और मैं तथा नरोत्तम उनके अगल-बग़ल हैं।...फिर एक रेस्तराँ में हम बैठे हैं, निरालाजी उस रेस्तराँ में समा नहीं पाते, लोहे की कुर्सी पर बैठे, वे गोल मेज़ पर कोहनियाँ टिकाये हैं और वह मेज़-कुर्सी बहुत छोटी लगती है और वे शामी कबाब का आर्डर देते हैं, मुझे सानुरोध खिलाते हैं और ख़ूब खाने और स्वस्थ रहने की नसीहत करते हैं।

मैंने बाद में निरालाजी को कई बार देखा। पर यह चित्र सदा मेरे दिमाग़ पर नक़्श रहा और उस आत्मीयतापूर्ण व्यवहार की याद आज भी मेरे मन में सुरक्षित है।...लेकिन इसके बावजूद मैं न उनके निकट हो सका, न उनके प्रति मन में श्रद्धा उमगी।

उनका यूनानी देवताओं का-सा रूप, निर्व्याज बेतकल्लुफ़ी, अलमस्त फक्कड़पन मुझे अपनी ओर खींचता था, लेकिन उनका दुर्निवार अहम्, दूसरों को दिखाकर और कई बार चिढ़ाकर खाना-पीना और उड़ाना मुझे परे धकेलता था।

अहम् कहाँ नहीं है और किसमें नहीं है। 'दरीचे के क़रीब' नामक अपनी

प्रसिद्ध कविता में नयी उर्दू कविता का बानी—कवि राशिद—खिड़की से नीचे बाजार में बहता हुआ लोगों का बेपनाह हूजूम देखता है और देखता है कि :

इनमे हर शख़्स के सीने के किसी गोशे में
एक दुलहन-सी बनी बैठी है
टिमटिमाती हुई नन्हीं-सी खुदी की क़िंदील

लेकिन किसी में भी इतनी तवानाई (शक्ति) नहीं कि वह लपलपाकर ज्वाला बन जाये।...अहम् की वह क़िंदील जहाँ ज्वाला बन जाती है, न केवल दिखायी देती है, वरन् चौंधियाती है, खलती है। आज जब किसी का अहम् खलता है तो अपने अहम् की याद आ जाती है, लेकिन तब अपने अहम् का ज्ञान न था और दूसरों ही का अहम् खलता था। निराला का अहम् उनके व्यक्तित्व ही की भाँति महान और उदार था और शिष्टाचार के पर्दे उसे ढाँप न पाते थे। अंधे को भी उसकी ज्वाला दिखायी दे जाती थी और तब चूँकि अपने अहम् का भान न था, इसलिए निराला का वह लपलपाता अहम् मुझे बेतरह खलता था।

फिर दुर्भाग्य से माँ ने जिन दो-तीन चीज़ों के विरुद्ध मन में घृणा का भाव पैदा कर दिया था, वे सब निराला के यहाँ प्रचुर मात्रा में थीं। आज मैं खा भी लेता हूँ, पी भी लेता हूँ और उदारता को बड़ा गुण मानता हूँ, जो साधारण आदमी के बस का नहीं, पर इन्हीं तीनों के कारण माँ ने और हम छह भाइयों ने बचपन से जो यातनाएँ सहीं, उनके सबब मन में इनके प्रति अनायास ही विरोध का भाव था। मेरे पिता बड़े मनमौजी, फक्कड़, दबंग, घर-फूँक तमाशा देखने वाले तथा जी-भर खाने-पीने और उड़ाने वाले आदमी थे। अपने डिवीजन में उनका दबदबा था और चाहे उनके अपने बेटे अभाव में पलते थे, पर उनकी उदारता पर पलने वाले, उनके साथ खाने-पीने-उड़ाने वाले बेटों की कमी न थी। ऐसे स्टेशनों पर, जहाँ बस्ती का निशान न था, दूर-दराज़ से उनके साथ खाने-पीने वाले आ जुटते थे। माँ उपेक्षा से कहती थीं—'भैड़े-भैड़े यार मेरी फत्तो दे'—कौल के पक्के, किसी को यदि कोई वचन दिया तो गहने या घर गिरवी रखकर निभाया। उनकी उदारता और उद्दंडता के बीसियों किस्से प्रचलित थे, पर हम—उनके बेटों—ने उनकी इसी उदारता के कारण न बचपन में बचपन देखा, न युवावस्था में जवानी। उनका औदार्य चकित करता था, पर हमारे मन में नफ़रत भी जगाता था। इन्हीं संस्कारों के कारण निराला का व्यक्तित्व मेरे लिए सदा आकर्षण-विकर्षण का केंद्र रहा। मैं जब-जब उनके निकट-संपर्क में आया, मुझे इन परस्पर विरोधी भावनाओं का एहसास हुआ—कभी पहले आकर्षण और फिर विकर्षण, कभी पहले विकर्षण और फिर आकर्षण...

...शायद 1939 की बात है। शिमला में अखिल भारतीय हिंदी साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसके अंतर्गत कवि-सम्मेलन में भाग लेने पाठकजी के साथ मैं भी पहुँचा। वहाँ चोर-बाज़ार की प्रसिद्ध धर्मशाला के ऊपर बने सिनेमा-हॉल में

हमें ले जाया गया, जो शायद नया-नया बना था, पर चालू न हुआ था। लकड़ी का साफ़ चमकता फ़र्श, लकड़ी का स्टेज—वहीं सब आगत कविगण ठहरे थे। मुझे अच्छी तरह याद है, निरालाजी बीच हॉल में बिस्तर लगाये बैठे थे और लोगों को चिढ़ाने के लिए बोतल रखे हुए पी रहे थे और अनायास मुझे धक्का-सा लगा था। अजीब बात है कि मैं उन दिनों 'अख़्तर' शेरानी का प्रशंसक था, और उनके यहाँ लगातार जाता था। 'अख़्तर' आठों याम धुत्त रहते थे। पर मुझे विकर्षण न होता था। शायद इसका कारण यह हो कि वे कभी सामने न पीते थे। बातें करते-करते उठकर चले जाते थे और अंदर स्नानागार में रखी बोतल से पी आते थे। अतीव भोले और उदार थे। उनको देखकर मन उदास हो आता था, पर उसमें वितृष्णा न जगती थी। लेकिन निराला को यों चौड़े-दिहाड़े, दूसरों को चिढ़ाकर, पीते देख वितृष्णा हुई थी। अब तो ज़िंदगी ने मुझे व्यक्ति को न देखकर उसके कृतित्व को देखना-परखना और उसकी प्रशंसा करना सिखा दिया है, पर तब चेतना उतनी जगी न थी, व्यक्ति के व्यवहार के कारणों को ढूँढ़ना और उनसे सहानुभूति करना न आया था और मुझे निरालाजी का वह रूप अखरा था।...रात कवि-सम्मेलन में एक ऐसी घटना हो गयी कि उस वितृष्णा पर एक और परत चढ़ गयी।

बात यह है कि उन दिनों मैं नया-नया हिंदी में लिखने लगा था और जैसे नया मुसलमान अल्लाह-ही-अल्लाह चिल्लाता है, मैं भी हिंदी के गुण गाता था। लाहौर उर्दू-लेखकों का गढ़ था, जिनमें केवल मैं हिंदी में लिखने लगा था। मुझे बड़े विरोध का सामना करना पड़ता था—'अजी साहब। हिंदी भी कोई भाषा है?' या 'अरे मियाँ! इस किंतू-परंतू, अथवा अस्तू वाली भाषा में भी लतीफ़ शायरी हो सकती है?' ऐसे वाक्य मुझे प्रायः सुनने पड़ते थे और मैं उत्तर में अपनी विनोदवृत्ति को भूल, (वह हिस तब मुझमें इतनी जगी भी न थी) एकदम गंभीर हो जाता था और महादेवी और निराला की कविताएँ सुनाता और उनकी लताफ़त और नज़ाकत अपने उर्दू-दाँ दोस्तों को समझाता था। उक्त कवि-सम्मेलन से दो दिन पहले कदाचित 'डेविको बॉलरूम' में अखिल भारतीय उर्दू मुशायरा हुआ था और शिमले भर में उसकी चर्चा थी। कवि-सम्मेलन सुनने जो लोग आये, उनमें से अधिकांश ने मुशायरा सुना था और हम पंजाबियों की यह आकांक्षा थी कि हिंदी कवि-सम्मेलन उस मुशायरे से बढ़कर रहे। उस ज़माने में टेप-रिकॉर्डिंग का आविष्कार न हुआ था। शिमला में रेडियो-स्टेशन न था और बाहर के प्रोग्राम विशेष लाइनों पर सीधे रिले होते थे। रेडियो में उर्दू वालों का बोल-बाला था। ऑल इंडिया मुशायरे प्रायः ब्रॉडकॉस्ट होते थे, पर कवि-सम्मेलनों को कोई न पूछता था। लेकिन 'सम्मेलन' के संयोजकों ने सरकार पर ज़ोर डालकर उसकी रिले का प्रबंध किया था और जैसे दो दिन पहले होने वाला ऑल-इंडिया मुशायरा रिले हुआ था, उसी तरह यह अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन भी आध घंटे के लिए रिले होने जा रहा था। संयोजकों ने आगत कवियों में से प्रमुख के नाम उस आध घंटे में पढ़ने वालों में रखे थे। लेकिन दुर्भाग्य से कवि-सम्मेलन के सभापति थे श्री गया-

प्रसादजी शुक्ल 'सनेही'—ब्रजभाषा के प्रसिद्ध अखाड़िये कवि। उन्होंने अध्यक्षीय उद्घाटन भाषण में खड़ी-बोली के नये कवियों पर कुछ आक्षेप कर दिया। क्रुद्ध होकर निरालाजी ने घोषणा की कि खड़ी बोली का कोई भी कवि इस सम्मेलन में कविता नहीं पढ़ेगा।

उन दिनों कवि-सम्मेलनों में बच्चन की तूती बोलती थी। बच्चन एक बार पहले पंजाब का दौरा कर अपनी धूम भी मचा गये थे। श्रोताओं में से अधिकांश उन्हीं को सुनने आये हुए थे, लेकिन निराला की घोषणा के बाद बच्चन और रामकुमार वर्मा ने ही नहीं, छोटे कवियों तक ने पढ़ने से इनकार कर दिया। खैर रेडियो की रिले का समय आ गया और किसी तरह 'सनेहीजी' के ग्रुप के तथा कुछ ऐसे पंजाबी कवियों की सहायता से, जिनका उस सूची में कहीं नाम तक न था, रेडियो का कार्यक्रम चलाया गया। बच्चन ने अंत में किसी शरारती बच्चे की तरह यह कहकर कि वे पढ़ेंगे, रेडियो पर कवि-सम्मेलन का विरोध करने की भी कोशिश की।

जब श्रोताओं को पता चला कि बच्चन नहीं पढ़ेंगे तो वह शोर मचा कि खुदा की पनाह। एक तो श्रोता पंजाबी, दूसरे टिकट खर्च कर आये हुए। बच्चन को सुने बिना लोगों ने न केवल स्वयं हॉल छोड़ने से इनकार कर दिया, बल्कि किसी कवि को हॉल से बाहर न जाने देने की घोषणा कर दी। तब जाने 'सनेहीजी' ने अपने आक्षेप पर अफ़सोस प्रकट किया, या जाने संयोजकों ने निरालाजी से अपनी स्थिति की रक्षा चाही अथवा निरालाजी को ही ख़याल आया कि उनका विरोध उनका मनचीता प्रभाव उत्पन्न कर चुका है, वे मोम हो गये और मंच पर खड़े होकर उन्होंने बड़े ही ओजपूर्ण शब्दों में अपनी बात कहते हुए नयी कविता की महत्ता जतायी और श्रोताओं को आश्वासन दिया कि सब लोग कविताएँ पढ़ेंगे और आपको पूर्णतः संतुष्ट करके तभी हॉल छोड़ेंगे। और सबसे पहले उन्होंने स्वयं कविता सुनाने की घोषणा की। सम्मेलन का संचालन तब 'सनेही' नहीं, जैसे निराला ही कर रहे थे।

उस मानसिक स्थिति में, जिसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ, मैं मन में बेहद भरा बैठा था। मैंने उस कवि-सम्मेलन में कविता पढ़ी थी और मेरी कविता इतनी जमी थी कि मुझे प्रसन्नता भी हुई थी, पर हिंदी वालों के उस झगड़े और गुटबंदी का मेरा वह पहला अनुभव था। मुझे यह मानापमान एकदम निरर्थक लगता था। मुझे वह न केवल हिंदी का, बल्कि पंजाब के हिंदी-भाषियों का अपमान लगता था। लेकिन निराला जब कविता पढ़ने लगे—उन्होंने पहले 'जूही की कली' और फिर शायद 'वह तोड़ती पत्थर' कविताएँ सुनायीं—तो मैं अपनी सब खिन्नता और क्रोध भूलकर मंत्र-मुग्ध-सा उन्हें देखता रह गया। कविताओं से कहीं ज़्यादा मुझे उनका कविता पढ़ना भाया। बच्चन प्रायः घुटनों के बल बैठकर कविता पढ़ते थे, दूसरे कवि भी प्रायः बैठकर ही कविता पढ़ते थे, लेकिन निराला अपने व्यक्तित्व की भव्यता से जैसे मंच को आच्छादित करते हुए, पूरे हाव-भाव से कविता पढ़

रहे थे और उनकी खिन्नता मिट गयी थी और कविता पढ़ते समय की उनकी सारी भंगिमाएँ मेरे मानस पर अंकित हो गयीं।

...फिर 1941 में हिंदी सलाहकार के रूप में मैं दिल्ली रेडियो पर आ गया। शायद हिंदी वाले बहुत शोर मचा रहे थे। उन्हें शांत करने के लिए कुछ हिंदी की वार्ता-मालाएँ प्रसारित करने की ज़रूरत समझी गयी थी, तभी हिंदी सलाहकार की आवश्यकता पड़ी थी। मैं अपनी घरेलू परेशानी के कारण घर और नौकरी छोड़-कर बँगलौर भाग जाने का निश्चय कर चुका था कि मेरे कथाकार मित्र कृष्णचद्र ने मुझे वहाँ बुला लिया। मुझसे पहले अज्ञेय ग़ैर-सरकारी तौर पर यही काम करते थे और प्रायः अपने मित्रों और परिचितों को बुलाया करते थे। उनके द्वारा बनायी गयी सूची में कुछ ऐसे भी नाम देखे, जिनकी कोई रचना मैंने कभी न पढ़ी थी। बहरहाल उस सूची को तिलांजलि देकर मैंने नयी सूची बनायी, नयी वार्ता-मालाएँ तजवीज़ीं और उस ज़माने का कोई ही ऐसा प्रमुख साहित्यकार होगा, जिसे मैंने अपनी नौकरी के पहले वर्ष दिल्ली बुलाने का प्रयास नहीं किया। नहीं बुला सका तो एक जैनेन्द्र और दूसरे निराला को। जैनेन्द्र मेरे मित्र थे, अत्यंत घनिष्ठ। उन्होंने स्वयं ही मुझसे कहा था कि मैं उनके लिए कुछ करूँ। और जब मैंने जन्माष्टमी पर मथुरा की ओ० बी के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया तो यद्यपि मैंने जबानी उनकी अनुमति ले ली थी, पर जब उन्होंने कॉन्ट्रैक्ट नहीं भेजा और मैं उनके यहाँ गया तो प्रकट उन्होंने यही कहा कि बुख़ारी (श्री० ए० एस० बुख़ारी, जो 'पतरस' के छद्म नाम से प्रसिद्ध थे और ऑल इडिया रेडियो के कंट्रोलर थे) बुलाने आयें तो मैं जाऊँ, पर इशारे-इशारे में यह भी जता दिया कि उन्हें पारिश्रमिक कम दिया जा रहा है।...निरालाजी के बारे में पता चला कि उन्हें बुलाने का प्रयास किया गया है, वे 101 रुपये फ़ीस माँगते हैं। उस वक्त रेडियो पर केवल 25 रुपये मिला करते थे। आज भी, जब हिंदी राष्ट्र भाषा हो गयी है, कवियों की फ़ीस 30 या 50 से ज़्यादा नहीं हुई, जो उस वक्त के चार-पाँच रुपये के बराबर है। वह तो उर्दू वालों का ज़माना था। मैं नये मुसलमान की-सी अपनी मानसिक स्थिति बता ही चुका हूँ, हिंदी-उर्दू के उस झगड़े में मेरा ख़याल था कि हिंदी वालों को ज्यादा-से-ज्यादा रेडियो पर आकर हिंदी का प्रचार करना चाहिए। बाहर ख़ूब शोर भी मचाना चाहिए, पर रेडियो पर आने का कोई भी अवसर हाथ से न जाने देना चाहिए। जैनेन्द्र तो बाद में आये भी, पर निरालाजी एक बार नहीं आये तो फिर नहीं ही आये। जैनेन्द्र के अहम् को मैंने कई रूपों में देखा है, पर जहाँ उनका अहम् कभी-कभी दयनीय हो उठता है, वहाँ निराला के अहम् को मैंने कभी दयनीय होते नही देखा, उनके अहम् में बनावट का स्पर्श मैंने नही पाया —अक्खड़, उद्दंड, लेकिन उनके व्यक्तित्व ही की तरह मसलहतों से बेनियाज़, गणनाओं से परे, ऊर्ध्वमुखी और दुर्दमनीय।

लेकिन अपनी उस मानसिक अवस्था में यह अहम् मुझे एकदम बेकार लगता था और मुझे बेहद खीज होती थी और मेरा आकर्षण फिर विकर्षण में बदलने लगता था...

...फिर शायद 1942 या' 43 की बात है, एक दिन पाठकजी दिल्ली आये और बोले कि चलो अबोहर। तुम्हें ही लिवा ले चलने को हम उतरे हैं।

अबोहर में उस वर्ष 'हिंदी साहित्य-सम्मेलन' का वार्षिक अधिवेशन होने जा रहा था। लेकिन सम्मेलन की राजनीति में मुझे किसी तरह की दिलचस्पी न थी और गंभीर न रह पाने के कारण यों भी मैं अधिवेशनों वग़ैरह से दूर रहता था। यही बात पाठकजी से कहकर मैंने टाल जाना चाहा।

'अरे चलो, हमें कौन-सा वहाँ भाषण देना है।' पाठकजी ने कहा, 'तुम्हारे मित्र भ० प्र० वा० (भगवती प्रसाद वाजपेयी) साहित्य-परिषद के सभापति मनोनीत हुए हैं। उन्हें सभापति के रूप में देखने और उनका भाषण सुनने का सुअवसर फिर कब मिलेगा...'

और मैं तैयार हो गया। गाड़ी में पाठकजी को मैंने अपनी एक नयी कविता सुनायी, जो दिल्ली में अत्यंत लोकप्रिय हुई थी। सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने बताया कि निरालाजी अधिवेशन के अंतर्गत होने वाले कवि-सम्मेलन के सभापति चुने गये हैं। अबोहर में वे निश्चित रूप से होंगे और मैं अपनी वह कविता उन्हें ज़रूर सुनाऊँ।

कविता क्या थी, पैरोडी थी। रेडियो पर उस ज़माने में उर्दू-कवियों और कथाकारों का पूरा जमघट था, किसी के दिमाग़ में ब्रेन-वेव जो आयी तो उसने कहा कि रंगारंग प्रोग्राम में एक 'सौती मुशायरा' किया जाये—यानी ऐसी कविताएँ पढ़ी जायें, जिनमें स्वर तो हो पर अर्थ न हो, लेकिन इस पर भी लगे कि कवि कुछ कह रहा है और उसकी शैली का आभास मिल जाये। फ़ैज़ (फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़') और नदीम (अहमद नदीम क़ासिमी) वहीं मौजूद थे। उन्होंने उसी वक्त चंद शेर चुस्त कर दिये। 'राशिद' (कवि न० मु० राशिद) ने, कि वे प्रोग्राम इंचार्ज थे, मुझसे हिंदी में कविता लिखने को कहा। उस जल्दी में मुझे कुछ न सूझा। जाने कैसे कॉलिज के दिनों की, निराला की वही कविता मुझे याद आ गयी, जो छात्रावस्था में मुझे कंठस्थ हो गयी थी और मैंने अर्थ-हीन स्वरों में उसकी पैरोडी कर दी। मेरी कविता ऐसी जमी कि जब कुछ ही दिन बाद दिल्ली के किसी कॉलेज में एक कवि-सम्मेलन हुआ तो गिरिजाकुमार माथुर ने, जो रेडियो पर वह कविता सुन चुके थे, अनुरोध किया कि मैं वही कविता पढ़ूँ। चूँकि निरालाजी को शिमला के कवि सम्मेलन में कविता पढ़ते मैंने देखा था और उनकी भंगिमाएँ मेरे दिमाग़ पर नक़्श थीं, इसलिए मैंने मंच पर पूरे हाव-भाव के साथ निरालाजी की तरह वह कविता पढ़ी। अर्थ तो थे नहीं, स्वर ऐसे थे कि अर्थ का आभास देते थे। हाव-भाव और एक्टिंग प्रमुख थी। मारे हँसी के छात्र लोट-पोट हो गये।

अपने विकर्षण की बात मैं कह ही चुका हूँ। शायद साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन के अवसर पर गेस्ट-हाउस में निरालाजी ठहरे हुए थे। बैरे से उन्होंने मुर्ग़-मुसल्लम बनाने को कहा था और पाठकजी के मित्र के नाते मुझे भी बुला लिया था। मुर्ग़ शायद बुड्ढा था अथवा बैरा अच्छी तरह पका न सका था। मैं संकोचवश बैठ गया था, मुझसे वह खाया न जाता था, निरालाजी मज़े से उसे चींथते रहे और मुझे चिढ़ाते रहे। फिर वहीं खाना खाकर जाने कहाँ से उन्होंने इत्र की शीशी निकाली और पाठकजी के या शायद किसी दूसरे के सिर पर पूरी-की-पूरी उलट दी। मेरे लिए वह सब एकदम अजीब था और मैं उनकी उपस्थिति से सदा कतराता था, दूर से उन्हें देखता था, पर निकट न जाता था। मैंने पाठकजी से कहा कि मैं कविता नहीं सुनाऊँगा, जाने वे नाराज़ हो जायें।

लेकिन पाठकजी कब मानने वाले थे, उनकी विनोद-वृत्ति की कोई सीमा नहीं। मध्याह्न को निरालाजी के कमरे में महफ़िल जमी हुई थी। निरालाजी मसनद के सहारे अध-लेटे अध-बैठे थे और कुछ कवि अपनी कविताएँ उन्हें सुना रहे थे कि पाठकजी ने कहा कि अश्क ने एक मज़ेदार कविता लिखी है—और मुझे आदेश दिया कि मैं सुनाऊँ।

मैं सकुचाया तो निरालाजी ने कहा, 'सुनाओ!'

तब किसी तरह की भूमिका के बिना मैं पूरे हाव-भाव के साथ कविता पढ़ने लगा :

तुम पाम दाम के ढलमठाम
मैं पाल पलीपलपील
तुम हरम चरम के तुलमताम
मैं तरर-तामली तील
तुम द्रम्य और मैं द्रान्ति
तुम धुरामान धुम धुँधभार
मैं चीम जीम जुम जान्ति
तुम शुर्गां शुर्गां के कान कीम...

कि निरालाजी ने कहा, 'अरे भाई इसका कोई मतलब भी है?' और ज़ोर से ठहाका मारकर हँस दिये।

मैंने पूरी कविता सुनायी तो उन्हें इतना लुत्फ़ आया कि रात को जब उनके सभापतित्व में कवि-सम्मेलन हुआ और मेरी बारी आयी और मैं अपनी एक प्रिय कविता (जिसका शीर्षक भी तब 'तुम और मैं' था) सुनाकर चलने लगा, तो उन्होंने वही पैरोडी सुनाने का अनुरोध किया।

अबोहर का वह कवि सम्मेलन बेहद दिलचस्प था—कवियों के कारण नहीं, श्रोताओं के कारण। पंजाब में तब उर्दू का साम्राज्य था। शहरों में छिट-पुट हिंदी के केन्द्र थे। अबोहर बहावलपुर रियासत के साथ लगने के कारण हिंदी के लिए एकदम मरु था। स्वामी केशवानंद के कारण वहाँ हिंदी का एक बहुत बड़ा पुस्त-

कालय स्थापित हो गया था, प्रचार-केन्द्र भी थे, मंडी में कुछ मारवाड़ी हिंदी में दिलचस्पी भी लेते थे, पर मंच के आगे श्रोताओं में जो लोग बैठे थे, उनमें सिर पर बड़े-बड़े चौक (गुम्बद के आकार का गहना) सजाये और घाघरे पहने बैठी स्त्रियों का बाहुल्य था। मैंने श्रोताओं से कहा कि जो कविता मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, उसको समझने का कष्ट करने की जरूरत नहीं, केवल सुनने और देखने का कष्ट करने की जरूरत है और चूंकि निरालाजी ने स्वयं कहा था, किसी प्रकार का संकोच न था, मैंने मुक्त-भाव से कविता पढ़ी। पहले ही बंद के बाद सभा-मंडप क़हक़हा-ज़ार बन गया और जब मैंने निरालाजी ही की तरह हवा में बाँह झटकते हुए कहा :

तुम दंदित फंदित दगन दीन,
मैं हुकुर पुकुर खर पारि।

तो वो ठहाका गूँजा कि उसकी अनुगूँज माइक पर भी सुनायी दी...निरालाजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होने मंच से उतरते वक्त मेरी पीठ थपथपा दी। वहीं बच्चन ने कहा, 'तुम्हारी इस हुकुर-पुकुर खर पारि के बाद अब कौन जमेगा।'

कहने की जरूरत नही कि निरालाजी की वह सरलता, उदारता—विशेषकर अपनी उस ऊँचे भावों से गुम्फित कविता की ऐसी पैरोडी सुनकर नाराज़ होने के बदले खूब प्रसन्न होना—मुझे बड़ा अच्छा लगा। पाठकजी तो मेरे साथ मेरे छोटे भाई के यहाँ ठहरे थे, जो वहाँ म्युनिसिपल कमेटी में मुलाज़िम हैं। उनका अपना मकान है, गाय है, खाने के शौकीन हैं और हमें किसी तरह की कठिनाई न थी। लेकिन पाठकजी निराला के संबंध में चिंतित थे। उन्हीं के आदेश पर मैंने निरालाजी को दोपहर के खाने पर निमंत्रित किया और उन्होंने सरलता से स्वीकार कर लिया।

मुझे उस दिन की भी पूरी याद है, क्योंकि कुल मिलाकर मुझे खुशी नहीं हुई थी। वितृष्णा ही हुई थी। मेरा वह आकर्षण फिर विकर्षण में बदल गया था।

मैं निरालाजी को अच्छी तरह न जानता था—न उनके मूड्स से परिचित था, न असंतुलन से, न विक्षिप्तता से। दूसरे दिन अधिवेशन के बाद मैं, पाठकजी और निरालाजी पैदल ही घर की ओर चल दिये। मेरे भाई का घर सभा-मंडप से कोई आध-एक मील पर था। निरालाजी कुछ दूर तक तो पाठकजी से बात करते रहे, फिर कुछ परे हो गये और अपने आप अंग्रेज़ी में बड़बड़ाने लगे। बार-बार उनके होंठों पर एक प्रसिद्ध महिला का नाम आता था। कुछ दूर तक मैं पाठकजी के साथ बातें करता चलता रहा, फिर मेरा ध्यान बार-बार उनकी ओर जाने लगा। आखिर मैंने पाठकजी से पूछ ही लिया। उन्होने कहा, 'तुम उनकी चिंता न करो, उनकी ऐसी ही आदत है।'...पर कोशिश करने पर भी मैं पाठकजी से बातचीत न कर सका और न उधर से ध्यान हटा सका।

घर पहुँचकर निरालाजी फिर नॉर्मल हो गये। प्रसन्नता से उन्होंने खाना खाया। खाने की प्रशंसा की। फिर उन्होंने मुझसे कवि 'राशिद' की कविताएँ

सुनीं और फिर जैसे मेरा दाय देकर उन्होंने मुझे एक ओर कर दिया। जब मैंने उनकी बातों के बीच में कुछ कहना चाहा तो उन्होंने मुझे झिड़क दिया। मैं उन्हें वापस छोड़ने गया और मेरा मन बड़ा खिन्न रहा। मेरी दशा उस मेज़बान की-सी थी, जो अपने मेहमान को प्रसन्न करने के लिए सब कुछ करे, पर उसे लगे कि कहीं कुछ त्रुटि रह गयी है और उस त्रुटि को जान न पाये और कभी अपने ऊपर खीझे और कभी अपने मेहमान पर...पिछली रात का वह आकर्षण फिर एक अव्यक्त विकर्षण में बदल गया।

फिर कई वर्ष तक निरालाजी से भेंट नहीं हुई। मैं बंबई चला गया। फ़िल्मी जीवन में न खो जाने और अपने साहित्यिक को बचाने के प्रयास में बीमार हो गया। 1948 के शुरू में जब सारी जमा-पूंजी बीमारी की भेंट हो गयी थी और साज-सामान पाकिस्तान की और बीमारी से पूरी तरह मुक्त न हुआ था और भविष्य के संबंध में चिंतित था कि मेरे छोटे भाई ने चिट्ठी के साथ किसी समाचार-पत्र का एक तराशा भेजा, जिससे मालूम हुआ कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने निरालाजी को और मुझे बीमारी के कारण 5000 रु० का अनुदान दिया है और तब मुझे पता चला कि निरालाजी बीमार हैं।

अनुदान 5000 रु० का नहीं, दो सौ रुपये महीने का था। मेरे भाई की चिट्ठी के साथ ही, पहले स्वर्गीया होमवती देवी की और फिर श्रीमती महादेवी वर्मा की चिट्ठियाँ मिलीं। मेरे पास पैसा खत्म हो गया था, अभी मैं नेगिटिव न हुआ था, कुछ महीने और वहाँ रहने की समस्या थी। जब महादेवीजी के पत्र से मालूम हुआ कि इकट्ठा रुपया नहीं मिल सकता और 200 रुपया महीना 'साहित्यकार संसद' द्वारा ही मिलेगा तो मैंने बाबू संपूर्णानंदजी को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा और अपनी स्थिति समझायी कि मुझे इकट्ठा रुपया मिलना चाहिए ताकि मैं कुछ महीने और पंचगनी रह सकूं। उन्होंने लौटती डाक अपने हाथ से बड़ा स्नेह-भरा पत्र लिखा कि साल-ब-साल ग्रांट स्वीकृत होती है और वे साल भर के अनुदान का 2400 रुपया वहीं भिजवा रहे हैं।

कुछ महीने बाद मैं नेगिटिव हो गया और पंचगनी छोड़ने की समस्या उपस्थित हुई तो मैंने इलाहाबाद ही को चुना—जहाँ पाठकजी थे, श्रीपत राय थे और जहाँ की सरकार ने बिन मांगे बीमारी में मेरी सहायता की थी।

गत बारह वर्ष से मैं इलाहाबाद में हूँ और निरालाजी भी यहीं थे, पर मैं तीन बार से ज्यादा उनसे नहीं मिल सका और उन तीनों मुलाक़ातों की स्मृति मन में स्पष्ट रूप से अंकित है कि उनमें उनके मनोविज्ञान का एक-एक सूत्र निहित है। मुझे चाहे तीनों बार उनसे मिलकर किंचित विकर्षण हुआ, पर उन्हें समझने के सूत्र भी हाथ लगे और मेरे निकट दूसरे के मन को समझना ही स्वीकारना है।

...पहली बार, यह जानकर कि वे पाठकजी के यहाँ आये हुए हैं, मैं

मिलने गया। वे कमरे में टहल रहे थे और कुछ अपने आप बड़बड़ा रहे थे। मैं प्रणाम कर तख्त के कोने पर बैठ गया तो उन्होंने मेरा हाल-चाल पूछा। उन्हीं दिनों शायद 'संगम' में या किसी दूसरी पत्रिका में उनकी एक कविता मुझे बड़ी अच्छी लगी थी। मैंने उसकी प्रशंसा की तो उन्होंने कुछ नहीं कहा। फिर टहलने लगे—उसी तरह बड़बड़ाते हुए—लेकिन टहलते-टहलते पत्रिकाओं में से एक-एक कर उन्होंने तीन-चार पत्र-पत्रिकाएं निकालीं, जिनमें उनकी कविताएं थीं और उन पृष्ठों को खोलकर, जिन पृष्ठों पर कि कविताएं छपी थीं, वे उन्हें मेरे सामने रखते गये। और फिर उसी तरह बड़बड़ाते टहलने लगे।

मैंने कविताएं पढ़ने का प्रयास किया, लेकिन नहीं पढ़ सका। मेरा ध्यान वार-वार उस मानसिक अस्वस्थता की परतों के कहीं नीचे छिपे चेतन अहं की वात सोचने लगा और कविताओं के शब्द दिखकर भी अदृश्य होते गये, मन सहसा उदास हो आया और मैं कुछ क्षण बैठकर उन्हें प्रणाम कर चला आया।

...दूसरी वार एक-आध महीने वाद ही मैं और कौशल्या डॉक्टर जगदीश गुप्त के यहाँ दारागंज गये। वापसी पर कौशल्या ने इच्छा प्रकट की कि निराला-जी के दर्शन करते चलें। मैं टालना चाहता था, पर कुछ जगदीशजी की उपस्थिति के कारण और कुछ पत्नी के भावुक अनुरोध की रक्षा में, चला गया। पत्नी उन्हें प्रणाम कर वैठ गयीं, जगदीशजी भी वैठ गये, मैं अभी खड़ा ही था कि निरालाजी ने अत्यंत क्रुद्ध हो मुझे डांटना शुरू कर दिया कि मैंने सरकार को ठग-कर उससे हजारों लूट लिये हैं और मैं विक गया हूँ आदि-आदि...मेरी दृष्टि कौशल्या पर गयी। उसका चेहरा उतर गया था। कोई वरावर वाला होता तो मैं मुंह-तोड़ जवाव देता अथवा घंटों उसका मजाक वनाता, वड़ा होता तो समझाने की कोशिश करता कि रुपया मैंने नहीं लिया, मेरी पत्नी ने मेरी वीमारी में लिया है, समुचित व्याज पर लिया है और वह व्याज समेत उसकी किस्तें चुका रही है। पर उन्हें यह सव वताना व्यर्थ लगा। क्रोध जरूर आया—उन पर नहीं कि उनकी मानसिक दशा से मैं परिचित था, उन साहित्यिक वंधुओं पर, जो दो दिन पहले उनसे मिलने गये थे और शायद उनके कान में वह सव डाल आये थे। मुझे मालूम था कि उन्हीं में से एक महानुभाव ने स्व० गोविंद वल्लभ पंत से ऐसा ही कुछ कहकर मेरा अनुदान वंद करा दिया था। पर उस सव क्रोध में भी क्षण भर को उसी अचेतना की परतों के नीचे छिपी उनकी चेतना का ध्यान हो आया जो सरकार को धोखा देकर रुपया लेने की वुराई जानती थी और सरकारी सहा-यता को (अपने मतानुसार) ग़लत मानती थी।

फिर मैं उनसे मिलने नहीं गया। कई वार वे लीडर प्रेस आये, कलकत्ता में उनका अभिनंदन हुआ, सम्मेलन में उनके सभापतित्व में कोई सभा हुई, पर मैं नहीं गया। लेकिन गत वर्ष जब एक दिन नागरजी (श्री अमृतलाल नागर) से सुना कि वे वहुत वीमार हैं और नागरजी उनसे मिलने जा रहे हैं तो मैं नहीं रह सका। मैंने नागरजी से अपनी इच्छा प्रकट की, पर साथ ही पिछली भेंट का उल्लेख करते

हुए डर का इज़हार भी किया। नागरजी ने कहा कि मैं ज़रूर चलूँ और निराला-जी बड़े प्रसन्न होंगे और नागर कोई ऐसी-वैसी बात नहीं होने देंगे। और मैं तैयार हो गया। अमृतराय निराला के परम भक्त हैं, वे ही अपनी कार में नागरजी को ले जा रहे थे, मुझे भी कृपापूर्वक उन्होंने कार में बैठा लिया। रास्ते में नागरजी निरंतर निराला के संस्मरण सुनाते रहे।

हम पहुँचे तो निरालाजी बायीं ओर तख्त पर बैठे थे। मैं उन्हें 'नमस्कार' कर सामने जा बैठा, नागर उनके चरण छू तख्त के सामने लगी कुर्सी पर बैठ गये; अमृत उनके पास ही तख्त के किनारे बैठे और अभिभूत होकर उन्होंने उनकी तबीयत का हाल पूछा। निरालाजी ने एक नज़र मुझ पर डाली। शायद उन्होंने मुझे नहीं पहचाना। फिर वे अमृत की ओर मुड़े और उन्होंने नागरजी से उनका परिचय चाहा।

नागरजी ने बताया कि प्रेमचंद के सुपुत्र हैं।

'बड़के कि छुटके ?' निरालाजी ने पूछा।

'छोटे।'

'यू आर बॉर्न विद ए सिलवर स्पून इन योर माऊथ।' निरालाजी ने गुरु-गंभीर वाणी में अमृत की ओर देखकर कहा।

तभी दो-तीन लड़कियाँ उनके दर्शनों को आ गयीं। अमृत उठकर नागरजी के बराबर दूसरी कुर्सी पर जा बैठा। लड़कियाँ निरालाजी के साथ ही सिकुड़-सिमट-कर बैठ गयीं। नागरजी अथवा वहीं बैठे किसी दूसरे महानुभाव ने एक लड़की से निरालाजी का कोई गीत गाकर सुनाने को कहा। कुछ संकोच के साथ वह निराला-जी का एक गीत गाने लगी।

लड़की ने मुश्किल से एक चरण गाया होगा कि निरालाजी कुछ बड़बड़ाने लगे...हार्मोनियम और तबला और रियाज़—यही शब्द सुनायी दिये, फिर वे कुछ उद्विग्न होकर उठे, दरवाज़े में जा खड़े हुए और स्वर-संधान कर भाषण-सा देने लगे।

लड़की शर्मायी-सी चुप हो गयी। नागरजी ने स्थिति सँभालने के लिए निरालाजी से अनुरोध किया कि वे अपनी कोई कविता सस्वर सुनाये।

'हिंदी इज़ नॉट माई मदर टंग, आई वुड स्पीक इन बैसवाड़ी।' कुछ ऐसी ही बात उन्होंने अंग्रेज़ी में कही और वहीं दरवाज़े में खड़े-खड़े बैसवाड़ी में स्वागत-भाषण करने लगे—लम्बे ऊँचे वैसे ही, पर वह यूनानी देवताओं का-सा स्वास्थ्य कहाँ! चुपचाप दीवार से लगा मैं उन्हें निर्निमेष देखता रहा—कनपटियों और कल्लों में गढ़े पड़ गये हैं, गोरा चेहरा सँवला गया है, उसमें केवल बड़ी लम्बी नाक और निरंतर भटकती आँखें ही ध्यान खींचती हैं, सीने की वह पुष्टता नहीं रही, पसलियाँ दिखायी देने लगी हैं, पेट बेहद बढ़ गया है, कमर में केवल घुटनों के ऊपर तक अँगोछा बाँधे हैं, दरवाज़े से आती रोशनी में उनकी रानों और पिंड-लियों की कृशता दिखायी देती है—उन्हें अपना कोई होश नहीं, लेकिन इस सारी

—

बादलों से झलकता इंद्रधनुष : यशपाल

यशपाल से मेरा परिचय न घना है न पुराना—उस इंद्रधनुष के परिचय-सा है, जिसका एक सिरा नीचे के बादलों में गुम हो और दूसरा आकाश के विस्तार में खो गया हो और दो-चार बार ही जिसकी झलक मुझे मिली हो।

यशपाल के अतीत को मैं अधिक नहीं जानता, केवल इतना सुना है कि स्व० चंद्रशेखर आज़ाद की 'सोशलिस्ट रिपब्लिक आर्मी' से उनका संबंध था। उन्होंने 'बम की फ़िलासफ़ी' नामक पैम्फ़लेट लिखा था, जिसकी उन दिनों बड़ी चर्चा थी। लाहौर षड्यंत्र तथा गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने आदि के मामलों से उनका गहरा संबंध था। बहुत समय तक वे पुलिस के हाथ नहीं आये। जब आये तो चंद्रशेखर आज़ाद शहीद हो चुके थे। तब वे इलाहाबाद में पकड़े गये। आठ वर्ष की सज़ा हुई। 1937 में कांग्रेस ने जब सरकार से सहयोग किया और प्रांतों में सरकारें बनीं तो यशपाल भी रिहा हुए। जेल ही में उनकी शादी प्रकाशजी से हो गयी थी, जो स्वयं क्रांतिकारिणी रही थीं। अथवा यों कहना चाहिए कि प्रकाशजी ने जेल के अधिकारियों से प्रार्थना कर श्री यशपाल से शादी कर ली थी। अभी यशपाल की सज़ा काफ़ी शेष थी, पर बीमार हो जाने और डॉक्टरों के यक्ष्मा घोषित करने से उन्हें छोड़ दिया गया। पंजाब के किस प्रदेश में उन्होंने जन्म लिया, कहाँ पले, पढ़े? क्रांतिकारी बनने से पहले क्या करते थे? क्रांतिकारी दल में उनका क्या स्थान था? ये और उनके अतीत की बीसियों बातों का मुझे कोई ज्ञान नहीं। उनका अतीत काफ़ी घटनामय रहा है, भविष्य कैसा रहेगा, इसके संबंध में भी मैं कुछ नहीं कह सकता। क्योंकि पुरुष का भाग्य जब देवता नहीं जानते तो मैं मनुष्य क्या जानूंगा। कुछ वर्षों के संपर्क में उनकी जो झलक मैंने व्यक्तिगत रूप से देखी वही मेरी निधि है और उसी की झलक मैं दूसरों को दिखा सकता हूँ।

यशपाल को पहली बार हिंदी साहित्य-सम्मेलन के शिमला अधिवेशन में देखा और इस बात के अतिरिक्त कि मैंने क्रांतिकारी यशपाल को देख लिया है, अन्य किसी बात का प्रभाव मेरे मन पर नहीं रहा। बात यह थी कि सन् 1928-29 की सनसनियों का ज़माना बीत चुका था, भगतसिंह को और राजगुरु को फाँसी लगे

वर्षों हो गये थे। कांग्रेस असहयोग की नीति को छोड़कर सरकार के साथ सहयोग कर रही थी, इसलिए यशपाल उस ज़माने की राजनीति में महत्व खो बैठे थे। यदि मुझे कहीं उन्हें उस ज़माने में देखने का अवसर मिलता, जब देश भर में 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी' की सरगर्मियों के चरचे थे तो मुझे विश्वास है कि न केवल यशपाल को देखने की प्रबल उत्कंठा मेरे मन में होती, वरन् उस भेंट का गहरा प्रभाव भी मेरे मन पर रहता। 1938 में हिंदी साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर पधारने वाले प्रतिष्ठित सज्जनों में से वे भी एक थे और उनकी अपेक्षा कई अन्य व्यक्तित्व मेरे लिए अधिक महत्व रखते थे, इसलिए उस भेंट को मैंने महत्व नहीं दिया।

लेकिन शिमला के उस अधिवेशन की अस्पष्ट-सी याद आज भी मेरे हृदय में बनी हुई है। हम लोग चोर बाज़ार की नयी-नयी बनी धर्मशाला में ठहरे थे। ऊपर की मंज़िल पर थियेटर अथवा सिनेमा का हॉल था। हॉल का फर्श लकड़ी का था। वहीं हम लोगों के बिस्तर लगे थे। यह जानकर कि क्रांतिकारी यशपाल भी हॉल ही में ठहरे हैं, उन्हें देखने की उत्सुकता हुई। बच्चन, सुमन आदि स्टेज पर बिस्तर जमाये थे, वहीं मैं यशपाल को देखने गया। पहली दृष्टि में मुझे यशपाल में क्रांतिकारियों की-सी कोई बात न लगी अथवा यह कहना ठीक होगा कि अपनी कल्पना में क्रांतिकारियों का जो रूप मैंने बना रखा था, यशपाल उस पर पूरे न उतरे। मैंने क्रांतिकारी अज्ञेय का जेल से छूटने के बाद लिया गया चित्र देखा था। हृष्ट-पुष्ट देह, लम्बे-लम्बे घुंघराले बाल, गहरी अनुभूति-प्रवण आखें, नंगे शरीर पर धोती और चादर। यही चित्र 'भग्न-दूत' में छपा भी था। उसी के अनुरूप मैंने यशपाल की कल्पना की थी। हृष्ट-पुष्ट देह की बात न सही, लेकिन लम्बे बालों और कुछ बेपरवाही के भाव की आशा तो थी ही। मैंने देखा—बढ़िया सूट पहने हुए मंझले क़द और सांवले रंग का एक युवक, सफ़ाई से कटे-छँटे छोटे बाल, चौड़े खुले-खुले अंग, मोटे होंठ, घनी भवें और पिचके हुए कल्ले। किसी क्रांतिकारी के बदले मुझे यशपाल एक बिगड़े हुए ईसाई अफ़सर जैसे लगे। तब मेरी उत्सुकता का केन्द्र यशपाल के बदले बच्चन अधिक थे। मैं नया-नया उर्दू से हिंदी में आया था। सरल होने के कारण बच्चन की कविताएँ मुझे बड़ी अच्छी लगती थीं। उनका काव्य था भी अपनी जवानी पर और

इस पार प्रिये तुम हो मधु है,
उस पार न जाने क्या होगा ?

तथा

मिट्टी का तन मस्ती का मन,
क्षण भर जीवन, मेरा परिचय।

आदि बच्चन की कविताएँ मुझे कंठस्थ थीं। इसलिए एक नज़र यशपाल को देखने के बाद मेरा ध्यान बच्चन की ओर मुड़ गया। बिल्कुल उसी तरह, जैसे अजायब-घर में आदमी प्राचीन काल की किसी अनूठी चीज़ को एक नज़र देखकर फिर

नये ज़माने के अजायबात को देखने के लिए बढ़ जाये।

लेकिन सभी मेरे जैसे हों, यह बात नहीं। दिल्ली के पंडित चंद्रशेखर शास्त्री सुबह-शाम यशपाल के पीछे पड़े रहते थे। वे 'हिटलर महान' और 'मुसोलिनी महान' का सृजन करने के बाद उन दिनों भारतीय क्रांतिकारियों के इतिहास का निर्माण कर रहे थे। लिखे मसौदे का पुलंदा बगल में दबाये, वे सुबह-सुबह यशपाल को घेर लेते थे। मेरा दुर्भाग्य कि तब मुझे शास्त्रीजी की विद्वत्ता की अपेक्षा उनकी पतली-दुबली, सूखे बाँस-सी लम्बी काया, इस पर भी अपने शक्ति-संपन्न होने का दंभ, उनका 'हिस्ट्री' को 'हिश्ट्री' कहना, अपने 'हिश्ट्री ज्ञान' का डंका बारहों घंटे पीटना और अपने सामने, श्री जदुनाथ सरकार से लेकर श्री जयचंद विद्यालंकार तक, सभी इतिहासज्ञों को हेय समझना ज़्यादा अच्छा लगता था। आज किसी ऐसे आदमी से मिलूँ तो मेरे मन में दया उपज आये और मैं चुप रहूँ, पर तब मुझे उन्हें बनाना भाता था। फक्कड़पने के दिन थे, क्या कहते और क्या बकते हैं, कभी इस पर ध्यान न दिया था। एक सुबह हम 'जाकू' की सैर को गये तो शास्त्री से मेरी झड़प हो गयी। छेड़ा पहले उन्हीं ने था, मैंने उत्तर दिया तो वे झुँझला उठे। स्वयं मज़ाक करके दूसरे के मज़ाक को सहना हर किसी के बस का है भी नहीं। हिंदी लेखकों में तो यह विनोदवृत्ति और भी नापैद है। झगड़ा होते-होते बचा। तनाव को कम करने के लिए मैं हास्य-रस के शेर सुनाने लगा। तभी शास्त्री जी ने थककर जमुहाई ली। मैंने शेर पढ़ा :

'ऊँट जब उठता है जंगल में जमाही लेकर
याद आ जाता है नक़्शा तेरी अँगड़ाई का'

मित्र ठहाके-पर-ठहाके लगाने लगे। बच्चन, सुमन और दूसरे बंधुओं के साथ-साथ यशपाल भी थे। मुझे अच्छी तरह याद है, वे चुपचाप अपने बड़प्पन को लिये-दिये साथ-साथ चलते रहे। बच्चन, सुमन तथा अन्य मित्र हँसी-ठठोली में भाग लेते रहे, पर यशपाल मुस्कराये शायद हों, यद्यपि इसका स्मरण मुझे नहीं, पर एक बार भी उनके कंठ से ठहाका नहीं निकला।

और शिमला से जब मैं लौटा तो पंजाबियों के सामने हिंदी कवियों के निजी मतभेद के प्रदर्शन और उसमें बच्चन के प्रमुख भाग लेने के बावजूद (जिसमें 'ग़ैर' के सामने हिंदी का सिर ऊँचा देखने की इच्छा रखने वाले हर पंजाबी की भांति मुझे भी दुख पहुँचा) जाकू की वह सैर और उसकी ऊँचाई पर बैठकर सुनी हुई कविताओं का माधुर्य सदा के लिए मेरे मन पर खुशगवार असर छोड़ गया। यशपाल से भी शिमला में भेंट हुई है, इस बात को मैंने कोई महत्व नहीं दिया।

लेकिन धीरे-धीरे शिमले की वह भेंट, जिसमें हम एक-दूसरे से बोले तक नहीं, महत्त्व प्राप्त कर गयी और जब बारह-तेरह साल बाद गत वर्ष अलमोड़ा में उनसे मिला तो मैंने उसी भेंट का तार पकड़ा। बात यह हुई कि यशपाल ने मिलने पर भी जो परिचय गहरा न हुआ था, वह बिना मिले गहरा होता गया और उसी अनुपात से

शिमले की वह भेंट महत्व प्राप्त करती गयी।

शिमला से आने के बाद मैंने सहसा 'विशाल भारत' में एक कहानी देखी। शीर्षक था—'परसराम' और रचयिता का नाम लिखा था—यशपाल। उन दिनों मेरे परिचितों में दो यशपाल थे। लाहौर के यशजी—'हिंदी मिलाप' के मालिक महाशय खुशहालचंद के छोटे लड़के—जो उन दिनों अपने भाई श्री रणवीर सिंह 'वीर' के अनुकरण में कहानी लिखने लगे थे और दूसरे दिल्ली के यशपाल—श्री जैनेन्द्र के सहृदय भानजे—जो अपने मामा की हर गतिविधि का ब्यौरा रखने के साथ स्वयं भी कभी-कभी कहानी लिख लेते थे। लाहौर के यशजी की कहानी 'विशाल भारत' में छपी है, इसका विश्वास न था, क्योंकि लाहौर के यशजी तब बहुत छोटे थे और फिर 'विशाल भारत' में तब हर किसी की चीज़ छपती भी न थी। जैनेन्द्र 'विशाल भारत' के लेखकों में से थे। ख़याल यही हुआ कि दिल्ली वाले यशपाल की कहानी है और मैं कहानी पढ़ने लगा।

कहानी पंजाब के पहाड़ी प्रदेश की थी। चंद सतरें पढ़ने पर फिर ख़याल आया कि शायद लाहौर के यशजी की है, पर ज्यों-ज्यों मैं कहानी पढ़ता गया, महसूस करता गया कि यह उन दोनों में से किसी की भी नहीं हो सकती। कहानी के अंत पर पहुँचकर यह विश्वास और भी पक्का हो गया। दोनों की प्रतिभा से मैं भिज्ञ था। दोनों में से कोई भी ऐसी सुंदर कहानी लिख सकता है, इसकी कोई संभावना न थी। तब सहसा ख़याल आया कि कहीं यह क्रांतिकारी यशपाल की कहानी न हो। किसी से सुना था कि वे भी कहानी लिखते हैं और लखनऊ से पत्र निकालने जा रहे हैं। कुछ दिन बाद मैंने अनारकली के चौराहे में फ़ज़ल बुक डिपो के स्टाल पर 'विप्लव' के दर्शन भी किये। ख़रीदने की शक्ति तब थी नहीं, 'विप्लव' को देखकर मुझे पूरा विश्वास हो गया कि कहानी क्रांतिकारी यशपाल ही की है। और सहसा ही शिमला की वह भेंट विस्मृति के गर्त्त से निकलकर सामने आ गयी।

यदि मैं लाहौर रहता, 'विप्लव' ख़रीदकर अथवा कहीं से लेकर उसमें यशपाल की चीज़ें पढ़ता तो मैं निश्चय ही उस संक्षिप्त परिचय को घनिष्ठ बनाने का प्रयास करता। लेकिन मैं प्रीतनगर चला गया। प्रीतनगर नाम से नगर था, पर उसमें उस समय केवल 18 कोठियाँ बनी थीं और लाहौर छोड़, अटारी की सड़क से भी दस मील दूर मध्य पंजाब के देहात में बन रहा था। वहाँ जाकर मैं साहित्यिक वातावरण से एकदम दूर हो गया।

बहुत दिन बाद, याद नहीं, प्रीतनगर में, लाहौर अथवा दिल्ली में, मैंने यशपाल की एक और कहानी पढ़ी—'ज्ञानदान' और यद्यपि न मुझे कहानी के आधारभूत

विचार में नवीनता लगी और न 'परसराम'-सा प्यारापन[1], पर उससे यशपाल के कहानीकार की शक्तिमत्ता का ज़रूर आभास मिला। उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकार मंटो की भाँति यशपाल का कथाकार भी अपने पाठकों को चौंका देना पसंद करता है। मंटो की इस 'शॉक टेकनिक' का उल्लेख करते हुए उर्दू की एक दूसरी प्रसिद्ध कथाकार 'इस्मत' ने लिखा है कि मंटो को, बातचीत हो अथवा साहित्य, अपने सुनने और पढ़ने वालों को चौंकाना अधिक रुचिकर है। यदि लोग साफ़-सुथरे कपड़े पहने बैठे हों तो मंटो वहाँ इसलिए शरीर पर मिट्टी मले पहुँच जायेगा कि लोग उसे देखकर चौंक पड़ें। यशपाल के संबंध में यह बात कही जा सकती है या नहीं, यह मैं नहीं जानता, हालाँकि इसमें संदेह नहीं कि मंटो ही की तरह यशपाल की कई कहानियों में यह चौंका देने वाला गुण वर्तमान है। 'ज्ञानदान' के बाद 'प्रतिष्ठा का बोझ' और 'धर्मरक्षा' इसके उदाहरण हैं। पर यशपाल केवल चौंकाने के लिए नहीं चौंकाते, उन्होंने अपने नये कहानी-संग्रह 'फूलों का कुर्ता' की प्रथम कहानी अथवा पुस्तक की भूमिका में अपनी इन कहानियों के उद्देश्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है: 'बदली स्थिति में भी परंपरागत संस्कार से ही नैतिकता और लज्जा की रक्षा करने के प्रयत्न में क्या से क्या हुआ जा रहा है, समाज अपने आदर्शों को ढकने के प्रयास में कितना उघड़ता चला जा रहा है, प्रगतिशील लेखक यही बताना चाहता है और समाज को उसकी बातें बड़ी उघड़ी-उघड़ी लगती हैं।'

जो भी हो, इन कहानियों के मुकाबले में कहीं सुंदर कहानियाँ यशपाल ने लिखी हैं, जिनकी आर्द्रता और समवेदना, जिनके आधारभूत विचारों की यथार्थता और उस यथार्थता को कहानी में रखने के ढंग की नवीनता अपूर्व है। दुर्भाग्य से यशपाल कहानी का नाम रखने में सतर्कता से काम नहीं लेते, इसलिए इस समय जब कई कहानियों के नाम याद आ रहे हैं, अकसर के भूल गये हैं, केवल उनकी स्मृति शेष है। 'पराया सुख', 'राज', 'उसकी जीत', 'गँडेरी', 'धर्म युद्ध' और 'ज़िम्मेदारी' तो बहुत ही सुंदर बन पड़ी हैं। 'संन्यास', 'दो मुँह की बात', 'सोमा का साहस', 'दूसरी नाक' आदि कितनी ही कहानियाँ हैं, जो दोबारा पढ़ने पर भी उतना ही आनंद देती हैं।

लेकिन मैं 1947 तक 'परसराम' और 'ज्ञानदान' के अतिरिक्त यशपाल की कोई कहानी न पढ़ पाया। प्रीतनगर से मैं सीधा ऑल-इंडिया रेडियो दिल्ली में आया और यद्यपि मेरी आर्थिक दशा उतनी बुरी न रही, मेरा घरेलू जीवन काफ़ी विषम

---

1 ये पंक्तियाँ लिखते-लिखते मैं 'परसराम' को फिर पढ़ गया हूँ। यशपाल के संग्रह 'पिंजरे की उड़ान' की छठी कहानी है—साढ़े छह पृष्ठ की छोटी-सी कहानी—आज भी वह मुझे उतनी ही प्यारी लगती है, पहले प्यार और पहले जाम जैसा हो उसका असर है। यशपाल की कई कहानियाँ मुझे प्रिय हैं। आधारभूत विचार की नवीनता और कला के सोष्ठव की दृष्टि से वे इस कहानी से, जो कहानी न होकर छोटा-सा संस्मरण-सा है, कहीं सुंदर है, पर इसके प्रभाव को उनकी सुंदरता ज़रा भी कम नहीं कर पायी।

रहा और दफ़्तर के काम और अपने लेखन-कार्य के बाद पढ़ने का समय कम ही मिला। फिर उन दिनों मैं अधिकतर नाटक लिखता था और मेरी आदत है कि नाटक लिखता हूँ तो (यदि पढ़ने का समय हो तो) नाटक ही पढ़ता हूँ। एक-दो बार फ़तेहपुरी की एक दुकान पर यशपाल की पुस्तकें दिखायी दीं, पर ख़रीद न पाया। जिस प्रकार यशपाल कहानी के शीर्षक की चिंता नहीं करते उसी प्रकार मुख-पृष्ठ पर ध्यान नहीं देते। आर्ट पेपर और जिल्द की बात तो दूर रही, अच्छी क्वालिटी का सफ़ेद काग़ज़ भी नहीं लगाते। यशपाल का ख़याल है कि जनता महँगी पुस्तकें नहीं ख़रीद सकती। पर मेरा दुर्भाग्य है कि मैं अच्छी पुस्तक के साथ अच्छा मुख-पृष्ठ भी चाहता हूँ और फिर मेरा ख़याल है कि जो लोग रोज़ सिनेमा देख सकते हैं, वे चाहें तो, महीने में एक-दो महँगी पुस्तकें भी ख़रीद सकते हैं। दूसरी बातों के अतिरिक्त यह बात भी मेरे मार्ग की बाधा बनी। मैं प्रायः पुस्तकें ख़रीदकर पढ़ता हूँ और अपने निजी पुस्तकालय में उन्हें अर्जित करता हूँ। यशपाल की पुस्तकें इसके लिए सर्वथा अनुपयुक्त रही हैं, जब तक कि उन पर फिर से जिल्द न बँधायी जाये।[1]

दिल्ली में तीन साल बिताकर मैं बंबई चला गया। आर्थिक कठिनाई न रही, पर जीवन और भी व्यस्त हो गया। तभी 'नया साहित्य' में मैंने यशपाल की एक और कहानी 'साग' पढ़ी। उसका व्यंग्य और तीखापन पूर्व परिचित था। उन्हीं दिनों मैं एक दिन गिरगाम में 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर' किसी काम से गया और यशपाल की जितनी भी पुस्तकें दुकान पर थीं, ख़रीद लाया।

ख़रीद लाया, लेकिन पढ़ने का अवसर फिर भी न मिला। केवल एक पुस्तक पढ़ पाया—'पार्टी कॉमरेड'। मेरी आदत है कि जब मैं अपनी कोई चीज़ लिखता हूँ, बीच ही में किसी दूसरे की चीज़ पढ़ने लगता हूँ। यशपाल का सेट नया-नया लाया था, उस समय जाने मैं किसी फ़िल्मी कहानी का सिनारियो लिख रहा था अथवा अपना नाटक, लिखते-लिखते जी कुछ घबराया तो यशपाल के सेट में सबसे छोटी पुस्तक उठाकर पढ़ने लगा। वहीं कुर्सी पर पीठ को पीछे लगाये, टाँगें मेज़ पर टिकाये सारी पुस्तक एक ही बार में पढ़ गया। पुस्तक बड़ी नहीं है, पर मैं काम में रत था और उस स्थिति में मेरा सारी-की-सारी पुस्तक को पढ़ जाना कम-से-कम उसके सबसे बड़े गुण—मनोरंजकता—का तो द्योतक है ही। वहीं बैठे-बैठे मैंने यशपाल को एक लम्बा पत्र 'पार्टी कॉमरेड' के गठन और उसकी कला की सुंदरता के संबंध में लिखा।

शिमला की उस भेंट के बाद यशपाल को यही मेरा पहला पत्र था। यशपाल ने उसका उत्तर भी दिया, पर बंबई के व्यस्त जीवन में यह पत्र-व्यवहार अधिक दिन न चल सका। यशपाल की कहानियों का सेट भी उसी तरह पड़ा रहा। कुछ नयी

---

1. यह निबंध 15 वर्ष पहले लिखा गया था। तब तक यशपाल की किताबें ऐसे ही छपती थीं, पिछले दस-पंद्रह वर्ष में उनकी छपाई और काग़ज़ बेहतर हो गया है।

किताबें आयीं, रैक की पुरानी किताबें अलमारी में चली गयीं। फिर जब 1946 में मैंने फ़िल्म की नौकरी छोड़ दी तो मेरी पत्नी दूसरे सामान के साथ पुस्तकें भी लाहौर ले गयी और 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर' गिरगाम बंबई से ख़रीदा हुआ यशपाल का वह सेट उस समय तक मेरे हाथ न आया जब तक मैं अपनी बीमारी के छह महीने सेनेटोरियम में काटकर, पंचगनी ही में बाहर एक बँगले में न आ गया। समय काफ़ी था। दिन-रात वर्षा होती थी। लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त और कोई काम न था। लाहौर में और तो बहुत कुछ रह गया, पर पुस्तकें बच गयीं। स्थान की तंगी के कारण भाई साहब ने उन्हें जालंधर पहुँचा दिया था, वहाँ से वापस बंबई होती हुई पंचगनी पहुँचीं। यशपाल की कहानियों के जितने संग्रह उस सेट में थे, वे सब मैंने एक साथ पढ़ डाले।

हिंदी कथा-साहित्य में, जैनेन्द्र के पथ-भ्रांत होने के साथ कई भावी कथाकार अँधेरे में टामकटोये मारने लगे थे। प्रेमचंद जब जीवित थे तो कथाकारों की एक अच्छी-खासी संख्या कहानी-साहित्य का भंडार भर रही थी। तब उर्दू की पत्र-पत्रिकाओं में हिंदी कहानियों के अनुवाद रहते थे। लेकिन जब प्रचार-कुशल जैनेन्द्र अपनी अतुल प्रतिभा, किंतु परिमित निधि के साथ बरबस प्रेमचंद के आसन पर आ विराजे तो कई कथाकार अपना मार्ग छोड़ उनका अनुकरण करने लगे। परंतु जैनेन्द्र तो कहानी का अंचल छोड़ वर्धा के विचारकों के पथ पर बढ़ गये और हिंदी के कथाकार अनायास भटक गये। यशपाल इस बीच में धीरे-धीरे अपने पाँव जमाते गये और समय आया कि जैनेन्द्र के बाद जो स्थान रिक्त हो गया था उसे उन्होंने भर दिया। अब फिर हिंदी कहानी में उन्नति के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं और वह खाई भरती-सी दिखायी दे रही है, जो जैनेन्द्र के पथ-भ्रांत होने से हिंदी कथा-साहित्य की राह में अनायास आ गयी थी।

(अज्ञेय इस बीच में अवश्य लिखते रहे, पर अज्ञेय के लिखने की गति कभी तेज़ नहीं रही। दिनों तेवर चढ़ाये मौन रहकर जैसे वे कभी अनायास बड़े प्यारे ढंग से मुस्कराने लगते हैं, इसी प्रकार महीनों की चुप्पी के बाद उनकी लेखनी कभी कोई सुंदर कहानी सृजती है। फिर अज्ञेय की कहानियाँ सर्व-साधारण के लिए ज्ञेय भी नहीं होतीं। आलोचक सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन पाठकों के जिस 'द्रविड़ प्राणायाम' के प्रति सहानुभूति रखता है, कहानीकार अज्ञेय नहीं, इसलिए प्रेमचंद और जैनेन्द्र अपनी कृतियों की लोकप्रियता और बोधगम्यता के कारण साहित्य में जो गति पैदा कर सके और जिस प्रकार दूसरों को साथ मिला सके, अज्ञेय नहीं कर सके।)

प्रेमचंद और जैनेन्द्र के बाद हिंदी में लोकप्रिय सामाजिक कहानियों का जो अभाव मुझे हिंदी के पाठक की हैसियत से खटकता था, वह यशपाल की कहानियों को पढ़कर बड़ी हद तक दूर हो गया। देश का विभाजन हो जाने से लाहौर हमारे

लिए पराया हो गया था। मित्रों की सन्निकटता के कारण बीमारी के बाद स्वस्थ होकर हम इलाहाबाद बसने की सोच रहे थे। मेरे मन में कई बार यह विचार उठता था कि इलाहाबाद रहे तो लखनऊ जाने का अवसर अवश्य मिलेगा। लखनऊ जाऊँगा तो यशपाल से अवश्य मिलूँगा। शिमला के उस हल्के-से परिचय पर समय की जो धूल पड़ गयी है, उसे झाड़कर कुछ गहरा बनाऊँगा।

लेकिन जब मैं लगभग डेढ़ साल पंचगनी में गुज़ारकर और फ़िल्म में कमाया बारह-पंद्रह हज़ार रुपया ठिकाने लगाकर, इलाहाबाद आया तो ऐसे संघर्ष में रत हो गया जैसा पहले जीवन में कभी नहीं किया। यों तो मेरा सारे-का-सारा जीवन संघर्षमय रहा है, लेकिन एक ही बरस में जैसा एकाग्र संघर्ष मुझे इलाहाबाद आते ही करना पड़ा, वैसा कभी नहीं किया। यही कारण था कि दो बार लखनऊ जाने पर भी मैं यशपाल से न मिल सका। फिर जब एक दिन लखनऊ में समय निकालकर उनसे मिलने चला तो मालूम हुआ कि सरकार ने उन्हें नज़रबंद कर दिया है।

पिछले वर्ष गर्मी का एक-डेढ़ महीना काटने के लिए मैंने अलमोड़ा जाने का निर्णय किया। रास्ते में दो दिन काम से लखनऊ रुका। यशपाल के संबंध में पता चलाया तो मालूम हुआ कि सरकार ने छोड़ तो दिया है, पर लखनऊ से निकाल दिया है और वे अपने निष्कासन का समय भुवाली में काट रहे हैं।

भुवाली अलमोड़ा के मार्ग ही में है। यह ख़बर सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई। सोचा कि अलमोड़ा में रहने-खाने का प्रबंध हो जाये तो फिर एक दिन भुवाली आकर यशपाल से भी पुराने परिचय के तार नये सिरे से जोड़े जायें।

अलमोड़ा मैं कविवर पंत के कारण गया था। उनके अतिरिक्त मैं वहाँ किसी को न जानता था। 'देवदार होटल' की एक छोटी-सी कॉटेज, जो एक बड़ी सुरम्य घाटी के किनारे बनी थी, पंतजी ने मेरे लिए तय कर रखी थी। नौकर भी चंद दिन में मिल गया। देव दा पंत, हरीश जोशी, गणेश, धर्मचंद और अन्य बंधुओं के स्नेह में अलमोड़े का प्रवास सुखद लगने लगा। इतने में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छुट्टियाँ हो गयीं और 'इपटा' के कुछ कार्यकर्ता तथा लखनऊ और ग्वालियर के कुछ युवक भी अलमोड़ा आ पहुँचे, जिनमें लखनऊ की स्टूडेंट यूनियन के मंत्री भी थे। उन्हीं में से मैंने एक दिन भुवाली चलकर यशपाल से मिलने की इच्छा प्रकट की। हम अभी प्रोग्राम बना ही रहे थे कि एक सुबह एक युवक ताराचंद ने आकर बताया कि यशपाल अलमोड़ा पधारे हैं और डाक बंगले में ठहरे हैं। मैं उसी वक्त डाक बंगले चलने के लिए तैयार हुआ, पर मालूम हुआ कि वे देव दा से मिलने गये हुए हैं। वापसी पर मुझसे मिलने आयेंगे। उन्हें मेरे यहाँ होने का पता है और वे देव दा से मिलकर मेरे ही यहाँ आयेंगे।

देव दा, श्री सुमित्रानंदन पंत के बड़े भाई हैं। पूरा नाम देवीदत्त पंत है। एडवोकेट हैं। अलमोड़ा कांग्रेस कमेटी के प्रधान हैं और अब तो भारत की पालिया-

मेंट के सदस्य भी हैं। पार्लियामेंट में चोर-बाज़ारी की समस्या पर बहस के मध्य अपने भाषण में उन्होंने सौंदर्य की चोर-बाजारी का जो उल्लेख किया, वह उनके स्वभाव को चौंका देने वाली प्रवृत्ति, दलीलों की मौलिकता और प्रत्युत्पन्न मति का द्योतक है। उनकी बातों में उलझे यशपाल शीघ्र न लौट सकेंगे, इस बात का मुझे पूरा विश्वास था। मेरा अनुमान ठीक ही निकला। क्योंकि यशपाल यद्यपि उनके पास से सीधे मेरे यहाँ आये थे तो भी एक बजने को हो आया था।

मेरी कॉटेज बड़ी सड़क से नीचे थी। सड़क से जब कोई आदमी मेरी कॉटेज को उतरता था तो अपनी खिड़की से मैं पहले ही देख लेता था। खाना खाकर लेटा ही था कि मैंने सीढ़ियों पर पाँव की चाप सुनी और ताराचंद को मार्ग दिखाते पाया। मैं उठकर बैठ गया। ताराचंद के पीछे यशपाल दुर्गा भाभी[1] के साथ आ रहे थे। इन दस-बारह वर्षों में यशपाल का बड़प्पन कुछ और बढ़ गया था। उनके बाल पक गये थे। घनी काली भवें श्वेत हो गयी थीं और चेहरे पर समय ने रेखाएँ अंकित कर दी थीं। दाँत उन दिनों वे निकलवा रहे थे, इसलिए कल्ले उनके धंसे हुए थे और जबड़े की हड्डियाँ उभरी हुई थीं। लैरिंजाइटिस अथवा उसी प्रकार का कोई गले का रोग उन्हें था। स्वर बड़ा भारी था, जो उनके व्यक्तित्व के बड़प्पन को और भी बढ़ाता था। वेश-भूषा पूर्ववत् साहबी थी। मैं दरवाजे के बाहर निकल आया। वे खुलकर मुझसे गले मिले। फिर उन्होंने दुर्गा भाभी से मेरा परिचय कराया। मैंने नौकर से चाय बनाने को कहा और हम अंदर आ बैठे। पहली बात जो हमने की वह शिमले के कवि-सम्मेलन के संबंध में थी। यशपाल भी उसे भूले न थे। जाकू की सैर, हमारा हास-हुलास और चंद्रशेखर शास्त्री के साथ मेरी झोड़ की सब बातें उन्हें याद थीं।

यशपाल भुवाली से पैदल पहाड़ी प्रदेश की सैर करते आ रहे थे। अलमोड़ा से तेरह-चौदह मील दूर, सेबों के बाग़ के किसी जागीरदार मालिक के यहाँ दो दिन का आतिथ्य स्वीकार कर और वहाँ के अतुल शिष्टाचार और सीमित मानसिक परिधि से घबराकर निकल भागे थे। इतने बड़े जागीरदार के अतिथि कुलियों के साथ पैदल ही मीलों की मंज़िल मारते पधारे हैं, यह देखकर उन लोगों को जो आश्चर्य और उत्कंठा हुई, उसका उल्लेख मज़ा ले-लेकर यशपाल ने किया। दुर्गा भाभी को शिकायत थी कि ये महाशय जहाँ बैठते हैं, अपना वाद-विवाद ले बैठते हैं। भला वे जागीरदार क्या समझें मार्क्स और उसके सिद्धांतों को।

बातचीत में चाय आ गयी। यद्यपि चाय का समय न था, लेकिन गर्म चाय के प्याले को यशपाल कभी नहीं ठुकराते। चाय के मध्य मैंने पूछा कि अलमोड़ा कितने दिन रहने का इरादा है। यशपाल ने कहा कि अलमोड़ा उन्हें पसंद आया है, यदि रहने का कोई प्रबंध हो जाये तो वे डेढ़-दो महीने वहीं काटेंगे। मैंने कहा

---

1 लाहौर षड्यंत्र केस के शहीद श्री भगवतीचरण वर्मा की पत्नी।

कि यदि एक छोटे से कमरे में आपको असुविधा न हो तो जब तक मकान का प्रबंध नहीं हो जाता, आप यहाँ दूसरे कमरे में आ जाइये।

यशपाल ने उठकर कमरा देखा। पहले उसमें फ़र्श नहीं था। चूंकि पंद्रह-बीस दिन बाद कौशल्या—मेरी पत्नी—बच्चे को लेकर आने वाली थी, इसलिए मालिक मकान से कहकर मैंने उसमें फ़र्श लगवा दिया था। कमरा काफ़ी छोटा था, पर यशपाल ने कहा कि ठीक है और यदि मुझे कोई असुविधा नहीं तो उन्हें भी नहीं। फिर उन्हें कौशल्या के आने का ख़याल आया, पर मैंने कहा कि अव्वल तो कौशल्या बीस-एक दिन बाद आयेगी, तब तक आपको मकान मिल जायेगा और यदि न भी मिला तो आप दोनों उस कमरे मे रह लीजियेगा और हम दोनों इस कमरे में रह लेंगे, और यशपाल संतुष्ट हो गये। मैं तो चाहता था कि वे उसी शाम उठ आयें, पर यशपाल सबसे पहले बाज़ार की सैर करना चाहते थे, इसलिए तय हुआ कि रात डाक बँगले ही में गुज़ारेंगे, दूसरे दिन सुबह ही मेरे यहाँ आ जायेंगे।

यशपाल सात दिन मेरे साथ रहे। इस बीच में देव दा ने 'शक्ति-कार्यालय' का एक कमरा उनके लिए ख़ाली करा दिया और यशपाल वहाँ उठ गये। 'शक्ति-कार्यालय' मेरी कॉटेज से आध-एक फ़रलांग ही के अंतर पर था, इसलिए उन सात दिनों के निकट साहचर्य के बाद भी मैं जब तक अलमोड़ा रहा, यशपाल से रोज़ साँझ-सवेरे, एक-न-एक बार भेंट होती रही। अलमोड़ा के बाद भी मुझे दो-तीन बार उनसे लखनऊ में मिलने का अवसर मिला और मुझे यशपाल को कुछ निकट से देखने का संयोग प्राप्त हुआ।

यशपाल में सबसे पहले जो बात मुझे अच्छी लगी और जिससे मुझे ईर्ष्या भी हुई, वह उनका लिखने का ढंग है। यशपाल दिन भर सैर-सपाटा और गप-शप करके रात-रात भर लिख सकते हैं। मैं जीवन में पहले भी अधिक सैर-सपाटा, इच्छा रहने के बावजूद, नहीं कर पाया और अब तो शरीर में उतनी शक्ति ही नहीं। यशपाल को सैर-सपाटे का बेहद शौक है। अज्ञेय की भांति वे भी काफ़ी पैदल घूमे हैं। उनकी कई कहानियाँ और लेख इस बात के साक्षी हैं। अलमोड़ा में आते ही उन्होंने सारे बाज़ार अच्छी तरह देख डाले, दुर्गा भाभी को उनसे भी अधिक घूमने का शौक है। कई बार मैंने देखा कि यशपाल थके हैं, पर भाभी तैयार हुईं तो वे भी सैनिक झोला कंधे पर लेकर तैयार हो गये। मैं इधर वर्षों से सैर-सपाटे का आनंद नहीं ले पाया और जब यशपाल अपने मित्रों के संग घूमते रहे, मैं अपनी कॉटेज में बंद लिखता-पढ़ता रहा।

लेकिन दो बार तो उन्होंने मुझे भी साथ घसीट ही लिया। एक बार हम सब सितोला की पिकनिक को गये। सितोला की पहाड़ी देवदार होटल से सात-आठ मील दूर है। वहीं खाना-वाना रहा। ख़ूब आनंद आया, लेकिन मैं बेहद थक गया और फिर दूरी और चढ़ाई की सैर पर न जाने का प्रण करके अपने कॉटेज में

पड़ा रहा।

एक रात बाज़ार की काफ़ी सैर करके हम लौटे तो चाँद निकल आया था। यशपाल ने तब देवदार होटल के बहुत ऊपर, अलमोड़ा छावनी में पड़ने वाली देवदारों की पंक्ति को देखने का प्रस्ताव किया। साढ़े नौ बज चुके थे। साधारणतः उस समय मुझे सो जाना चाहिए। लेकिन यशपाल ने साथ घसीट लिया। भरी चाँदनी में गगनचुंबी देवदारों की छाया में छावनी की एकाकी सड़कों पर घूमने में जो आनंद आया वह अकथ्य है। ऊपर जाकर हम गिरजे के एक ओर बैठ गये, चाँदनी में गिरजा किसी सोये हुए स्वप्न-महल-सा दिखायी दे रहा था और नीचे घाटी और देवदार के पेड़, हल्की-हल्की हवा की सरसराहट और चाँद...मैं उतनी रात गये शायद कभी घर से न निकलता। छावनी की उन सड़कों, वीथियों और देवदार की उन पंक्तियों मे चाँदनी का जो दृश्य मैंने देखा उसके लिए मैं यशपाल का आभारी हूँ।

यशपाल प्रायः दो-एक बैठकों में ही चीज़ लिख लेते हैं, पर वे लिखे को वेद-वाक्य नहीं समझते। मेरी तरह बार-बार काँट-छाँट भी नहीं करते, पर जैनेन्द्र की तरह उसे मल (जैनेन्द्र के अपने शब्दों में excreta) भी नहीं समझते कि उसे फिर छुआ भी नहीं जा सके। दूसरी बार वे लिखी चीज़ को देखते हैं तो उसे काट-छाँट भी देते हैं।

लोगों को यशपाल के अहं से शिकायत है। मैंने पंचगनी में ही प्रयाग के प्रगतिशील लेखक सम्मेलन (1947) के संबंध में 'रहबर'[1] का रिपोर्ताज़ पढ़ा था, जिसमें उन्होंने यशपाल के अहं की ओर इशारा किया है कि यशपाल को अपने सिवा कोई कथा-लेखक अच्छा नहीं लगता। न जाने क्यों, मैं अपने में इस प्रकार के अहं का सर्वथा अभाव पाता हूँ। कृष्ण, वेदी, मंटो, बलवंतसिंह, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल—विभिन्न कथाकारों की लेखनी का रसास्वादन कर लेता हूँ। इनमें से प्रत्येक लेखक की कई कहानियाँ हैं, जो मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। हीन-भाव के कारण ऐसा हो, यह बात नहीं। मैं न अपने को इनमें से किसी से हीन समझता हूँ, न किसी की शैली का असर लेता हूँ, लेकिन इसके बावजूद जब कोई चीज मुझे भा जाती है तो वह चाहे शत्रु की ही क्यों न हो, उसका उल्लेख किये बिना मुझसे रहा नहीं जाता। अलमोड़ा में यशपाल मेरे यहाँ ठहरे तो मुझे 'रहबर' के लेख की याद आ गयी। मैंने तय कर लिया कि मैं अपनी कहानियों के बारे में उनसे बिल्कुल बात न करूँगा। लेकिन कौशल्या ने तब प्रकाशन का काम आरंभ कर दिया था और पहली पुस्तक 'पिंजरा' छापी थी, जिसका पहला संस्करण 'सामयिक-साहित्य सदन' लाहौर से हुआ था और कई वर्षों से अप्राप्य था। उस पुस्तक की दो प्रतियाँ कौशल्या ने मुझे अलमोड़ा भेजी थीं। यशपाल ने 'पिंजरा' देखकर उसे पढ़ने की

1 उर्दू-हिंदी के प्रसिद्ध कथा लेखक श्री हंसराज 'रहबर'।

इच्छा प्रकट की। यह भी कहा कि दुर्भाग्य से उन्होंने मेरी कोई भी कहानी नहीं पढ़ी। मैंने 'पिंजरा' उन्हें भेंट किया और कहा कि यद्यपि इसमें मेरी दस-बारह साल पुरानी कहानियाँ संकलित हैं, पर कुछ बहुत अच्छी हैं। यशपाल ने पुस्तक सधन्य-वाद ले ली और कहा कि वे रात को सोते समय कुछ कहानियाँ पढ़ेंगे।

यशपाल पुस्तक अपने कमरे में रखकर दुर्गा भाभी के साथ सैर को चले गये तो मैंने कौशल्या को पत्र लिखा कि वह 'भारती-भंडार' से मेरा उपन्यास 'गिरती दीवारें' और मेरे सांकेतिक नाटकों का संग्रह 'चरवाहे' ख़रीदकर भेज दे, क्योंकि मैं दोनों पुस्तकें यशपाल को भेंट करना चाहता हूँ।

पुस्तकें दस-बारह दिन बाद आ गयीं, पर मैं उन्हें भेंट न कर सका। चुपचाप उन्हें अपने पास रखे रहा और वापसी पर जब रानीखेत रुका और वहाँ रोडवेज़ के श्री जोशी से भेंट हुई और उन्होंने 'गिरती दीवारें' पढ़ने की बड़ी इच्छा प्रगट की तो मैंने दोनों पुस्तकें उन्हें बेच दीं।

हुआ यह कि जो पुस्तक मैंने यशपाल को भेंट की थी, वह उसी तरह बे-पढ़े मुझे एक कोने में पड़ी मिली। यशपाल ने उसमें शायद एक-दो कहानियाँ पढ़ी थीं, फिर शायद मन-ही-मन अपनी कहानियों से उनकी तुलना की और उन्हें सेंटीमेंटल कहकर एक ओर रख दिया। 'पिंजरा' और 'डाची'—उस संग्रह की कहानियाँ बड़ी लोकप्रिय हुई थीं, पर यशपाल ने उनके बारे में भी कोई राय न दी।—इस बात के बावजूद शायद मैं उन्हें 'गिरती दीवारें' भेंट करता, लेकिन बातों-बातों में उन्होंने हिंदी के प्रत्येक उपन्यास की आलोचना की—'शेखर', संन्यासी,' 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'चित्रलेखा'...उन्हें कोई भी उपन्यास पसंद न था। 'चित्रलेखा' को मैं भगवती बाबू का उत्कृष्ट उपन्यास मानता हूँ। यशपाल ने मुझे बताया कि 'चित्र-लेखा' अनातोले फ़्रांस के उपन्यास 'थाया' (या थाइस—जो भी उच्चारण हो) का चरबा है। उन्होंने मुझे 'थाया' पढ़ने को भी दिया। पढ़कर 'चित्रलेखा' का महत्व मेरी नज़रों में और भी बढ़ गया। क्योंकि आधारभूत विचार में चाहे थोड़ी-बहुत समानता हो जिसे भगवती बाबू ने भूमिका में मान भी लिया है, लेकिन दोनों उपन्यासों में बड़ा भारी अंतर है और मुझे 'चित्रलेखा' 'थाया' से बेहतर लगा। कौशल्या ने 'गिरती दीवारें' और 'चरवाहे' लीडर प्रेस से ख़रीदकर भिजवायी थीं, क्योंकि मैं लेखक की छह प्रतियाँ (जो 'भारती भंडार' वाले बड़ी कृपापूर्वक देते हैं) कब की बाँट चुका था, इसलिए पुस्तकें ख़रीदकर ऐसे साहित्यकार को देना, जो उन्हें बिना पढ़े एक कोने में फेंक दे, मुझे गवारा न हुआ। और मैंने उन्हें बेच दिया।

[बाद में जब यशपाल से मेरी काफ़ी बेतकल्लुफ़ी हो गयी, मैं कई बार लखनऊ गया और वे इलाहाबाद मेरे यहाँ आकर रहे और मैंने मज़ा लेकर यह बात बतायी तो उन्होंने बड़ा बुरा माना और कौशल्या से ज़बरदस्ती 'गिरती दीवारें' लेकर उसे पढ़ा। पसंद वे उसे नहीं कर सके, यह दूसरी बात है।]

सो अहं तो यशपाल में है। लेकिन पहली बात तो यह है कि जैनेन्द्र से लेकर

सत्येन्द्र (शरत) तक अहं हिंदी के हर लेखक में है। हिंदी का प्रत्येक लेखक (कदाचित् परंपरा के कारण) थर्ड-रेट-सी चीज़ लिखकर भी अपने आपको सृष्टा मान लेता है...'आप आजकल हिंदी को क्या दे रहे हैं?' 'मैंने हिंदी को तीन नयी कहानियाँ दी हैं!' आदि वाक्य मैं भगवतीप्रसाद वाजपेयी के ज़माने से सुनता आ रहा हूँ। फिर अपने बराबर किसी दूसरे को न समझना लेखकों की साधारण दुर्बलता है। स्वयं 'रहबर' साहब, जिन्हें यशपाल के अहं से शिकायत है, अपने सामने किसी दूसरे को नहीं गिनते। हिंदी के 'महान' लेखकों को मैंने अनायास अपने से छोटे लेखकों का अपमान करते देखा है।

कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि लेखक, जो अपने आपको मनोविज्ञान के पंडित समझते हैं, क्या इस ज़रा से तथ्य को नहीं समझ सकते कि दूसरे के पास भी दिल है और उसे भी चोट पहुँचती है। दूसरों से अपने अहं की रक्षा चाहते हुए वे क्यों दूसरे के अहं की रक्षा नहीं कर सकते? मैंने ऐसे महान हिंदी लेखकों को देखा है जो बड़े नेताओं, सेठों अथवा अफ़सरों के दरबारों में और ही होते हैं और अपने साथी लेखकों तथा पाठकों के सामने और! यशपाल को मैंने ऐसा नहीं पाया।

स्नॉब[1] के लिए वे स्नॉब अवश्य हैं, पर अपने साधारण पाठक तथा साधारण लेखक के लिए सरल हैं। उनका अहं अपनी कला के प्रति उनके विश्वास का प्रतीक है और उनका अक्खड़पन दूसरों के अहं से अपनी रक्षा करने का साधन! पर अपनी कला में विश्वास रखने के साथ-ही-साथ यह कहीं अच्छा होता यदि वे अपने अन्य साथियों की कला का भी रसास्वादन कर सकते। लेकिन यह हानि उनके साथियों की नहीं, उनकी अपनी है।

यशपाल स्नॉब के साथ स्नॉब हैं। और उनकी स्नॉबरी के कई किस्से मुझे याद हैं...

...भुवनेश्वर अपने ज़माने में ख़ासे स्नॉब रहे हैं। एक बार वे यशपाल से हज़रतगंज में मिल गये। यशपाल सिगरेट ख़रीद रहे थे।

'बोर्नियो!' भुवनेश्वर ने आश्चर्य प्रकट करते हुए और आँखें चढ़ाते हुए कहा, 'हूँ—!'

'हाँ—!'

'कम्युनिस्ट और हिंदी लेखक और बोर्नियो के सिगरेट!' भुवनेश्वर ने अंग्रेज़ी में कहा, 'आई-सी-एस वाले भी इतने महँगे सिगरेट नहीं पीते।'

'आई-सी-एस वाले किसी के नौकर होते हैं, जबकि मैं मालिक हूँ।' यशपाल ने उसी ऊँचाई से उत्तर दिया।

---

1. स्नॉब=Snob=उत्तान भ्रू

...कांतिचंद्र सोनरिक्सा नये-नये डिप्टी कलक्टर हुए थे। सिर पर टेढ़ी टोपी और हाथ में 555 का डिब्बा लिये घूमा करते थे। एक दिन वे यशपाल से 'कॉफ़ी हाउस' में मिल गये और उन्होंने डिब्बा आगे बढ़ा दिया।

'Have a Smoke !'

'नहीं मैं यह नहीं पीता।'

'It is 555 !'

'मैं 555 नहीं पीता', यशपाल ने कहा, और जेब से पाउच निकालकर वे अपना सिगरेट बनाने लगे।

...एक बार रामविलास शर्मा और अज्ञेय इकट्ठे यशपाल से मिलने आये। रामविलास ने कहा, 'देखो यार मैं सुबह से इनके साथ हूँ, पर ये एक शब्द भी नहीं बोले। तुम इन्हें बुलवा दो तो जानें।'

'Do you think, I am so much in love with his voice ?' यशपाल ने उत्तर दिया।

और ऐसी बीसियों बातें हैं। लेकिन यह भी तय है कि इसका पता उनके साथ काफ़ी दिन तक रहने के बाद ही लगता है कि साधारण लोगों के साथ वे कभी स्नॉबरी से काम नहीं लेते और बड़ी सरलता से उनके साथ घुल-मिल जाते हैं।

यशपाल अधिक बातचीत नहीं करते। इधर तो गले की बीमारी के कारण कम बोलते हैं, लेकिन उनकी बातचीत काफ़ी रोचक और व्यंग्यात्मक होती है। विनोद-प्रियता उनमें बहुत है और जिसे अंग्रेज़ी में टखना खींचना कहते हैं, वह उनके स्वभाव का आवश्यक अंग है। कई बार दूसरा व्यक्ति, यदि उसमें मज़ाक सहने की शक्ति न हो तो तिलमिला भी जाता है...

...यशपाल जेल से छूटे थे। एक बड़े कवि उनके मित्र हैं। उनके घर दो दिन के लिए गये तो मित्र ने अपनी नयी कविताएँ सुनायीं। कवि-पत्नी ज़रा अंग्रेजी-दाँ हैं और अंग्रेज़ी अदब-आदाब में विश्वास रखती हैं, कुछ वाक्य स्वभाव-वश बोलती रहती हैं। पति ने कविताएँ समाप्त कीं तो पत्नी चहकीं, Aren't they lovely ?'

यशपाल चुप रहे। कविताएँ उन्हें बहुत अच्छी न लगी थीं। उत्तर की न उन्होंने वांछा की न यशपाल ने दिया।

खाने की मेज़ पर हेरिंग्ज (छोटी मछली) का डिब्बा खुला। यशपाल को प्लेट देते हुए कवि-पत्नी ने फिर वही वाक्य दोहराया, Aren't they lovely ?

'Just like your husband's poems !' यशपाल ने उत्तर दिया।

...पढ़ी-लिखी लड़कियों के बारे में एक बार उन्होंने कहा, 'मिरचें और पढ़ी-

लिखी लड़कियाँ एक जैसी होती हैं। आदमी पाना भी चाहता है और 'सी 'सी' भी करता है।

...एक वार उनके एक मित्र की पत्नी अपने पति के साथ लखनऊ आयीं। वरसात के दिन थे। वाहर गयीं तो भीग गयीं। आकर उन्होंने रानी (मिसेज़ यशपाल) की साड़ी पहनी और ड्राॅइंग-रूम में आ बैठीं। क़द-बुत से वे मिसेज़ यशपाल सरीखी हैं। उनकी साड़ी पहने वे सुस्ता रही थीं कि यशपाल कहीं वाहर से आये। वे चहकीं :

'Am I not looking like Rani ?'

'Am I not looking like Rajah ?' यशपाल ने कहा। और वे चिल्लायीं :

'Oh, you are horrible !'

लेकिन इस सब अहं और स्नॉबरी के बावजूद वे कितने बड़े तमाशाई हैं, इसे वे ही लोग जान सकते हैं, जिन्होंने उनके मुँह से यह सुना हो कि उन्होंने मिश्र वंधुओं को कैसे अपनी कहानी सुनायी।

यशपाल जीवन को जीने में विश्वास रखते हैं। खाने-पीने और जीवन को ढंग से जीने में उनका विश्वास है। बढ़िया सूट-बूट के साथ वे नब्बे-सौ का शू पहनना चाहते हैं, रेफ़्रिजिएटर में रखे पेय का आनंद उठाना चाहते हैं और अधिक-से-अधिक ख़र्च करना चाहते हैं। इसका एक कारण तो वह ग़रीबी और अभाव हो सकता है, जिसमें उनका बचपन और जवानी का अधिकांश समय बीता और दूसरा नास्तिकता तथा आवागमन के दर्शन में उनका अविश्वास। वे इसी जीवन में विश्वास रखते हैं और दूसरे जीवन की चिंता में इसे बिगाड़ने के बदले इसे ही बनाना चाहते हैं। यह बात कि कोसानी में जिस जगह बैठकर महात्मा गांधी को अनासक्तियोग लिखने का विचार आया, वहीं यशपाल को आसक्तियोग लिखने की सूझी, जहाँ यह उनके प्रचंड अहं की ओर संकेत करती है, वहाँ उस अंतर की ओर भी इंगित करती है जो महात्मा गांधी और यशपाल की धारणाओं में है।

लेकिन उत्तरोत्तर अच्छा खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने और बेहतर जीवन बिताने की वाँछा रखने के बावजूद यशपाल के स्वभाव में अभिजात-वर्गीय अहं नहीं। उनका अहं उस लेखक का अहं नहीं, जो रिक्शा में बैठे हुए नाक पर रूमाल रख ले कि कहीं रिक्शा चलाते मजदूर के पसीने की गंध हवा से उड़कर उसके नथुनों को न छू ले या अपने गाँव के किसी जरूरतमंद छात्र को कई बार की मुलाकात के बावजूद पहचानने से इनकार कर दे या फ़र्स्ट क्लास में सफ़र करे और साथ में एक साधारण-सा कंबल बिस्तरे के रूप में रखने की रियाकारी करे। मैंने यशपाल को इस अहं के बावजूद कि उन्हें किसी दूसरे कथाकार की चीज़ अपने मुक़ाबिले में

अच्छी नहीं लगती, खुले स्वभाव और सरल प्रकृति का पाया है। अलमोड़ा के डेढ़ महीने के प्रवास में 'याद' रखने वाली चीज यशपाल का संसर्ग है। शेष अनुभव तो खासे कटु हैं।

मैंने अलमोड़ा में यशपाल का उपन्यास 'मनुष्य के रूप' पढ़ा और अलमोड़ा से आकर 'दिव्या' और 'देशद्रोही' देखे। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में मुझे कुछ स्थल बहुत अच्छे लगे। जहाँ तक उपन्यास की कला का संबंध है (क्योंकि ये उपन्यास कथानक-प्रधान हैं) मुझे उनकी कला में अनावश्यक नाटकीयता लगी। 'दिव्या' तो यशपाल ने निश्चय ही सिनेमा को ध्यान में रखकर लिखा है। उसका अंत सिनेमा के पर्दे पर बड़ा प्रभावोत्पादक हो सकता है। तनिक और सावधानी से यशपाल 'दिव्या' से ऐसे दोष निकाल सकते थे। यही बात 'मनुष्य के रूप' के बारे में कही जा सकती है। इसी कारण उपन्यासों में अस्वाभाविकता का दोष आ गया है। इन दोनों की तुलना में जहाँ तक कथानक के गठन का संबंध है, मुझे यशपाल के शेष उपन्यासों में से 'पार्टी कॉमरेड' को छोड़कर देशद्रोही' अच्छा लगा। कहानी 'देशद्रोही' की भी यथार्थ नहीं, यशपाल के अधिकांश उपन्यासों की भाँति काल्पनिक है। इस दृष्टि से यशपाल यथार्थवादी लेखक हैं भी नहीं, लेकिन वह संभाव्य (probable) तो है। 'मनुष्य के रूप' और 'दिव्या' में यह संभाव्यता कई जगह नहीं रहती। यशपाल की यथार्थवादिता उनके कथानक अथवा पात्रों के चरित्र-चित्रण में नहीं, उन कथाओं अथवा चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किये गये आधारभूत सत्यों में रहती है। आधारभूत सत्यों को लेकर वे उन पर अपनी कल्पना से कहानी अथवा उपन्यास का महल खड़ा कर देते हैं। यशपाल द्वारा किया गया सत्य का निरूपण किसी को अच्छा लगे या न लगे, पर उसकी सत्यता से प्राय: इनकार नहीं किया जा सकता है। यद्यपि कई जगह उसके दर्शाने की आवश्यकता, जैसे उनकी कहानी 'प्रतिष्ठा का बोझ' में, मेरी समझ में नहीं आयी।

अलमोड़ा से आने के बाद कार्यवश मुझे दो-एक बार लखनऊ जाना पड़ा और पहाड़ी प्रदेश में उन्मुक्त सैर-सपाटा करने वाले यशपाल को मैंने मशीनों और प्रूफ़ों में जुटे अनवरत काम करते देखा। यशपाल ने प्रिंटिंग मशीन लगा रखी है और उन्हें इस फ़न में काफ़ी महारत हो गयी है। मशीन का अपना यह ज्ञान उन्हें प्रिय भी है, इसका उन्हें गर्व भी है और वे कहा करते हैं कि मशीन के हर मूड को वे अपनी संगिनि के मनोभावों (मूड्ज़) की भाँति जानते हैं (यद्यपि कोई संगी अपनी संगिनि के, अथवा संगिनि संगी के मनोभावों को पूरी तरह जान सकती है—यह कहना कठिन है।) ऊपर, तीसरी मंज़िल के अपने कमरे में बैठे वे नीचे मशीन, की आवाज़ सुनकर ही समझ जाते हैं कि उसे क्या तकलीफ़ है। फिर दफ़्तर का काम करते, प्रूफ़ पढ़ते, मशीन दुरुस्त करते मैंने उन्हें किसी प्रकार की सुस्ती दिखाते नहीं पाया। एक रात वे साढ़े ग्यारह बजे तक प्रूफ़ निकालने वाली छोटी-

सी दस्ती मशीन ठीक करते रहे और जब वह ठीक प्रूफ़ निकालने लगी तो थकावट के बावजूद हर्ष से उनका चेहरा खिल गया और वे दुर्गा भाभी के यहाँ अपने कमरे में सोने चले गये और उनकी पत्नी न जाने कब तक बैठी प्रूफ़ निकालती रहीं।

बहुत-सी बातें भाभी (रानी पाल) और यशपाल में मिलती हैं, लेकिन शायद भाभी में अहं, गाम्भीर्य और काम करने की शक्ति यशपाल की अपेक्षा अधिक है। मैंने सुबह उठते ही उन्हें काम में जुटे पाया और फिर उसी निष्ठा से दिन-भर काम करते रहकर गयी रात तक अनथक उसी में निरत देखा। इस पर भी मैंने उन्हें झुँझलाते, चिड़चिड़ाते या खीझते नहीं पाया। नदी जैसे अनायास कंकड़ों, पत्थरों और गढ़ों के ऊपर बहती चली जाती है, मैंने उन्हें दैनिक कार्यक्रम की ऊबड़-खाबड़ता पर धैर्य से बहते देखा है। वे खाना खाने आयी हैं कि नीचे से पुकार आयी, वे चली गयीं, फिर कुछ देर बाद आकर खाने लगीं। वे बैठी प्रूफ़ पढ़ रही हैं कि कोई आदमी मिलने आ गया, किसी बात पर वाद-विवाद हुआ, वह चला गया तो बिना माथे पर बल डाले प्रूफ़ पढ़ने लगीं।

यशपाल के एक मित्र ने मेरी पत्नी को परामर्श दिया था कि आप लखनऊ जायें तो रानी पाल से अवश्य मिलें, आपको प्रेरणा मिलेगी। कौशल्या स्वयं अनथक काम करने वाली है, पर इसमें संदेह नहीं कि भाभी के काम और विश्वास को देखकर उसे प्रेरणा मिली। मुझे तो यशपाल के जीवन को देख अमर महाकवि ठाकुर के नाटक 'चित्रा' की अंतिम पंक्तियाँ याद आ गयीं। चित्रा जैसा आत्म-विश्वास, दिलेरी और अपने संगी के साथ जीवन के ऊबड़-खाबड़ पथ पर सुख और संकट में पग-से-पग मिलाकर चलने की भावना उनमें है। ऐसी संगिनि को पाकर अर्जुन की भाँति कौन संगी न कह उठेगा :

'Beloved my life is full'

आई लायक यू दो आई हेट यू : मंटो

मंटो मेरा दुश्मन समझा जाता था। हममें काफ़ी नोक-झोंक रहती थी और इसमें कोई संदेह नहीं कि जब तक हम साथ-साथ रहे, हमने एक-दूसरे को बड़ी कड़ी चोटें पहुँचायीं। 'कुतुब पब्लिशर्स बंबई' ने एक पुस्तक माला निकाली थी—'नये अदब के मेमार'[1], उसमें उर्दू के लेखकों ने एक-दूसरे के रेखा-चित्र लिखे थे। सआदत हसन मंटो पर कृष्णचंद्र ने जो स्केच लिखा, उसमें हमारी उस नोक-झोंक का भी कुछ इस तरह वर्णन किया कि हमारी यह 'दुश्मनी' एक कहानी बन गयी। यहाँ तक कि एक मित्र ने उसी दुश्मनी की चर्चा करते हुए मुझसे आग्रह किया है कि यदि मैंने मंटो के बारे में लेख न लिखा तो वह मुझे परलोक में भी क्षमा न करेगा। लेकिन आज जब मंटो इस दुनिया में नहीं है, मैं सोचता हूँ—क्या हम सचमुच दुश्मन थे ?...मैं जब पिछले पंद्रह-बीस वर्षों का जायजा लेता हूँ तो पाता हूँ कि यदि हमारे परिचय का श्रीगणेश ही दुश्मनी से न हुआ होता तो हम बड़े अच्छे मित्र होते।

मंटो की और मेरी प्रकृति में आकाश-पाताल का अन्तर था—वह लकड़पन ही से दीनू या फ़ज़लू कुम्हार की दुकानों के ऊपर चौवारों में जमने वाली जुए की महफ़िलों में शामिल होता था और रात को स्वप्न भी फ़्लाश ही के देखता था और मैंने कभी ताश को हाथ भी नहीं लगाया। वह रिंदेबलानोश[2] था और मैंने शराब तो दूर रही, सिगरेट भी पहली बार 1942 में पिया, जब मैं बत्तीस वर्ष का था। कटरा घुन्नियाँ हो, हीरा मंडी हो या फ़ॉरस रोड—अमृतसर, लाहौर या बंबई—जहाँ-जहाँ वह रहा, 'उस बाजार' की उसने खूब सैर की थी और मैंने उधर झाँककर भी नहीं देखा। बात यह है कि माँ ने बचपन ही से इन तीनों बातों के प्रति मेरे मन में असीम घृणा पैदा कर दी थी। पिताजी ने इन तीनों क्षेत्रों में जो कीर्ति अर्जित की थी, मेरा विचार है कि हमारे कुटुंब की भावी तीन पीढ़ियाँ

---

1. नये साहित्य के निर्माता
2. फक्कड़-पियक्कड़

इस सिलसिले में कुछ किये बिना ही उस पर गर्व कर सकती हैं। उनके इन्हीं कारनामों की वजह से घर की जैसी स्थिति हो गयी और हमने जिस दारिद्र्य में बचपन के दिन काटे, उसने रक्त को कुछ ऐसा जमा दिया कि आज, जब मैं सिगरेट या शराब को उतना बुरा नहीं समझता, कभी खुल-खेलने का हौसला नहीं होता। पिताजी, जब एकाध पैग चढ़ा लेते थे, प्रायः नारा लगाते थे—'कौड़ी न रख कफ़न के लिए'। वे वर्तमान में जीते थे और उन्होंने कभी भविष्य की चिंता नहीं की। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मैंने लड़कपन ही में जीवन का सारा ढाँचा बना लिया था—और मंटो को मेरे इस संयम, हिसाब-किताब, प्लानिंग, मित-व्ययता और ठहराव से घृणा थी। अपनी इस घृणा को उसने कई बार कठोरतम शब्दों में प्रकट किया :

...मुझे मंटो ने 'फ़िलिमस्तान' में काम करने के लिए बंबई बुलाया था। मेरे बंबई पहुँचने के दूसरे या तीसरे दिन की बात है। हम विक्टोरिया गाड़ी में आमने-सामने बैठे ग्रांट रोड को जा रहे थे। मंटो ने थोड़ी-सी पी रक्खी थी। अचानक उसने अंग्रेज़ी में कहा—I like you, though I hate you !'[1]

...डेढ़ साल बाद हम 'फ़िलिमस्तान' की कैंटीन में बैठे थे। लंच का समय था। मंटो की मेज़ पर नित्य की भाँति राजा मेहदी अली ख़ाँ, वाचा इत्यादि दो-एक मित्र थे। मैं बराबर की मेज़ पर अपनी यूनिट के दो-एक दोस्तों के साथ बैठा था। न जाने कैसे हिंदुओं के दाहकर्म-संस्कार और कपाल-क्रिया की बात चली तो मंटो ने दाँत पीसकर कहा—'अश्क जब मरेगा तो उसकी कपाल-क्रिया मैं करूँगा।'

...मैं के० ई० एम० अस्पताल (बंबई) में बीमार पड़ा था। डॉक्टरों ने टी० बी० का फ़तवा दे दिया था। राजा मेहदी अली ख़ाँ मुझसे मिलने आया तो उसने कहा—'मंटो कहता है कि साला इस तरह पैसे न जोड़ता तो बीमार न पड़ता।'

जब ग्रांट-रोड को जाते हुए मंटो ने मुझसे कहा था—'तुम मुझे अच्छे लगते हो अगरचे मुझे तुमसे सख़्त नफ़रत है' तो मैंने जवाब में कहा था कि यही हाल मेरा है। लेकिन वास्तव में मैंने जवाब ही के लिए यह जवाब दिया था। नहीं तो मंटो से मुझे दरअसल कभी नफ़रत नहीं हुई। रहा मंटो, तो इस नफ़रत के बाव-जूद, जिसे वह अकसर प्रकट किया करता था और उस विरोधाभास के चलते, जो हम दोनों की प्रकृतियों में था, मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि हम दोनों गहरे दोस्त होते, यदि मैंने अपने फक्कड़पने में मंटो को बिना देखे, बिना जाने, बिना पढ़े उसके बारे में एक सख़्त जुमला न कस दिया होता।

बात शायद 1938 या 1939 के आस-पास की है। मंटो की एक कहानी 'खुशिया'

---

1. तुम मुझे अच्छे लगते हो यद्यपि मैं तुमसे घृणा करता हूँ।

एक उर्दू पत्रिका में छपी थी। मैं और वेदी (राजेन्द्र सिंह) उस ज़माने में साथ-साथ लिखा-पढ़ा करते थे। वह कहानी लिखता तो मुझे आकर सुनाना न भूलता और मैं लिखता तो उसे जा सुनाता। दोनों मिलकर समकालीन कहानीकारों की रचनाओं पर विचार-विनिमय करते और जैसा कि नौजवानी में होता है, हमारी सम्मतियाँ ख़ासी तेज़, तीखी और दो-टूक होतीं। वेदी ने 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी राय पूछी।

मैंने उस समय तक मंटो की कोई चीज़ न पढ़ी थी, न उसे देखा था। उसने ह्यूगो अथवा दॉस्तोवस्की की किसी पुस्तक का अनुवाद किया था, जो 'सरगुज़श्ते-असीर' के नाम से उन्हीं दिनों छपा था, और मैंने किसी से सुना था कि वह रूसी कहानियों के तरजुमे बग़ल में दबाये किसी प्रकाशक की खोज में लाहौर आया था। इस बात में कहाँ तक सचाई है, यह मैं नहीं जानता। फिर भी 'ख़ुशिया' के प्रकाशित होने के पूर्व मंटो के बारे में यही दो-एक बातें मैं जानता था। और क्योंकि लिखना मैंने कृष्ण, मंटो और वेदी से बहुत पहले शुरू कर दिया था, उम्र में भी मैं तीनों से बड़ा हूँ और उस समय तक मेरी कुछ प्रसिद्ध कहानियाँ—'डाची', 'कोंपल', पिंजरा' आदि लिखी जा चुकी थीं और अनुवादक को मैं मौलिक लेखक से हेय समझता था, इसलिए मेरी दृष्टि में मंटो की कोई ख़ास वक़अत न थी। ज़ाहिर है कि 'ख़ुशिया' पढ़ते समय भी मैं पहले ही से लेखक के विपक्ष में था। 'ख़ुशिया' कहानी मुझे कुछ बहुत अच्छी भी नहीं लगी। यद्यपि मंटो की कहानियों में उसका महत्वपूर्ण स्थान है और उसके आधारभूत-विचार को मंटो ने बड़ी सफ़ाई से निभाया है। फिर भी मुझे यह आपत्ति थी कि ख़ुशिया यथार्थ चरित्र नहीं, बल्कि लेखक के दिमाग़ की उपज है। मेरे एक मित्र उन दिनों नियमित रूप से उसी 'गली' की सैर करते थे और उनके द्वारा मुझे उस गली के तौर-तरीकों की पूरी जानकारी प्राप्त थी। निम्न वर्ग की वेश्याओं के (जैसी कि 'ख़ुशिया' की कांता है।) दलाल प्रायः उनसे पहले ही शारीरिक रूप से परिचित हो लेते हैं, यह बात मुझे विश्वस्त रूप से ज्ञात थी। इसलिए मेरा ख़याल था कि ख़ुशिया का चरित्र एकदम अयथार्थ है। वेदी ने जब ख़ुशिया के बारे में मेरी राय पूछी तो उस समय अचेतन रूप में ये बातें मेरे दिमाग़ में थीं। वैसे भी फक्कड़पने के दिन थे। किसी चीज़ पर उतनी गंभीरता से विचार करने की आदत न थी, जो मुँह में आया बक देते थे, इसलिए मैंने कहा—'दो कौड़ी की कहानी है।'

मैंने यह बात कही और भूल गया, लेकिन वेदी नहीं भूला। और जब कुछ समय बाद बेदी दिल्ली गया और वहाँ मंटो ने (जो उस समय ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली में आ गया था।) अपनी आदत के अनुसार उसे बहुत परेशान किया तो न जाने कैसे और न जाने किस सिलसिले में, वेदी ने 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी राय मंटो को बता दी।

दिल्ली से लौटकर बेदी ने मंटो से अपनी मुलाकात का हाल सुनाया और कहा कि मैंने मंटो तक तुम्हारी बात पहुँचा दी है। उस समय मैंने कभी सोचा भी

न था कि मंटो और मैं कभी एक-दूसरे का रास्ता काटेंगे, इसलिए मैंने इस बात को सुनी-अनसुनी कर दिया, लेकिन 1940 में जब कृष्णचंद्र के बुलावे पर मैं दिल्ली रेडियो स्टेशन गया और वहाँ जाते ही नौकर हो गया तो मुझे पहली बार इस बात का एहसास हुआ कि मेरा वह रिमार्क कहाँ तक पहुँच गया है। दोस्तों ने मेरी नौकरी पर इसलिए प्रसन्नता प्रकट की कि अब मंटो को अपना जवाब मिलेगा। अर्थात् यद्यपि मैं और मंटो कभी आमने-सामने भी न हुए थे, लेकिन यारों ने हमें एक-दूसरे का प्रतिद्वंद्वी मान लिया था।

दिल्ली में अपनी नौकरी पर आने के दूसरे दिन ही मुझे इस बात का पता चल गया और क्योंकि मैं एक बड़े ही कष्ट-प्रद और संघर्ष-भरे जीवन से गुज़रकर आया था, इसलिए यह सोचकर मेरी आत्मा सिहर उठी कि मुझे फिर किसी से मुक़ाबिला करना पड़ेगा। मैंने मन में निश्चय कर लिया कि मैं मौका पाते ही मंटो को समझाऊँगा कि लोग केवल तमाशा देखना चाहते हैं, लेकिन हम क्यों तमाशा बनें? पर एक तो यह कि रेडियो में उस समय मंटो की तूती बोलती थी, दूसरे वह पहले ही से मुझे नीचा दिखाने को उधार खाये बैठा था, इसलिए मेरे सारे प्रयत्न विफल रहे।

रेडियो का दफ़्तर उन दिनों अलीपुर रोड की एक बड़ी कोठी में था। बड़े कमरे स्टेशन डायरेक्टर, प्रोग्राम डायरेक्टर और संगीत विभाग के पास थे। छोटे कमरों में से (जो शायद कोठी के बाथरूम रहे होंगे) एक में राशिद, दूसरे में कृष्ण और तीसरे में मंटो बैठते थे। ये कमरे साथ-साथ थे। मुझे अच्छी तरह याद है, मैं कृष्ण के कमरे में बैठा था। कृष्ण स्टूडियों में (जो सड़क के दूसरी ओर एक कोठी में बना था) गया हुआ था और मैं कोई फ़ीचर लिख रहा था कि मंटो टह-लता हुआ आया और इधर-उधर की बात करके उसने 'खुशिया' की बात छेड़ी।

'मुझे मालूम हुआ है कि तुम्हें मेरी कहानी 'खुशिया' पसंद नहीं आयी।' वह बोला।

मैंने टालने की कोशिश की। लेकिन मंटो यों छोड़ने वाला न था, 'तुम्हें उसमें क्या पसंद नही आया ?' उसने पूछा।

मैंने उसे समझाया कि मैं यहाँ हिंदी सलाहकार की हैसियत से आया हूँ। मेरा-तुम्हारा कोई मुक़ाबिला नहीं। तुम मज़े में काम करो और मुझे भी करने दो। फ़ज़ूल के बहस-मुबाहिसे में मत पड़ो। लोग तमाशा देखना चाहते हैं, हम क्यों तमाशा बनें ?...

लेकिन मंटो ने मुझे बात पूरी नहीं करने दी। उसने हाथ से हवा को नहीं, जैसे मेरी बात को काटते हुए वही सवाल दोहराया। और शायद कोई सख़्त बात भी कही। लाचार हो मैंने कहा—'कहानी वह अच्छी है, लेकिन हक़ीक़ी[2] नहीं।'

---

1 आधुनिक उर्दू कविता में मुक्त-छंद के प्रवर्तक—नून० मीम० राशिद।

2. यथार्थ

'क्यों हक़ीक़ी नहीं ?'

तब मैंने अपनी आपत्ति बतायी—'तुम्हें एक ख़याल सूझा', मैंने कहा, 'और तुमने अपने आपको उस दलाल के रूप में रखकर, वैसी स्थिति में अपनी प्रतिक्रिया का ख़ाका खींच दिया। यथार्थ जीवन में यदि 'ख़ुशिया' सचमुच दलाल होता और कांता उसके सामने यों नंगी हो जाती तो वह उसे वहीं दबोच लेता। तुमने जो कुछ लिखा, वह एक पढ़ा-लिखा शायर या लेखक सोच सकता है, अपढ़ दलाल नहीं।'

कुछ इसी तरह की बात बड़े ज़ोरों से मैंने कही। मंटो क्षण भर चुप रहा, फिर तिलमिलाकर बोला—'हाँ, हाँ, मैं वह दल्लाल हूँ, मंटो वह दल्लाल है। तुम्हें कहानी लिखने का शऊर भी है ? तुम ख़ुद क्या लिखते हो ?'

लेकिन उस समय कृष्ण आ गया या मुझे अडवानी साहब (स्टेशन डायरेक्टर) ने बुला लिया या न जाने क्या हुआ, कुछ भी हो, वह बात वहीं ख़त्म हो गयी।

...लेकिन वह बात कभी ख़त्म नहीं हुई। दिल्ली में जो नोंक-झोंक इसके बाद रही, सो रही, मंटो मेरी इस आपत्ति को कभी न भूल सका। 'नक़ूश' (लाहौर) के कहानी-अंक (जनवरी 1954) में उर्दू लेखकों का एक सिम्पोज़ियम छपा और इस समय, जब उर्दू में कोई नयी कहानी लिखे हुए मुझे आठ वर्ष हो रहे हैं (इधर मेरी जो कहानियाँ उर्दू में छपी हैं, वे एक तरह हिंदी से अनूदित हुई हैं) और मेरे मित्र और उर्दू के पाठक तक मुझे भूल गये हैं, मंटो को मैं याद रहा। 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी आपत्ति और मेरे जवाब की चर्चा करना वह उस सिम्पोज़ियम में भी नहीं भूला।

इसके बाद यद्यपि मैंने बड़ा प्रयास किया कि मंटो से मेरी कोई नोक-झोंक न हो, मैं अपनी मेज़ भी उठाकर दूसरी मंजिल पर ले गया, लेकिन मेरे सारे प्रयास व्यर्थ हुए। मैं जब भी नीचे उतरता, दोस्तों में जाता, मंटो सख़्त हिक़ारत भरी नज़र से मुझे देखता और किसी-न-किसी ढंग से अपनी घृणा का प्रदर्शन भी कर देता।

उन दिनों की बड़ी साफ़ तस्वीर मेरे दिमाग़ के पर्दे पर अंकित है। मंटो रेडियो के लिए ड्रामे लिखने पर नियुक्त था। कृष्णचंद्र ड्रामे का इंचार्ज था, मैं हिंदी सलाहकार था और क्योंकि उस व्यवस्था में हिंदी को कोई विशेष महत्व न दिया जाता था, इसलिए कुछ ज्यादा काम न था और मैं अवकाश के समय एकाध नाटक भी लिख दिया करता था।

मंटो का ढंग यह था कि उर्दू का टाइपराइटर लेकर बैठ जाता और कृष्ण से पूछता—'बोलो भई, काहे पर लिखा जाये ?' विषय सुनते ही तुरंत टाइप करना शुरू कर देता और शाम तक मसौदा कृष्ण को दे देता। मंटो को इस बात का गर्व था और इसका ऐलान वह प्रायः खुले-आम किया करता था कि वह जिस चीज़ पर चाहे ड्रामा लिख सकता है। रेडियो के ड्रामा-आर्टिस्ट—ग़ुलाम मुहम्मद, रनधीर, (जो अब फ़िल्म ऐक्टर हैं) ताज मुहम्मद आदि उसे अकसर घेरे रहते थे। मंटो

लिखते-लिखते उन्हें ड्रामा सुनाया भी करता था और सुनकर वे 'मंटो साहब, आप ड्रामे के बादशाह हैं', कहते हुए मंटो के पैसों से चाय उड़ाया करते थे। 'जावेद' और 'हसरत साहब' से उसका पीने-पिलाने का नाता था और अडवानी साहब उससे इसलिए दबते थे कि मंटो के कोई संबंधी सूचना और प्रसारण विभाग के सेक्रेटरी थे। रेडियो स्टेशन पर हर समय 'मंटो साब', मंटो साब' होती रहती और हर मामले में मंटो की राय आख़िरी समझी जाती और मंटो चापलूसों या मित्रों में घिरा रहता। लंच के समय कभी उसके और कभी कृष्ण के कमरे में महफ़िल जमती। मैं भी कभी-कभी आ खड़ा होता। मंटो कभी मुझे बात न करने देता। मेरे बारे में कोई-न-कोई अपमानजनक 'रिमार्क' ज़रूर पास करता और यद्यपि मेरे मामले में लोग उसका साथ न देते, लेकिन मुझे बड़ी कोफ़्त होती।

आख़िर एक दिन मैंने कृष्ण से कहा—'देखो भाई, तुम मंटो को समझा दो, वह मुझे ख़ाहमख़ाह तंग करता है, मैं तरह दे जाता हूँ।'

'तुम भी उसे तंग करो!' कृष्ण ने कहा, 'मेरे समझाने से वह क्या समझेगा?'

उस दिन मैं दफ़्तर गया तो मैंने तय कर लिया कि मैं आज मंटो को परेशान करूँगा। कुछ दिन पहले उसकी कहानी 'धुआँ' दिल्ली के रिसाले 'साक़ी' में छपी थी। कहानी मुझे पसंद थी। मंटो ने सेक्स संबंधी एक बड़े ही नाजुक विषय पर सुंदर और सफल कहानी लिखी थी। लेकिन मैं तो शरारत पर तुला हुआ था और क्योंकि मैं इस बीच उसके अहं के हर पहलू को जान चुका था इसलिए मैंने कार्य-क्रम सोच लिया था। दफ़्तर पहुँचकर मैं मंटो के कमरे में गया। वह अभी आकर बैठा ही था कि मैंने कहा, 'मैंने तुम्हारी कहानी 'धुआँ' पढ़ी।'

'कैसी लगी?'

'अच्छी है। अब तुम चपटी पर लिखो।'

मंटो क्षण भर को चुप रहा। फिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें लगभग बाहर निकालते हुए पूछा—'क्या मतलब है तुम्हारा?'

'मैंने कुछ नहीं कहा और वही बात दोहरा दी—'बस अब तुम चपटी पर लिखो।'

उस समय तक अस्मत चग़ताई ने अपनी कहानी 'लिहाफ़' न लिखी थी। मंटो चिढ़ गया। वह कहना चाहता था कि तुम ख़ुद क्या ख़ाक कहानी लिखते हो, लेकिन कुछ दिन पहले वह इस बात का ऐलान कर चुका था कि उसने कभी मेरी कोई कहानी नहीं पढ़ी, इसलिए उसने कहा—'तुम क्या झख मारते हो? मैंने तुम्हारे ड्रामे पढ़े हैं।'

और यद्यपि उस समय उर्दू में मेरा एकांकी संग्रह 'पापी' प्रकाशित हो चुका था और मैं कुछ बहुत अच्छे नाटक लिख चुका था, लेकिन मुझे लड़ने की कला ख़ूब आती है, इसलिए तरह देकर मैंने कहा—'मैं तो ड्रामा लिखना अभी सीख रहा हूँ, इसलिए मेरे ड्रामों की बात छोड़ो, लेकिन तुम जो ड्रामे के बादशाह कहलाते हो, जैसी झख मारते हो वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। 'करवटें' में तुमने

'क्यों हक़ीक़ी नहीं ?'

तब मैंने अपनी आपत्ति बतायी—'तुम्हें एक ख़याल सूझा', मैंने कहा, 'और तुमने अपने आपको उस दलाल के रूप में रखकर, वैसी स्थिति में अपनी प्रतिक्रिया का ख़ाका खींच दिया। यथार्थ जीवन में यदि 'ख़ुशिया' सचमुच दलाल होता और कांता उसके सामने यों नंगी हो जाती तो वह उसे वहीं दबोच लेता। तुमने जो कुछ लिखा, वह एक पढ़ा-लिखा शायर या लेखक सोच सकता है, अपढ़ दलाल नहीं।'

कुछ इसी तरह की बात बड़े ज़ोरों से मैंने कही। मंटो क्षण भर चुप रहा, फिर तिलमिलाकर बोला—'हाँ, हाँ, मैं वह दल्लाल हूँ, मंटो वह दल्लाल है। तुम्हें कहानी लिखने का शऊर भी है ? तुम ख़ुद क्या लिखते हो ?'

लेकिन उस समय कृष्ण आ गया या मुझे अडवानी साहब (स्टेशन डायरेक्टर) ने बुला लिया या न जाने क्या हुआ, कुछ भी हो, वह बात वहीं ख़त्म हो गयी।

...लेकिन वह बात कभी ख़त्म नहीं हुई। दिल्ली में जो नोंक-झोंक इसके बाद रही, सो रही, मंटो मेरी इस आपत्ति को कभी न भूल सका। 'नक़ूश' (लाहौर) के कहानी-अंक (जनवरी 1954) में उर्दू लेखकों का एक सिम्पोज़ियम छपा और इस समय, जब उर्दू में कोई नयी कहानी लिखे हुए मुझे आठ वर्ष हो रहे हैं (इधर मेरी जो कहानियाँ उर्दू में छपी हैं, वे एक तरह हिंदी से अनूदित हुई हैं) और मेरे मित्र और उर्दू के पाठक तक मुझे भूल गये हैं, मंटो को मैं याद रहा। 'ख़ुशिया' के बारे में मेरी आपत्ति और मेरे जवाब की चर्चा करना वह उस सिम्पोज़ियम में भी नहीं भूला।

इसके बाद यद्यपि मैंने बड़ा प्रयास किया कि मंटो से मेरी कोई नोक-झोंक न हो, मैं अपनी मेज भी उठाकर दूसरी मंज़िल पर ले गया, लेकिन मेरे सारे प्रयास व्यर्थ हुए। मैं जब भी नीचे उतरता, दोस्तों में जाता, मंटो सख़्त हिक़ारत भरी नज़र से मुझे देखता और किसी-न-किसी ढंग से अपनी घृणा का प्रदर्शन भी कर देता।

उन दिनों की बड़ी साफ़ तस्वीर मेरे दिमाग़ के पर्दे पर अंकित है। मंटो रेडियो के लिए ड्रामे लिखने पर नियुक्त था। कृष्णचंद्र ड्रामे का इंचार्ज था, मैं हिंदी सलाहकार था और क्योंकि उस व्यवस्था में हिंदी को कोई विशेष महत्व न दिया जाता था, इसलिए कुछ ज्यादा काम न था और मैं अवकाश के समय एकाध नाटक भी लिख दिया करता था।

मंटो का ढंग यह था कि उर्दू का टाइपराइटर लेकर बैठ जाता और कृष्ण से पूछता—'बोलो भई, काहे पर लिखा जाये ?' विषय सुनते ही तुरंत टाइप करना शुरू कर देता और शाम तक मसौदा कृष्ण को दे देता। मंटो को इस बात का गर्व था और इसका ऐलान वह प्रायः खुले-आम किया करता था कि वह जिस चीज़ पर चाहे ड्रामा लिख सकता है। रेडियो के ड्रामा-आर्टिस्ट—ग़ुलाम मुहम्मद, रनधीर, (जो अब फ़िल्म ऐक्टर हैं) ताज मुहम्मद आदि उसे अकसर घेरे रहते थे। मंटो

लिखते-लिखते उन्हें ड्रामा सुनाया भी करता था और सुनकर वे 'मंटो साहब, आप ड्रामे के बादशाह हैं', कहते हुए मंटो के पैसों से चाय उड़ाया करते थे। 'जावेद' और 'हसरत साहब' से उसका पीने-पिलाने का नाता था और अडवानी साहब उससे इसलिए दबते थे कि मंटो के कोई संबंधी सूचना और प्रसारण विभाग के सेक्रेटरी थे। रेडियो स्टेशन पर हर समय 'मंटो साब', मंटो साब' होती रहती और हर मामले में मंटो की राय आख़िरी समझी जाती और मंटो चापलूसों या मित्रों में घिरा रहता। लंच के समय कभी उसके और कभी कृष्ण के कमरे में महफ़िल जमती। मैं भी कभी-कभी आ खड़ा होता। मंटो कभी मुझे बात न करने देता। मेरे बारे में कोई-न-कोई अपमानजनक 'रिमार्क' ज़रूर पास करता और यद्यपि मेरे मामले में लोग उसका साथ न देते, लेकिन मुझे बड़ी कोफ़्त होती।

आख़िर एक दिन मैंने कृष्ण से कहा—'देखो भाई, तुम मंटो को समझा दो, वह मुझे ख़ाहमख़ाह तंग करता है, मैं तरह दे जाता हूँ।'

'तुम भी उसे तंग करो!' कृष्ण ने कहा, 'मेरे समझाने से वह क्या समझेगा?'

उस दिन मैं दफ़्तर गया तो मैंने तय कर लिया कि मैं आज मंटो को परेशान करूँगा। कुछ दिन पहले उसकी कहानी 'धुआँ' दिल्ली के रिसाले 'साक़ी' में छपी थी। कहानी मुझे पसंद थी। मंटो ने सेक्स संबंधी एक बड़े ही नाजुक विषय पर सुंदर और सफल कहानी लिखी थी। लेकिन मैं तो शरारत पर तुला हुआ था और क्योंकि मैं इस बीच उसके अहं के हर पहलू को जान चुका था इसलिए मैंने कार्यक्रम सोच लिया था। दफ़्तर पहुँचकर मैं मंटो के कमरे में गया। वह अभी आकर बैठा ही था कि मैंने कहा, 'मैंने तुम्हारी कहानी 'धुआँ' पढ़ी।'

'कैसी लगी?'

'अच्छी है। अब तुम चपटी पर लिखो।'

मंटो क्षण भर को चुप रहा। फिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें लगभग बाहर निकालते हुए पूछा—'क्या मतलब है तुम्हारा?'

'मैंने कुछ नहीं कहा और वही बात दोहरा दी—'बस अब तुम चपटी पर लिखो।'

उस समय तक अस्मत चग़ताई ने अपनी कहानी 'लिहाफ़' न लिखी थी। मंटो चिढ़ गया। वह कहना चाहता था कि तुम ख़ुद क्या ख़ाक कहानी लिखते हो, लेकिन कुछ दिन पहले वह इस बात का ऐलान कर चुका था कि उसने कभी मेरी कोई कहानी नही पढ़ी, इसलिए उसने कहा—'तुम क्या झख मारते हो? मैंने तुम्हारे ड्रामे पढ़े हैं।'

और यद्यपि उस समय उर्दू में मेरा एकांकी संग्रह 'पापी' प्रकाशित हो चुका था और मैं कुछ बहुत अच्छे नाटक लिख चुका था, लेकिन मुझे लड़ने की कला ख़ूब आती है, इसलिए तरह देकर मैंने कहा—मैं तो ड्रामा लिखना अभी सीख रहा हूँ, इसलिए मेरे ड्रामों की बात छोड़ो, लेकिन तुम जो ड्रामे के बादशाह कहलाते हो, कैसी झख मारते हो वह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। 'करवटें' में तुमने

'मॉम' की कहानी 'रेन' का प्लाट चुरा लिया है। 'रूह का नाटक' पूरे-का-पूरा अनुवाद कर दिया है और हवाला तक नहीं दिया। मैं अच्छे नाटक नहीं लिखता, लेकिन ओरिजिनल तो लिखता हूँ। मेरी अच्छी-बुरी चीज़ मेरी अपनी है, किसी दूसरे की चुरायी तो नहीं।'

मंटो झल्ला उठा। लेकिन मैं वहाँ नहीं रुका। कृष्णचंद के कमरे में आ गया। मंटो ड्रामा लिखने जा रहा था, लेकिन ड्रामा लिखना तो दूर रहा, अपने कमरे में बैठना तक उसके लिए मुश्किल हो गया। वह मेरे पीछे-पीछे कृष्ण के कमरे में आया। उसने फिर मुझसे कहानी-कला को लेकर बात करने की कोशिश की, लेकिन मैं फिर तरह देकर निकल गया और स्टूडियो चला गया। मंटो ने स्टूडियो में मेरा पीछा किया, लेकिन मैं फिर टाल गया।

उसी शाम कवि विश्वामित्र 'आदिल' अपने मित्र और बहनोई श्री मदनमोहन भल्ला के साथ मंटो से मिलने गया। उसने आकर बताया कि मंटो ने उन्हें अपना नया कहानी-संग्रह दिया और मुझे अनगिनत गालियाँ दीं कि अश्क साला अपने आपको क्या समझता है? उसको कहानी कला की अलिफ़-बे का भी ज्ञान नहीं। 'अदवे-लतीफ़' में उसने कहानी-कला पर जो लेख लिखा था, वह बकवास है, इत्यादि इत्यादि...

तीन दिन तक मंटो मुझे गालियाँ देता रहा। मैं ऊपर अपने कमरे में बैठा वह सब सुनता रहा, क्योंकि तमाशा देखने वाले बड़े प्रसन्न थे और मंटो क्या कहता है वे मुझे राई-रत्ती बताना न भूलते थे। लेकिन मैं चुप रहा और दिल-ही-दिल में हँसता भी रहा कि जैसा मैंने सोचा था, वैसा ही हुआ और खेद भी करता रहा कि न चाहते हुए भी मुझे वह सब करना पड़ रहा है।

मैं मंटो की कहानियाँ पसंद करता था। 'खुशिया' के बाद मैंने मंटो की कई बहुत अच्छी कहानियाँ पढ़ी थीं। 'नया कानून', 'मंत्र', 'शोशो', 'डरपोक', 'मौसम की शरारत', 'हतक' और 'मिसेज़ डी० कास्टा' मुझे बहुत पसंद आयी थीं। लेकिन जब तक मैं दिल्ली में रहा, मैंने कभी मंटो के सामने उसकी कहानियों की तारीफ़ नहीं की। मंटो की नज़र काफ़ी तेज़ थी, इसलिए चापलूसी से यद्यपि उस समय वह खुश होता था, लेकिन चापलूस के लिए उसके मन में कोई सम्मान न रहता था। वह अजीब बात है कि कृष्ण ने मुझे दिल्ली बुलाकर मंटो के सामने ला खड़ा किया, लेकिन जब भी हममें झगड़ा हुआ, उसने हमेशा मंटो की तरफ़दारी की। मंटो उस तरफ़दारी का फ़ायदा उठा लेता था, लेकिन कृष्ण के प्रति उसके मन में कोई इज़्ज़त न थी। वह उसे भी गालियाँ देता था, चूँकि जैसा मैंने पहले कहा, उन दिनों मंटो को हर समय चापलूस लोग घेरे रहते थे, इसलिए मेरी उस सच्ची तारीफ़ को भी वह चापलूसी समझे, यह मेरे अहं को स्वीकार न था। मैं जान-बूझकर मंटो की अच्छी कहानियों की चर्चा छोड़ जाता और उसकी कमज़ोर कहानियों की आलोचना बड़े ज़ोरों से करता। सारांश यह कि काफ़ी चपकलश रहती थी।

उन दिनों अश्लील चीज़ें लिखने को प्रगतिशीलता समझा जाता था। अहमद अली, अस्मत और मंटो उस लेखन-शैली के अगुवा थे। कृष्ण खुलकर न खेलता था, लेकिन उसने भी अपनी कहानियों का एक फ़ार्मूला बना रखा था, जिसमें वह रोमान और प्रगतिशील व्यंग्य में थोड़ी-सी अश्लीलता का पुट दे देता था। मेरा कहना था कि औरतों की अस्मत-फ़रोशी और बलात्कार के अलावा भी बीसियों समस्याएँ हैं, जो उतनी ही महत्वपूर्ण हैं, लेकिन न जाने क्यों, उस समय प्रगतिशील लेखकों का रुझान नग्नता को चित्रित करने की ओर अधिक था और उनके मध्य-वर्गीय पढ़े-लिखे युवक-पात्र घटिया श्रेणी की वेश्याओं के चौबारों पर अपनी कुंठा को मिटाते घूमते थे। जब मैं कृष्ण से कहता कि यह प्रगतिशीलता नहीं है तो वह कहता कि चूँकि तुम यह सब लिख नहीं सकते, इसलिए तुम्हें मंटो, अस्मत (इन दोनों के साथ वह अपने को भी शामिल कर लेता) से ईर्ष्या होती है। एक दिन मंटो ने भी कुछ ऐसी ही बड़ हाँकी तो मैंने तय किया कि मैं भी एक ऐसी ही कहानी लिखूँगा। यह याद नही कि किसी ने विषय चुना था या हमने अपने आप लिखा, लेकिन हम दोनों ने एक ही विषय यानी नौकरों के सामने मालिकों की यौन संबंधी बेपरवाही कर कहानियाँ लिखीं। मंटो ने 'ब्लाउज़' और मैंने 'उबाल'। दोनों कहानियाँ 'साक़ी' दिल्ली के एक ही अंक में (शायद किसी नव-वर्षांक में) छपीं। 'उबाल' को मित्रों ने बहुत पसंद किया। कृष्ण ने उस समय तक की मेरी कहानियों में उसे सर्वश्रेष्ठ माना। बाद में उसका अंग्रेज़ी अनुवाद छपा तो वह भी काफ़ी पसंद किया गया। 'ब्लाउज़' और 'उबाल' उस समय की मेरी और मंटो की कला का प्रतिनिधित्व करती हैं। अश्लीलता दोनों कहानियों में एक जैसी है, मालिकों की यौन संबंधी बेपरवाही का प्रभाव भी दोनों कहानियों के नौकरों पर एक जैसा पड़ता है, लेकिन जहाँ 'ब्लाउज़' के अंत की वास्तविकता कोरी वास्तविकता है, वहाँ 'उबाल' के नौकर की ट्रैजिडी में सामाजिक ट्रैजिडी भी निहित है और कहानी सामाजिक यथार्थ का नमूना पेश करती है। कहानीकार को यथार्थ का सच्चा ख़ाका खीचने तक ही अपनी लेखनी को सीमित रखना चाहिए या उस यथार्थ की पृष्ठभूमि में समाज का भी जायज़ा लेना चाहिए, यह विवाद लम्बा और बेमज़ा है और वे लेखक जो कला का उद्देश्य मात्र कला समझते हैं अथवा वे जो कला द्वारा जीवन को प्रतिबिंबित देखना चाहते हैं, सदा इस पर बहस करते रहेंगे। बहरहाल, मंटो के साथ चलने वाली नोक-झोंक में मैंने भी वैसी ही एक कहानी लिखी और यद्यपि उसकी बड़ी प्रशंसा हुई, लेकिन फिर मैंने उस तरफ़ का रुख़ नहीं किया। इसलिए नही कि वैसी कहानियाँ लिखना मैं कुछ अच्छा नहीं समझता, बल्कि इसलिए कि वे मेरे स्वभाव और प्रकृति से मेल नहीं खातीं।

बारी साहब[1] के बारे में मंटो ने लिखा है कि वे बड़े रणछोड़ किस्म के आदमी

1. उर्दू के प्रसिद्ध इतिहासकार, जो क्रांतिकारी साहित्यकार—इश्तराकी अदीब—कहलाते थे।

थे[1] लेकिन मंटो को जैसा मैंने देखा, मेरा ख़याल है कि वारी साहब का कुछ प्रभाव उस पर भी था। यह दूसरी बात है कि अपने चरित्र के इस पहलू से वह स्वयं नितांत अनभिज्ञ हो। जिन परिस्थितियों में अचानक एक दिन मंटो दिल्ली से ग़ायब हो गया, लगभग उन्हीं परिस्थितियों में वह बंबई से पाकिस्तान भाग गया। दिल्ली से उसके पलायन का कारण मैं था और बंबई से नज़ीर अजमेरी और शाहिद लतीफ़। लेकिन असलियत यह है कि मंटो स्वयं उस पलायन का कारण था। क्योंकि लड़ाई में जब तक वह मारता चला जाता था, ख़ुश रहता था और जब दूसरे उसी के हथियारों को उस पर आज़माने लगते थे तो वह मैदान छोड़कर भाग जाता था। बंबई से भागने के बारे में नजीर अजमेरी के विरोध की चर्चा करते हुए मंटो ने लिखा है :

> 'मैंने बहुत ग़ौर किया, कुछ समझ मे न आया। आख़िर मैंने अपने आपसे कहा—मंटो भाई—आगल रास्ता नहीं मिलेगा। कार-मोटर रोक लो, उधर बाजू की गली से चले जाओ!—और मैं बाजू की गली से पाकिस्तान चला आया।'[2]

दिल्ली से अचानक मंटो ग़ायब हो गया तो मैं हैरान रह गया था। यद्यपि यह अफ़वाह उड़ी थी कि उसे फ़िल्म-कंपनी में नौकरी मिल गयी है, लेकिन दो साल बाद उसने स्वयं मुझे बताया कि वह किसी नौकरी के बिना दिल्ली से चला आया था—बाजू की गली से—आगल रास्ता न मिलने पर—बिल्कुल वैसे ही, जैसे कुछ वर्ष बाद वह बंबई छोड़ गया।

मेरे पिताजी ज़िंदगी भर लड़ते रहे। 'कौड़ी न रख कफ़न के लिए' के साथ-साथ जो दूसरा नारा वे लगाया करते थे, वह था—'सर कायम, जंग दायम'—और वे अपने लड़कों को भी यही नेक सलाह दिया करते थे। चूँकि उनका ख़याल था कि उनका कोई-न-कोई लड़का शहर का सबसे बड़ा लड़ाका होगा, इसलिए वे सबको लड़ने के ढंग बताया करते थे। सबसे अधिक ज़ोर वे इस बात पर दिया करते थे कि जो आदमी पिट सकता है, वही पीट भी सकता है। पीटने से पिटना मुश्किल है—पिटो, लेकिन पीटने वाले को न छोड़ो—मेरा स्वास्थ्य तो लड़कपन ही से ख़राब था। अपने पिता या छोटे भाइयों की तरह तो मैं क्या लड़ता, लेकिन यह बात ज़रूर मन में बैठ गयी और जीवन-संघर्ष में जहाँ-जहाँ रण छिड़ा है, मैंने पिटकर अंत में पीटने वाले को पीट दिया है।

मंटो से दो बार मेरा सामना हुआ। एक बार दिल्ली में और दूसरी बार बंबई में। दिल्ली में मैंने उसे परास्त कर दिया, लेकिन बंबई में हमारा जोड़ बराबर रहा।

'धुआँ' के सिलसिले में हममें जो नोंक-झोंक हुई, उसके बाद मेरे और उसके बीच

---

1. 'गंजे फ़रिश्ते' मंटो, पृ० 111
2. 'गंजे फ़रिश्ते', पृ० 266

तनाव और भी बढ़ गया। क्योंकि मंटो जोर में था और कृष्ण यद्यपि मुझे कुछ न कहता था, लेकिन हर बार मंटो के लिए ढाल बन जाता था, इसीलिए मेरा वार ओछा पड़ता था, लेकिन इस दौरान में मंटो अपने ज़ोम में 'राशिद' से भी बिगाड़ कर बैठा। राशिद आज़ाद-नज़्म के बानी समझे जाते थे और मंटो को आज़ाद-नज़्म से चिढ़ थी। उन्हीं दिनों 'राशिद' की कविताओं का संग्रह 'मावरा' के नाम से प्रकाशित हुआ, जिस पर कृष्णचंद्र ने भूमिका लिखी। मंटो ने दोनों का मज़ाक उड़ाया। उसने 'नीली रगें' के नाम से एक नाटक भी लिखा जिसमें राशिद की कविताओं से शब्द लेकर उसका मज़ाक उड़ाया। नाटक आज़ाद नज़्म से शुरू होता है। दो संवाद देखिये :

सईद (शायर) कृष्ण, तुमने कभी किसी औरत के ठंडे हाथ अपने हाथों में दबाये हैं।

कृष्ण : ठंडे हाथ...

सईद : ठहरो, मुझे अपना फ़िकरा दुरुस्त कर लेने दो—बताओ, क्या तुमने किसी अजनबी औरत के ठंडे हाथ अपने हाथों में दबाये हैं।—ऐसे हाथ जो चाँद की तरह खुनक[1] हों—किसी अजनबी औरत के हाथ, जो तुम्हारी ज़िंदगी में यों दाखिल हों, जैसे रात के सुनसान अंधेरे में कोई जुगनू भटकता आ निकले।

कृष्ण : (मजाक के तौर पर)—अपनी दुम से लालटेन बाँधे—नहीं, चाँद की डली चूसता हुआ इधर आ निकले। तुम्हें आज क्या हो गया है सईद ? यह ठंडी यख़ औरत तुम्हारी ज़िंदगी में कब दाखिल हुई ?

कुछ दिन मंटो आज़ाद-शायरी का, राशिद की अनोखी उपमाओं का, अजनबी औरत का, 'जामिस्तान की रात' का, भाषा की गलतियाँ निकालने में राशिद की सनक का मज़ाक उड़ाता रहा, फिर उसने कोई दूसरा विषय ढूंढ़ लिया और बात आयी-गयी हो गयी।

लेकिन राशिद उसे नहीं भूले।

इसके बाद एक दिन मंटो ने कोई नाटक लिखा और राशिद को पढ़ने के लिए दिया। राशिद टाइप की हुई पांडुलिपि अपने कमरे में ले गये और कुछ देर बाद लौटकर उन्होंने पांडुलिपि वापस कर दी।

'कैसा है ?' मंटो ने पूछा।

'निहायत अच्छा टाइप हुआ है !' राशिद ने उस व्यंग्यमय मुस्कान के साथ कहा जो उनकी अपनी चीज़ थी।

और मंटो अपने ही शब्दों में 'कबाब हो गया'। इसके बाद मंटो हफ़्तों राशिद और उनकी नज़्मों को कोसता रहा। अपने किसी दोस्त से उसने राशिद की नज़्मों पर एक लेख भी लिखवाया।

---

1. शीतल

हिंदी परामर्शदाता की हैसियत से मैं अधिकांश समय राशिद के साथ बिताता था और क्योंकि मंटो और राशिद में चलने लगी थी, राशिद मेरे पड़ोसी भी थे, इसलिए मंटो मुझे अधिक हानि न पहुँचा सकता था। फिर भी मुझे परेशान करने में मंटो ने कोई कसर न उठा रखी।

फिर संभवत: 1942 के अंत में या 1943 के आरंभ में (ठीक सन मुझे याद नहीं) अचानक एक दिन राशिद तरक्की करके प्रोग्राम डायरेक्टर (आज के प्रोग्राम एग्ज़िकिटिव) हो गये। प्रोग्राम डायरेक्टर उस ज़माने में रेडियो स्टेशन की धुरी था और उसे बड़े अधिकार प्राप्त थे। राशिद ने चार्ज लेते ही पहला काम यह किया कि कृष्ण की अनुपस्थिति में उसकी बदली लखनऊ करा दी। बात दरअसल यह थी कि राशिद को छोड़कर दिल्ली के रेडियो स्टेशन पर प्रोग्राम असिस्टेंटों में कृष्ण सबसे योग्य था और बाकी जितने प्रोग्राम असिस्टेंट थे, वे अपना शेड्यूल बनाने में कृष्ण से सहायता लेते थे और इसी कारण उसका कहना मानते थे। प्रोग्राम डायरेक्टर तक बीसों बातों मे कृष्ण से मदद लेते थे, इसलिए उसके काम में दख़ल न देते थे और कृष्ण बहुत-सी बातें सीधे डायरेक्टर से मनवा लेता था। राशिद के स्वभाव में काफ़ी तानाशाही थी। उन्हें यह पसंद न था कि कृष्ण उनको नजर-अंदाज कर जाये। इसलिए उन्होंने उसको लखनऊ भिजवा दिया। लेकिन कृष्ण की तब्दीली जिन परिस्थितियों मे हुई (राशिद ने उसकी अनुपस्थिति में उसके ख़िलाफ़ कुछ आरोप लगाये और क्योकि बुख़ारी साहब तक राशिद की सीधी पहुँच थी, इसलिए तुरंत बदली करा दी) उससे मुझे रंज हुआ और मैंने राशिद से अपना यह आक्रोश प्रकट भी किया। राशिद को आशा थी कि मैं उनका समर्थन करूँगा, लकिन जब मैंने कृष्ण का पक्ष लिया तो इसके बावजूद कि हम बराबर के घरों में रहते थे और मेरी पत्नी तथा बेगम राशिद में बड़े घनिष्ठ संबंध थे, रोज़ का मिलना-बैठना था, राशिद मुझसे नाराज़ हो गये।

राशिद प्रोग्राम डायरेक्टर हो गये और कृष्ण लखनऊ चला गया तो मंटो ने कुछ ही दिनों में दूसरे प्रोग्राम डायरेक्टर (सुरेन्द्र चोपड़ा) को गाँठ लिया। उसके जन्म दिन पर मंटो ने एक बढ़िया सूट उसे भेंट किया और इस प्रकार उसे अपनी तरफ़ मिला लिया। अडवानी साहब क्योंकि मुझसे प्रसन्न थे, इसलिए उन्होंने मुझे नये प्रोग्राम असिस्टेंट के आने तक कृष्ण की जगह सँभालने को कहा। मंटो का ड्रामा शेड्यूल पर था। मैंने प्रोड्यूस भी किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि मंटो उसकी रिहर्सलों में स्टूडियों भी आता रहा, हालाँकि वह कभी ही अपने ड्रामों में दिलचस्पी लेता था।

इस बीच में लखनऊ से हिंदी का एक प्रोग्राम-असिस्टेंट कृष्ण की जगह लेने पहुँचा—अत्यंत कुरूप, लम्बा-तगड़ा, चपटी नाक वाला युवक। आडवानी ने सुबह उसे और मुझे अपने कमरे में बुलाया और उससे कहा कि वह कुछ दिन तक मुझसे काम सीखे। कृष्ण के कमरे में एक मेज़ और दो कुर्सियों के अलावा अधिक जगह न थी। मैं मीटिंग के बाद कृष्ण वाली कुर्सी पर जा बैठा और उस दिन का काम

निबटाने लगा। लेकिन मीटिंग के बाद ही मंटो ने उस लखनवी पी० ए० (प्रोग्राम असिस्टेंट) को समझाया कि वह प्रोग्राम असिस्टेंट है और उसे कृष्ण वाली कुर्सी पर बैठना चाहिए। वह अपने आपको समझता भी बहुत कुछ था। काम सीखने की बात भी उसे अच्छी न लगी थी। उसने राशिद से पूछा तो राशिद ने भी उससे यही कहा कि ड्रामा डिपार्टमेंट की सब ज़िम्मेदारी तुम्हारी है। अश्क तो आर्टिस्ट है, कोई भी गड़बड़ हो, जवाबदेह प्रोग्राम असिस्टेंट ही होगा। मुझे इन सब बातों का पता न था। मैं कृष्ण वाली कुर्सी पर बैठा मज़े में काम कर रहा था कि मंटो उस लखनवी पी० ए० के साथ आया। मेरा ध्यान लिखने में लगा था कि मंटो ने मेरी कुर्सी की तरफ़ इशारा करते हुए उससे कहा—'यह आपकी कुर्सी है।' साथ ही उस पी० ए० ने मेरे सामने पड़ी कुर्सी की ओर संकेत करते हुए मुझसे कहा—आप इधर आ जाइए!'

मैंने निगाहें उठायीं। पी० ए० की आँखों में आदेश था और मंटो की आँखों में विजय की चमक। मुझे मामला समझने में देर न लगी। मैंने कहा—मैं ऊपर अपने कमरे में जाता हूँ। आपको मेरी ज़रूरत हो तो वहीं आ जाइयेगा।'

और मैं चला गया। मेरी आँखों के आगे मारे क्रोध के अँधेरा छा गया। राशिद से मैंने चर्चा की तो मालूम हुआ कि लखनवी पी० ए० उनसे मिल चुका है। यह भी पता चल गया कि वे चाहते हैं, उनके प्रोग्राम असिस्टेंट स्वयं ग़लतियाँ करके सीखें। वास्तव में उन्हें यह बात पसंद न आयी थी कि अडवानी साहब ने बिना उनसे पूछे मुझे कृष्ण की जगह काम करने को कह दिया। मैं इसका इच्छुक भी न था। क्योंकि एक बार श्री जुगुल ने, जो थे तो असिस्टेंट डायरेक्टर, लेकिन बुख़ारी साहब के दायें हाथ थे, मुझे पी० ए० की जगह 'ऑफ़र' की थी तो मैंने इनकार कर दिया था। लेकिन एक बार जब मैं उस कुर्सी पर जा बैठा तो इस तरह उठना और वह भी मंटो के सामने, उसकी शह पर, मुझे खल गया। पहले ख़याल आया कि अडवानी साहब के पास जाऊँ, क्योंकि उन्होंने ही मुझे भेजा था, लेकिन फिर सोचा कि अडवानी कुछ न कर सकेंगे। मंटो की आँखों का विजयोल्लास मेरे दिल में दूर तक घाव करता चला गया। उसी गुस्से में निमिष-भर को विचार आया कि त्यागपत्र दे दूँ, फिर आप ही इस विचार पर हँसी आ गयी। झल्लाया हुआ ऊपर अपने कमरे में जा बैठा। मंटो की आखों की वही चमक फिर सामने आ गयी।—भगवान साक्षी है कि यदि मंटो उस लखनवी पी० ए० के साथ न आया होता और उसकी आँखों में वह चमक न होती तो मैं वह सब कुछ न करता जो मैंने किया और जिसके कारण मंटो को दिल्ली छोड़नी पड़ी और जिसका मुझे हमेशा अफ़सोस रहेगा।

उस समय कमरे में जाकर बैठा तो काम करना मेरे लिए असंभव हो गया। बार-बार अपने अपमान का ख़याल आने लगा। राशिद पर गुस्सा आता, उस लखनवी पी० ए० पर गुस्सा आता, लेकिन सबसे अधिक गुस्सा आता मंटो पर। उसकी

आँखों में जो चमक थी, उससे पता चल गया था कि मेरी हतक करने वाला न वह पी० ए० है, न राशिद--मंटो है और मैंने तय कर लिया कि मंटो को इस षड्यंत्र का मज़ा चखाऊँगा। मेरे क्रोध का एक कारण यह भी था कि जितने दिन मैंने कृष्ण की जगह काम किया, उनमें मंटो का ही ड्रामा प्रोड्यूस किया और भर-सक प्रयत्न किया कि मैं उसमें एक शब्द भी न काटूँ और वह अच्छे-से-अच्छा प्रस्तुत हो। कुछ पहले का गुस्सा और कुछ ताज़े अपमान का घाव, काम-वाम छोड़कर मैं बस कोहनियाँ मेज़ पर टिका, हथेलियों पर ठोढ़ी रखकर बैठ गया।

जाने पूर्वजों में किसी ने महर्षि चाणक्य के आश्रम में शिक्षा प्राप्त की थी या हमारे कुल का उनसे कोई संबंध था या बचपन ही से पिताजी से उस महर्षि के कारनामे सुन-सुनकर मैंने उसी की भाँति सोचना सीख लिया था। कुछ भी हो, हमेशा मुझ पर जब मुसीबत आयी, मेरी समझ और सोच की शक्ति और भी तेज़ी से काम करने लगी और अपमान करने वाले को यदि मेरे बराबर का या मुझसे ऊँचा है, मैंने कभी माफ़ नही किया, जब तक कि उसने माफ़ी नहीं माँगी (और यह बात कितनी भी बुरी क्यों न हो) उससे बदला जरूर लिया और न केवल हर संकट से निकला, बल्कि एक कदम आगे भी बढ़ा।

सोचने पर मुझे लगा कि यह लखनवी प्रोग्राम असिस्टेंट वज्र-मूर्ख है। यह ठीक है कि मंटो ने उसे भड़काया, लेकिन जो मंटो के कहने में आ गया, उसकी मूर्खता में क्या संदेह हो सकता है। उस समय भी हिंदी में मेरा काफ़ी नाम था। उसने मेरा नाम न सुना हो, ऐसी बात नहीं। वह समझदार होता तो मुझे अलग ले जाकर बात कर लेता और यों आदेशपूर्ण स्वर में मुझसे कुछ न कहता। सोचा कि इस मूर्ख को ही अस्त्र बनाया जाये। और कुछ देर बाद मैं नीचे गया। वे हज़रत सीना ताने, चपटी नाक चढ़ाये, नथुने फुलाये, लखनऊ के अपने किस्से सुना रहे थे कि कैसे चिब साहब (जो उस लखनऊ के स्टेशन डायरेक्टर थे) उन्हें चाहते हैं और कैसे-कैसे उन्होंने वहाँ शानदार कारनामे सरअंजाम दिये हैं। और मंटो (अपनी आदत के ख़िलाफ़) चुपचाप पाँव कुर्सी पर रखे, घुटने बाँहों में दबाये उनकी गप्पें सुन रहा था। मैं जाकर खड़ा हो गया। कुर्सी तो दूसरी थी नहीं कि बैठता। दोनों ने एक नज़र मुझे देख लिया। कुछ देरके बाद मंटो को चोपड़ा साहब का चपरासी बुलाकर ले गया तो मैंने उन लखनवी हज़रत से कहा—'मुझे अभी मालूम हुआ है कि आप हिंदी के आदमी हैं। इस स्टेशन पर हिंदी के एक प्रोग्राम असिस्टेंट की बड़ी ज़रूरत है।' और उसके आने पर ख़ुशी प्रगट करते हुए मैंने उसे शाम को घर पर चाय के लिए आमंत्रित किया।

मैं उन दिनों तीसहज़ारी में रहता था। वहाँ पास ही छोटी-सी पहाड़ी और मनोरम जंगल है। बरसात की शाम थी। चाय पिलाकर मैं उस लखनवी उजबक को 'रिज' (Ridge) पर ले गया। बादल घिरे थे। हल्की फुहार पड़ रही थी, वह लगातार अपनी तारीफ़ें करता रहा कि किस तरह उसने ड्रामे लिखे, किस तरह चिब साहब ने कहा कि वैसी स्क्रिप्ट हिंदी में कोई नहीं लिखता और किस तरह

उन्होंने उसकी सिफ़ारिश करके उसे प्रोग्राम असिस्टेंट बना दिया। मैंने भी उसे ख़ूब चंग पर चढ़ाया। उसके व्यक्तित्व की प्रशंसा की। उसे समझाया कि अगर शुरू से ही उसने अपना सिक्का जमा दिया तो सब उससे भयभीत रहेंगे, नहीं तो रेडियो आर्टिस्ट अच्छे-से-अच्छे को बुद्धू बनाकर रख देते हैं। मैंने उससे यह भी कहा कि पी० ए० का काम है कि जो ड्रामे ब्रॉडकास्ट हों, उन्हें अच्छी तरह पढ़े, वेट (Vett) करे। उसने कहा कि वह एक भी चीज़ पढ़े और वेट किये बिना ब्रॉडकास्ट न होने देगा। 'अब जब आप आ गये हैं और हिंदी जानते हैं', मैंने कहा, 'तो मैं भविष्य में आपकी सुविधा के लिए हिंदी लिपि में ही नाटक लिखूँगा। बाकी नाटक तो उर्दू स्क्रिप्ट ही में आयेंगे, वे सब आप मुझसे सुनकर वेट किया कीजिये और यों अच्छी तरह देखकर ब्रॉडकास्ट कीजिये क्योंकि ख़राब नाटक ब्रॉडकास्ट हो तो उत्तरदायित्व आप ही पर होगा और मीटिंग में डाँट आप ही को पड़ेगी।' इस पर उसने अपनी योग्यता के बारे में मेरे ज्ञान को और बढ़ाया और बड़ा ख़ुश-ख़ुश वापस हुआ।

तब शेड्यूल तो तीन महीना पहले बन जाता था और वह कृष्ण बनाकर गया था। मैं महीने दूसरे महीने ड्रामा लिखता था और मंटो के दो-तीन ड्रामे हर महीने होते थे। अगला ड्रामा मंटो का ही था। नाम था (जहाँ तक मुझे याद है) 'आवारा'। कथानक आदि मुझे सब भूल गया है। इतना याद है कि वह ड्रामा भी मंटो के उन दिनों लिखे अधिकांश ड्रामों की भाँति एक दिन में लिखा गया था। दूसरे ही दिन उस लखनवी पी० ए० ने उसकी पांडुलिपि निकाली और मुझे बुलाया। मैं उसे स्टूडियों में ले गया और वहाँ जाकर उसे नाटक सुनाने लगा। उसको नाटक की तकनीक अथवा भाषा आदि की ख़ाक समझ न थी। ड्रामा सुनते-सुनते मैं कहता, 'क्यों साहब, इस शब्द की जगह यह शब्द हो तो कैसा रहे ?' और वह कहता, 'हाँ, हाँ, यह ठीक है, मैं खुद यही सुझाने वाला था।' इसी तरह मैं लाल पेंसिल से शब्द और मुहाविरे बदलता चला गया। दो-चार जगह मैंने गोल निशान लगा दिये। मैंने उन हज़रत से कहा कि राशिद साहब इन शब्दों के सख़्त ख़िलाफ़ हैं। उनके साथ साल-डेढ़ साल काम करके नैं जान गया हूँ। मैं इनको नहीं बदलता। वे स्वयं बदल देंगे। और इस तरह इस सारे संशोधन की ज़िम्मेदारी उनकी हो जायेगी। ड्रामे का अंत मैंने काट दिया और उसकी जगह तीन अंत सुझा दिये।

जैसा कि मैंने सोचा था वैसा ही हुआ। उस लखनवी पी० ए० ने राशिद पर बड़ा रौब जमाया कि उसने मंटो का ड्रामा पढ़ा है। बड़ा त्रुटिपूर्ण है। उसने बड़ी मेहनत से उसे वेट किया है। राशिद उसका मसौदा देखकर पास करें तो वह ब्रॉडकास्ट हो। राशिद तो पहले ही मंटो से जले बैठे थे। उनको अपना पुराना बदला चुकाने का मौका मिल गया और उन्होंने वे कुछ शब्द भी, जिनको मैंने लाल पेंसिल से गोल घेरे में कर दिया था, बदल डाले।

जब मंटो को मालूम हुआ कि उसका ड्रामा वेट हुआ है तो उसके सिर पर ख़ून

सवार हो गया। वह डायरेक्टर के कमरे में गया और उसने राशिद और उस लखनवी पी० ए० को वे-भाव की सुनायीं और कहा कि ड्रामा होगा तो बिना एक शव्द कटे होगा, नहीं तो नहीं होगा।

मैं ऊपर अंग्रेज़ी विभाग के फक्कड़ एनाउंसर नौवी क्लार्क की मेज़ के साथ मेज़ लगाये वैठा करता था। अडवानी साहव के कमरे का रोशनदान मेरी आँखों के सामने पड़ता था। नीचे उनके कमरे में मंटो कुछ इतने ज़ोर से चिल्ला रहा था कि मैं उठकर रोशनदान के पास चला गया और भीतर का दृश्य देखने लगा। राशिद कह रहे थे कि उन्होंने खुद ड्रामा पढ़ा है और होगा तो उन्हीं परिवर्तनों के साथ होगा, नहीं तो नहीं होगा और 'डेविएशन'[1] की ज़िम्मेदारी उनकी नहीं होगी। जव हम वाहर वालों की चीज़ वेट कर सकते हैं तो अपने आर्टिस्टों की क्यों नहीं कर सकते? और मंटो पिंजरे में वंद शेर की तरह तिलमिला रहा था और लगभग दहाड़ते हुए कह रहा था कि ड्रामा होगा तो इसी रूप में होगा, नहीं तो नहीं होगा।

मुझे मंटो की उस तिलमिलाहट को देखकर कुछ अजीव-सी शैतानी ख़ुशी हुई। मंटो ने मुझे जितनी गालियाँ दी थीं, मेरी उन्नति के मार्ग में जो रुकावटें डाली थीं, उर्दू का टाइपराइटर वेचते हुए जो चालीस रुपये झूठ वोलकर मुझसे ज़्यादा ले लिए थे और ऊपर से मुझे वनाया था—और भी जितना मुझे सताया था, उस सव का वलिदान उन कुछ क्षणों में मुझे मिल गया। 'सुनार दी ठक-ठक, लोहार दी इक्को सट्ट!' मैंने मन-ही-मन पंजावी का मुहाविरा दोहराया और वापस अपने कमरे की ओर पलटा।

मुझे याद नहीं, अडवानी ने क्या फ़ैसला दिया था। शायद उन्होंने राशिद पर सव कुछ छोड़ दिया था और प्रोग्राम डायरेक्टर के काम में हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया था। कुछ भी हो, कुछ अजीव से दानवी-उल्लास में विभोर मैं वापस कुर्सी पर आ वैठा और टाँगें मेज़ पर फैलाकर मैंने संतोष की साँस ली। लेकिन उस उल्लास और संतोष के वावजूद कुछ अजीव-सी तकलीफ़ और उदासी का भाव मेरे मन-प्राण पर छा गया—आँखों के सामने मंटो की तिलमिलाहट, उसके सुंदर माथे पर खड़ी हुई लकीरें, उसकी बाहर को निकली पड़ती आँखें—सव-कुछ घूम गया।—और इस तिलमिलाहट का कारण मैं था—मैं, जो वास्तव में उसे चाहता था, उसके पास वैठना चाहता था, उसकी कहानियों का उसके तथा-कथित प्रेमियों से कहीं अधिक प्रशंसक था—मैं, जिसने दो-एक महीना पहले अपने नाटकों का दूसरा संग्रह 'चरवाहे' उसके नाम समर्पित किया था।

'चरवाहे' की एक प्रति आज भी मेरे पास पड़ी है। मंटो के नाम किया हुआ समर्पण मेरे सामने है।

---

1. छपे प्रोग्राम के विरुद्ध प्रोग्राम ब्रॉडकास्ट करना।

मंटो के नाम

जो मुझे कभी बहुत अच्छा लगता है और कभी सख़्त बुरा।

मेरे उस समय के मनोभावों का कितना सच्चा चित्र है यह समर्पण !

दूसरे दिन मीटिंग में ड्रामे का किस्सा पेश हुआ। लखनवी पी० ए० ने राशिद के कहने पर ड्रामे की लिखित आलोचना पढ़ी—ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली के जीवन में यह पहला अवसर था कि किसी होने वाले नाटक की आलोचना मीटिंग में हो। लेकिन क्योंकि डेविएशन का सवाल था, यदि वह ड्रामा न होता तो उसकी जगह दूसरा ड्रामा चुनने की बात थी, इसलिए राशिद ने मीटिंग में यह बात उठायी थी। मंटो की आलोचना हो और वह भी भरी मीटिंग में, यह कभी न हुआ था। मंटो इस तरह अपनी आलोचना सुनने का आदी भी न था। लखनवी पी० ए० की समझ के बारे में उसने दो-तीन तेज़ बातें कहीं और तेज़ बातें कहते समय मंटो कुछ सोचता न था। मुझे फिर गुस्सा आ गया और मैंने कहा कि यह ड्रामा मेरी नजर से भी गुज़रा है और उन साहब ने बिलकुल ठीक आलोचना की है।—और क्योंकि सारी काट-छांट मैंने की थी, इसलिए मैंने बड़ी सफ़ाई से उस ड्रामे की कमज़ोरियाँ सबके सामने उजागर कर दीं।

मुझे अब याद नहीं कि मंटो ने क्या कहा, लेकिन गुस्से में उसने मेरी योग्यता के बारे में कोई तेज़ बात कही, जिसका मतलब था कि तकनीक के संबंध में मैं कुछ नहीं जानता और कहा कि तुम इससे अच्छा लिखकर दिखाओ तो जानूँ।

मैंने और भी तेज़ स्वर में कहा कि मैं तुम्हें दस बरस तक ड्रामा लिखना सिखा सकता हूँ, तुम ऊपर मेरे कमरे में आओ तो तुम्हें बताऊँ कि ड्रामा कैसे लिखा जाता है और यह ड्रामा भी अच्छा बनाकर दिखा दूँ।

बात बढ़ जाती, लेकिन शोर सुनकर अडवानी साहब अपने कमरे से आ गये। तय हुआ कि ड्रामा संशोधित रूप में होगा और क्योंकि अपने आर्टिस्ट का सवाल है, इसलिए शेड्यूल के प्रतिकूल नहीं होगा।

मंटो मीटिंग के बाद दफ़्तर में नहीं रुका। उसने टाइपराइटर उठाया और चला गया। दूसरे दिन भी वह दफ़्तर नहीं आया। दोपहर को खुर्शीद साहब (सेक्रेटरी इन्फ़ार्मेशन एंड ब्रॉडकास्टिंग) का फ़ोन आया कि मंटो का ड्रामा यदि ब्रॉडकास्ट करना हो तो मंटो के लिखे मसौदे के अनुसार किया जाये, नहीं तो रद्द कर दिया जाये।

ठीक घटनाएँ मुझे याद नहीं रहीं। शायद ड्रामा खुर्शीद साहब ने मँगाया था और फिर उन्होंने यह पैग़ाम भेजा था। राशिद क्योंकि तुले हुए थे कि वह शेड्यूल के खिलाफ़ नहीं जायेंगे और ड्रामा संशोधित रूप में प्रसारित करेंगे, इसलिए मंटो ने खुर्शीद साहब के द्वारा उसे कैंसिल करा दिया था।

तीसरे दिन भी मंटो दफ़्तर नहीं आया। ड्रामा उसने मँगा लिया। चौथे या पांचवें या शायद सातवें दिन सुना कि वह बंबई चला गया है और उसे फ़िल्म कंपनी में पांच सौ की जगह मिल गयी है।

ग्रांट रोड जाते हुए विक्टोरिया में मेरे सामने बैठे-बैठे मंटो ने बताया कि नौकरी-औकरी उसे कहीं नहीं मिली थी और बंबई में उसे ख़ासी तकलीफ़ उठानी पड़ी थी। पत्नी को वह दिल्ली में ही छोड़ आया था। बाद में 'फ़िल्मिस्तान' में उसे साढ़े तीन सौ की नौकरी मिली तो शायद उसका दोस्त मुहम्मद नज़ीर जाकर उसके कुटुंब को बंबई लाया था।

'वह तुम्हारा सुर्ख़ पेंसिल से लाल किया हुआ मसौदा अब भी मेरे पास महफ़ूज़ है।' अचानक मंटो ने कहा। यानी जिस तरह मुझे न राशिद पर क्रोध था, न उस लखनवी पी० ए० पर, बल्कि मंटो पर गुस्सा था, उसी तरह मंटो को भी इन दोनों के बदले मुझी पर क्रोध था। उसके नाटक को मैंने ही काट-छाँटकर लाल किया था, यह बात वह जान गया था।

'अब तुम्हारे क्या इरादे हैं ?' मैंने पूछा।

मंटो चुप रहा।

'देखो, दिल्ली की बात दिल्ली में रही', मैंने कहा, 'अगर हमें इसी तरह लड़ना है तो मुझे 'फ़िल्मिस्तान' की नौकरी मंजूर नहीं। वहाँ साढ़े तीन सौ पाता हूँ, आराम से हूँ। यहाँ पाँच सौ भी मिले और चख़-चख़ रही तो क्या फ़ायदा ?'

'नहीं, नहीं, वैसा कुछ नहीं होगा।' और उसने अंग्रेज़ी में वाक्य पूरा करते हुए कहा, 'I like you, though I hate you !'

('मंटो मेरा दुश्मन' से)

दो यात्राएँ

अश्कजी ने खुद ही कहीं स्वीकार किया है कि वे बड़े यात्रा-भीरु हैं। इस बात की तसदीक अश्कजी के अनेक मित्र-परिचित और नाते-रिश्तेदार भी करेंगे, जिन्होंने यात्रा के समय अश्कजी की 'नर्वसनेस' देख रखी है। मगर सबसे दिलचस्प बात यह है कि इस हद तक यात्रा-भीरु होते हुए भी अश्कजी ने जाने कितनी यात्राएँ की हैं—कश्मीर से कन्याकुमारी तक और लाहौर-कराची से सुदूर असम के पूर्वी छोर तक, वह भी एक नहीं कई-कई बार, और कई बार वे विदेश भी गये हैं। ज़ाहिर-सी बात है कि उन्होंने अपनी इन तमाम यात्राओं के इम्प्रेशन भी कलम-बंद किये हैं और जिसने भी कश्मीर पर अश्कजी का लम्बा यात्रा-विवरण 'अगर फ़िरदौस...' पढ़ा है, वह उनकी वर्णन-क्षमता, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि और घटनाओं तथा प्रसंगों की बारीक पकड़ से प्रभावित हुआ है। वैसे अश्कजी ने ज़्यादा यात्रा-विवरण नहीं लिखे। अपने अनुभवों का अधिकांश उन्होंने अपनी कहानियों, उपन्यासों, कविताओं और नाटकों में व्यक्त किया है और कई बार तो उन्होंने अपने इम्प्रेशन लम्बे-लम्बे पत्रों में सँजोकर घर-परिवार वालों और मित्र-परिचितों के हवाले कर दिये हैं। इसके अलावा बहुत-से यात्रा-विवरण अब भी अश्कजी की डायरियों तक सीमित हैं—मिसाल के तौर पर 1956 और 1974 में सोवियत संघ की दो यात्राओं के दौरान लिखा गया ब्यौरा। इनके प्रकाशन की व्यवस्था अभी तक नहीं हो पायी है। ख़ैर, यहाँ पर अश्कजी के दो 'यात्रा-विवरण' संकलित हैं—पहला, 1956 की रूस-यात्रा के समय काबुल में अप्रत्याशित पड़ाव के दौरान वहाँ के प्रसिद्ध बुज़कशी के खेल का ब्यौरा और दूसरा, पत्र-शैली में लिखा गया असम की यात्रा का एक रोचक संस्मरण। इन दोनों ही 'यात्रा-विवरणों' से अश्कजी की बारीक-बीनी, सहज-सरल प्रवहमान भाषा और यथार्थ के उभरे-दबे कोनों को उजागर करने की सामर्थ्य का पूरा सबूत मिलता है।

काबुल में बुज़कशी

जब हम दिल्ली से हवाई जहाज़ में मॉस्को के लिए बैठे थे तो हमें बताया गया था कि काबुल में हमें दूसरा जहाज़ तैयार मिलेगा। लेकिन जब ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे के करीब हमारा जहाज काबुल के एयरोड्रोम पर पहुँचा तो मॉस्को जाने वाला जहाज़ हमें बिना लिये हुए ही उड़ गया और हम उन बच्चों-से ठगे खड़े रह गये, जिन्हें चिड़ियाघर ले जाने वाली बस सड़क पर छोड़कर चली गयी हो। सीटें उसमें थीं, लेकिन न जाने किसकी ग़लती से काबुल के रूसी दूतावास को हमारे जाने की सूचना नहीं दी गयी थी। चूँकि काबुल से आगे का प्रबंध रूसी दूतावास ही को करना था, और उन्होंने टिकेट नहीं लिये थे, इसलिए हम विवश हो शहर जाने वाली बस में आ सवार हुए। सरकारी होटल में सामान रखकर रूसी दूतावास गये। एक हवाई तार हमने इंडियन पीस काउंसिल को दिया, एक तार दूतावास ने मॉस्को भेजा, लेकिन जब तक कहीं से उत्तर न आये, हमारा काबुल में रुकना अनिवार्य हो गया। तब सोचा कि होटल में बैठे बुरी-भली बातें सोचने और परेशान होने से बेहतर है कि इस बरबस-प्रवास का लाभ उठाकर काबुल-दर्शन किया जाय।

होटल डाइनिंग रूम ही में एक अमरीकी लेखक से भेंट हो गयी। बातों-बातों में उससे पता चला कि पुराने और नये काबुल और रडयार्ड किपलिंग द्वारा वर्णित काबुल नदी के अलावा नादिरशाह का मज़ार, बाबर का मकबरा और अजायबघर देखने की चीज़ें हैं, लेकिन सबसे पहले हमें 'बुज़कशी' देख लेनी चाहिए।

'बुज़कशी, बुज़कशी क्या चीज़ है ?' मैंने हैरत से पूछा। तब उसने बताया कि काबुल का राष्ट्रीय खेल है। तीन दिन तक राष्ट्रीय दिवस मनाया जायेगा और तीन दिन तक बुज़कशी के मैच होंगे। फिर साल भर यह खेल देखने को नहीं मिलेगा।

उसके बाद जिस-जिससे पूछा, उसने पहले बुज़कशी देखने की ही सलाह दी। लेकिन मेरे साथियों में अधिकांश पहले अजायबघर देखना चाहते थे। उन लोगों को यह भय था कि जाने कितने दिन काबुल में रहना पड़े, पचास रुपये की विदेशी

बुज़—बकरा, कशी—खींचना।

मुद्रा, जो सबके पास थी, यदि इधर-उधर खर्च कर दी और जरूरत पड़ गयी तो क्या होगा ?

मेरा कहना था कि वैसी सूरत में पचास रुपयों से भी क्या होगा ! मुसीबत पड़ेगी तो भारतीय दूतावास की शरण जायेंगे या काबुल में स्थित भारतीयों की सहायता लेंगे, लेकिन होटल में हाथ-पर हाथ धरे बैठे रहें, इसमें क्या तुक है। क्यों न इस बरबस-प्रवास का लाभ उठायें। लेकिन साथियों में अधिकांश बड़े डरपोक और हिसाबी-किताबी थे।

बुज़कशी देखने के लिए पांच-दस रुपये का टिकट खर्चने की बात थी और अजायबघर वैसे ही देखा जा सकता था, इसलिए केवल डॉक्टर अधिकारी और रामानुजम मेरे साथ चलने को तैयार हुए, बाकी लोगों ने पहले अजायबघर देखने का फ़ैसला किया।

मैच चार बजे शाम शुरू होने वाले थे। स्टेडियम नये शहर से बाहर बना था। हमारा होटल नये शहर में था। स्टेडियम को जाने वाली सड़क के निकट था। पूछने पर पता चला कि वहाँ से स्टेडियम डेढ़-एक मील होगा। सो खाना खाकर-होटल ही से एक-एक स्टर्लिंग के काबुली रुपये तुड़ाये और कुछ देर बाज़ार में घूम-कर पैदल ही स्टेडियम को चल दिये।

स्टेडियम को जाने वाली सड़क बड़ी चौड़ी और साफ़ थी और चूंकि राष्ट्रीय दिवस मनाया जा रहा था, इसलिए सड़क के दोनों ओर काबुल की राष्ट्रीय पताकाएँ फहरा रही थीं। आज तो नयी दिल्ली में आये दिन बाहर से प्रतिष्ठित अथितियों के आने पर राजधानी की सड़कों और चौकों में पताकाएँ फैरायी जाती हैं, पर उससे पहले मैंने किसी सड़क को इस तरह पताकाओं से सजा नहीं देखा था। यह भी हो सकता है कि इलाहाबाद में रहने के कारण कभी उन दिनों दिल्ली जाने का सुयोग न हुआ हो, जब बाहर से किसी देश का प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति आया हो और नयी दिल्ली की सड़कें पताकाओं से गुलज़ार बन गयी हों।

हम होटल से ज़रा जल्दी निकल आये थे और यद्यपि मजे से टहलते हुए जा रहे थे तो भी समय से पहले स्टेडियम पहुँच गये। मौसम सुहाना था और हालांकि दिन ढल रहा था, पर धूप में ख़ासी गर्मी थी। स्टेडियम के बाहर छिड़काव हो रहा था। हम अभी सड़क से उतरकर स्टेडियम की ओर बढ़े ही थे कि एक आदमी लपकता हुआ हमारी ओर आया और उसने टिकटों की कापी हमारे सामने कर दी। टूटी-फूटी अंग्रेज़ी में उसने हमें समझाया कि दस रुपये में हमें वहाँ बैठने को मिलेगा जहाँ सम्राट ज़ाहिर शाह बैठते हैं। चूंकि हमने स्टेडियम नहीं देखा था, फिर उसने सम्राट के निकट बैठने का लालच दिया, इसलिए हमने टिकट ले लिये और वह हमें अपने साथ ले जाकर ऊपर स्टेडियम की बालकनी में सीढ़ी-दर-सीढ़ी लगी कुर्सियों की अगली पंक्ति में बैठा आया और उसने बताया कि बराबर के खंड की अगली पंक्ति में सम्राट आकर बैठेंगे।

यह बाल्कनी वास्तव में दो भागों में विभक्त थी। दायीं ओर के खंड में ज़ाहिर शाह और उनके दरबारियों के लिए सीढ़ी-दर-सीढ़ी कुर्सियाँ बिछी थीं। हमारे वाला खंड काबुल में स्थित दूतावासों के लिए सुरक्षित था। दोनों के बीच पर्दा नहीं था, केवल हल्की-सी जाली थी, और अपनी जगह से हम दूसरी ओर बैठने वालों को भली-भाँति देख सकते थे। दोनों बालकनियाँ उस समय खाली थीं। सिवा दूसरों के आने की प्रतीक्षा करने और नीचे खाली स्टेडियम की बहार देखने के हमारे सामने कोई चारा न था।

स्टेडियम बहुत खुला और अंडाकार बना था। दायें-बायें उसमें अंदर आने को रास्ते बने थे जो दूर से छोटे-छोटे नालों पर बने रेल के पुलों जैसे दिखायी देते थे। हमारी ओर के हिस्से में अभी धूप थी। सामने की सीढ़ियों के परे सिवा आसमान के कुछ भी दिखायी न देता था। बायीं ओर शहर की तरफ़ पताकाएँ लहरा रही थीं...यद्यपि सामने का वह शून्य शाम की धूप में बहुत भला लग रहा था, पर मैं सोचता था यदि वहाँ कुछ बकरियाँ, भेड़ें या कोई घुड़सवार या फिर कोई तमाशाई ही खड़ा हो तो खुले आकाश की पार्श्वभूमि में वह कितना भला लगे! लेकिन सारा स्टेडियम एकदम खाली था। एक मोटर घूम-घूमकर छिड़काव कर रही थी और उसके पानी की बारीक धारों के गिरने से हल्की-सी मिट्टी उड़ती थी, जिससे सोंधी-सोंधी गंध हम तक आ रही थी।

देखते-देखते स्टेडियम के बीच की धूप सरककर बायीं ओर की सीढ़ियों तक हट आयी थी। दर्शक आने लगे। अधिकांश गरीब और अनपढ़ शलवारें, कमीज़ें, कोट और पोस्तीन की गोल टोपियाँ पहने या मलमल की पगड़ियाँ बाँधे हुए, जिनके लम्बे शमले उनके बायें काँधों पर लटक रहे थे। बीच-बीच में कोई यूरोपी जोड़ा, कुछ अमरीकी युवतियाँ, कुछ गोरे युवक देशी चनों में काबुली दाने ऐसे लग रहे थे। हमारी ओर का आधा स्टेडियम भर गया। बाल्कनी के नीचे दो फ़िल्म यूनिट और कुछ कैमरामैन आकर बैठ गये।

हमारे वाले खंड की कुर्सियाँ भी भर गयीं। विभिन्न दूतावासों के लोग आकर बैठ गये। हमें किसी ने नहीं उठाया। हमें भी उन्होंने भारतीय दूतावास से संलग्न समझ लिया होगा। तभी सम्राट ज़ाहिर शाह आ गये और हमारे बराबर के खंड की अगली पंक्ति में, परले कोने पर आकर बैठ गये।

मैं मान लूँ कि उन्हें देखकर मुझे बड़ी निराशा हुई। मैंने कभी शाही पोशाक में, कमर से लटकी तलवार बाँधे उनके पिता सम्राट नादिरशाह का फ़ोटो देखा था। अफ़ग़ानिस्तान से भूतपूर्व सम्राट शाह अमानुल्लाह अपनी पत्नी के साथ जब यूरोप की सैर को गये थे और उनकी मलिका ने बुरका उतार दिया था और अपने पति के साथ उसके फ़ोटो छपे थे तो उनकी वापसी पर अफ़ग़ानिस्तान के अपढ़ और दकियानूसी कट्टर निवासियों ने उन्हें काफ़िर घोषित कर, बच्चा सिक्का के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया था। शाह अमानुल्लाह तख़्त छोड़कर इंगलिस्तान भाग

गये थे। तब नादिरशाह, जो सेना के कमांडर-इन-चीफ़ थे और देश के बाहर गये हुए थे, वापस आये थे। सेना इकट्ठी कर उन्होंने बच्चा सिक्का का मुक़ाबिला किया था, उसे हराया था और स्वयं अफ़ग़ानिस्तान के तख़्त पर बैठ गये थे। तभी उनका वह फ़ोटो मैंने देखा था।

नादिरशाह बहुत बरस नहीं जिये थे। ज़ाहिर शाह जवान ही थे, जब गद्दी पर बैठ गये थे। तभी मैंने उनका भी वैसा ही एक फ़ोटो देखा था। और मेरा ख़याल था कि वे उसी शाही पोशाक में राष्ट्रीय खेल देखने आयेंगे, लेकिन सीधा-सादा, किंचित ढीला सूट पहने जब वे अपनी जगह आकर बैठ गये और शायद टोपी उन्होंने उतार दी तो अपने घुटे हुए सिर और उस साधारण सूट में मुझे वे कहीं से अफ़ग़ानिस्तान के सम्राट नहीं लगे। मैंने लगभग बीस वर्ष पहले उनका फ़ोटो देखा था और कैसी मूर्खता की बात थी कि मैं उन्हें कुछ वैसा ही देखने का इच्छुक था।...लम्बा-तगड़ा, न ज़्यादा पतला, न मोटा शरीर, चौड़े कंधे, नुकीला चेहरा, तीखी-लम्बी नाक और घुटा हुआ सिर—उम्र ने उनका शरीर कुछ ढीला कर दिया था। यदि यह मालूम न होता कि वे अफ़ग़ानिस्तान के शाह हैं, और वे बाज़ार में सामने पड़ जाते तो मैं उन्हें कोई पढ़ा-लिखा सफल व्यापारी, या कोई अफ़सर ही समझता।...हमारे देश में पढ़े-लिखे बहुत कम सिर घुटाते हैं, और यहाँ अफ़ग़ानिस्तान के शाह सिर घुटाये बैठे थे, जिससे उनकी नाक कुछ और नुमायाँ हो गयी थी। बाद में ताजिकस्तान की राजधानी स्तालिनाबाद में बड़े-बड़े ताजिक अफ़सरों और कौलोख़ोज़ के चेयरमैन तक को मैंने सिर घुटाये, चौकोर-सी ताजिकस्तानी टोपी सिर पर टिकाये देखा। लेकिन यह बाद की बात है। तब तो सम्राट ज़ाहिर शाह को यूँ आम लोगों की तरह बैठे देखकर निराशा ही हुई।...

लेकिन उस पहली निराशा के बाद जब मैंने सोचा तो मुझे ख़ुशी भी हुई। हमारे यहाँ मामूली मिनिस्टर भी (जो कल तक भले ही साधारण आदमी रहा हो) जब अपने हाली-मवालियों के साथ आकर किसी मजलिस में बैठता है तो इस बात का एहसास करा देता है कि वह मिनिस्टर है और आम लोगों से भिन्न है, और यहाँ अफ़ग़ानिस्तान का शाह निहायत सीधे-सादे सूट में आम अफ़ग़ानों की तरह सिर घुटाये, किसी अकड़ या तनाव या दिखावे के बिना बैठा था। कुछ अजीब-सी सहजता मुझे शाहे-अफ़ग़ानिस्तान के यहाँ दिखायी दी, जो पहली निराशा के बाद मुझे भली लगी।

कुर्सी पर आकर उनके बैठते ही नीचे स्टेडियम में सरगर्मी बढ़ गयी। दायीं ओर की सीढ़ियों पर भूरे और सब्ज़ कॉर्डराय की कमीज़ें-शलवारें और पोस्तीन की ऐसी गोल टोपियाँ पहने, जिनके सामने भूरे या हरे बैंड थे, अफ़ग़ान खिलाड़ियों की दो टीमें एक पंक्ति में आ बैठीं और उनका फ़ोटो लिया गया। फ़िल्म यूनिट ने भी तमाशाइयों और खिलाड़ियों का फ़िल्म लिया। फिर बालकनी के सामने, स्टेडियम की ओर, मैदान में चूने से एक गोल दायरा खींच दिया गया और एक

सिर-कटे काले बकरे का शव उसमें लाकर रख दिया गया। तब घोड़े मैदान में आये—भरे-पूरे, हृष्ट-पुष्ट, जिनकी बोटी-बोटी थिरकती थी। तब वे भूरी और हरी वर्दियों वाले खिलाड़ी उन पर जा चढ़े। दोनों टीमों में छह-छह जवान थे। सम्राट के सामने पंक्तिबद्ध खड़े होकर उन्होंने सलामी दी, फिर वे गोल दायरे में एक-दूसरे से बिल्कुल सटे जा खड़े हुए—आधे दायरे में छह घोड़े दायीं तरफ़ और आधे दायरे में छह घोड़े बायीं तरफ़। दायरा इतना ही बड़ा था कि एक-दूसरे से बिल्कुल सटे बारह घुड़सवार उसके भीतर खड़े हो सकें। सिर-कटा बकरा घोड़ों की टाँगों में बिल्कुल छिप गया। सबके बाद शलवार-कमीज़ पर रुईदार रंगीन शेर-वानियों-जैसे चोले पहने दो रेफ़री अपने घोड़ों पर सवार दायें-बायें आ खड़े हुए।

तभी सम्राट के संकेत पर पिस्तौल दग़ा और हठात बारह-के-बारह घोड़े अगली दोनों टाँगें उठाये ऐसे अलिफ़ खड़े हो गये कि तमाशाइयों के दिल धड़क उठे। सरकस में पिछली टागों पर खड़े होने वाले घोड़ों और इन घोड़ों में फ़र्क था। सरकस के घोड़े इशारे से चुपचाप अलिफ़ खड़े हो जाते हैं, फिर दूसरे इशारे पर टाँगें ज़मीन पर टेक देते हैं, जबकि ये घोड़े बिफरकर अलिफ़ हो गये थे और आतं-कित करते थे।

तभी क्या हुआ कि भूरी वर्दी वाली टीम के दो घोड़ों ने सबसे पहले सीधे होकर बिजली की-सी गति से बकरे की दोनों तरफ़ से दायरे को काट दिया और उनके बीच के साथी ने बढ़कर घोड़े पर चढ़े-चढ़े, एक ओर झुककर, घोड़ों की टाँगों के बीच से, बकरे को पिछली टाँग से उठा लिया और घोड़ा मोड़कर दायीं ओर को भाग निकला। खेल के नियमानुसार पूरे स्टेडियम का चक्कर लगाकर उसे फिर बकरे को वहीं दायरे में फेंकना था।

सभी उसके पीछे भागे, पर तभी हरी वर्दी वाले एक सवार ने सबसे आगे बढ़कर उसे जा लिया और बकरे की दूसरी टाँग पकड़ ली और उससे छीनने के प्रयास में उसे अपनी ओर खींचता हुआ, उसके साथ-साथ भागने लगा। दोनों घोड़ों के बीच बकरे का डोलता कबंध और उसकी दोनों टाँगें और उन्हें अपनी अपनी ओर खींचते हुए प्रतिद्वंद्वी! कौन जीतता है? स्टेडियम की उस ओर के तमाशाई सीढ़ियों पर खड़े हो गये।

स्टेडियम के सिरे पर पहुँचकर दोनों सवार उसी स्थिति में मुड़े और फिर साथ-साथ भागने लगे—एक हाथ में लगाम थामे, दूसरे में बकरे की टाँग पकड़े, अपनी-अपनी ओर खींचते हुए—इस प्रयास में दोनों झुक-झुक जाते, गिरने-गिरने को हो जाते, लेकिन बकरे को नहीं छोड़ते।—कैसे सधे हुए घोड़े, कैसे सधे हुए सवार! मैं चकित देखता रह गया। बकरे को अपनी ओर खींचते हुए वे इतने झुक जाते कि तमाशाइयों का कलेजा मुँह को आने लगता और वे सीटों पर खड़े हो जाते।

वे दोनों स्टेडियम से पलटकर थोड़ी ही दूर आये थे कि दूसरे ने बकरे को पहले ही गिरफ़्त से छुड़ा लिया और घोड़ा बढ़ाकर सरपट भागा। सभी उसके पीछे

हो लिये । पर तभी पहली टीम के पाँचवें सवार ने बढ़कर एक ही झटके में बकरे को प्रतिद्वंद्वी की गिरफ़्त से छुड़ा लिया और इससे पहले कि कोई उसे पकड़ता, वह मोड़ लेकर सरपट भागता आया और उसने बकरे को गोल दायरे में फेंक दिया।

दुर्भाग्य से बकरा आधा दायरे के बाहर रह गया। दर्शक उत्साह में तालियाँ बजाते हुए सीटों से उठे थे कि बैठ गये। तालियाँ जैसे शुरू हुई थीं, उसी तरह अचानक बंद हो गयीं। तमाशाई फिर अपनी सीटों पर बैठ गये।

तब दूसरी टीम के एक सवार ने बढ़कर बकरे को उठाया, लेकिन इससे पहले कि वह मुड़कर उसे ठीक से दायरे में फेंकता, भूरे कॉर्डराय वाली टीम का छठा सवार सरपट घोड़ा दौड़ाता आया और बिना रुके, एक ही झटके से बकरे की टाँग पकड़, उसे छुड़ाकर ले गया। मैंने देखा कि उसने बकरे को ऊपर खींचकर उसकी टाँग को ज़ीन से दबा लिया है। लेकिन वह बहुत दूर नहीं गया था कि दूसरी टीम के एक सवार ने उसे जा लिया और बकरे की दूसरी टाँग पकड़ ली। अब फिर दोनों बकरे की एक-एक टाँग पकड़े, स्टेडियम का चक्कर लगा गये। पर उस जवान ने बकरे की टाँग को ऊपर करके ऐसे ज़ीन से कस लिया था कि हरी वर्दी वाला सवार लाख कोशिश करने पर भी उसे छुड़ा नहीं पाया, बल्कि उसकी गिरफ़्त ढीली होते ही भूरी वर्दी वाले ने उसे छुड़ा लिया और मोड़ देकर, वह दौड़ता आया और उसने बकरा ऐसे फेंका कि वह ऐन दायरे के मध्य गिरा। तमाशाई जोश से खड़े हो गये और सारा स्टेडियम करतल ध्वनि कर उठा।

विजेता ने आकर सम्राट के हुज़ूर में सलामी दी। उसके फ़ोटो लिये गये और दूसरी टीमें मैदान जाने की तैयारी करने लगीं।

मैंने जिस आसानी से यह खेल बयान कर दिया है, उतना आसान वह नहीं है। ख़ासा ख़ूँख़्वार और जोखिम-भरा है। छोटे-से दायरे में से, घोड़ों पर बैठे-बैठे, ज़मीन पर पड़ा हुआ बकरा झुककर उठा लेना, सरपट भागते हुए दूसरे के हाथ से बकरा छीनने की कोशिश करना...इतना झुक जाना कि दर्शकों का कलेजा मुँह को आ जाये, लेकिन फिर सीधे होकर बकरा छुड़ाकर भागते आना और उसे ऐन दायरे में फेंक देना...घोड़े और सवार दोनों से असाधारण दक्षता की माँग करता है। दोनों में से किसी की ज़रा-सी चूक सवार को पीछे सरपट आते घोड़ों के पैरों तले कुचले जाने के लिए मैदान में फेंक सकती है। खेल के दौरान बार-बार दर्शक उठे और बैठे और न जाने कितनी बार उन्हें रोमांच हो आया।

लेकिन दो मैचों के बीच अंतराल में मैंने अपनी कुर्सी के पीछे बैठे एक साहब से अंग्रेज़ी में पूछ लिया कि इस खेल की शुरूआत कैसे हुई? उन्होंने जो उत्तर दिया, उसके कारण मैं दूसरे मैच में जरा भी रस नहीं ले सका और मेरा दिमाग़ निरंतर भटकता रहा।

वे साहब किसी व्यापारिक एजेंसी के उच्चाधिकारी थे और कई वर्षों से काबुल में जमे थे। उन्होंने बताया कि इस खेल की शुरूआत चंगेज़ ख़ाँ के ज़माने में हुई थी, जब बकरे के बदले विजित शत्रु दल के सेनानायक का सिर काटकर उसका शव दायरे में रखा जाता था।

न जाने इस बात में कितना सच था, पर दूसरी बार जब खेल शुरू हुआ और सिर-कटा बकरा दायरे में रखा गया तो मुझे लगा कि बकरा नहीं, वहाँ सिर-कटे सेना-नायक का शव पड़ा है और जिस विचार-संसर्ग से बकरे की जगह सेना-नायक ने ले ली, उसी से तमाशाइयों का स्थान बकरों ने ले लिया। मुझे लगा कि इंसान नहीं, सीढ़ियों पर पंक्तिबद्ध बैठे बकरे इंसान की यह दुर्दशा देख रहे हैं।

दूसरे क्षण अपनी इस कल्पना पर मुझे हँसी आ गयी और सिर को झटका देकर मैंने खेल में ध्यान लगाने का प्रयास किया। लेकिन बार-बार मेरी कल्पना भटक गयी। एक बार जब बकरे को एक-एक टाँग से पकड़े दो प्रतिद्वंद्वी उसे अपनी ओर खींचते भागे जा रहे थे, बकरे का स्थान फिर सिर-कटे सेना-नायक ने ले लिया और मुझे लगा कि दोनों घुड़सवार उसकी एक-एक टाँग अपनी ओर खींच रहे हैं और उसका बेजान कबंध दो घोड़ों के बीच डोल रहा है और बीच से चिरा जा रहा है।

मैंने निमिष भर को आँखें बंद कर लीं। सिर को फिर जोर से झटका दिया और उठकर बाल्कनी के किनारे आ खड़ा हुआ और खेल देखने लगा। लेकिन मेरी कल्पना ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अपने दादा से सुनी कहानियों से हिंसा के विरुद्ध मन में बैठे मेरे संस्कार उस खेल को बकरे की आँखों से देखने लगे और मेरा सारा ज्ञान-विज्ञान और यथार्थ-दृष्टि हवा हो गयी। जब आख़िर एक सवार ने बकरे को सबसे बचाकर दायरे में जा फेंका तो मुझे लगा कि वहाँ सेना-नायक का शव पड़ा है और सीढ़ियों में पिछली टागों पर खड़े होकर बकरे बेतहाशा तालियाँ पीट रहे हैं। मैंने फिर सिर को झटका दिया और अपनी जगह आ बैठा।

विजेता अपने चंचल घोड़े पर सवार सम्राट के सामने आ खड़ा हुआ। उसका घोड़ा निश्चल न रह पा रहा था। पैर पटक रहा था। विजेता ने सम्राट को सलामी दी। सम्राट ने कुछ कहा। शायद कुछ इनाम की घोषणा की। उसने दाँत चियार दिये। सभी मॉर्बिड विचारों को दिमाग़ से हटाकर मैंने उसे ध्यान से देखा—चौड़ा माथा, रूखा और बर्बर चेहरा, पीले दाँत। उसकी कॉर्डराय की अनगढ़ कमीज़ के बटन खुले थे, जिसमें से पसीने से तर उसका चौड़ा बलिष्ठ सीना झाँक रहा था...उसका सारा व्यक्तित्व उसके निपट निरक्षर किसान होने की चुग़ली खाता था। लगता ही नहीं था कि उस खुरदरे, बर्बर व्यक्ति ने किसी मदरसे की शक्ल तक भी देखी है। इसके बावजूद जब उसने सम्राट की घोषणा के उत्तर में दाँत चियार दिये, तो उसके उस बर्बर चेहरे पर कुछ ऐसी निरीहता और बेबसी आ गयी कि वह चेहरा हमेशा-हमेशा के लिए मेरे मन पर अंकित हो गया...कौन

रौंदा जा रहा था ?...बकरा या इंसान !...उस क्षण मुझे दोनों में कोई अंतर नहीं दिखायी दिया।

तभी सम्राट उठे। पलक झपकते बराबर का खंड खाली हो गया। उस दिन दो ही मैच होने थे। हम बाल्कनी से नीचे उतरे। शाम ढल आयी थी, हालाँकि अभी काफ़ी उजेला था, लेकिन हवा एकदम खुनक हो गयी थी। मालूम हुआ कि काबुल में दिन ख़ासे गर्म होते हैं, लेकिन शाम को तापमान एकदम गिर जाता है और रात कड़ाके की सर्दी पड़ती है।

मेरे साथी घुड़सवारों की दक्षता और घोड़ों के सधाव की चर्चा कर रहे थे, लेकिन मैं उनकी बातचीत में कोई भाग नहीं ले सका। मेरा मन बेहद उदास हो आया। मेरे सामने बार-बार वही दृश्य आने लगे, जो मेरी कल्पना ने दूसरे खेल के दौरान देखे थे।...यह अजीब बात है कि मैं रूस हो आया। इन बारह-तेरह वर्षों में सारा हिंदुस्तान घूम आया। मैंने बीसियों नये दृश्य देखे, लेकिन जब भी मुझे कभी काबुल में बुजकशी के उस मैच की याद आती है, मेरी कल्पना में वही-वही दृश्य आने लगते हैं, मेरा दिमाग़ ख़राब हो जाता है और मैं सोचने लगता हूँ... बुजकशी क्या काबुल में ही होती है ? न जाने दुनिया में और कहाँ-कहाँ होती है, फ़र्क यही है कि बकरों की जगह इंसान खींचे और छीने और रौंदे जाते हैं। आदमी कभी इंसान बनेगा भी ? कभी पूरी तरह संस्कृत भी होगा ? उसकी बर्बरता और पर-यंत्रणा-प्रियता कभी ख़त्म भी होगी या वह पशु-का-पशु रहेगा ?...लाखों वर्ष बीत गये उसे जंगलों से निकले और वह आज भी जंगली-का-जंगली है।

और मेरा मन काबुल की उसी ठंडी शाम-सा उदास हो आता है।

भगवान क्या बोलेगा

[असम-प्रवास के दौरान सुरेन्द्रपाल को लिखा गया यह पत्र किंचित संक्षिप्त रूप में 'धर्मयुग' में छपा था। कभी-कभी जब मैं बाहर जाता हूँ, मैं ऐसे पत्र लिखा करता हूँ। उद्देश्य उतना पत्र लिखना नहीं होता, जितना उस बहाने यात्रा के मनोरंजक विवरणों को पंक्तिबद्ध करना, ताकि बाद में उन पर विस्तार से कोई रचना की जा सके। मुझे याद है, जब मैं 1934 में शिमला गया था, मैंने अपनी पत्नी को बड़े लम्बे-लम्बे पत्र लिखे थे। जो कुछ मैं देखता था, उन लम्बे पत्रों में लिखकर भेजता जाता था। एक साल बाद मैंने उन पत्रों की सहायता से अपना पहला उपन्यास—'एक रात का नरक' लिखा था। सुरेन्द्रपाल के बहाने यह पत्र भी इसी उद्देश्य से लिखा गया था। इसी रूप में छपेगा, यह नहीं चाहा था। मैं सुरेन्द्रपाल का नाम काटकर इसे यात्रा-वर्णन का रूप देने ही जा रहा था कि सहसा 1-9-70 को दिल्ली से तार मिला कि सुरेन्द्रपाल ने आत्महत्या कर ली है। उसके साथ ज़िंदगी के कुछ बहुत ही घनिष्ट पल जुड़े हैं। लगभग तीन वर्ष तक मैं उसके साथ नौ-दस बजे रात को सैर करना, बतियाता रहा हूँ। उन दिनों मैंने अपनी ज़िंदगी के कुछ ऐसे ब्यौरे उसे बता दिये थे कि जब वह मुझसे परे हो गया, मुझे कभी-कभी डराया करता था कि वह ही मेरे बारे में सच्ची बातें लिखेगा। मैं हँसकर कहा करता था कि अपने बारे में तो मैं सब कुछ लिख ही जाऊँगा, लेकिन कौन कह सकता है कि तुम मेरे बारे में लिखो, इससे पहले मैं ही तुम्हारे बारे में न लिख दूँगा ? तब क्या जानता था कि सचमुच मुझे ही उसके बारे में लिखना पड़ेगा। वह काम तो कभी फ़ुर्सत से करूँगा, अभी यह पत्र मैं उसी तरह दे रहा हूँ, जैसे मैंने लिखा था—सुरेन्द्रपाल के नाम—जिसे दो वर्ष पहले देखकर कोई कल्पना भी न कर सकता था कि इतना क्रियाशील व्यक्ति कभी आत्महत्या भी कर सकता है। लेकिन वह चला गया और ज़िंदगी और मौत और नियति के कई प्रश्न अनुत्तरित छोड़ गया।
—अश्क]

पीक होटल, शिलांग
5 जून, 1961

प्रिय सुरेन्द्रपाल,

तुम्हारा पत्र मिला। हम आज शाम यहाँ से चलेंगे और दो-एक दिन गौहाटी रुककर सिलीगुड़ी होते हुए, कालिम्पौंग पहुँचेंगे। बन पड़ा तो यहाँ से सिक्किम की राजधानी गैंटोक और दार्जिलिंग भी जायेंगे। कौशल्या का बस चले तो वह मणिपुर में इम्फाल और कोहिमा भी देख आये—वहाँ के चीफ़ कमिश्नर श्री रैना हमारे पूर्व-परिचित हैं, कष्ट नहीं होगा—लेकिन मुझे नहीं लगता कि मेरा स्वास्थ्य इम्फाल और कोहिमा तो दूर, गैंटोक अथवा दार्जिलिंग भी जाने की इजाज़त देगा। खाँसी मेरी बढ़ गयी है, साँस लेने में ख़ासी तकलीफ़ होती है, हल्की हरारत भी हो जाती है—वही पुरानी इओसिनोफ़ीलिया की शिकायत लगती है। दवा लिये जाता हूँ और घूमे जाता हूँ। किसको विश्वास आयेगा कि मैं इतना बीमार हूँ। मेरी यह पुरानी ट्रैजिडी है कि सफ़र से बेहद घबराता हूँ, इस पर भी भारत का तूल-अर्ज़ नापे जाता हूँ।

मैंने इन तीन दिनों में शिलांग और इसके इर्द-गिर्द खूब घूमकर देखा है। वह सब लिखने लगूँगा तो पूरी किताब ही लिख डालूँगा। तुम्हारे मनोरंजन के लिए चेरापूंजी-यात्रा और वहाँ मिश्माई प्रपात और मिश्माई गुफा का संस्मरण भेजता हूँ, जो ख़ासा दिलचस्प है। बाकी सब तो जब इलाहाबाद आऊँगा, विस्तार से बताऊँगा।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन असम के वार्षिक अधिवेशन में, जिसका सभापतित्व करने मैं असम के सीमांत नगर तिनसुकिया गया था, श्री अनंत गोपाल शेवड़े भी गये थे। उन्हें राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा ने उनकी हिंदी सेवाओं के लिए पुरस्कृत किया है। मेरी ही तरह वहाँ से लौटते हुए वे शिलांग आये थे और दो दिन पहले चेरापूंजी की यात्रा कर आये हैं। उनसे मिलने के बाद ही मैंने तय कर लिया था कि चाहे कितना भी अस्वस्थ क्यों न होऊँ, मैं कौशल्या को चेरापूंजी जरूर दिखा लाऊँगा—चेरापूंजी, जहाँ भारत में सबसे ज़्यादा वर्षा होती है—पाँचवीं-छठी कक्षा से हम लोग भूगोल की पुस्तकों में यह पढ़ते आये हैं, और उस स्थान को देखने को अतिरिक्त मोह था।

परसों शाम पाइन वुड होटल के प्रोप्राइटर श्री ज्योतीन्द्र दत्त चौधरी तथा मिस मिलियन खरकंगौर के साथ मॉप्लांग और मिल्लीम स्टेट घूमते रहे और ख़ासी लोगों के जीवन को निकट से देखा। (खर का मतलब है ऐसा व्यक्ति, जो ख़ासी (ख़स्सी) जाति का न हो। कंगौर के अर्थ हैं—कुँवर। कोई ऐसा अ-ख़स्सी कुंवर, जिसने इधर की लड़की से शादी कर ली हो। उसकी संतान खरकंगौर कहलाती है।) शाम को लौटे तो बेहद थक गये थे, लेकिन मैं यही मानता रहा कि सुबह पानी न पड़े और मैं कौशल्या को चेरापूंजी दिखा लाऊँ। वह इसीलिए तो

मुझे इतनी दूर ले आयी है कि तिनसुकिया सम्मेलन के बहाने असम देख लिया जाये। उसे बिना चेरापूंजी दिखाये लौटना मुझे स्वीकार नहीं हुआ।

शेवड़ेजी बस से चेरापूंजी देख आये थे। उन्होंने बताया कि बस मिश्माई प्रपात और चेरारोड के अंतिम गाँव मॉब्लांग (ठीक उच्चारण मोव्ला है, पर अंग्रेज़ी में मॉब्लांग लिखा जाता है) तक जाती है। मैंने अड्डे पर जाकर पता किया तो मालूम हुआ कि बस का कोई ठिकाना नहीं। रास्ता तंग और ख़तरनाक है। धुंध हो तो दो गज़ पर कुछ दिखायी नहीं देता। पानी पड़ने लगे तो कई-कई दिन तक बस नहीं जाती। दुर्भाग्य से दत्त साहब की कार असम-बंगाली फ़साद की चपेट में आ गयी थी और कौशल्या जैसे भी हो, चेरापूंजी देखना चाहती थी। मैंने तय किया कि टैक्सी से जाऊँगा और उसे चेरापूंजी ज़रूर दिखा लाऊँगा। सोचता हूँ कि यदि कठिनाई की बात न होती तो शायद हम चेरापूंजी जाने का ख़याल छोड़ देते। लेकिन जितना ही लोग डराते, उतना ही वहाँ जाने का मन होता। दत्त साहब की पत्नी, श्रीमती लावण्य प्रभा देवी, प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्नातिका हैं। साहित्य और कला में उनकी विशेष रुचि है। उन्होंने दत्त साहब को हमारे साथ मॉप्लांग भेजा था और वादा किया था कि वे चेरापूंजी भी दिखालायेंगे। लेकिन दिन भर हमें मिल्लीम स्टेट और मॉप्लांग दिखाने के बाद वे बेहद थक गये थे। उनसे कहने की हिम्मत नहीं हुई। मैंने श्रीमती लावण्य प्रभा से कहा कि दत्त साहब थक गये हैं, यदि आप टैक्सी का प्रबंध कर दें तो सुबह हम चेरापूंजी देख आयें।

पीक होटल वापस पहुँचे तो उनका फ़ोन आ गया कि टैक्सी सुबह हमारे होटल पहुँच जायेगी। उन्होंने यह भी बताया कि राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के स्थानीय मंत्री श्री जितेन्द्र चौधरी पर ज़ोर देकर उन्होंने इस बात के लिए उन्हें राज़ी कर लिया है कि हमारे साथ जाकर वे हमें चेरापूंजी दिखा लायें। कुछ ही देर बाद चौधरी साहब का फ़ोन भी आ गया कि वे ठीक साढ़े नौ बजे लाइमुखड़ा में हमारा इन्तज़ार करेंगे और हम सुबह चलने की पूरी तैयारी करके ही सोयें।

हमने होटल के मैनेजर को आदेश दिया कि वे सुबह आठ बजे हमारे लिए दो डबल रोटियों के स्लाइस, दो बड़ी टिकिया मक्खन और छह उबले अंडे पैकेट में बाँध दें। नाश्ता करते ही हम चल पड़ेंगे।

टैक्सी कल सुबह ठीक नौ बजे आ गयी थी। अगली सीट पर एक बंगाली युवक बैठा था। ड्राइवर से पूछने पर मालूम हुआ कि वह चेरापूंजी में कुछ महीने रह चुका है और गाइड का काम सुचारु रूप से सरअंजाम देगा। 'साहब' को किसी तरह का कष्ट न हो और वह चेरापूंजी पूरी तरह देख ले, इसीलिए उसे साथ ले लिया गया है। मैं अगली सीट पर कौशल्या को बैठाना चाहता था कि उसे रास्ते के दृश्य देखने में सुविधा हो। चौधरी साहब तो जा ही रहे थे, गाइड की क्या ज़रूरत थी? पर कौशल्या ने कहा कि बैठा रहने दीजिये, वहाँ का जानकार साथ होगा तो सुविधा ही रहेगी और पूछने-पुछाने पर समय नष्ट नहीं होगा।

लाइमुखड़ा में जितेन्द्र चौधरी मिल गये—गोरे-चिट्टे, भारी-भरकम और अत्यंत हँसमुख। सौभाग्य से हम दोनों पतले हैं, इसलिए चौधरी साहब के साथ छोटी टैक्सी की पिछली सीट पर हम तीनों के बैठने में कठिनाई नहीं हुई। हममें से कोई मोटा होता या फिर चौधरी साहब की सूरत मुहर्रमी होती तो चेरापूंजी की सैर का सारा मज़ा किरकिरा हो जाता।

जैसा कि मैंने पहले कहा, चेरापूंजी के बारे में भूगोल की पुस्तक में पढ़ा था कि हमारे देश में सबसे ज़्यादा वर्षा वहीं होती है और हमारी कल्पना में धारा-सार बरसता पानी, दहाड़ते हुए नदी-नाले और घने, अँधेरे जंगल घूम जाते थे। यूँ भी असम के जंगलों के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ सुनी थीं और कल्पना कई दिशाओं में बगटुट भाग रही थी। तभी चौधरी साहब ने बताया कि मिश्माई गाँव के पीछे लगभग एक मील के फ़ासले पर एक ऐसी गुफा है, जिसके पत्थरों की बनावट और रंगों को देखने देश-विदेश के इंजीनियर आते हैं। और हम लोग उड़कर चेरापूंजी पहुँच जाना चाहते थे।

हम चेरापूंजी देख आये हैं। दो दिन लगातार घूमते हुए बेहद थक गये हैं। कौशल्या श्रीमती लावण्य प्रभा के साथ बाज़ार गयी है। मूँगा सिल्क की साड़ी और मेरे लिए कुर्त्ते का सिल्क देखने! यहाँ घर-घर करघे हैं और असमी युवतियाँ अपनी शादी पर अपने हाथ की बनी हुई सिल्क की साड़ी पहनती हैं। कल चेरापूंजी से वापसी पर हमने श्रीमती लावण्य प्रभा के यहाँ खाना खाया था। वहीं एक छोटी-सी गोष्ठी भी हुई। उसी में टी० बी० अस्पताल के सुपरिंटेंडेंट की पत्नी श्रीमती हज़ारिका से भेंट हुई। वे वापसी पर अपनी कार में अपने घर करघा दिखाने ले गयीं और उन्होंने अपने हाथ का बुना मूँगा सिल्क दिखाया। कौशल्या ने तभी तय कर लिया था कि सुबह बाज़ार जायेगी। ख़रीदेगी वह मुझे साथ ले जाकर ही, पर अपनी पसंद की चीजें देख आयेगी। इस बीच मैंने सोचा कि तुम्हें ही एक लम्बा पत्र लिखूँ और चेरापूंजी के संस्मरण को पंक्तिबद्ध कर दूँ। तुम्हारी बड़ी इच्छा रही है कि मैं बाहर जाऊँ तो तुम्हें पत्र ज़रूर लिखूँ। छोटे-मोटे औपचारिक पत्र लेकर तुम क्या करोगे? लो, पत्र के माध्यम से यह एक लम्बा संस्मरण तुम्हें भेजता हूँ। नोट तो मैंने विस्तार से लिये हैं, पर न जाने मेरी डायरियों में कितनी यात्राओं के विस्तृत नोट लिये पड़े हैं, कभी उन्हें लिखने का मौका नहीं मिला। इस बहाने यह दिलचस्प संस्मरण ही पंक्तिबद्ध हो जायेगा।

चेरापूंजी के बारे में जो लिखने बैठ गया हूँ तो एक ख़ास बात है। तुम्हें यह जान-कर हैरत होगी कि देश भर में सबसे ज़्यादा बरसात होने के बावजूद, वहाँ पीने के पानी की कठिनाई हो जाती है। उस प्रदेश को देखकर एक कविता की पहली पंक्तियाँ मन में कौंध गयी हैं:

यह कैसा प्रदेश है!

चट्टानें
वर्षा में रात-दिन नहाती हैं
पर सृष्टा की अतुल भूति को
सँजो नहीं पाती हैं
निर्मल जल की दो बूँदें भी
प्यासे को उपलब्ध नहीं हैं—

और क्या हमारी आज की सभ्यता अपनी तमाम उपलब्धियों के बावजूद वैसी ही हृदयहीन नहीं हो गयी ? जाने यह कविता कब लिखी जायेगी ? पर मैं उस प्रदेश को परिपार्श्व में रखकर इस भाव को अभिव्यक्त करना चाहूँगा।

जंगल चेरापूंजी में प्रायः नहीं हैं। हरी-हरी छोटी घास से लदे संगलाख पहाड़ हैं और सर्फ़ेस कोल—याने ऊपर ही सतह पर मिल जाने वाला कोयला।

हम मिश्माई प्रपात भी देख आये हैं और मिश्माई गुफा भी। उस यात्रा का प्रसंग काफ़ी दिलचस्प है और अपने साथियों के कारण हम खूब बेवकूफ़ बने। वही प्रसंग तुम्हारे मनोरंजन के लिए लिख रहा हूँ। असम के इस प्रवास में मिश्माई गुफा की यात्रा मुझे हमेशा याद रहेगी।

शिलांग से साढ़े 9 बजे चलकर चौदह मील के अंतर पर उमटिंगा नदी के गेट को पार कर, हम चेरा रोड पर बढ़े तो सड़क के किनारे जो थोड़े-बहुत जंगल थे, वे भी ख़त्म हो गये। सड़क भी एकदम टेढ़ी-बैंगी हो उठी और बायीं ओर गहरी खड्ड साथ-साथ चलने लगी।

जब हम मीलों चले गये और बीहड़ जंगल तो दूर रहे, कहीं चार-छह पेड़ भी न दिखायी दिये तो मैंने चौधरी साहब से पूछा, 'चौधरी साहब इस इलाके में इतना पानी पड़ता है, लेकिन पेड़-पौधे क्यों नहीं हैं ?' चौधरी साहब ने बताया कि ज़मीन पथरीली है। पानी रुकता नहीं। चट्टानी धरती है। मिट्टी हो तो पेड़-पौधे उगें। पंद्रह दिन वर्षा न हो तो लोगों को पीने के लिए पानी मिलना मुश्किल हो जाता है...इतने पानी के बावजूद पानी की किल्लत...हम चकित से सड़क की बायीं ओर, दूर तक फैले हुए पहाड़ों को देखने लगे—ऊँचाई बहुत ज़्यादा नहीं, चोटियाँ तीखी नहीं, बड़े-बड़े टीलों-सरीखे, हरी-हरी घास का परिधान ओढ़े, नर्म-नर्म दीखने वाले—लेकिन नीचे धरती कितनी संगलाख़ है, ऊपर से इसका ज़रा भी आभास नहीं मिलता। मैंने पंचगनी से आठ मील आगे महाबलेश्वर से दूर, दृष्टि की सीमा तक, पंक्ति-दर-पंक्ति एक-दूसरे के पीछे खड़ी, रत्नागिरि की रुंड-मुंड लाल पहाड़ियाँ देखी हैं; बंबई से पूना के मार्ग में धान से पटी हरी घाटियाँ और बहते झरनों को गोद में लिये हुए गर्वीले पहाड़ों के दर्शन किये हैं; जम्मू से आगे रूखे, कर्कश मानो रूठे हुए, क्रोधी पहाड़ों को देखा है और बानिहाल के पार चारों ओर से कश्मीर की वादी को घेरे हिममंडित गिरि-शिखरों का नज़ारा किया है; अमरनाथ की यात्रा में बारह-तेरह हज़ार फुट की ऊँचाई पर आकाश को छूने वाले नंगे-

भूरे भयावह पहाड़ों का आतंक झेला है और अभी कुछ ही दिन पहले डिबरूगढ़ में तूफ़ान पर आये ब्रह्मपुत्र के पार, नीलपर्वत-श्रेणियों को विमुग्ध निहारा है, लेकिन शिलांग और चेरापूंजी के रास्ते में हरी घास से लदे पहाड़ी टीलों की कोमलता कहीं नहीं मिली—अजीब-सी कोमलता-मिश्रित स्निग्धता का आभास वे अंदर से संगलाख़, पर ऊपर से हरे-भरे पहाड़ देते हैं—विशेषकर शिलांग की तरफ़ वाले—चेरापूंजी गेट के बाद तो नंगे-बुच्चे पहाड़ हैं और कोयले के अम्बार हैं। कुछ अजीब-सी वीरानी और उदासी है।

दो घंटे में हम चेरागेट पहुँच गये, जिसके ऊपर पहाड़ी पर चेरापूंजी बसा है और जिस पर अवस्थित रामकृष्ण मिशन मीलों परे से दिखायी देने लगता है।

लेकिन हम चेरापूंजी देखने को नहीं रुके, आगे निकल गये और मिश्माई गाँव के अकेले, कीचड़-भरे, तंग बाज़ार से होते हुए, जिसके दोनों ओर झोंपड़ियों-सी इकहरी दुकानें हैं, सीधे मिश्माई प्रपात जा पहुँचे।

मिश्माई प्रपात के बारे में सुना था कि प्रसिद्ध नियागरा प्रपात-जैसा है। सड़क के किनारे खड़े होकर बायीं ओर निगाह डाली तो निराशा हुई। प्रपात पर धुंध छायी हुई थी और हल्की झींसी पड़ने लगी थी।

हम छाते ताने सड़क के किनारे दर्शकों के लिए बनी रेलिंग के पास खड़े रहे। कुछ देर बाद धुंध ऊपर उठ गयी। सामने बायीं ओर लाल-सा पहाड़ एकदम सीधा कटा, बहुत लम्बी डरावनी दीवार की तरह खड़ा था और आयत की लम्बी और छोटी दो लकीरें बना रहा था—इधर के कोने पर ज़रा गोलाई लिये हुए! नीचे घाटी गहरी और चौड़ी थी। यही मिश्माई प्रपात था। चेरापूंजी में पानी टिकता नहीं और चूंकि तीन-चार दिन से बारिश न हो रही थी, इसलिए पानी की चार-पाँच दूधिया लकीरें सामने की उस चट्टानी दीवार पर बनी दिखायी देती थीं। यह मानता हूँ कि भर-वर्षा में उस सारी दीवार पर इतनी ऊँचाई से नीचे घाटी में चादर-सा गिरता पानी भव्य दृश्य उपस्थित करता होगा, लेकिन उस वक्त हमें प्रपात को सूखे देखकर निराशा ही हुई।

और वहाँ देखने को कुछ नहीं था। भूख लग आयी थी। सड़क के दूसरी ओर एक नाला बह रहा था, उसके किनारे पेड़ भी थे, जिनकी शाखाएँ नाले पर लटकी थीं, शायद वही नदी थी जिसके किनारे बाद में हमने गुफ़ा देखी। उसके किनारे घासपर हम तीनों बैठ गये, सारे-के-सारे स्लाइस और अंडे खा गये। जितेन्द्र तो ख़ैर मोटे-तगड़े आदमी हैं, लेकिन हम दोनों तो अल्पाहारी है। साधारणत: तीन से ज़्यादा स्लाइस कौशल्या नहीं लेती और चार से ज़्यादा मैं कभी नहीं लेता, लेकिन भूख कुछ ऐसी लग आयी कि छह-छह स्लाइस हम खा गये होंगे।

पानी हम थर्मस में ले गये थे। हाथ हमने नाले में जाकर धो लिये और टैक्सी में आ बैठे और चेरा रोड के अंतिम गाँव मॉव्लाँग पर जा रुके—छोटा-सा गाँव, दस-बीस लकड़ी के घर, एक छोटी-सी लकड़ी की दुकान। टैक्सी को वहीं छोड़कर

हम नीचे को उतरने वाली पथरीली सड़क पर हो लिए।

कुछ दूर जाकर हम सड़क की एक पुलिया पर बैठ गये। मुड़कर देखा तो पाया कि मॉव्लांग के नीचे पहाड़ी पर केवड़े का जंगल है। चौधरी साहब ने बताया कि जब केवड़े में फूल आते हैं तो यह सारा प्रांतर केवड़े की गंध से महक जाता है।

फिर मुड़कर नीचे की ओर निगाह दौड़ायी तो सामने बादलों के नीचे तराई में सिलहट के पानी-भरे मैदान दिखायी दे रहे थे। चौधरी साहब वहीं के रहने वाले हैं। अपने वतन की तर ज़मीन को देखकर उनकी आँखें तरल हो आयीं। उन्होंने बताया कि वहाँ गहरे पानी में धान की खेती होती है। मॉव्लांग से सिलहट के पानी-भरे मैदानों का दृश्य सड़क की ऊँचाई से बड़ा ही सुंदर लगता है। कितनी ही देर तक चौधरी साहब वहाँ आँखें टिकाये रहे। फिर लम्बी साँस भरते हुए घुटनों पर हाथ रखकर उठे और बोले, 'चलिये आपको मिश्माई गुफा दिखा लायें।'

और वहीं वह दिलचस्प घटना हुई और हम ख़ासे मूर्ख बने, जिसके सिलसिले में यह पत्र मैंने लिखना शुरू किया था।

मॉव्लांग से हम टैक्सी में चढ़े तो सीधे मिश्माई गाँव वापस आये। चूँकि आती बेर में धुंध थी, इसलिए मिश्माई गाँव के बाद प्रपात तक का दृश्य साफ़ दिखायी नहीं दिया था। अब हमने देखा कि दायीं ओर घाटी में जहाँ-तहाँ पहाड़ी टीलों में गुफाएँ-सी बनी हैं और बाहर कोयले के छोटे-बड़े अंबार लगे हैं। प्रकट ही कोयला ऊपर ही मिल जाता है, इसीलिए वहाँ से निकलने वाले कोयले को 'सर्फ़ेस कोल' कहते हैं। एक-दो जगह, जहाँ पहाड़ सड़क के बराबर आ गये थे, हमने देखा कि कोयले की धारियाँ पहाड़ के सीने पर सड़क के साथ चली गयी हैं। ऊपर पीले पत्थर की लकीर, फिर कोयले की काली और कहीं-कहीं उसके नीचे सफ़ेद पत्थर की लकीर।...एक जगह तो काफ़ी दूर तक ये तीनों लकीरें हमें पहाड़ के सीने पर दिखायी देती रहीं।

कोयले के ट्रक यहाँ सारा दिन आते-जाते रहते हैं और इधर के लोग बस के किराये से आधे किराये में शिलांग तक यात्रा कर लेते हैं और ड्राइवर-कंडक्टर इस बहाने कुछ चाय-पानी के पैसे जुटा लेते हैं। मिश्माई बाज़ार के बीचों बीच एक ट्रक वाला कुछ ऐसी ही व्यवस्था में तल्लीन, ट्रक पर किसी गाँव वाले का सामान लाद रहा था।

जब ट्रक सामान लादकर बढ़ गया तो हमारी टैक्सी भी आगे बढ़ी। लेकिन कुछ ही दूर जाकर रुक गयी। ड्राइवर ने बताया कि यहाँ से गुफा को रास्ता जाता है। वह तो वहीं पीछे रह गया। लेकिन हमारे वे बंगाली 'गाइड' हमारे साथ हो लिये। बाज़ार से निकलने वाली एक छोटी-सी गली को पार कर, हम एक नाले के तट पर आ गये। उसका नाम डामुम नदी बताया गया। नाले के किनारे खड़े

होकर देखा तो चौधरी साहब की बात के सत्य का पूरा अहसास हुआ। वहाँ पानी कैसे टिकता ? तल गहरा नहीं था और वहाँ जरा भी मिट्टी नहीं थी...सपाट चट्टान थी, जिस पर न जाने कितनी सदियों में पानी ने अपने लिए थोड़ा गहरा रास्ता बना लिया था। नाले का तल उल्टे अजगर के पेट-सा सफ़ेद था; जिस पर पानी एक पारदर्शी चादर-सा सरक रहा था। इस संगलाख़ धरती पर पानी कैसे रुक सकता है ? कहाँ रुक सकता है ? पेड़-पौधे कहाँ उग सकते हैं ? उनकी जड़ों के लिए पहाड़ में सँध और मिट्टी चाहिए ! और मैं सोचता हूँ, आधुनिक सभ्यता हमारे दिलों की मिट्टी को इसी तरह संगलाख़ नहीं बनाती जा रही क्या ? जहाँ कहीं सँधें हैं, वे पुरती जा रही हैं, और दिल पत्थर होते जा रहे हैं।

डामुम को पार कर हम झोंपड़ियों के आगे खुली जगह पर पहुँचे, वहाँ ख़ासी लड़के छोटे परों वाले नेज़े हाथों में लिये निशाना साधना सीख रहे थे।

डामुभ के तट पर एक सरकंडा धरती में गाड़कर उन्होंने उसके सिरे पर घास-फूस का गोला बना, उसे केले के पत्ते से बाँधकर निशाना बनाया था और आठ-दस गज़ के फ़ासले से वे उस पर नेज़े चला रहे थे। उनके नेज़े, जो छोटे-छोटे तीरों जैसे लगते थे, सरकंडों से बने हुए थे। उनके एक सिरे पर लोहे की पतली-सी नोकदार सुम चढ़ी थी और दूसरे पर चार पंख लगे थे। पूरे नहीं, एक पंख को बीच से काट-कर, उसके एक-एक अंगुल के टुकड़े, जिन्हें सरकंडे को चीरकर उसमें जड़ दिया था और पीतल के अत्यंत बारीक तार से उन्हें गूँथ दिया गया था।...कुछ देर तक हम गुफा की बात भूलकर लड़कों की निशानेबाज़ी देखते रहे। उनमें से एक का हाथ बड़ा सधा हुआ था। उस वक्त जब दूसरों के नेज़ें निशाने के एक गज़ इधर-उधर गिरते, उसका नेज़ा ऐन निशाने पर जा गड़ता।

तभी चौधरी साहब ने एक बुढ़िया से ख़ासी मिली-जुली असमी भाषा में गुफा को जाने का मार्ग पूछा। उसने एक पगडंडी की ओर संकेत कर दिया, जो दायीं ओर की एक गली को जाती थी।

हम गली में दाख़िल हुए। गंदी, सँकरी और कीचड़-भरी, जिसकी नालियों में सुअर थूथनियाँ चला रहे थे। एक सुअरी कीचड़ में पसरी पड़ी थी और उसके छोटे-छोटे बच्चे बहुत बड़ी काली, भद्दी जोंकों की तरह उसके मोटे थनों से चिमटे थे।

यह गली गाँव के पीछे से जानेवाली पगडंडी में जाकर मिल गयी। दायीं ओर जायें या बायीं ओर, हमारे वे बंगाली गाइड तय ही न कर पाये। चौधरी साहब भी कई वर्ष पहले यहाँ आये थे। उन्होंने बायीं ओर संकेत किया तो उन्होंने भी हामी भरी कि हाँ, गुफा बायीं ओर ही को है और हम उधर ही चल दिये।

जब हम खेतों की मेड़ों और पगगंडियों पर होते हुए कोई तीन फ़रलाँग निकल आये तो सहसा हमें सामने कुछ ऊँचाई पर दायें से बायें को जाती हुई अत्यंत घने पेड़ों की पंक्ति दिखायी दी। उस वीरान चट्टानी धरती में हरे-भरे छतनार पेड़ों की वह पंक्ति आँखों को बड़ी सुहानी लगी। तभी हमारे 'गाइड महोदय' ने सबसे

ऊँची जगह की ओर संकेत करके बताया कि वहीं गुफा है। लेकिन उस ओर न कोई मार्ग था, न पगडंडी। धरती ऊँची होती हुई पेड़ों की पंक्ति तक जाती थी, घास से ढकी थी और उसमें छोटे-छोटे नाले पहाड़ी से उतरते थे।

हमें वहीं रुकने को कहकर वह बंगाली युवक बढ़ता चला गया और एक जगह पेड़ों में गुम हो गया। फिर वहाँ से निकलकर उसने सिर को झटका दिया और कुछ आगे बढ़कर एक दूसरी जगह ग़ायब हो गया। कुछ देर बाद फिर प्रकट हुआ और एक तीसरी जगह हरियाली के उस सागर में उसने डुबकी लगायी। अबकी उभरा तो हाथ मलते हुए मुँह लटकाये वापस आ गया।

उसके इस अनिश्चिय को देखकर मेरा माथा ठनका। स्वयं तकलीफ़ सहते हुए शिलांग से टैक्सी की अगली सीट पर उसे बैठाये इसी मोह में हम लाये थे कि वह हमें आसानी से गुफा दिखा देगा। जब वह हमारे पास पहुँचा तो मैंने पूछा :

'भाई तुम्हें मालूम भी है?'

उसने बताया कि वह रामकृष्ण मिशन में तीन महीने रह गया है और एक बार गुफा देख भी गया है। गुफा यहीं थी।

'क्या इस बीच कहीं दूसरी जगह तो नहीं सरक गयी?' मैंने चिढ़कर कहा।

युवक ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। पलटकर वह पेड़ों की उसी पंक्ति की ओर देखने लगा।

'क्या ये पेड़ भी यहीं थे?' मैंने फिर पूछा।

मेरी चिड़चिड़ाहट की ओर ध्यान दिये बिना, सरल भाव से उसने कहा, 'जी हाँ।'

मैंने चौधरी साहब से कहा, 'इससे कहिये, गाँव से जाकर किसी जानकार को ले आये।'

चौधरी साहब मस्त-मौला आदमी...उन्हें युवक को गाँव भेजकर स्वयं वहाँ प्रतीक्षा करना अखरा, बोले, 'इसी पगडंडी पर चलते हैं, शायद आगे रास्ता जाता हो।'

झुँझलाहट में मैं आगे हो गया और हम जिस पगडंडी से यहाँ तक आये थे, उसी पर आगे बढ़ चले।

पेड़ों की वह पंक्ति, जो हमें दिखायी दी थी, वास्तव में दोहरी थी और उसके बीच एक नाला बहता था। उसी पगडंडी पर कुछ आगे बढ़कर हमने नाला पार किया। सामने दूर तक घास का मैदान और कच्ची पथरीली धरती थी और वहाँ एक नयी-नयी कच्ची सड़क खुदी हुई थी। यह सड़क शायद कहीं मिस्माई के बाहर ही से प्रपात को जाने वाली मुख्य सड़क से काटी गयी थी और वह कुछ ही दूर आगे जाकर नाले के इधर की हरी पंक्ति के निकट ख़त्म हो जाती थी। उस वीराने में वह सिरकटी सड़क और उसके पत्थर उस प्रदेश को और भी वीरान बना रहे थे।

मैंने कहा, 'देखिये गुफा जरूर ही इधर कहीं है, लगता है कि यह सड़क किसी केन्द्रीय मिनिस्टर की सुविधा के लिए खुदवाई और उसके दौरे के बाद

उसके वायदों की तरह ही भुला दी गयी है ।'

नाले के इधर पेड़ बहुत घने थे । सरकंडे उगे हुए थे । सड़क से निकलकर एक पगडंडी उधर को गयी थी । सहसा वह बंगाली युवक, जो इस बीच पीछे-पीछे सिर झुकाये आ रहा था, पीछे से निकलकर आगे आ गया और उत्साह से पगडंडी पर बढ़ चला । हम तीनों उसके पीछे-पीछे चले ।

कुछ दूर उसी पगडंडी पर चलने के बाद हम नाले के ऊपर बने छोटे-से लकड़ी के पुल पर आ गये ।

क्षण भर पुल पर रुककर मैंने इर्द-गिर्द निगाह दौड़ायी—पेड़ इतने ऊँचे और घने थे और दोनों ओर से उनकी शाखाएँ ऐसे एक-दूसरी से गुंथ गयी थीं कि उन्होंने आकाश को एकदम आच्छादित कर लिया था । तरह-तरह की वेलें उन पर चढ़ी हुई थीं और कालांतर में अजगरों-सी मोटी हो गयी थी । उन पर काई जम आयी थी और वे बड़े-बड़े कुंडलों की तरह शाखों से लटक रही थीं—शाम के अँधेरे में उन पर किसी लटकते अजगर का संदेह हो जाना स्वाभाविक था । सूरज की एक भी किरण का गुजर वहाँ नहीं था और मौत का-सा भयावह सन्नाटा छाया हुआ था ।

पुल के पार चढ़ने के लिए पत्थर रखे हुए थे और पगडंडी ऊपर चढ़ती थी । मैंने उत्साहित होकर कहा—'देखिये गुफा जरूर इधर को है, ये पत्थर जैसे रखे हैं और पगडंडी पर जैसे खड़िया के मद्धिम निशान हैं, जरूर ही कोई मिनिस्टर इसे देखकर गये हैं ।'

तब वह बंगाली युवक खट-खट पत्थर की उस अस्थायी सीढ़ी पर चढ़ गया । वह उस पगडंडी पर चंद ही कदम गया होगा कि ऐसे हड़बड़ाकर पलटा जैसे उसने किसी शेर को देख लिया हो । मैंने कहा, 'क्या बात है ?'

'न जाने रास्ता किधर को जाता है', उसने भयातुर लहजे में कहा, 'हम आगे नहीं जायेगा, जंगल का मामला...'

और वह बराबर से निकलकर सबसे पीछे जा खड़ा हुआ । मैंने कहा—'यह रास्ता जरूर गुफा को जाता है, आप गाइड बने मोटर की अगली सीट पर बैठे आये हैं, चलिये हमें रास्ता दिखाइये !'

लेकिन उसने कदम बढ़ाने से इनकार कर दिया । तभी कौशल्या पीछे से निकल कर आगे बढ़ी और बोली, 'आइये मेरे पीछे ।'

मैंने कदम बढ़ाया ही होगा कि इस बार चौधरी साहब ने बढ़कर रास्ता रोक लिया कि नहीं बिना गाइड के आपको जंगल में नहीं जाने देंगे ।

हमने लाख कहा कि इतनी दूर से आकर और इतनी मुसीबत झेलकर हम बिना गुफा देखे नहीं जायेंगे, वे लोग नहीं जाना चाहते तो वहीं रुकें, हम दोनों जाकर देख आते हैं, लेकिन हमारे आतिथेय के नाते उनको हमें किसी तरह के जोखिम में डालना स्वीकार नहीं हुआ ।

'भगवान न करे आपको कुछ हो जाये तो मैं हिंदी संसार को क्या मुँह दिखा-

ऊँगा।' उन्होंने सिर हिलाते हुए कुछ ऐसे स्वर में यह बात कही, जिसमें हँसी भी थी और गिड़गिड़ाहट भी, फिर वे कौशल्या से बोले, 'न जाने इन्हें अभी संसार को कैसे-कैसे अनमोल रत्न देने हैं।'

चौधरी साहब की और किसी दलील का असर चाहे कौशल्या पर न होता, पर इस दलील के आगे उसने ज़िद छोड़ दी।

अपने उन दोनों हितैषियों के पीछे-पीछे घिसटते हुए हम नाला पार कर फिर उसी जगह आ गये, जहाँ पहले हमारे उस दक्ष बंगाली गाइड ने गुफा खोजने का प्रयास किया था।

हमको वहाँ बैठाकर उसने फिर एक बार ऊँचाई पर गुफा खोजने का प्रयास किया और फिर असफल होकर मुँह बाये आकर हमारे पास खड़ा हो गया।

तब चौधरी साहब वहीं फसकड़ा मारकर बैठ गये और उन्होंने यह शुभ परामर्श दिया कि उसे गाँव भेज दिया जाये और वह अपने साथ किसी जानकार को लिवा लाये।

युवक चलने लगा तो मैंने कहा कि अगर पैसे-वैसे देने की बात हो तो संकोच न करे, मैं दे दूँगा, लेकिन साथ में गाइड ज़रूर लाये।

युवक चला गया तो हम विवश वहीं बैठ गये। मेरा मूड एकदम ऑफ़ हो गया था। क्रोध आ रहा था कि पहले ही गाँव से किसी को लेकर क्यों नहीं चले, लेकिन कौशल्या बड़े सब्र से चौधरी साहब की बातें सुन रही थी, जो उसे समझा रहे थे कि अश्कजी राष्ट्रभाषा की 'विभूति' हैं और इसीलिए उन पर इतनी ज़िम्मेदारी है और अश्कजी कि साथ रहते वे कोई ख़तरा मोल नहीं ले सकते।

मैं नहीं जानता, कौशल्या को उनकी बात का कितना यकीन आया? लेकिन मुझे लगा कि वे शायद डर गये हैं, लेकिन उस डर को उन्होंने 'राष्ट्रभाषा की इस विभूति' को बचाने की आड़ में छिपा लिया है।

मुझे हँसी भी आ रही थी और गुस्सा भी। यदि मैं हिंदी की 'विभूति' होने के बदले मामूली आदमी होता तो चौधरी साहब क्या बहाना बनाते?' मैं यही सोचने लगा। 'तब क्या मैं गुफा देखकर न पलटता?' मन-ही-मन मैंने चौधरी साहब की इस हिंदी की विभूति को एक भारी-सी ही गाली दे डाली और सुलगता हुआ बैठा रहा, लेकिन कौशल्या बड़े सब्र के साथ 'हिंदी की विभूति' और उसके शुभ-चिंतक का मन बहलाये रही।

पूरे एक घंटे बाद बंगाली युवक दो ख़ासी देहातियों के साथ नमूदार हुआ। उसने आकर बताया कि गाँव के सारे मर्द किसी मीटिंग में भाग लेने चले गये हैं और ये लोग बड़ी मुश्किल से तीन रुपये पर आने को राजी हुए हैं।

मुझे साफ़ लग रहा था कि तीन रुपये फोकट में जा रहे हैं, लेकिन कोई चारा नहीं था। मैं उठा और उनके पीछे-पीछे उसी रास्ते पर फिर चल दिया।

उन ख़ासी देहातियों में एक युवक था और दूसरा वृद्ध। युवक मँझोले कद का हृष्ट-पुष्ट और सुंदर था। आम ख़ासी युवकों की तरह उसने पैंट-कमीज़ पहन रखी थी। बुड्ढा नेकर-कमीज़ पहने था। उसके चेहरे पर उमर ने गहरी लकीरें खींच दी थीं, जिनसे उसकी कठोरता काफ़ी बढ़ गयी थी। दोनों की कमर में दाँव (खुखरियाँ) खुसे थे और वे आपस में कुछ खुसर-फुसर किये जा रहे थे।

वह बंगाली युवक चौधरी साहब के साथ लगा-लगा चल रहा था। रह-रहकर उसकी निगाहें उनकी खुखरियों पर जातीं और जब वे आपस में खुसफुसाते तो वह चौधरी साहब के कान में कुछ खुसफुस करने लगता।

जब वह पेड़ों की वह हरी पंक्ति और नाला पार कर फिर उसी सिर-कटी सड़क पर पहुँचे तो मैंने चौधरी साहब से पूछा कि वह बंगाली क्या कहता है?

'इस लड़के का कहना है', चौधरी साहब ने कहा, 'कि हमें होशियार रहना चाहिए। यह हमारे कहने के मुताबिक इन्हें ले तो आया है, पर कहता है कि आगे सुनसान जंगल है, ऐसे में ये लोग अनजान मुसाफ़िरों को मार-काटकर लूट लेते हैं।'

ख़ासी युवक मुझे एकदम सरल और भोला लगता था। वह हत्यारा अथवा डाकू हो सकता है, उसकी आकृति से इसका ज़रा भी आभास न मिलता था। हाँ, बुड्ढा ज़रूर बर्बर और कठोर दिखायी देता था। उस बंगाली युवक का रंग उड़ा जा रहा था। चौधरी साहब (शायद हिंदी की इस विभूति ही के कारण) घबराये हुए थे।

मैंने उन्हें तसल्ली दी कि हम चार आदमी हैं, ये दो हैं, हथियारों से लैस ही सही, पर हम चारों को मार डालेंगे, ऐसा नहीं हो सकता। अब हम गुफा देखे बिना तो वापस नहीं जायेंगे। आप फ़िक्र न कीजिये मैं ऐसा प्रबंध कर दूँगा कि ये लोग चाहेंगे तो भी कुछ न कर पायेंगे।

हमारे साथी कुछ नही बोले और सिर झुकाये साथ-साथ चलने लगे। जब हम उन घने पेड़ों और आदमकद सरकंडों में से होकर चलने लगे तो मैंने ख़ासी युवक से आगे चलने को कहा, उसके पीछे कौशल्या, फिर चौधरी साहब, फिर वह 'बंगाली गाइड', उसके पीछे बुड्ढा और सबसे पीछे—उन सब पर नज़र रखता हुआ—मैं। 'ख़ासियों की ज़रा-सी हरकत का भी पता चल जायेगा', मैंने चौधरी साहब को तसल्ली दी, 'आप घबराइये नहीं।'

हम चंद ही कदम चले होंगे कि बुड्ढा आगे से निकलकर पीछे को पलटा। बंगाली युवक का रंग फ़क हो गया। चौधरी साहब तनिक रुके...

'क्या बात है?' मैंने बुड्ढे ख़ासी से पूछा।

बुड्ढे ने हाथ के इशारे से कहा कि आप लोग चलिये।

लेकिन मेरे साथी आगे बढ़ने में झिझक रहे थे। ख़ासी युवक और कौशल्या आगे निकल गये थे कि मैंने आवाज़ देकर उन्हें रुकने को कहा।

लेकिन मेरे साथियों का भय निराधार था। वह ग़रीब कुछ परे जाकर सरकंडों में लघुशंका को बैठ गया।

जी हुआ जोर का एक ठहाका लगाऊँ, लेकिन चौधरी साहब नाराज़ न हो जायें, इस ख़याल से पूरे संयम के साथ अपने आपको हँसने से रोके रहा।

बुड्ढा फिर अपनी जगह आ गया तो हम चल पड़े और जैसा कि मेरा ख़याल था, जहाँ से हम उस बंगाली युवक के भयभीत होने पर मुड़े थे, गुफा उस जगह से केवल तीन-चार गज़ आगे थी। एक बार तो जी हुआ कि अपने आगे खड़े उस बंगाली युवक को उठाकर गुफा में झोंक दूँ—उसके 'पथ-निर्देश' के लालच में शिलांग से टैक्सी की पिछली सीट पर ठुँसे आये, इतना समय बर्बाद हुआ, बेकार में थके और उन तीन गज़ों के पथ-निर्देश के लिए तीन रुपये की डज़ पड़ गयी। लेकिन ग़ुस्से को पीकर, दूसरों के साथ मैं भी गुफा देखने लगा।

वह न अजंता-एलोरा की गुफाओं-सी ऐतिहासिक थी, न शिल्पियों द्वारा काटकर ही बनायी गयी थी और न वह अमरनाथ की प्राकृतिक गुफा-सी विशाल थी। लगता था, पानी ने अंदर-ही-अंदर रिस-रिसकर गहरी लम्बी खोह बना दी है। उसका इधर का मुहाना काफ़ी बड़ा था। पानी ने कदाचित दूसरी ओर छोटा-सा मार्ग निकाल लिया होगा, जिसे उस बंगाली युवक ने उधर से देखा होगा। सूखे नालों में जैसे ऊबड़-खाबड़ पत्थर पड़े रहते हैं, इसी तरह उसमें भी बड़े-बड़े, गोल-नुकीले, चिकने, खुरदरे पत्थर पड़े थे और ऊपर छत से पानी के निरंतर प्रवाह से शताब्दियों में तरशे हुए कई रंगों और आकारों के पत्थर मानो लटके हुए थे। जब मूसलाधार वर्षा होती होगी तो पानी पहाड़ से रिसकर धाराओं का रूप धारण कर लेता होगा। न जाने कितनी सदियों में पानी ने यह लम्बी, अँधेरी, बीहड़ गुफा बना दी थी। हम न तो इंजीनियर थे और न पत्थरों की बनावट और रंगों का हमें प्राविधिक ज्ञान था। गुफा में अँधेरा था और हमारे पास टॉर्च नहीं थी। उस वक्त ख़याल आया—काश शिलांग ही में चौधरी साहब ने इस बीहड़ गुफा के बारे में बताया होता और हम एक बड़ी टॉर्च साथ लाये होते! तब हम इसकी छत में लटकते पत्थरों के रंगों का लुत्फ़ उठाते और इनके अंदर जाकर दूसरी ओर से निकलने का प्रयास करते। हमारे साथी उस विशाल अजगर के भयानक जबड़े-जैसे गुफा के मुहाने से बाहर निकलने को उतावले थे। सो, हम उसकी प्रशंसा करते हुए लौट पड़े। लगता है हमारे उस बंगाली पथ-प्रदर्शक ने उस तरफ़ वाला गुफा का छोटा मुँह ही देखा होगा और किसी भीमकाय राक्षस के भयानक मुख-जैसा इधर का दहाना देखकर वह मारे भय के पलट पड़ा होगा।

डामुम के किनारे उस जगह वापस आकर, जहाँ ख़ासी तरुण नेज़ा चलाने का अभ्यास कर रहे थे, मैंने शरारतन उस ख़ासी युवक के हाथ पर एक रुपया टिका दिया।

उसकी बड़ी-बड़ी आँखें फैल गयीं।

'भगवान क्या बोलेगा!' उसने दोनों हाथ उठाकर बड़े भोलेपन से अस्फुट स्वर में कहा और इशारे से समझाया कि तीन रुपये से कम लेने पर उसका भगवान

नाराज हो जायेगा।

यह पहला हिंदी वाक्य था, जो मैंने किसी ख़ासी के मुँह से सुना और मुझे बड़ी खुशी हुई।

'तुम्हारा भगवान कुछ न बोले, इसलिए...'

और मैंने उसके हाथ पर दो और रुपये रख दिये। फिर मैं अपने बंगाली भगवान की ओर पलटा और उससे प्रार्थना की कि वह अब वापसी पर कृपा कर, हमें रामकृष्ण मिशन तो दिखा दे, जिसमें कि अपने कथनानुसार वह तीन महीने तक रह आया है।

वह सहर्ष तैयार हो गया, क्योंकि वास्तव में उसे रामकृष्ण मिशन ही जाना था, और यह सब नाटक शायद उसे ड्राइवर के सिखाने पर करना पड़ा था, जो उसे सस्ते में (कदाचित चाय-पानी की व्यवस्था के निमित्त) हमारी ही टैक्सी में ले आया था।

वापसी पर वह हमारे साथ नहीं आया और कौशल्या अगली सीट पर तथा मैं और चौधरी साहब मजे से पिछली सीट पर बैठे आये।

कालिम्पोंग 5 जुलाई, 61

यह पत्र मैंने तुम्हें एक महीना पहले पीक होटल, शिलांग में लिखना शुरू किया था, लेकिन पूरा नहीं कर सका था कि कौशल्या बाजार से आ गयी थी। इसे ख़त्म करने का अवसर नहीं मिला। शिलांग से गौहाटी होता हुआ कामाख्या देवी के दर्शन कर, मैं कालिम्पोंग आ गया। दूसरे ही दिन बुख़ार हो आया। सात दिन बुख़ार से पड़ा रहा। कौशल्या ने लाख चाहा कि वापस इलाहाबाद चलूं, वहाँ आराम करके नैनीताल जाऊँ और 'शहर में घूमता आईना' पूरा करूँ। लेकिन मैं यहीं रह गया हूँ। इस पत्र के पहुँचने के साथ कौशल्या इलाहाबाद पहुँच जायेगी। मैंने यहीं एक बँगला किराये पर ले लिया है। उमेश की बहू को आने के लिए लिख दिया है। अब मैं अपना उपन्यास ख़त्म करके ही लौटूंगा। ईओसिनोफ़ीलिया अब भी है, लेकिन उससे डरकर मैं इलाहाबाद आ जाऊँगा तो इस वर्ष उपन्यास नहीं लिख पाऊँगा। 1957 में शुरू किया था; '61 होने को आया है; टलता गया तो टल ही जायेगा और मुझे तो अभी इसके तीन खंड और लिखने हैं।

यहाँ के हाल-चाल कौशल्या देगी, तुम इलाहाबाद के समाचार देना। मित्रों को मेरी याद दिलाना। आशा है, तुम स्वस्थ और सानंद हो और हमेशा की तरह साइकिल से इलाहाबाद की पसलियों को रौंदते हुए दिन-रात घूम रहे हो।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

एकांकी

साठ वर्षों की साहित्य-यात्रा के दौरान अश्कजी ने चौदह बड़े नाटकों के अलावा पचास से अधिक एकांकी नाटक भी लिखे हैं। इतनी बड़ी संख्या में इतने लोकप्रिय एकांकी हिंदी के किसी और नाटककार ने शायद नहीं लिखे, इसीलिए इस संकलन के लिए उनके एकांकी चुनते समय सबसे बड़ी कठिनाई यही रही कि किसे रखा जाये और किसे छोड़ा जाये। अश्कजी के एकांकियों की वही विशेषता है, जो उनके पूरे साहित्य की—पैनी दृष्टि, चुभता हुआ व्यंग्य, यथार्थवादी प्रगतिशील नज़रिया, अनुभवों की विपुलता और गहरी-से-गहरी बात को सरल-से-सरल शब्दों में कहने की कला। चूँकि अश्कजी अपने आरंभिक जीवन में स्वयं रंगमंच से जुड़े रहे हैं, इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों में मंचीयता का ख़ास ख़्याल रखा है। यही कारण है कि अश्कजी के एकांकी पिछले तीस वर्षों के दौरान देश-विदेश में जगह-जगह खेले गये हैं और ग़ैर-व्यावसायिक रंग-मंडलियों, स्कूलों-कॉलेजों, रेडियो तथा टेलिविजन पर प्रस्तुत किये जाकर अत्यंत लोकप्रिय हुए हैं।

यहाँ उनके आठ चुने हुए एकांकी संकलित हैं, जो उनके एकांकी-नाटकों की विविध शैलियों का परिचय देते हैं। 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' में अगर शुद्ध हास्य के तो 'अधिकार का रक्षक' में तीखा व्यंग्य, 'मैमूना' अगर मार्मिक ट्रैजेडी है तो 'तौलिए'—एक दिलचस्प लेकिन गहरी, घरेलू झाँकी। इनमें से आठवाँ एकांकी—'पड़ोसिन का कोट'—उन नये एकांकियों में से है, जो अश्कजी ने हाल में एक अर्से बाद लिखे हैं और 'मुखड़ा बदल गया' के नाम से छपे हैं। 'पड़ोसिन का कोट' आज के विषम समाज की एक जीती-जागती तस्वीर है, जिसे अश्कजी ने गहरे व्यंग्य के साथ उकेरा है।

पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ

पात्र

भगवन्त : क्लब का व्यवस्थापक। तानाशाही तबीयत, तेज़ और रौबीला व्यक्तित्व।

दयाराम : निर्देशक—धीर, गंभीर, कठिनाई के समय भी न घबराने वाला, लेकिन बेपरवाह।

श्याम : क्लब का ऐसा सदस्य, जिसे कोई पार्ट नहीं मिला, पर जो अभी तक डायरेक्टर से चिपका है कि शायद कोई चांस निकल आये—स्वर में मिसकीनी और प्रत्येक सेवा के लिए तत्पर।

हरि, धनपति, सूत-पुत्र, मानसिंह : अभिनेता—क्लब के साधारण सदस्य।

चुन्नीलाल : अभिनय के शौकीन एक बहुत मोटे युवा सेठ।

पीड़ितजी : कवि।

रामगुलाम : चपरासी।

रामकिशुन : चपरासी का रिश्तेदार !

महारानी, दासी : दोनों भूमिकाओं में काम करने वाले सदस्य। प्रॉम्प्टर, दर्शक आदि...

पहला दृश्य

पर्दा उठने पर जो रंगमंच दिखायी देता है, वह बड़ी अव्यवस्थित दशा में है। सामने कुछ पर्दे, विंग तथा नाटक संबंधी दूसरा सामान पड़ा है। एक ओर काउच का सेट और कुर्सियाँ रखी हैं। दूसरी ओर पुराने ज़माने का सिहासन और आसनादि गडमड पड़े हैं। एक कोने में बड़े-

बड़ कमान, तूणीर और दो गदाएं पड़ी हैं। खाली जगह में एक मेज रखी है, जिसकी कुर्सी उसकी उल्टी ओर को है। भगवन्त मेज की ओर पीठ किये दर्शकों के सामने बैठा है। उसके हाथ में एक चिट्ठी है, जिसे वह पढ़ रहा है। उसके दांयी ओर एक व्यक्ति अदब से जरा-सा झुका खड़ा है। पर्दा धीरे-धीरे उठता है।

भगवन्त : (क्षण भर पढ़कर क्रोध से चिट्ठी वापस देते हुए) नहीं, नहीं, नहीं, मैं यह नहीं कर सकता। फ्री पासों के संबंध में अपना मत मैं एग्ज़ेकिटिव की मीटिंग में दे चुका हूँ। पहले दिन फ्री पास देने के मैं एकदम विरुद्ध हूँ। तुम यह चिट्ठी दयारामजी को दे दो। वे चाहें तो फ्री-शो रख दें। मेरे लिए यह संभव नहीं।

व्यक्ति मुंह लटकाये हुए वापस जाने को तैयार होता है, श्याम हाथ में एक रुक्का लिये घबराया हुआ प्रवेश करता है।

भगवन्त : क्यों, क्यों, बात क्या है श्याम ! ऐसे घबराये हुए क्यों हो ?

श्याम : यह देखिये भगवन्तजी, शाम को कंसर्ट होने वाली है और बलबीर ने यह चिट्ठी भेज दी है। (रुक्का भगवन्त को देता है।)

भगवन्त : क्या लिखा है ? (चिट्ठी लेकर जल्दी-जल्दी पढ़ता है) मुझे अचानक इन्फ्लूएंज़ा ने आ घेरा है, 103 टेंप्रेचर है और सख्त सिर-दर्द। एस्प्रो ली है, पर कुछ बना नहीं। कल भीगते पानी में जो रिहर्सल को आया और गीले कपड़ों में रिहर्सल करता रहा तो लगता है कि सर्दी खा गया। कोशिश तो बड़ी करूँगा पर शायद ही रात के नाटक में भाग ले पाऊँ। (चिट्ठी खत्म करके मुंह चिढ़ाकर) शायद ही नाटक में भाग ले पाऊँ। अरे, तुम्हारे इस शायद से यहाँ तो बंटाढार हो जायेगा। (चिट्ठी को हथेली में तोड़-मरोड़कर क्रोध से धरती पर फेंक देता है) रात को नाटक है और मुख्य कलाकार को इन्फ्लूएंज़ा ने आ घेरा है। शिकार सामने पड़ा तो कुतिया को हाजत हो आयी। कम्बख्त इन ऐमेचर क्लबों की यही तो मुसीबत है। पहले तो अच्छे ऐक्टर ही न मिलेंगे। फिर किसी तरह ऐक्टर जुटे तो सभी 'हीरो' बनना चाहेंगे। इस मुश्किल से पार हुए, पार्ट बँटे तो रिहर्सल टाइम से न होंगे। रिहर्सल हो जायेंगे और कहीं रोते-झीखते नाटक खेलने की नौबत आयेगी तो सभी पास चाहेंगे—अपने और अपने संबंधियों के लिए ही नहीं, उनके साले-बहनोइयों के लिए भी ! न देंगे तो किसी को इन्फ्लूएंज़ा आ दबायेगा; किसी को ऐन मौके पर टाइफ़ायड हो जायेगा। किसी के पैर को मोच आ जायेगी; किसी की टाँग टूट जायेगी; किसी की

माँ बीमार हो जायेगी, किसी का बाप...

श्याम : वह तो है जी, पर एमेचर क्लबों को कोसने से तो रात कंसर्ट न हो जायेगी। यह कहिये कि अब किया क्या जाय ? पासों ही की बात हो तो मैं हो आऊँ उसके यहाँ।

भगवन्त : बीस पास माँगते हैं। बीस उनको दोगे तो बाकियों को क्या दोगे ! जो लड़के स्त्रियों का पार्ट कर रहे हैं, वो तो चालीस-चालीस माँगेंगे। फिर क्लब के सदस्य और सरपरस्त ?...होगा यह कि पासों पर इतने लोग आ जायेंगे कि टिकट लेकर आने वालों के लिए हॉल में जगह न रहेगी।

श्याम : तो भाई साहब, यह बात मैं जाकर उसको समझा दूँगा। बलबीर के बिना कंसर्ट चौपट हो जायेगी।

भगवन्त : चौपट कैसे हो जायेगी, बलबीर का पार्ट हरि कर लेगा। पहले उसे ही युधिष्ठिर बना रहे थे। उसने पार्ट याद भी कर रखा है।

श्याम : और हरि का...

भगवन्त : हरि का दीवान कर लेगा।

श्याम : लेकिन इस अदला-बदली की जरूरत क्या है भाई साहब ? मैं एक बार बलबीर को जाकर...

घबराया हुआ हरि प्रवेश करता है।

हरि : **(आते हुए घबराये स्वर में)** बलबीर को तो इन्फ़्लूएंज़ा हो गया है। मैं अभी उसी के यहाँ से आ रहा हूँ। उसे तो 103 टेंप्रेचर है।

भगवन्त : पासों का इन्फ़्लूएंज़ा तो नहीं ?

हरि : नहीं, नहीं भाई, वह बुरी तरह बीमार पड़ा है। मैं गया तो डॉक्टर बैठा था। पासों के बारे में जो बात आपने कही थी, मैंने उसे समझा दी थी और वह पाँच पास लेने को तैयार भी हो गया था, पर रात जब वह रिहर्सल के बाद यहाँ से गया, तो कुछ सर्दी की शिकायत कर रहा था। सुबह उठा तो उसका अंग-अंग टूट रहा था। टेंप्रेचर देखा तो—103 !

श्याम : **(हताश भाव से दोनों हाथ फैलाते हुए)** अब ?

भगवन्त : **(सोचते हुए)** बलबीर का पार्ट हरि करेगा...और हरि का दीवान और शेष के लिए...दयारामजी से पूछो। यह आग उन्हीं की तो लगायी है।

श्याम : लीजिये, वो लोग तो इधर ही आ रहे हैं।

दयाराम चंद अभिनेताओं के साथ प्रवेश करते हैं।

: दयारामजी, अब आप ही इस समस्या का कोई हल निकालिये।

दयाराम : क्या हुआ भाई ?

आकर भगवन्त के सामने काउच की बाँह पर बैठ जाते

हैं। उनके साथी कुछ कुर्सियों पर बैठते हैं, कुछ काउच और आसनों पर। सेठ चुन्नीलाल जाकर सिहासन पर बैठ जाते हैं और हाथ बढ़ाकर कोने से गदा उठा, उसे कंधे पर रख लेते हैं।

भगवन्त : { तीनों एक- } हुआ क्या, कंसर्ट का बंटाढार हो गया।
श्याम : { दूसरे के बाद } बलबीर को इन्फ़्लूएंज़ा हो गया है।
हरि : { जल्दी-जल्दी } 103 टेंप्रेचर है।

भगवन्त : जहँ-जहँ पैर पड़ें संतन के, तहँ-तहँ बंटाढार। मैंने पहले ही कहा था कि इन बलबीर महाशय को कष्ट न दो। ये जिस क्लब में गये हैं, उसे ले डूबे हैं। तुम कहते थे बड़ा अच्छा ऐक्टर है। लो, अब कराओ ऐक्टरी ?

दयाराम : अरे भाई बीमारी-उमारी किसी के बस की है, तुम-हम ही बीमार हो सकते हैं।

भगवन्त : तो अब कंसर्ट का क्या किया जाय ?

दयाराम : **(जिन्होंने पहले कई कंसर्ट देखे हैं और इन बाधाओं के अभ्यस्त हैं, चुटकी बजाते हुए)** देखो, अभी सब किये देते हैं। बलबीर कर रहा था धर्मपुत्र का पार्ट, सो वह हरि कर लेगा। क्यों हरि, तुम्हें तो याद है ?

हरि : आप कहेंगे तो कर लूंगा। यों मैंने अपना पार्ट अच्छी तरह याद कर रखा है और अब तो वह मुझे पसंद भी है।

दयाराम : तो भाई अब तुम अपने को अर्जुन के बदले धर्मपुत्र युधिष्ठिर समझो।

हरि : अर्जुन का पार्ट कौन करेगा ?

दयाराम : अर्जुन का पार्ट कर लेगा दीवान। वह चाहता भी था अर्जुन का पार्ट करना।

धनपति : **(जो काउच पर बड़े इत्मीनान से बैठा है सहसा उठकर)** मैं कहना भूल गया, दीवान के गांव से तार आया है, उसकी दादी सख़्त बीमार है।

भगवन्त : शुक्र है मर नहीं गयी।

धनपति : **(अपनी बात पूरी करते हुए)** वह आज रात की गाड़ी से जा रहा है।

श्याम : लीजिये, अब धर्मपुत्र ही का नहीं, भीम का भी प्रबंध कीजिये।

भगवन्त : **(हँसकर)**

इब्तदाए इश्क है रोता है क्या
आगे-आगे देखिये होता है क्या।

अभी तो सुबह है, शाम होते-होते देखिये और किस-किस का प्रबंध

करना होता है। इसीलिए मैंने कहा था कि या तो ड्रेस-रिहर्सल में क्लब के सदस्यों, सरपरस्तों, अभिनेताओं और उनके सगे-संबंधियों को बुला लो या एक दिन उनके लिए निश्चित रूप से नियत कर दो।

दयाराम : तुम यों ही झींकने लगते हो भगवन्त ! ड्रेस-रिहर्सल आख़िर है तो रिहर्सल ही। असली नाटक जैसी दक्षता तो उसमें आ नहीं सकती। कहीं यदि कोई पार्ट अच्छा न हुआ तो सारे शहर में ढिंढोरा पिट जायेगा। और देखे विना ही लोग उसके विपक्ष में हो जायेंगे। एक दिन इन लोगों के लिए रखने के विरुद्ध मैं न था। मैं सिर्फ़ यह कहता था कि वह पहला दिन नहीं हो सकता।

श्याम : तो अव दीवान की जगह किसको देंगे और हरि की किसको ? आप अर्जुन ही की सोच रहे थे, यहाँ भीम भी ग़ायब है।

दयाराम : अर्जुन के लिए सोच करना है। भीम के लिए तो...भीम के लिए तो... **(सहसा उनकी खोजती हुई दृष्टि सिंहासन पर बैठे हुए गदाधारी सेठ चुन्नीलाल पर पड़ती है और वे प्रसन्न हो उठते हैं)** हमारे सेठ चुन्नीलाल हैं। चुन्नीलाल तो बने-बनाये भीम हैं। दीवान तो भीम के लायक था भी नहीं। मैं तो पहले ही सेठजी से कहता था कि आप ही भीम बनिये। कहाँ दीवान और कहाँ हमारे सेठजी। एक तिनका और एक **(उन्हें नख-से-शिख तक देखते और हाथ फैलाते हुए)** पहाड। **(हँसते हैं)** क्यों सेठजी !

चुन्नीलाल : **(प्रसन्न, पर घिघियाते हुए-से)** नहीं भाई, अपने राम ने पहले कभी स्टेज पर पार्ट नहीं किया। हम भीम के रूप में घबरा जायेंगे। हमें वह अपना छोटा-सा चोबदार का पार्ट पसंद है। हमसे यह दंगल-बंगल न होगा।

हरि : **(जाकर उनकी पीठ थपथपाते हुए)** अरे नहीं यार, घबराता क्यों है ? तू तो बना-बनाया भीम है। वस जरा संवाद रट ले और फिर भूल भी गया तो 'प्रॉम्प्टर' तो रहेगा ही।

चुन्नीलाल : अरे नहीं भाई, तू ठहरा मँजा हुआ ऐक्टर। मैं कभी स्टेज पर आया ही नहीं। मुझे तो वही अपना चोबदार का पार्ट पसंद है, जिसमें सिर्फ़ एक ही दो शब्द कहने हैं। 'जी महाराज' और जो आदेश' और एक ही वाक्य है, 'महाराज, मालती को महारानी ने भू-गृह में बंद करने का आदेश दे रखा है।' यह मुझे अच्छी तरह याद है। भीम का पार्ट मेरे वस का नहीं।

दयाराम : अरे नहीं सेठजी, आप घवराते क्यों हैं ! पूरा दिन पड़ा हुआ है। रट डालिये पार्ट और दुर्योधन को लेकर चार-छह रिहर्सल कर डालिये। घबराइये नहीं। ऐसा ट्रेंड कर दूँगा आपको कि सब वाह-वाह कह उठें।

हरि : अरे भाई नाचने लगी तो घूँघट कैसा ? जहाँ सौ, वहाँ सवा सौ। ओखली में सिर दिया तो मूसलों का कौन डर ? जब स्टेज पर आ गये तो एक वाक्य हुआ तो क्या और सौ हुए तो क्या !

दयाराम : और फिर सेठजी 'प्रॉम्प्टर' तो वहाँ होगा ही। भूल गये तो उसी वाक्य को जरा-सा दोहराते हुए, नेपथ्य के पास आये। तनिक खाँसने का अभिनय किया, 'प्रॉम्प्टर' से संवाद सुना और बढ़कर कह दिया। इसमें घबराने की कौन बात है !

चुन्नीलाल : अच्छा, आप लोग कहते हैं तो ले लेता हूँ। मैं कभी स्टेज पर आया नहीं, इसलिए डरता हूँ। आप 'प्रॉम्प्ट' कर देंगे तो कर लूँगा।

हरि : वाह ! यह बात है मेरे शेर की !

भगवन्त : खैर, भीम का तो हो गया, धर्मपुत्र का पार्ट हरि कर लेगा। हरि की जगह अर्जुन का पार्ट कौन करेगा ?

श्याम : अ...अ...यदि आप मुझे आज्ञा दें तो मैं...

भगवन्त : **(खुशी से)** तुम करोगे ?

श्याम : **(विनम्र अभिमान से हँसते हुए)** मैं तो अर्जुन का पार्ट करना ही चाहता था। पार साल 'अभिमन्यु-वध' में मैंने ही अर्जुन का पार्ट किया था। आप लोगों ने मुझे इस योग्य नहीं समझा तो मैंने अपने-आप को दूसरी सेवाओं में लगा दिया।

भगवन्त : तुमने हमसे नहीं कहा ! किसने की थी आपत्ति तुम्हारे अर्जुन बनने पर ?... **(फिर यह याद आने पर कि उन्होंने स्वयं की थी)**... खैर, हटाओ जी। तुम अर्जुन का पार्ट याद कर लो।

श्याम : मुझे अच्छी तरह याद है। अर्जुन का ही नहीं, मुझे तो नाटक के सारे-के-सारे पार्ट याद हैं।

दयाराम : चलिये, यह सब तय हो गया। अब आप चलकर रिहर्सल कर लीजिये।

भगवन्त : लेकिन चोबदार का पार्ट कौन करेगा ? सेठजी तो भीम बन गये। वह तो एकांकी ही चोबदार से आरंभ होता है।

दयाराम : अरे चोबदार के पार्ट में क्या रखा है। कोई भी कर लेगा।

भगवन्त : नहीं भाई, इस असमंजस से काम न चलेगा। किसी आदमी को उस पार्ट के लिए निश्चित रूप से नियत करना होगा। पर्दा उठते ही तो एकांकी में पार्ट है उसका।

दयाराम : अरे हटाओ यार, दे देंगे किसी को। और कोई न मिला तो क्लब के चपरासी को दे देंगे। चोबदारी करते-करते उसकी उमर घिस गयी। वह न हुआ तो माली को दे देंगे। उस पार्ट में रखा क्या है।

भगवन्त : नहीं भाई इस 'किसी को भी देने' का मैं कायल नहीं।

दयाराम : अच्छा बुलाओ चपरासी को। **(आवाज देते हैं)** रामगुलाम !

रामगुलाम !

कोई आवाज़ नहीं आती।

दयाराम : अरे श्याम, ज़रा देना आवाज़ भाई।

बायीं ओर नेपथ्य के पास जाकर आवाज़ देता है।

रामगुलाम : (नेपथ्य से आता हुआ) जी...जी...!

श्याम : चलो, तुम्हें दयारामजी बुलाते हैं।

रामगुलाम : (प्रवेश करते हुए) जी बाबूजी।

दयाराम : देखो भाई रामगुलाम, हमारा एक ऐक्टर कम हो गया है। तुम ज़रा उसकी जगह दो-चार शब्द कह दो। तो हमारी चिंता मिट जाये।

रामगुलाम : हम अबहीं कहि देत हैं बाबूजी, आप तनिक हमका समुझा के कहि तो देव कि के से काब कहबइ।

दयाराम : अरे किसी से क्या कहना है। रात को यहाँ कंसर्ट होने वाली है न ?

रामगुलाम : जी बाबूजी समुझि गये। सभा होइ न ?

दयाराम : हाँ, हाँ, उसी में थियेटर होगा। तू उसमें काम करेगा ?

रामगुलाम : हाँ, हाँ बाबूजी, आप जो हुकुम दैहैं ओकर राजी-खुसी से करि सकित हैं। आपके नौकर ठहरे सरकार।

दयाराम : हमारे नाटक में काम करने वाला एक आदमी बीमार हो गया है। उसकी जगह तुम ले लो।

रामगुलाम : का करैं होइ सरकार ?

दयाराम : (साभिनय समझाते हैं) यह जीवनरामजी नाटक में राजा मानसिंह बने होंगे। तुम्हें आवाज़ देंगे...'चोबदार...चोबदार !' तुम तत्काल आकर बोलना—'जी महाराज !' महाराज कहेंगे—'बताओ मालती कहाँ है ?' तुम कहना—'महाराज मालती को महारानी ने भू-गृह में बंद करने का आदेश दे रखा है।' महाराज बोलेंगे—'जाओ, कोतवाल से कहो, उसे हमारे सामने पेश करें।' तुम कहना—'जो आदेश।' बस !

रामगुलाम : का—! ई हमसे न होइ सके सरकार।

दयामाम : अरे इसमें क्या है। क्यों हो न सकेगा। चार आने पान-तमाखू के लिए दे देंगे।

रामगुलाम : वइसे तो हम आपके नौकर हैं सरकार, लेकिन कबहूँ नाटक-फाटक नाहिन कीन है सरकार, एसे माफी दीन जाय बाबूजी। ई भँड़इती हमसे न होइ सके न बाबूजी।

दयाराम : अरे यह भँड़ैती है ! हम सभी पार्ट कर रहे हैं।

भगवन्त : अरे इससे न होगा। तुम भी दयाराम, स्यार से सिंह मरवा रहे हो यार। यह काम किसी पढ़े-लिखे से ही होगा।

दयाराम : क्यों भाई श्याम किसी और को तजवीज़ते हो ?

श्याम : किसी राजे-वज़ीर का पार्ट होता तो चार आदमी तैयार हो जाते। चोबदार का पार्ट कौन करे ? पहले ही कोई तैयार न होता था। वह तो हमारे सेठजी की उदारता है कि इतने बड़े धनाधीश होते हुए भी उन्होंने एक चोबदार का पार्ट ले लिया।

चुन्नीलाल : (ही...ही कर हँसते हुए) इसमें उदारता की क्या बात है ? यह तो स्पोर्ट्स-मैनशिप है।

भगवन्त : (कटुता से) पर यह स्पोर्ट्समैनशिप हमारे यहाँ किसी में नहीं। (ज़ोर से सबको संबोधित करते हुए) क्यों भाई, है तुममें से कोई, जो चोबदार का पार्ट करे !

धनपति : गनपति चोबदार का पार्ट लेने को तैयार थे...

दयाराम : कहाँ है गनपति ?

धनपति : जब आपने चोबदार का पार्ट सेठजी को दे दिया तो वे अपनी ससुराल चले गये।

सब हँस पड़ते हैं।

: (खिन्न होकर) नहीं, नहीं, ससुराल तो उनको जाना ही था। वह तो इसी नाटक के कारण...

दयाराम : (जिन्हें अचानक तरकीब सूझ गयी है। चुटकी बजाकर) वाह ! अभी प्रबंध कर देते हैं चोबदार का (रामगुलाम से) क्यों बे राम-गुलाम, तू एक छोकरे को लाया था कि कहीं उसे चपरासी भरती करा दिया जाये। (उसको चुप देखकर) अरे वही जो मैट्रिक फ़ेल था।

रामगुलाम : आप किसुनवाँ का चरचा करत हैं का ?

दयाराम : हाँ, हाँ वही रामकिशुन। कहाँ है वह ?

रामगुलाम : हेई कलब में हमरे घरा तो अहै।

दयाराम : ज़रा बुला ला उसे।

रामगुलाम : जो हुकुम सरकार ! (चला जाता है।)

दयाराम : आप तो सेठजी अब रुकिये नहीं, हरि को साथ ले लीजिये और भीम का पार्ट देख डालिये। आपके संवाद तो शुरू ही में हैं। सो आप रट डालिये।

चुन्नीलाल : जी यों तो आपकी दुआ से रोज़ रिहर्सल देखते-देखते पार्ट मुझे याद हो गया है। (गदा कंधे पर लिये झूमते-झामते सिंहासन से उतरते हैं) 'दुर्योधन ! षंड...पाषंड (पदाघात) यदि मैंने तेरी इसी जंघा को अपनी गदा के प्रबल प्रहार से चूर्ण-विचूर्ण कर, तेरा अहंकार न तोड़ा—तो मेरे कुंती-पुत्र होने पर धिक्कार है।'

दयाराम : वाह सेठजी, दीवान कम्बख़्त आपका क्या मुकाबला करता। अब

आप जाकर सारे पार्ट को भाव-भंगिमाओं सहित रिहर्सल कर डालिये। ले जाओ भाई हरि, सेठजी को ! और तुम भी अपना नया पार्ट रिहर्सल कर डालो।

हरि : आइये सेठजी।

सेठजी, हरि और दूसरे कुछ अभिनेता चले जाते हैं। रामगुलाम किशुन को लेकर आता है।

रामकिशुन बीस-एक वर्ष का हृष्ट-पुष्ट, अक्खड़ देहाती है। नौकरी उसकी अभी लगी नहीं और इसलिए उसने अभी न अदब सीखा है, न खुशामद, और गाँव के छुट्टे साँड़-सा मरकहा और स्वच्छंद है।

रामगुलाम : ई, आय गवा किसुनवा सरकार।

दयाराम : देखो भाई किशुन, एक काम है तुम्हारे लिए।

किशुन : जो कहें कर सकित हैं।

दयाराम : तुम हिंदी-विंदी जानते हो ? पढ़े हो न मैट्रिक तक !

किशुन : जी, जानित हैं।

दयाराम : देखो, बात यह है कि रात को हम एक छोटा-सा नाटक करने जा रहे हैं। हमारा एक अभिनेता बीमार हो गया है। छोटा-सा चोबदार का पार्ट है, तुम कर लो तो तुम्हें कुछ पान-पत्ते को पैसे दे दें। कभी नाटक-वाटक किया है तुमने ?

किशुन : जी ! गाँव के नाटक में कई बार पार्ट करि चुका अही।

दयाराम : तो बोलो !

किशुन : देइहैं का ?

दयाराम : अरे चार आने दे देंगे पान-पत्ते के लिए।

किशुन : चार आने ! जोर की प्यास लगी हो बाबूजी और कोई कहे कि चार आने देंगे पानी पीकर दिखाओ ! तो चार आने पर तो हम पनियों न पियें। चवन्नी में आजकल का होय सकत अहै ?

दयाराम : अरे तो आठ आना ले लेना। ज़रा-सा तो पार्ट है। एक लाइन तो तुम्हें बोलनी है।

किशुन : एक रुपया देव तो करि देब।

दयाराम : एक लाइन का एक रुपया !

भगवन्त : अरे हटाओ यार, देंगे एक रुपया। लेकिन देखो, पार्ट अच्छी तरह याद रखना। पाँच-सात बार रिहर्सल कर लेना। भूलना नहीं !

किशुन : ई तो हमारे बायें हाथ का खेल अहै। गाँव में अइसा-वइसा कितना नाटक कर चुका अही कि...

दयाराम : तो चलो, अब करो रिहर्सल !

सब जाते हैं। पर्दा गिरता है।

दूसरा दृश्य

कंसर्ट आरंभ होने का समय बीत चुका है, लेकिन पर्दे के अंदर पूरा प्रबंध नहीं हो सका, इसलिए दो बार घंटी बज चुकने पर भी पर्दा नहीं उठा। दर्शक शोर मचाने लगे हैं। सीटियाँ, तालियाँ और 'हूटिंग' शुरू हो गयी है। तभी तीसरी घंटी बजती है और पर्दा उठता है।

सामने एक और पर्दा दिखायी देता है जिस पर बड़े सुंदर, सुनहरे, मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है—'प्रयाग कलाकार समिति'[1]

इस पर्दे के बाहर नेपथ्य के निकट ही बायीं ओर को एक माइक्रोफ़ोन रखा हुआ है।

पर्दा उठने के क्षण भर बाद श्री दयाराम बुश्शर्ट और पेंट पहने, हल्की-सी घबराहट में बुश्शर्ट के दामन को दोनों हाथों से ठीक करते हुए, प्रवेश करते हैं और माइक्रोफ़ोन के आगे खड़े हो जाते हैं।

दयाराम : सज्जनो ! आप जिस संख्या में हमारी कंसर्ट देखने आये हैं, उसे देखकर हमारा बड़ा प्रोत्साहन हुआ है। इस कंसर्ट का आयोजन आसाम के भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के लिए किया जा रहा है। हमें आशा है, जैसे आप लोगों ने आज पधारने की कृपा की है, वैसे ही आप कल भी आयेंगे और भूकम्प-पीड़ितों की सहायता के पुण्य के साथ सुंदर अभिनय, कविता, नृत्य, नकल आदि देखने का फल पायेंगे। अभी कुछ ही देर में हम आपके सामने महाभारत का एक ऐसा दृश्य प्रस्तुत करेंगे जो एक ओर मानव की बर्बरता का द्योतक है, तो दूसरी ओर मानव की उच्चता का परिचय देता है। उसके बाद रंगारंग प्रोग्राम होगा, अंत में हमारी समिति के व्यवस्थापक श्री भगवन्त द्वारा लिखित एकांकी 'राजपूतानी' होगा, जो उनके व्यक्तित्व की ही भाँति ओज-भरा है।

अपना नाम लिये जाने के साथ ही नेपथ्य से भगवन्त मंच पर आकर दयाराम के पास खड़ा हो जाता है और मूक अभिनय से बताता है कि जिस व्यक्ति का जिक्र हो रहा है, वह मैं ही हूँ। दयाराम अपना भाषण जारी रखते हैं :

---

1. यहाँ दो पर्दों का होना आवश्यक है। बाहर के पर्दे पर उस क्लब का नाम होगा, जो नाटक करने जा रहा है और अंदर के पर्दे पर 'प्रयाग कलाकर समिति' लिखा होगा। नाटक जिस नगर में खेला जाये, प्रयाग के बदले उसका नाम दिया जा सकता है।

: अभी कुछ क्षण में पर्दा उठता है। तब तक श्री पीड़ितजी अपनी सुंदर कविता से आप का मनोरंजन करेंगे। आइये पीड़ितजी।

एक पतला-दुबला मोटे चश्मे वाला युवक माइक के पास आता है। हाथ में कई कविताएँ हैं कि यदि श्रोता और सुनने का अनुरोध करें तो दिक्कत न हो। दयाराम नेपथ्य में चले जाते हैं।

पीड़ितजी : (**बड़ी अदा से बालों की लटों को पीछे हटाते और 'श' को 'स' और 'व' को 'ब' बोलते हुए**) सज्जनो, मेरी कविता में पीड़ा है, व्यथा है, दर्द है, बिसाद है अबसाद है। आसा है आप उसे पहचानेंगे और सराहेंगे। (**बालों की लटों को पीछे हटाते, भाषण देने के अंदाज में**) सज्जनो ! मैं कविता में किसी 'बाद' का अनुयायी नहीं ! कला को प्रचार का माध्यम मैं नहीं समझता। मेरे निकट कला की साधना कला के लिए होनी चाहिए। कला...

दर्शकों में से एक : भाषण नहीं, कविता...

पीड़ितजी : (**अचकचाकर**) ली...जिये, लीजिये, कबिता ली...जिये ! मेरी कबिता का सीर्सक है—प्रीत का सीत—(**पढ़ते हैं :**)

मर गये प्रीत में !
मर गये प्रीत में—प्रीत के सीत में !

पिछले दर्शकों में से एक : (**सव्यंग्य पूरे हॉल को सुनाते हुए**) लिहाफ़ ओढ़ लेते !

हॉल में ठहाका गूँज उठता है।

पीड़ितजी : मर गये। मर गये !

दर्शक : मर गये, मर गये !

पीड़ितजी : (**जरा ऊँचे**) सुनिये !

दर्शकों में ठहाका।

पीड़ितजी : मर गये प्रीत में,
मर गये प्रीत के सीत में !
मर गये, मर गये !

दर्शक : मर गये, मर गये !

पीड़ितजी : (**ऊँची आवाज में**)

तेरे नयनों की गर्मी कहाँ है यहाँ ?
एक ठंडक में लिपटा है अपना जहाँ।
मर गये सीत में,
मर गये प्रीत में।

दर्शक : मर गये, मर गये,
मर गये, मर गये !

पीड़ितजी : (जोर से) सुनिये ! बड़े दुःख की बात है कि आप लोगों में इतना भी धीरज नहीं कि...

दर्शक : मर गये, मर गये,
मर गये, मर गये,
मर गये, मर गये...

श्री दयाराम सहसा नेपथ्य में से आते हैं और पीड़ितजी का हाथ पकड़, उन्हें लगभग खींचते हुए[1] विंग में ले जाते हैं। दर्शक जोर से ठहाका मार उठते हैं।

दयाराम : (फिर माइक के सामने आकर) सज्जनो ! मैं जानता हूँ, आप नाटक देखने को उत्सुक है। लीजिये, हम अभी आपके सामने नाटक प्रस्तुत करते हैं।

माइक उठाकर बायीं ओर रख देते हैं और विंग में चले जाते हैं। उस समय जब उत्सुकता-भरा सन्नाटा छा जाता है, दायीं ओर का विंग-आधार पीछे को हट जाता है और दयाराम नेपथ्य में पर्दा उठाने का आदेश देने को तैयार खड़े दिखायी देते हैं।

: (पर्दे के पीछे रंगमंच पर बैठे अभिनेताओं को संबोधित करते हुए) सब तैयार हैं ?

सेठ चुन्नीलाल गदा उठाये भीम बने, रंगमंच से भागे आते हैं।

चुन्नीलाल : (घबराये हुए) मैं कहता हूँ दयारामजी, मेरा दिल तो बेतरह धड़क रहा है। आप मुझे चोबदार ही बना रहने देते।

दयाराम : (घबराकर) अरे आप कहाँ भाग आये ! चलिये-चलिये अपनी जगह पर जाकर बैठिये ! पर्दा उठने वाला है। देखिये प्रॉम्प्टर यहाँ बैठा है। (आधे विंग की ओर देखकर) देखो भाई, सो न जाना। ठीक-ठीक प्रॉम्प्ट करना (सेठजी की पीठ थपथपाते हुए) लीजिये, अब जाकर अपनी जगह पर बैठ जाइये। जब दुर्योधन द्रौपदी के संबंध में अपशब्द कहे तो गदा को अपने दायें कंधे पर सँभाले, स्टेज को अपने गज-पदों से धँसाते, झूमते हुए उठिए और जब दुर्योधन को ललकारिये तो आपकी आवाज़ पिछली सीटों पर बैठे हुए लोगों के दिलों को धड़का दे ! चलिये। घबराइये नहीं। (पुचकारते हुए) जमकर अपनी जगह बैठ जाइये।

चुन्नीलाल वापस चले जाते हैं। घंटी बजती है।

दयाराम : लीजिये तैयार ! साइलेंस ! पर्दा उठाओ !

---

1. नेपथ्य

विंग अपनी जगह आ जाता है। पर्दा उठता है। दुर्योधन का दरबार लगा है। भीष्म पितामह, कर्ण, द्रोणाचार्य और दूसरे महारथी बैठे हैं। एक ओर हारे हुए पांडव नत-मस्तक बैठे हैं। कुछ क्षण बाद सूत-पुत्र सिर झुकाये प्रवेश करता है।[1]

दुर्योधन : क्यों सूत-पुत्र, द्रौपदी को नहीं लाये। यों सिर झुकाये क्यों चले आ रहे हो ?

सूत-पुत्र : महा पराक्रमी ! द्रौपदी एक-वस्त्रा हैं। दरबार में आने की उनकी स्थिति नहीं है।

दुर्योधन : (सक्रोध) इस बात का निर्णय करना तुम्हारा काम नहीं, तुम्हारा काम आदेश का पालन करना है।

सूत-पुत्र : महाराज उन्होंने एक ऐसी आपत्ति की कि मैं उसका उत्तर न दे सका।

दुर्योधन : तुम्हें उत्तर देने के लिए नहीं, उसे सभा में घसीटकर लाने के लिए कहा गया। वह हमारी दासी है, एक-वस्त्रा है या निरावस्त्र, तुम्हारा कर्तव्य उसे सभा में घसीट लाना था।

सूत-पुत्र : महाराज वे दासी होने से इनकार करती हैं। जब महाराज युधिष्ठिर ने अपने-आप को पहले हार दिया तो द्रौपदी को हारने का उन्हें क्या अधिकार रहा ?

दुर्योधन : वही अधिकार, जो स्वामी को अपने भृत्य पर, पति को अपनी पत्नी पर होता है। जब उसके पाँचों पति हार गये तो उसका पृथक् अस्तित्व ही क्या रहा ? दुःशासन जाओ ! इस कायर सूत-पुत्र के बस की बात नहीं। तुम द्रौपदी की चोटी पकड़कर उसे घसीटते हमारे दरबार में उपस्थित करो। दासी होकर उसकी यह स्पर्धा ? (व्यंग्य-भरा अट्टहास) हा-हा-हा ! उसकी धृष्टता का हम उचित दंड देंगे। वह हमारी दासी है और हम उसके साथ जैसा चाहेंगे, व्यवहार करेंगे। उसने एक बार अपने महल की खिड़की में बैठे, हमारा अपमान किया था। आज हम उसे इस भरे दरबार में अपनी इस बायीं जंघा पर बैठाकर उससे पूछेंगे...

चुन्नीलाल : (क्रोध से उठकर, गदा को अपने दायें हाथ में उठाकर हवा में लहराते हुए) दुर्योधन ! पंड !...(एक पग आगे बढ़ते हैं) पाषंड ! ...अ...अ...(संवाद भूल जाते हैं। फिर घबराकर एक कदम पीछे रखते हैं) दुर्योधन ! (एक पग और पीछे हटते हैं) पंड !

---

1. इस दृश्य के संवाद पारसी थियेटर की तर्ज पर बोले जायें—वैसी ही भावभंगिमाओं के साथ।

(एक पग और पीछे हटते हैं) पापंड...! (खाँसते हैं, एक पग और पीछे हटकर प्रॉम्प्टर से पूछते हैं) अरे भाई प्रॉम्प्टर, क्या है ?...

विंग एक ओर हट जाता है। प्रॉम्प्टर स्टूल पर बैठा जल्दी-जल्दी पुस्तक के पृष्ठ उलटता दिखायी देता है।

प्रॉम्प्टर : एक बार फिर यही बोल दो !

चुन्नीलाल : (फिर एक पग बढ़ते हुए और गदा को हवा में घुमाते हुए) दुर्योधन...पंड !...पापड ! (फिर खाँसते हुए और पीछे को हटते हुए) अरे भाई प्रॉम्प्टर बताओ भी !

प्रॉम्प्टर घबराया हुआ पृष्ठ उलट रहा है।

: (फिर आगे बढ़कर अजीब घबराये हुए स्वर में) दुर्योधन, पंड !...पापंड !

प्रॉम्प्टर : (जल्दी से) ब्रैकेट में पदाघात...

चुन्नीलाल : (ज़ोर से स्टेज पर पाँव पटकते हुए) ब्रैकेट में पदाघात !

विंग अपनी जगह आ जाता है। स्टेज पर सेठजी के पैर पटकते ही दर्शक ज़ोर से ठहाका मार उठते हैं। अचानक सेठजी को पार्ट याद हो आता है।

: (गदा को हवा में लहराते हुए, जल्दी-जल्दी संवाद बोलते है :) यदि मैंने तेरी जंघा को अपनी इस गदा के प्रबल प्रहार से (फिर भूल जाते हैं और एक पग पीछे हटते हुए कहते हैं) प्रबल प्रहार से (खाँसते हैं) प्रबल प्रहार से (फिर खाँसते हैं, प्रॉम्प्टर से) अरे प्रॉम्प्टर क्या है ? (फिर आगे बढ़ते हैं :) अपनी इस गदा के प्रबल प्रहार से...

दर्शक हँसी के मारे लोट-पोट हुए जाते हैं। सीटियाँ बजाते हैं। तालियाँ पीटते हैं और फ़र्श पर जूते घिसते हैं।

: रुँआसी आवाज़ में चीखते हुए) मैंने तो पहले ही कहा था कि मुझे चोबदार ही बना रहने दो। मुझसे यह भीम का पार्ट न होगा। कहने लगे। (लगभग रोते और दाँत पीसते हुए) नहीं, तू ही मोटा है, तू बना-बनाया भीम है।

लोग और ज़ोर से हँसते हैं, हॉल ठहाकों से फटा पड़ता है।

: (गदा को हवा में लहराते हुए) जी चाहता है कि इस गदा से अपना और इस प्रॉम्प्टर का सिर फोड़ दूँ। इन सब दरबारियों की गर्दनें तोड़ दूँ। और स्टेज को चूर्ण-विचूर्ण कर दूँ।

ज़ोर से गदा घुमाकर स्टेज पर मारते हैं। अंदर से खाली गदा एदकम पिचक जाती है। दर्शकों में एक और ठहाका गूँजता है। विंग एक ओर को ज़रा-सा हट जाता है।

दयाराम : (घबराये हुए चिल्लाते हैं) पर्दा गिराओ ! पर्दा गिराओ !!

पर्दा गिर जाता है। विंग का भाग उसी प्रकार हटा रहता है। भगवन्त सिर को दोनों हाथों से पकड़े बाल नोचते दिखायी देते हैं।

भगवन्त : ओफ़, ओफ़ ! इस वलवीर कम्बख्त ने बीमार होकर सारी कंसर्ट चौपट कर दी।

दयाराम : घबराने से काम न चलेगा। मैं बाहर जाकर दर्शकों को व्यस्त रखता हूँ। तुम अफ़ीमचियों की नकल करने वालों को तैयार रखो। और देखो कविता-फविता से काम न चलेगा। दर्शकों का मूड बिगड़ा हुआ है। नकल के बाद मृदुला घोष...

भगवन्त : (**चिड़चिड़े स्वर में**) कहाँ है मृदुला घोष ? कहीं घर में बैठी कंघी-पट्टी कर रही होगी। इन कम्बख्तों की यही तो मुसीबत है। पासों के लिए सारे मुहल्ले को पास दिला दिये और काम के वक्त...

जनता का ठहाका, शोर और सीटियाँ।

दयाराम : घबराओ नहीं, अफ़ीमचियों को तैयार रखो। वे पर्दे के बाहर नकल करेंगे। इतने में 'राजपूतानी' के पात्रों को भेज दो !

विंग अपनी जगह आ जाता है। दयाराम पहले की अपेक्षा कुछ अधिक घबराहट में बुश्शर्ट का दामन ही नहीं, कॉलर भी ठीक करते हुए पर्दे के बाहर माइक के पास आते हैं।

: सज्जनो ! हमें बड़ा खेद है कि हमारी समिति के मुख्य कलाकार श्री वलवीर के अचानक बीमार हो जाने और नाटक की भूमिकाओं को इधर-उधर बदलने से हमारा यह नाटक गड़बड़ हो गया। खेद ही नहीं, हमें इसका परम दुःख है। लेकिन आपकी उदारता से हम आशा करते हैं कि आप हमारी इस त्रुटि को क्षमा कर देंगे। कुछ देर बाद हम अपना ओजपूर्ण एकांकी 'राजपूतानी' प्रस्तुत करेंगे, जो इस नाटक की कमी पूरी कर देगा। उसके बाद नाच-गाने का बड़ा अच्छा प्रोग्राम होगा। इस बीच आप अफ़ीमचियों की एक नकल सुनिये।

चले जाते हैं—कुछ क्षण बाद फिर आते हैं।

: हमें अफ़सोस है कि अफ़ीमचियों की नकल करने वाले कहीं सचमुच अफ़ीम खाकर पीनक में सो गये हैं।

दर्शकों में ज़ोर का ठहाका।

दयाराम : लेकिन आशा की जाती है कि अंत में वे पहुँच जायेंगे और आप उनकी नकल सुनकर ठहाके मारते हुए हॉल से बाहर जायेंगे।

एक दर्शक : हम अब भी ठहाके मार रहे हैं।

दर्शकों का ठहाका। दयाराम जल्दी से अंदर चले जाते

हैं—आधा विंग एक ओर हट जाता है। रामकिशुन चोब-
दार का 'असा'[1] लिए खड़ा है।

दयाराम : देख रे किशुन, भूलना नहीं पार्ट।

किशुन : आप एकै तनको फिकिर न करैं बाबूजी। हम सब ठीक कर देवैं।

घंटी बजती है।

दयाराम : (स्टेज की ओर देखते हुए) क्यों भाई सब तैयार हैं ? ठीक है। साइलेंस ! पर्दा उठाओ !

पर्दा उठता है और विंग अपनी जगह पर आ जाता है। राजा मानसिंह का अंतःपुर। महारानी सक्रोध प्रवेश करती है। पीछे-पीछे एक दासी लगभग भागती-सी आती है।

दासी : महारानी क्षमा...महारानी क्षमा...महारानी...

महारानी : (मुड़कर क्रोध से) एक नीच दासी का यह साहस कि वह महारानी के मुँह लगे। जिस बरतन में खाये, उसी में छेद करे। महाराज ने उसके गाने से प्रसन्न होकर उसे सोने की माला क्या इनाम दी कि उसका सिर फिर गया। उसे ध्यान न रहा कि वह एक दासी है, जिसे मेरी एक हल्की-सी दृष्टि दीवारों में ज़िंदा चुनवा सकती है, कुत्तों से नुचवा सकती है, पहाड़ की चोटी से गिरवा...

दासी : महारानी क्षमा...मालती को क्षमा कर दें। महारानी उसे एक अवसर दें...

महारानी : (मुड़कर)...कि वह अपने विषैले दाँतों को और भी तेज़ कर ले। शायद तूने इसीलिए उसकी सिफ़ारिश की थी कि तू उसके द्वारा इस महल के शिखर पर जा बैठे। उसकी चंचलता को देखकर मेरा माथा ठनका था, पर तेरी गिड़गिड़ाहट ने मेरे विवेक को धुँधला दिया। इससे पहले कि महाराज को पता चले, उसके सौंदर्य की बोटियाँ कुत्ते नोच चुके होंगे।

तेज-तेज निकल जाती है।

दासी : महारानी क्षमा ! महारानी क्षमा !

महारानी के पीछे-पीछे निकल जाती है और उसकी गिड़-गिड़ाहट-भरी क्षमा-याचना धीरे-धीरे दूर हो जाती है। कुछ क्षण बाद तलवार हाथ में लिये राजा मानसिंह प्रवेश करते हैं। नेपथ्य से प्रवेश करने के साथ ही तलवारको एक सिरे से दूसरे सिरे तक दो बार पारसी थियेटर के अभि-नेताओं की तरह हवा में लहराते हुए चोबदार को आवाज देते हैं। और इस प्रयास में रंगमंच के दूसरे सिरे पर

---

1. चाँदी के पत्रों से मढ़ी गुमटेदार लाठी।

पहुँच, हाथ में तलवार ताने जा खड़े होते हैं।

मानसिंह : चोबदार...चोबदार...!

किशुन : (राजा मानसिंह की तरह अकड़कर उछलता हुआ प्रवेश करता है और इसी अदा में भूल जाता है कि उसे 'जी महाराज' कहना है) जो आदेश...जो (निकट आकर) आदेश...!

मानसिंह : (किशुन की इस हरकत पर भ्रू-भंग करके तलवार हिलाते हुए) वता मालती कहाँ है ?

किशुन : (इस घबराहट में कि उससे कुछ ग़लती हो गयी है, संवाद भूल जाता है) जो आदेश !

मानसिंह : (स्थिति सँभालते हुए क्रोध से) हम कहते हैं कि बता मालती कहाँ है ?

किशुन : (जिसे अपनी ग़लती का पता चल जाता है कि उसने 'जी महाराज' के स्थान पर 'जो आदेश' कहा है, अपनी ग़लती सुधार लेता है) जी महाराज ! जी महाराज !!

विंग पीछे हटता है।

प्रॉम्प्टर : (पुस्तक हाथ में लिये संकेत करता है :) मालती को महारानी ने भू-गृह में बंद करने का आदेश दे दिया है।

किशुन : (देखता है कि प्रॉम्प्टर कुछ देख रहा है, पर घबराहट में समझता नहीं) जी महाराज !

विंग में दयाराम, भगवन्त और अन्य अभिनेता परेशानी में इकट्ठे हो रहे हैं।

मानसिंह : (रंगमंच पर स्थिति सँभालने का एक और प्रयास करते हुए) गदहे ! हम पूछते हैं, मालती कहाँ है ? जी महाराज, जी महाराज रटे जा रहा है। उल्लू कहीं का। (फिर तलवार घुमाकर) वता मालती कहाँ है ?

किशुन : (क्रोध से अकड़ जाता है) हे देखो, जवान सम्हारि के बाति करो। बड़े महाराज बने फिरत हैं। देइ का एक रुपैया और सान इतनी गाँठत हैं। जाओ नहीं बताइत। हम कहित है, गारी दैहो तो मालूम होय पै भी न बताउब और उठाइके नीचे फेंकि देब।

दर्शकों के ठहाके गूंजने लगते हैं।

दयाराम : (घबराहट में) पर्दा गिराओ ! पर्दा गिराओ !!

विंग अपनी जगह आ जाता है। पर्दा गिर जाता है। कुछ क्षण रोशनी पर्दे पर अंकित 'प्रयाग कलाकार समिति' के सुनहरे अक्षरों पर केन्द्रित रहती है, फिर बड़ा पर्दा गिरता है।

1950

मैमूना

पात्र

मैमूना : आठ-नौ वर्ष की बच्ची—-दबी-दबी, घुटी-घुटी। बचपन की चंच-लता उसके मुख पर यों झलकती है, जैसे राख में दबी चिनगारी।

फ़रीद : दो-ढाई वर्ष का बच्चा। मैमूना का भाई। लाड़-प्यार में पला। चंचल और उद्दंड।

शीमा : दो-ढाई वर्ष की बच्ची। फ़रीद की सहेली। शर्मीली-लजीली पर चतुर और चालाक।

आमना : मैमूना की माँ। अट्ठाईस-तीस वर्ष की सुंदर युवती—देखने में केवल अठारह-बीस वर्ष की लगती है।

अरशद : आमना का दूसरा पति, कवि तो नहीं, किंतु कवि-सुलभ गुणों से युक्त।

खैरन : एक बूढ़ी नौकरानी, जो साजिद के समय से है।

बतूलन : अरशद की नौकरानी, जो न बूढ़ी है, न जवान।

साजिद : आमना का दिवंगत पहला पति, जो मंच पर नहीं आता।

माजिद : साजिद का छोटा भाई, जो मंच पर नहीं आता।

नुसरत : माजिद की बीवी, जो मंच पर नहीं आती।

पर्दा मकान की ऊपरी मंज़िल के एक कमरे में उठता है। सामने दीवार में बायीं ओर एक दरवाज़ा है, जो बरामदे में खुलता है। इस बरामदे में बायीं ओर नीचे से सीढ़ियां आती हैं और दायीं ओर रसोईघर है, लेकिन सीढ़ियों का या रसोईघर का दरवाज़ा इस कमरे से नज़र नहीं आता। हाँ, बरामदे का बड़ा झरोखा साफ़ दिखायी देता है। और इस झरोखे से आने वाली धूप बताती है कि दोपहर का समय है और बाहर सूरज खूब चमक रहा है। सामने की दीवार में दायीं ओर भी दरवाज़ा है, जो रसोई-घर को जाता है। इस तरह रसोईघर बरामदे में भी

खुलता है और कमरे में भी।

बायीं दीवार में पीछे को दरवाजा है, जो ड्रॉइंग-रूम को जाता है। दायीं दीवार में इधर को एक बड़ी खिड़की है, जिसमें बड़े-बड़े शीशे लगे हैं।

यह कमरा एक तरह से खाने और बैठने का कमरा है, क्योंकि इसमें सामने के दोनों दरवाजों के मध्य एक खाने की मेज रखी है, जिसके चारों ओर कुर्सियाँ लगी हैं।

खिड़की की ओर को काउच का सेट और तिपाई भी पड़ी है। पर्दा उठते समय डाइनिंग-टेबल की कुर्सियाँ मेज से लगी हुई हैं, केवल उनका पृष्ठ-भाग दिखायी देता है। दायीं और बायीं दीवारों में दरवाजों के दोनों ओर दो अलमारियाँ हैं, जिनके शीशों से चाय और खाने-पीने के सेट दिखायी देते हैं। बरामदे में खुलने वाले दरवाजे के अलावा बाकी सब दरवाजों पर पर्दे पड़े हुए हैं। खैरन भी एक काउच से पीठ लगाये, पाँव पसारे, बैठी दिखायी देती है। मैमूना उसके घुटनों में सिर दिये रो रही है। खैरन बी उसे पुचकारती है, पर वह लगातार सिसके जा रही है।

खैरन : (उसे चुमकारते हुए) न मेरी मम्मो, बस, बस। भला इस तरह भी जी छोटा किया करते हैं। अरे वो आने वाले ही होंगे।

मैमूना ज़ोर से सिसकती है।

: (अपने-आप) इस बेचारी का भी क्या कुसूर! बेगम तो इस तरह सुलूक करती हैं, जैसे अपनी जायी न हो, कहीं से गिरी-पड़ी उठा लायी हों। (पाँव सिकोड़कर मैमूना को थपथपाते हुए) बस, बस, अब कोई दम में आ जायेंगे। चल तुझे नरगिस के फूलों का गुलदस्ता बना दूँ—लम्बे-लम्बे सुंदर, सफ़ेद फूलों का!

मैमूना और भी ज़ोर से सिसकती है। खैरन बी बरामदे में जाती है और दूसरे ही क्षण फूलों का एक छोटा-सा गुलदस्ता बना लाती है। मैमूना वहीं बैठी लगातार सिसकती रहती है।

खैरन : (उसे गुलदस्ता देते हुए) ले बेटी, देख कितने खूबसूरत फूल हैं।

मैमूना नहीं लेती और सिसकती हुई उसकी गोद में सिर छिपा लेती है।

: (अपने-आप) बच्ची ही तो है। सात-आठ बरस भी कोई उम्र होती है। बाट देखते-देखते ज़रा-सा मुँह निकल आया—बेटी का। पपड़ियाँ जम गयीं होंठों पर। ले जाते साथ तो क्या था!

दूर से मोटर के हॉर्न की आवाज सुनायी देती है।

ख़ैरन : लो, वो आ गये।

मैमूना सिर उठाती है।

: सुनो मोटर के हॉर्न की आवाज़।

पार्श्व-भूमि में कोई मोटर हॉर्न बजाती हुई निकल जाती है।

: ये कम्बख़्त मोटरें भी एक-जैसी आवाज़ निकालती हैं।

मैमूना फिर उसकी गोद में सिर छिपाकर सिसकने लगती है।

: (उसे थपथपाते हुए) और ले गयी फ़रीद को भी साथ! छोड़ना था तो दोनों ही को छोड़ जाती। कब से राह तक रही है बेचारी। न सुबह से ठीक तरह खाया, न पिया। वहाँ दावत उड़ाने को किस तरह जी चाहता होगा बेगम का! मेरे गले से तो एक कौर न उतरे!

मैमूना सिसकी लेती है।

: कम्बख़्त शीमा को भी न जाने क्या हो गया! यों सारा-सारा दिन यहाँ चिपकी रहती है, फ़रीद नहीं है न यहाँ आज।

ऊपर आकाश में हवाई जहाज़ों की गूंज सुनायी देती है।

: अरे जहाज!

मैमूना सिसकती है।

: अरे ये तो कई मालूम होते हैं। उठ देख खिड़की से (**उसे छोड़कर तेजी से खिड़की में जाती है, खिड़की से दिखाते हुए**) अरी मम्मो भाग, देख कितने ढेर-से है (**गिनते हुए**) तीन—छह—नौ! देख, कितने नीचे!

मैमूना : (**आँसू निगलते हुए खिड़की की ओर जाते-जाते**) नौ...

ख़ैरन : (**मैमूना को गोद में उठाकर दिखाते हुए**) दस, ग्यारह, बारह।

मैमूना : (**प्रसन्न होकर**) बारह।

हवाई जहाजों की गूंज पार्श्व-भूमि से निकलकर समीप आ जाती है और कुछ क्षण तक रंगमंच पर छायी रहती है। फिर धीरे-धीरे दूर चली जाती है। और दूर से मोटर के हॉर्न की आवाज सुनायी देती है।

मैमूना : (**ख़ैरन के साथ वापस आते हुए**) बारह थे न ख़ैरन?

ख़ैरन : (**जो इस बात पर प्रसन्न है कि उसका ध्यान बँटा**) हाँ बारह थे।

मैमूना : (**आंसू पोंछते हुए, अत्यंत सरलता से**) ये बम क्यों नहीं गिराते?

ख़ैरन : (**हँसते हुए**) रबड़ के गोले तो नहीं होते बम। एक भी गिर जाता तो हम और हमारे साथ सब कुछ भक् से उड़ जाता।

मोटर के हॉर्न का स्वर और भी निकट सुनायी देता है।

: (बरामदे के झरोखे में जाते हुए) ले, तेरी अम्मा आ गयीं। गुब्बारे लायी हैं। हवा में उड़ने वाले। फ़रीद भी आ रहा है भागता हुआ...और शीमा भी झांक रही है कम्बख़्त।

मोटर की आवाज़ सुनकर मैमूना झरोखे की ओर जाती है कि फ़रीद हाथ में दो गुब्बारे लिये हुए भागता आता है।

फ़रीद : मम्मो, गुब्बारे !

ख़ैरन : अपनी बहन को भी एक गुब्बारा दे दे फ़रीद बेटा !

फ़रीद : हम नहीं देते (**अंदर की ओर भागता है।**)

मैमूना : कैसे नहीं देता ! (**उसके पीछे भागती है।**)

ख़ैरन : (**उनके पीछे आते हुए**) अरी मम्मो...ठहर...मैं ले देती हूँ तुझे गुब्बारा...मम्मो...मम्मो...!

मैमूना फ़रीद के पीछे बायीं ओर के कमरे में भाग जाती है। बरामदे में आमना प्रवेश करती है, हाथ में दो-चार लिफ़ाफ़े उठाये हुए।

आमना : ख़ैरन।

ख़ैरन : आ गयीं बेगम ! बड़ी देर लगायी !

(**उसके हाथ से लिफ़ाफ़े लेकर खाने की मेज़ पर रखती है।**

आमना : मैं तो थक गयी वहाँ।

मेज़ के नीचे से कुर्सी निकालकर उसमें धँस जाती है।

ख़ैरन : अरशद मियाँ कहाँ हैं ? वो नहीं आये ?

आमना : रास्ते में नसीर के यहाँ रह गये। (**नफ़रत से**) चोर-चोर मौसेरे भाई ! जब देखो नसीर ! न जाने उसके साथ क्या मिसकोट किया करते हैं ? न उसे बात करने की तमीज़ है न बैठने-उठने का सलीका ! मैंने कहा— चलिये, फिर कभी आ जाइयेगा, मैटिनी देखने चलेंगे, माजिद ने कहा था...' कहने लगे, 'तुम कार ले जाओ, सीधे कैपिटल पहुँच जाना। मैं नसीर के यहाँ से सीधा वहाँ जा पहुँचूंगा। माजिद को फ़ोन किये देता हूँ !' लेकिन मैं पूछती हूँ नसीर के बिना क्या गुज़र नहीं होती इनकी ?

ख़ैरन : मैटिनी तो तीन बजे शुरू हो जाती है, और अब तो ढाई बजने को हैं।

आमना : देर हो गयी रास्ते में, फ़रीद पड़ गया पीछे नुमाइश देखने के लिए। सो उतर पड़ी। कुछ सामान-उमान ख़रीदा। बस अभी तैयार होकर चली जाऊँगी। साड़ी ही तो बदलनी है।

बतूलन कुछ और लिफ़ाफ़े हाथ में उठाये हुए प्रवेश करती है। और उन्हें भी लाकर मेज़ पर रख देती है।

आमना : (वतूलन से) यह सब अंदर रख दे। और देख, आम बर्फ़ में डाल दे। फ़रीद पड़ जायेगा पीछे अभी।

फ़रीद : (दूसरे कमरे से फ़रीद के चीख़ने की आवाज़ आती है :) मेरा गुब्बारा ले लिया आँ...आँ...मेरा गुब्बारा।

पीटने की आवाज़ आती है।

: दे मेरा गुब्बारा।

दूसरे क्षण अंदर से मैमूना एक गुब्बारा लिये हुए भागती हुई आती है।

मैमूना : क्यों, मैं न लूँगी गुब्बारा।

आमना : (उठकर उसे पकड़ते हुए) क्यों री चुड़ैल! फिर रुलाया तूने उसे। (उसके मुँह पर एक चपत जमाती है) कितनी बार कहा है, न छेड़ा कर उस ग़रीब को।

फ़रीद : (एक ही गुब्बारा लिये रोता हुआ भागता आता है) मेरा गुब्बारा...मेरा गुब्बारा...

आमना : (उसे गोद में उठाकर) बस, बस, मारा है मैंने मम्मो को, मेरा राजा बेटा...ले यह गुब्बारा। (उसे गुब्बारा देते हुए झूलती है) फ़रीद तो मेरा बेटा है न (उसे चूमती है) और मैमूना?

फ़रीद : (प्रसन्न होकर) खैरन की बेटी!

शीमा शरमाती-शरमाती दरवाज़े से झाँकती है।

आमना : ले, वो शीमा आ गयी। अब जा, खेल उसके साथ!

फ़रीद : (माँ की गोद से उतरता हुआ) शीमा, गुब्बारा आ खेलें।

शीमा : (भीतर आते हुए) पहले एक हमें दो।

फ़रीद : ले। (उसे गुब्बारा देता हुआ) आ, उधर खेलें।

उसे साथ लेकर कमरे में चला जाता है।

मैमूना : (बाल-सुलभ सरलता से चपत की टीस को भूलकर और सहसा आमना के पास जाकर भर्रायी हुई आवाज़ में) अम्मी!

आमना : (चिढ़कर) क्या है?

मैमूना : (और भी भर्रायी हुई आवाज़ में) अम्मी!!

आमना : (और भी चिढ़कर) परे हो मम्मो, क्या ऊपर चढ़े आ रही है! (उसे परे धकेलकर) आते ही सिर पर सवार हो गयी, इस चुड़ैल से किसी पल भी छुटकारा नहीं, बोल क्या कहती है?

मैमूना : (चुप)

आमना : (चीख़कर) अब फूट भी मुँह से, क्या कहती है?

मैमूना रोने लगती है। वतूलन आमों का लिफ़ाफ़ा लिये रसोईघर में चली जाती है।

: अरी खैरन! क्या आते ही इसे मेरे पीछे लगा दिया। दो घड़ी भी

इसे सँभालकर नहीं रखा जाता तुमसे ? देखती नहीं हो, अभी आयी हूँ। साँस भी नहीं ली कि यह अम्मी की बच्ची चिमट गयी। सँभाल इसे ।

ख़ैरन : (प्यार से) चल बेटी, चल उधर फ़रीद भैया के पास।

आमना : उधर न ले जाना, सतायेगी उसे चुड़ैल। इधर ले जा बरामदे में, मैं ज़रा जाकर यह साड़ी बदल डालूँ। **(अंदर कमरे में चली जाती है।)**

ख़ैरन : चल मम्मो बेटी, तुझे गुड़िया बना दूँ।

मैमूना सिर्फ़ सिसकती है।

: **(उसे पुचकारती है)** रोया नहीं करते बेटी। देख मैं बनाती हूँ गुड़िया तेरे लिए।

मैमूना सिसकते-सिसकते जाकर बरामदे के झरोखे में खड़ी हो जाती है। बतूलन तरकारी की टोकरी लिये बाहर आती है और लोबिया काटने लगती है।

ख़ैरन : **(उसका हाथ बटाते हुए)** सुबह से बच्ची बाट देख रही है बतूलन बी। भला एक गुब्बारा इसके लिए भी ले आतीं तो...

बतूलन : बेगम ने तो दो ही लिये थे; लेकिन फ़रीद ने दोनों ले लिये।

ख़ैरन : ज़रा प्यार ही कर लेतीं। बच्ची प्यार को तरस-तरस जाती है। जा खड़ी हुई है झरोखे में **(जैसे अपने-आप)** न जाने दिन-भर वहाँ खड़ी-खड़ी क्या ताका करती है ?

बतूलन : **(दीर्घ निःश्वास लेती है)** कहा करते हैं, माँ किसी की न मरे; पर मम्मो को देखकर मैं दुआ किया करती हूँ—अल्लाह, बाप किसी का न मरे।

ख़ैरन : साजिद मियाँ तो आँखों पर बैठाये रखते थे अपनी इस बेटी को। एक बार ज़रा-सी हरारत हो गयी थी, सारी रात सिरहाने बैठे रहे थे। आँख तक न झपकी थी उन्होंने।

बतूलन : सुनती हूँ मम्मो की पहली सालगिरह पर बड़ी भारी दावत की थी उन्होंने। अरशद मियाँ कई बार ज़िक्र किया करते हैं उस दावत का।

ख़ैरन : **(धीमे स्वर में)** अरशद मियाँ और उनमें बड़ी गहरी छनती थी। बचपन के दोस्त थे दोनों। बेगम तो अरशद से पर्दा तक न करती थीं। सुनते हैं. दोनों को मुहब्बत थी बेगम से, लेकिन साजिद जीत गये।

बतूलन : **(अस्फुट शब्दों में)** पर सुना है, शादी कामयाब न थी उनकी। बेगम पछताती रहीं कि उन्होंने अरशद मियाँ को क्यों न चुना !

ख़ैरन : **(और भी धीरे से)** अरशद ख़ूबसूरत थे, पर साजिद अमीर।

बतूलन : (उसी आवाज़ में) और बेगम, न आप ख़ुश रह सकीं, न उन्हें ख़ुश रख सकीं।

ख़ैरन : यह तो अल्लाह ही जाने, पर कभी बल तक न देखा साजिद मियाँ के माथे पर। इतना कारबार था, इतना कमाते थे, पर तबीयत में ग़रूर नाम तक को न था। मैं थी, नौकर थे, तो भी घर का मामूली-से-मामूली काम वो अपने हाथ से कर लेते। मम्मो से तो इतना प्यार करते कि अपने हाथ से खिलाते-पिलाते और नहलाते। जब दफ़्तर से आते, कुछ-न-कुछ ज़रूर ले आते। कंधे पर बैठाये फिरा करते अपनी इस बेटी को, पर अब बेचारी...(**गला भर आता है।**)

बतूलन : दिल तो अरशद मियाँ का भी दरिया है और घमंड भी उनमें नाम को नहीं। कभी कोई बुरी बात नहीं कहते, फिर यही हैं, जो इतनी देर बेगम का नाम जपते रहे। नहीं तो लड़कियों की कमी न थी! मौसा बहुतेरा कहते थे, नुसरत के लिए; पर एक बार जो 'न' की तो 'हाँ' नहीं की। दो साल तक मौसी इनकी राह देखती रहीं। आख़िर ब्याह दी लड़की माजिद के साथ। यूँ मम्मो से भी कम प्यार नहीं करते।

ख़ैरन : (**धीरे से**) साजिद मियाँ जानते थे दोनों की मुहब्बत को; लेकिन क्या मजाल, जो उन्होंने कभी आँख भी मैली की हो। धीरे-धीरे बेगम ने अपनी दिलचस्पी कम कर दी उनमें। बेचारे सुबह आठ बजे जाते, तो रात पड़े घर वापस आते। बेगम या तो सैर को निकल जातीं या फिर सिनेमा देखने चली जातीं और अगर कभी घर पर भी होतीं तो सदा मुँह फुलाये बैठी रहतीं; इस पर भी साजिद सदा हँसते रहते। अपने सुलूक में ज़रा भी फ़र्क़ न आने देते। निगोड़ा ज़ुकाम भी बेगम को हो जाता तो डॉक्टरों के पीछे मारे-मारे फिरते।

बतूलन : मैं पूछती हूँ साजिद बुरा न मानते इनकी ग़ैरहाज़िरी का?

ख़ैरन : ये न होतीं तो मैमूना से दिल बहलाते (**गला भर आता है**) वही बच्ची, जिसे अब्बा आँख की पुतली बनाये रखते थे, अब...

आमना फ़रीद को उठाये हुए प्रवेश करती है।

आमना : ले, मैं अभी देती हूँ अपने बेटे को आम। बतूलन! कहाँ हैं वो आम? एक काटकर ज़रा फ़रीद को दे। (**उसे गले लगाकर झुलाते हुए**) मेरे बेटे को सिरौली बड़े पसंद हैं।

आमों का नाम सुनकर मैमूना मुड़ती है और धीरे-धीरे कमरे में आती है।

: और देख ख़ैरन, मम्मो को दो फाँकों से ज़्यादा न देना। ख़ून

ख़राब है इसका। फोड़े निकल आते हैं इसे। (**घृणा से**) इसके अब्बा को भी निकल आते थे। ध्यान रखा कर इस बात का, खाना देते वक्त।

ख़ैरन : खाया ही कब है खाना बेटी ने। ला के रखा था, पर एक-दो कौर मुश्किल से खाये।

आमना : खाना नहीं खाया इसने? मेरे कमरे में भेज दे इसका खाना। नखरे तो देख चुड़ैल के! (**बतूलन लोबिया छोड़कर रसोईघर में जाने को उठती है**) और देख बतूलन, फ़रीद को आम देकर मेरे सैंडल को ज़रा ब्रश कर दे। अभी मैटिनी देखने जाना है मुझे (**मैमूना से**) चल मम्मो!

दोनों जाती हैं।

ख़ैरन : (**बतूलन से**) बेगम ले गयी हैं मम्मो को कि शोर न मचाये आमों को देखकर। हाय मेरे अल्लाह! अपनी औलाद से ऐसी नफ़रत!

आमना : (**भीतर से**) ख़ैरन बी! यह मम्मो क्या करती रही है आज? सुबह बदला था फ़राक इसका, मैला चीकट कर दिया। इसे कभी तमीज़ न आयेगी।

मम्मो का कान पकड़े आती है। बतूलन रसोईघर में चली जाती है।

: क्या मिट्टी में खेलती रही है दिन भर? बिलकुल अपने अब्बा पर है। न बदन का होश, न कपड़े का। (**रुककर**) और देख यह फ़रीद का सूट भी बदल दे।

ख़ैरन : सुबह ही तो बदला था बेगम।

आमना : मैला मालूम होता है। माजिद भी शायद आये वहाँ और मैं नहीं चाहती कि उसके सामने फ़रीद किसी भिखमंगे का लड़का दिखायी दे। तू तैयार कर दे उसे जल्दी! (**मैमूना से**) चल मम्मो! (**उसे ले जाती है।**)

ख़ैरन : (**लंबी साँस खींचती है**) हे मेरे अल्लाह!

बतूलन आम लाकर फ़रीद के सामने रखती है।

बतूलन : ले ये आम! खा ले जल्दी! फिर सिनेमा देखने जाना होगा।

फ़रीद : मैं नहीं खाता।

बतूलन : क्यों भला? देख तो कितने मीठे हैं आम! तेरे लिए ख़रीदे हैं नुमाइश से।

फ़रीद : ऊँ-ऊँ!

बतूलन : आख़िर क्यों?

फ़रीद : शीमा भी खायेगी।

बतूलन : शीमा—चुड़ैल! (**ख़ैरन से**) ख़ैरन बी, ज़रा देना आवाज़ उसे।

खैरन : (दूसरे कमरे की चौखट पर रुककर) शीमा...शीमा...!

शीमा शरमाती-लजाती प्रवेश करती है।

फ़रीद : शीमो, आ आम खायें !

आमना : (भीतर से) खैरन ! ले आ खाना मम्मो के लिए जल्दी। और देख आम दो फाँकों से ज्यादा न रखना। कहना तो मानती नहीं मेरा चुड़ैल। गंदी रहती है। अब रही गंदी तो कुछ भी न दूँगी। माजिद आ जाये अगर...

खैरन रसोईघर में जाती है।

बतूलन : शीमा तुझे बड़ी अच्छी लगती है न फ़रीद ! और मम्मो ?

फ़रीद : (आम खाता हुआ) वो तो खैरन की बेटी है।

बतूलन : खैरन की बेटी है ! (हँसती हैं) और शीमा ?

फ़रीद : वो अम्मी की बेटी है (शीमा को आलिंगन में लेता हुआ) तू मेरी बहन है न शीमो ? मम्मो से कुट्टी कर लेंगे हम। क्यों है न !

खैरन रसोईघर से तश्तरी में खाना लिये भीतर आती है।

शीमा : मम्मो से कुट्टी !

दोनों ठहाका लगाते हैं—सरल, अबोध ठहाका।

खैरन : (वापस आते हुए धीमी आवाज में) यह बेगम माजिद का ज़िक्र क्या बार-बार किया करती हैं ! माजिद यह कहते हैं, माजिद वो करते हैं, माजिद यह न कहें, माजिद वो न ख़याल करें ! बस आठों पहर माजिद के गुन गाया करती हैं !

बतूलन : (ड्राइंग-रूम से सैंडल लाते हुए) नुसरत से पूछ के देखो उनके गुन, बेचारी आधी भी नहीं रही रो-रो के। अरशद मियाँ...

खैरन : (तोरिया काटने लगती है) अरशद मियाँ भी नहीं रोकते ?

बतूलन : (सैंडल लेकर उन्हें ब्रश करते हुए) वो आप उदास-उदास से रहते हैं। मुझे तो रहम आता है उन्हें देखकर। जैसे उनमें कोई अपना अरमान ही नहीं। बिन पतवार की कश्ती से डोलते रहते हैं। न वो हँसी, न खुशी। घुटे-घुटे। दबे-दबे। नुसरत से कर लेते शादी तो अच्छे रहते।

खैरन : नुसरत से...

बतूलन : इतनी सुंदर तो वो नहीं खैरन बी, पर गुनों की खान है। मजाल है जो दिल की बात चेहरे पर आने दे। घुटकर रह गयी, पर अरशद मियाँ के सामने मन की गांठ न खोली। मरती मर जायेगी, पर उफ़ न करेगी।

खैरन : नुसरत बहुत अच्छी लड़की है।

बतूलन : अब भी कभी आती है, मुस्करा कर मिलती है। अरशद मियाँ का हाल पूछती है, पर उसकी वह दर्द भरी मुस्कराहट ! (दीर्घ निःश्वास

लेती है) मालूम होता है, जैसे दिल में उतरती जा रही है। मेरे तो कचोके लगते हैं ख़ैरन बी !

ख़ैरन : माजिद प्यार न करते थे नुसरत से ?

बतूलन : माजिद क्या प्यार करते ? दिल तो उनका कहीं और था। बेगम से पेंग बढ़ा रहे थे उन दिनों।

ख़ैरन : तब तो बात न करती थीं बेगम। माजिद सौ बार बहाने से आ-आकर बैठते। अपनी इस भाभी के इशारे पर जान कुरबान करने को तैयार रहते। इनकी हर फ़रमाइश को पूरा करने के लिए बेचैन फिरा करते। उनकी आधी तनख़ाह तो इन भाभी साहिबा के तोहफ़ों की भेंट हो जाती, पर तब तो भाभी सीधे मुँह बात भी न करती थीं उनसे।

बतूलन : तब देवर को कौन पूछता ! अरशद जो चढ़े हुए थे नज़र में।

ख़ैरन : और क्या ! मैमूना से कहा करतीं—तू तो अरशद चचा की बेटी है। वैसी ही शक्ल-सूरत, वैसी ही आदतें हैं तेरी—और यह कहकर फूली न समाती।

बतूलन : (**व्यंग्य से**) और अब फ़रीद माजिद चचा का लड़का बन गया है। उसकी शक्ल माजिद चचा-सी है। उसे माजिद चचा की आदतें सिखायी जा रही हैं।

आमना प्रवेश करती है। ब्लाउज़ वही है, किंतु साड़ी बदली हुई है। बाल फिर से बनाये गये हैं। चेहरे पर पाउडर की हलकी-सी तह जमी है और होंटों पर सुर्ख़ी की ताज़ी लकीर है।

आमना : कर दिया ब्रश सैंडलों को ?

बतूलन : जी बेगम। लीजिये !

आमना : (**सैंडल पहनते हुए**) और बतूलन, इस फ़रीद को जल्दी तैयार कर दे। इसके हाथ-मुँह धुलाकर सूट बदल दे। (**बतूलन उठती है**) नहीं, अब सूट रहने दे। बस इसके हाथ-मुँह धुला दे।

बतूलन फ़रीद को रसोई में ले जाती है।

: (**उसी को संबोधित करके**) और देख तू मेरे साथ चल। यह मचल गया तो सारे खेल का मज़ा किरकिरा हो जायेगा और ख़ैरन बी तुम मैमूना का ख़याल रखना।

ख़ैरन : इसे भी साथ ले जातीं बेगम !

आमना : क्या अभी से बिगाड़ दूँ ? इसके अब्बा ने पहले ही इसकी आदतें क्या कम बिगाड़ रखी हैं !

ख़ैरन : (**लोबिया काटते हुए**) आप बात-बात में नाहक उनका नाम...

आमना : ख़ैरन...!

खैरन : मैं तो चुप रहने की वहुत कोशिश करती हूँ लेकिन जब हर बात में उनका नाम...

आमना : खैरन—!!

खैरन : मुझसे यह सब-कुछ नहीं सुना जाता। जो मेरी गोद में पलकर जवान हुआ, जिसे बचपन में अपना दूध तक पिलाया; जो इतना नेक और...

आमना : खै—रन !!!

खैरन : और फिर उसकी यह बच्ची। रेगिस्तान में भटकने वाली नन्हीं-सी जान की तरह इस घर में डोलती-फिरती है...

बतूलन फ़रीद का हाथ-मुँह धुलाकर ले आती है। तौलिये से उसके हाथ-मुँह पोंछकर उसके बालों को संवारती है।

आमना : खैरन ! मैं देखती हूँ, तू मैमूना की आदतें बिगाड़ रही है। मैंने तेरे बुढ़ापे का ख़याल करके तुझे छोड़ना मुनासिब नहीं समझा, लेकिन तुझे दूसरा घर देखना पड़ेगा। (**बतूलन से**) फ़रीद को ले जाकर मोटर में बैठा। मैं अभी आयी।

बतूलन : (**तौलिया खूँटी पर टाँगते हुए**) चलो फ़रीद मियाँ।

दोनों जाते हैं।

आमना : पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर अच्छा नहीं खैरन बी। अपना भला-बुरा सोच लो। मैमूना तुम्हें ही प्यारी नहीं, मेरी भी बच्ची है।

तेज़-तेज़ चली जाती है

खैरन : (**दीर्घ निःश्वास लेकर**) आह ! अगर वह तुम्हारी बच्ची होती ! वह अपने मरहूम अब्बा की बच्ची है और उसकी मौत के बाद मेरी बच्ची है।

धीरे-धीरे डरी-डरी-सी मैमूना कमरे के बाहर निकलती है।

: (**आगे बढ़कर उसे गले से लगाते हुए**) आ मेरी यतीम, बेआसरा बच्ची। अपनी इस बूढ़ी माँ की तरह तू भी बेसहारा और मोहताज है।

प्यार से उसे छाती से लगाती है, उसके बालों पर हाथ फेरती है, बाहर से मोटर के स्टार्ट होने की आवाज़ आती है।

: तूने आम खाया क्या ? (**उसे छाती से भींचती है**) आ तो, मैं तुझे देती हूँ आम !

मैमूना : नहीं, मैं नहीं खाती आम।

खैरन : क्यों ?

मैमूना : आम खाने से फोड़े निकलते हैं।

खैरन : (उसे फिर छाती से लगाती हुई) मेरी बच्ची को तो आम खाने से फोड़े निकलें और उस पाजी को उनसे आराम आये, जिसका जिस्म फोड़ों से कोढ़ियों की तरह अटा रहता है। ले तो मैं तुझे लाकर देती हूँ आम। देखूँ तो किस तरह निकलते हैं फोड़े।

रसोई-घर से आम लाकर उसे देती है।

: ले खा तो मेरी बेटी।

मैमूना : नहीं।

खैरन : आख़िर क्यों ?

मैमूना : अम्मी मारेंगी।

खैरन : कौन तेरी अम्मी ! तेरी अम्मी तो मैं हूँ। ले खा !

फांक उसे देती है। अरशद आता है।

अरशद : (**खिन्न, म्लान, विषादमयी हँसी के साथ**) अपने इस बेटे को भी तो आम खिलाओ खैरन बी !

खैरन : ओह अरशद मियाँ ! इतनी जल्दी वापस आ गये आप।

मैमूना डरकर भीतर कमरे में चली जाती है।

: लो भाग गयी मैमूना तुम्हें देखकर (**ज़रा-सा हँसते हुए**) सुबह से बेटी ने कुछ खाया-पिया न था। बेगम आम लायी थीं, मैंने सोचा...

अरशद : (**उसी उदास हँसी के साथ**) तुम्हारे इस बेटे ने भी तो सुबह से कुछ खाया-पिया नहीं।

खैरन : क्या कहते हो अरशद मियाँ ! तुम तो दावत में गये हुए थे।

अरशद : दावत ! (**हंसता है**) वो तो आमना की थी। मैं तो यों ही तुफ़ैलियों में चला गया था।

खैरन : कैसी बातें कर रहे हो ?

अरशद : तुम न समझोगी।

खैरन : बेगम तो कहती थीं आप सिनीमा में उनकी राह देख रहे हैं। वो तो अभी गयी हैं।

अरशद : मैंने उसकी कार जाते हुए देखी थी। लेकिन वहाँ माजिद होगा। मैंने उसे फ़ोन कर दिया था।

खैरन : मालिक ! आप क्या कह रहे हैं ?

अरशद : माजिद आमना से मुहब्बत करता है और वो भी अब उससे नफ़रत नहीं करती।

खैरन : सरकार ! आप और बेगम में भी तो...

अरशद : मुहब्बत थी, यही कहना चाहती हो न तुम। लेकिन इस मुहब्बत के दरम्यान साजिद आ गया। मैं जवानी की अपनी उसी सीधी-सादी, पागल मुहब्बत के फ़रेब में हवाई किले बनाता रहा। मैं आमना को हमेशा उसके पहले रूप में देखता रहा। मुझे क्या मालूम—

साजिद को अपनी मुहब्बत न देने वाली आमना, उसकी दौलत को अपना दिल दे बैठी है। साजिद को उसने छोड़ दिया, उसकी दौलत को न छोड़ सकी। (**जैसे अपने-आप**) वह अरशद को—ग़रीब, बेपरवाह और आज़ाद अरशद को—सोसाइटी के अदब-आदाब सिखाकर पालतू कुत्ते की तरह साथ-साथ लिये घूमना चाहती है। (**हँसता है**) वह उसे चूम लेगी, उसे अपनी बाँहों में भींच लेगी, लेकिन उसकी नज़रों में उसकी वक़अत पालतू कुत्ते से ज़्यादा न होगी।

खैरन : (**रुँधे हुए गले से**) सरकार।

अरशद : पहले अगर वह मुझसे शादी करती तो मेरी इस बेपरवाही से नफ़रत न करती, वह इससे प्यार करती। मेरी हस्ती में अपनी हस्ती मिला देती। लेकिन अब (**लम्बी साँस लेता है**) उसने अपनी एक अलग हस्ती बना ली है—धन-दौलत के बनावटी और बेजान अदब-आदाब की लहरों पर तैरने वाली हस्ती! मेरी बेपरवाही से अब वह उकता जाती है। वह मेरा सुधार करना चाहती है। पालतू कुत्ते की तरह मुझे साथ-साथ लिये घूमना चाहती है। उसे शाइस्ता,[1] मुहज़्ज़ब[2] अमीर साजिद मुबारक रहे। वह फ़रीद को शौक से साजिद चचा-जैसा बनाये। अरशद अपनी अलग दुनिया बसा लेगा।

खैरन : लेकिन मैमूना! (**गला भर आता है**) मेरी ग़रीब, मासूम बच्ची! वह तो घुटकर मर जायेगी इस फ़िज़ा में मालिक।

अरशद : मैमूना...

खैरन : मैं तो अभी तुमसे यह कह रही थी कि मुझसे यह सब नहीं देखा जाता। मेरी ग़रीब बच्ची इस फ़िज़ा में घुटी जा रही है।

अरशद : मैं खुद घुटा जा रहा हूँ।

खैरन : मैं इसका यह हाल नहीं देख सकती। मुझे छुट्टी दो।

अरशद : छुट्टी! (**हँसता है**) मैं खुद छुट्टी ले रहा हूँ।

खैरन : अम्मा उसे अपने पास फटकने नहीं देती। तुम्हारे पास वह आती नहीं। उदास-उदास, खोयी-खोयी-सी फिरती रहती है। कभी इस खिड़की में खड़ी, कभी उस झरोखे में बैठी, न जाने क्या सोचती रहती है! इन दो बरसों में आधी भी तो नहीं रही।

मैमूना दूसरे कमरे में झाँकती है, फिर कन्नी काटकर बाहर निकल जाना चाहती है।

खैरन : यह देखो, फिर कन्नी काटकर निकल चली।

अरशद : (**उसे पकड़कर अतीव स्नेह से**) मम्मो, इधर तो आ बेटी। तू मुझसे

---

1 सुसंस्कृत। 2. सभ्य।

इतना डरती क्यों है ? **(उसे गोद में लेकर)** तू मेरे सामने से चोरी-चोरी क्यों निकल जाती है ? मुझसे कन्नी क्यों कतराती है ? **(उसे चूमता है)** मैं तेरा अब्बा हूँ। **(उसके बालों पर हाथ फेरता हुआ उसे गले लगाता है)** बता तू किसकी बेटी है मेरी मम्मो ?

मैमूना : **(चुप)**

अरशद : **(उसे प्यार करता हुआ)** किसकी बेटी है मेरी अच्छी मम्मो ?

मैमूना : मैं खैरन बी की बेटी हूँ।

अरशद : **(उसे आलिंगन में भींचता हुआ)** तू मेरी बेटी है। साजिद की नहीं, खैरन की नहीं, आमना की भी नहीं। तू अपने अब्बी की बेटी है **(दीर्घ निःश्वास लेता है)** अपने अब्बी के बेपरवाह आज़ाद दिनों की बेटी। अब तू भी उसकी तरह घुट-घुटकर रह गयी है। लेकिन मैं अपनी बेटी को ज़रा भी तकलीफ़ न होने दूँगा। **(उठ खड़ा होता है और मैमूना को अपनी बाँहों में उठाकर सीने से लगा लेता है)** अपने अब्बी की बेटी है न मेरी अच्छी मम्मो !

मैमूना पहले झिझकती है फिर अपने नन्हें-नन्हें हाथों को अरशद की गर्दन से लिपटा देती है।

मैमूना : अब्बी !

पर्दा गिरता है।

1942

तौलिये

पात्र

वसन्त　　　　सुरो
मधु　　　　चिन्नी
मंगला

स्थान : नयी दिल्ली

पर्दा वसन्त के ड्राइंग-रूम में उठता है। ड्राइंग-रूम न बहुत बड़ा है, न छोटा। न सामान से अधिक भरा है, न बिल्कुल खाली। वसन्त एक फ़र्म में मैनेजर है। ढाई सौ वेतन पाता है। यद्यपि दिल्ली मे ढाई सौ कुछ ज्यादा महत्व नहीं रखते, पर वह फ़र्म का मैनेजर है, इसलिए कमरा सजा है और दरवाजों पर पर्दे लगे हैं। दायीं दीवार के साथ मेज लगी है। उस पर काग़ज-पत्रों के अतिरिक्त टेलीफ़ोन भी रखा है।

मेज के इधर एक दरवाजा है, जो अंदर कमरे में जाता है। मेज के उस ओर कोने में एक अँगीठी है, लेकिन आग शायद इसमें नहीं जलती, क्योंकि अँगीठी का कपड़ा अत्यंत सुंदर है, उस पर सजावट की चीजें भी रखी हुई हैं—वैसी ही, जैसी मध्यवर्गीय घरों में होती हैं—लेकिन वे बिखरी नहीं हैं, करीने से लगी हुई हैं। दो पीतल के फूल-दान, दूसरी चीजों के अलावा, अँगीठी के दोनों कोनों पर रखे हुए हैं। इसी अँगीठी के कपड़े की लम्बी झालर को छूता हुआ रेडियो-सेट नीचे एक छोटी-सी मेज पर रखा है, जिसके मेजपोश का डिजाइन अँगीठी के कपड़े से मैच करता है और मधु की सुरुचि का पता देता है।

अँगीठी के ऊपर दीवार पर एक कैलेंडर ऐसे लटक रहा है कि मेज़ पर बैठे हुए व्यक्ति के ऐन सामने पड़े। कैलेंडर को एक नज़र देखने से मालूम होता है कि 1943 के नवंबर का महीना है। अँगीठी के बराबर सामने दीवार में एक दरवाज़ा है जो रसोईघर को जाता है।

इस दरवाज़े से ज़रा हटकर, सामने की दीवार के साथ एक बेंत के काउच का सेट है। इसके आगे एक तिपाई पड़ी है। सेट की गद्दियाँ सुंदर और सुरुचिपूर्ण हैं और तिपाई का कवर अँगीठी के कपड़े से मैच करता है।

सामने, दीवार की बायीं ओर, सोफ़ा-सेट से ज़रा हट कर एक दरवाज़ा है, जो स्नानगृह को जाता है।

बायीं दीवार के साथ शृंगार की मेज़ लगी है, जिससे वसन्त और मधु दोनों अपने टॉयलेट का काम ले लेते हैं। इसके ऊपर खूँटियों पर तौलिये टँगे हैं। मेज़ के दोनों ओर एक-दो कुर्सियाँ पड़ी हैं। बायीं दीवार में इधर को एक दरवाज़ा है, जो बाहर को जाता है।

पर्दा उठते समय हम वसन्त को शृंगार की मेज़ पर बैठे हजामत बनाते देखते हैं। वास्तव में वह हजामत बना चुका है और तौलिये से मुँह पोंछ रहा है। तभी रसोई-घर से स्वेटर बुनती हुई मधु प्रवेश करती है।

मधु : यह फिर आपने मदन का तौलिया उठा लिया। मैं कहती हूँ आप ..

वसन्त : (मुँह पोंछते-पोंछते रुककर) ओह ! ये कम्बख़्त तौलिये ! मुझे ध्यान ही नहीं रहता। बात यह है (हँसता है) कि मदन के तौलिये छोटे हैं और...

मधु : (चिढ़कर) हजामत के तौलिये-जैसे हैं। जी ! ज़रा आँख खोलकर देखिये, हजामत के तौलिये कितने रंगीन हैं, बीसियों तो धारियाँ पड़ी हुई हैं उनमें और मदन के कितने सादे और...

वसन्त : लेकिन रोएँदार तो...

मधु : (व्यंग्य से) दोनों हैं। जी। आँखें बंद करके आदमी दोनों का फ़र्क बता सकता है ! मैं कहती हूँ...

वसन्त : (निरुत्तर होकर) असल में मेरा ध्यान दूसरी ओर था। लाओ, मुझे हजामत का तौलिया दे दो। कहाँ है, मुझे दिखायी ही नहीं दिया।

मधु : (खूँटी पर टँगा हुआ तौलिया उठाकर) यह तो टँगा है सामने, फिर भी...

वसन्त : मैंने ऐनक उतारकर रखी है और ऐनक के बिना तुम जानती हो,

हमारी दुनिया... (खिसियानी हँसी हँसता है।)

मधु : जी, आपकी दुनिया ! जाने आप किस दुनिया में रहते हैं ! अब तो ऐनक नहीं, ऐनक हो तो कौन-सा आपको कुछ दिखायी देता है।

मुँह फुलाकर धम से काउच में धँस जाती है और चुपचाप स्वेटर बुनने लगती है। वसन्त हजामत का सामान रखता है; फिर अचानक उसकी ओर देखकर।

वसन्त : यह फिर तुमने मुँह फुला लिया, नाराज हो गयी हो ?

मधु : (व्यंग्य से हँसकर) नहीं मैं नाराज नहीं।

वसन्त : तुम्हारा ख़याल है कि मैं इतना मूर्ख हूँ, जो यह भी नहीं पहचान सकता ?

मधु : (उसी तरह हँसकर) मैं कब कहती हूँ !

वसन्त : (सामान वैसे ही छोड़कर कुर्सी को उसकी ओर घुमाते हुए) मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि अपने भावों को छिपा लेना तुम्हारे बस की बात नहीं। तुम्हारी नफ़रत, तुम्हारा क्रोध, तुम्हारी सारी भावनाएँ, तुम्हारे चेहरे पर झलक आती है। तुम्हें मेरी आदतें बुरी लगती हैं, पर मैंने तुम्हें अंधेरे में नहीं रखा। अपने बारे में, अपनी आदतों के बारे में सब कुछ बता दिया था। मैंने अपने सभी पत्ते...

मधु : मेज पर रख दिये थे ! (उसी तरह व्यंग्य से हँसकर) मैं कब इनकार करती हूँ !

वसन्त : तुम्हारी यह हँसी कितनी विषैली है। इसी तरह विष घोल-घोलकर तुमने अपनी सेहत का सत्यानाश कर लिया है।

मधु : (चुप रहती है)

वसन्त : मैं तुम्हें किस तरह यकीन दिलाऊँ कि मैं खुद सफ़ाई का बेहद कायल हूँ।

मधु : (हँसती है) इसमें क्या शक है !

वसन्त : और मुझे स्वयं गंदगी पसंद नहीं।

मधु : (सिर्फ़ हँसती है)

वसन्त : पर मैं तुम्हारी तरह एरिस्टोक्रैटिक वातावरण में नहीं पला और मुझे नज़ाकतें नहीं आतीं। हमारे घर में सिर्फ़ एक तौलिया होता था हम छहों भाई उसे काम में लाते थे।

मधु : आप मुझे एरिस्टोक्रैट कहकर मेरा मजाक उड़ाते हैं। मैं कब कहती हूँ, दस-दस तौलिये हों !

वसन्त : दस और किस तरह होते हैं ? नहाने का अलग; हजामत बनाने का अलग; हाथ-मुँह पोंछने का अलग; और तुम्हारे और मदन के...

मधु : (पहलू बदलकर) लेकिन मैं पूछती हूँ, इसमें दोष क्या है ? जब हम ख़रीद सकते हैं तो क्यों न दस-दस तौलिये रखें। कल, भगवान

न करे, हम इस योग्य न रहें तो मैं आपको दिखा दूं, किस तरह ग़रीबी में भी सफ़ाई रखी जा सकती है। तौलिये न सही, खादी के अँगोछे सही, किसी पुरानी-धुरानी पर उजली चादर या धोती के टुकड़े सही—कुछ भी रखा जा सकता है! लेकिन जिस तौलिये से किसी दूसरे ने बदन पोंछा हो, उससे किस तरह कोई अपना शरीर पोंछ सकता है?

वसन्त : मैं कहता हूँ, हम छह भाई एक ही तौलिये से बदन पोंछते रहे।

मधु : लेकिन बीमारी...

वसन्त : हममें से किसी को कभी कोई बीमारी नहीं हुई।

मधु : लेकिन स्किन की बीमारी...

वसन्त : तुम्हें और मदन को तो कोई बीमारी नहीं...और फिर रोग इस तरह नहीं बढ़ता है। रोग बढ़ता है—कमज़ोरी से! जब हमारे शरीर में रोग से लोहा लेने वाले कीटाणु कम हो जाते हैं, तब! 'चूहा सैदनशाह' की बात जानती हो?

मधु : चूहा सैदनशाह...!

वसन्त : शिकार करने के विचार से कुछ अफ़सर चूहा सैदनशाह गये। उनमें अमरीका के 'रॉकफ़ेलर-ट्रस्ट' के कुछ डॉक्टर भी थे। लंच के समय उन्हें पानी की ज़रूरत पड़ी। बैरे ने आकर बताया कि गांव में कोई कुआं नहीं, लोग जोहड़ का पानी पीते हैं। डॉक्टरों को विश्वास न आया, क्योंकि जोहड़ का पानी मैला-चीकट था। ऐसी कोई ही बीमारी होगी, जिसके कीड़े उस पानी में न हों और चूहा सैदनशाह के जाट—हृष्ट-पुष्ट, लम्बे-तड़ंगे...

मधु : तो क्या आप चाहते हैं, हम जोहड़ का पानी पीना शुरू कर दें! (हँसती है।)

वसन्त : (उठकर कमरे में घूमता हुआ) तुम इस बात पर अपनी विषाक्त हंसी बिखेर सकती हो (उसके सामने रुककर) लेकिन तुम्हें मालूम हो कि अमरीका के डॉक्टर वहीं रहे। एक जाट के रक्त का उन्होंने विश्लेषण किया। मालूम हुआ कि उसमें रोग का मुकाबला करने वाले कीटाणु, रोग फैलाने वाले कीटाणुओं की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में हैं। तब उन्होंने वहां के लोगों की खुराक का निरीक्षण किया। पता चला कि अधिकतर दही और लस्सी का प्रयोग करते हैं और दही में बहुत-सी बीमारियों के कीड़ों को मारने की शक्ति है। बीमारी का मुकाबला इन नज़ाकतों और नफ़ासतों से नहीं होता, बल्कि शरीर में ऐसी शक्ति पैदा करने से होता है, जो रोग के आक्रमण का प्रतिरोध कर सके। (फिर घूमने लगता है।)

मधु : मैंने चूहा सैदनशाह की बात सुन ली। मैंने तौलियों से शरीर में

रोग के कीड़े फैलें या न फैलें, मुझे इससे मतलब नहीं। मैं तो इतना जानती हूँ कि बचपन ही से मुझे सफ़ाई पसंद है। मामाजी...

वसन्त : **(मेज़ के कोने का सहारा लेकर)** तुमने फिर अपने मामा और मौसा की कथा छेड़ी। माना कि वे विलायत हो आये हैं, लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि जो वो कहते हैं, वह वेद-वाक्य है। उस दिन तुम्हारे मौसा आये थे। उन्होंने हाथ धोये तो मैंने कहीं भूले से तौलिया पेश कर दिया। **(मधु के पास आकर)** उन्होंने दाँत निपोर दिये **(नकल उतारते हुए)** 'मैं किसी दूसरे के तौलिये से हाथ नहीं पोंछता'—और वे अपने रूमाल से हाथ पोंछने लगे। मैं पूछता हूँ अगर वे उस तौलिये से हाथ पोंछ लेते तो उन्हें कौन-सी बीमारी चिमट जाती ?

मधु : अब यह तो...

वसन्त : और तुम्हारे मामाजी... **(वापस जाकर फिर मेज़ पर बैठ जाता है)** तुम्हारे जाने के बाद एक दिन मैं उनके यहाँ गया। रात वहीं रहा। दूसरे दिन मुझे सीधे दफ़्तर आना था। कहने लगे—'हजामत यहीं बना लो।' मैंने कहा—'मैं एक दिन छोड़कर हजामत बनाता हूँ, मुझे कोई ऐसी ज़रूरत नहीं।' जब उन्होंने ज़ोर दिया तो मैंने कहा—'अच्छा, बनाये लेता हूँ!' तब वे एक निकृष्ट-सा रेजर ले आये और कहने लगे **(नकल उभारते हुए)**—'मैं अपने रेज़र से किसी दूसरे को हजामत नहीं बनाने देता, इसीलिए मैंने मेहमानों के लिए दूसरा रेज़र रख छोड़ा है'—'गुस्से के मारे मेरा खून खौल उठा, लेकिन अपने-आपको रोककर मैंने सिर्फ़ इतना कहा—'रहने दीजिये मैं घर जाकर शेव कर लूँगा।'

मधु : मामाजी...

वसन्त : **(अपनी बात जारी रखते हुए)** इस बात पर शायद उन्हें महसूस हुआ कि मुझे उनकी बात बुरी लगी और उन्होंने मुझे अपने ही रेज़र से हजामत बनाने पर मजबूर कर दिया। लेकिन मेरे हजामत बनाने पर, मेरे ही सामने, ब्लेड उन्होंने लॉन में फेंक दिया और नौकर से कहा कि रेज़र को स्टेरिलाइज़[1] कर लाये **(नकल उतारते हुए)** मामाजी...

मधु : मैं कहती हूँ, आप उनके स्वभाव से परिचित नहीं आपको बुरा लगा। स्वच्छता और सुरुचि की भावना भी काव्य और कला ही की तरह...

वसन्त : **(आवेश में उसके पास आकर)** क्यों काव्य और कला को अपनी

---

1. Sterilise=उबले पानी में डालकर किसी चीज़ को कीटाणुओं से पाक करना।

इस घृणा में घसीटती हो। तुम्हारे ऐसे वातावरण में पले हुए सब लोगों की सुरुचि में घृणा की भावना, काम करती है—शरीर से, गंदगी से, ज़िंदगी से घृणा की !

मधु : (चुप रहती है)

वसन्त : और मुझे ज़िंदगी से घृणा नहीं। मुझे शरीर से भी घृणा नहीं और मैं सच कह दूँ, मुझे गंदगी से भी नफ़रत नहीं।

मधु : (हँसती है) तो फिर कूड़े के ढेरों पर बैठिये !

वसन्त फिर कुर्सी पर जा बैठता है, और कुर्सी को और समीप ले आता है।

वसन्त : मुझे गंदगी से नफ़रत नहीं, लेकिन मैं गंदगी पसंद नहीं करता—बड़ा सूक्ष्म-सा अंतर है। यदि हमें ज़िंदगी का सामना करना है तो रोज़ गंदगी से दो-चार होना पड़ेगा। फिर इससे घृणा कैसी ? जिन ग़रीबों को तुम अपने बरामदे के फ़र्श पर भी पाँव न रखने दो, मैं उनके पास घंटों बैठ सकता हूँ।

मधु : (केवल हँसती है)

वसन्त : और मैंने ऐसे गंदे इलाकों में ज़िंदगी के लगातार कई वर्ष बिताये हैं, जहाँ तुम्हारी सुरुचि की सनक तुम्हें गुज़रने तक न दे। समझीं ?

मधु : (**वहीं बैठे और वैसे ही स्वेटर बुनते हुए**) पर अब तो आप ग़रीब नहीं। अब तो आप गंदे इलाकों में नहीं रहते। ग़रीबी की मजबूरी को मैं समझ सकती हूँ, लेकिन गंदेपन का स्वभाव मेरी समझ से दूर की चीज़ है।

वसन्त : तो तुम्हारे विचार में मैं स्वभाव से गंदा हूँ।

मधु : (**उसी विषैली हँसी के साथ**) मैं कब कहती हूँ !

वसन्त : (**खड़ा हो जाता है**) ऐसे दिन मुझ पर आये हैं, जब एक बनियाइन पहने मुझे कई-कई दिन गुज़र जाते थे। उसे धोने तक का अवकाश नहीं मिलता था और अब मैं दिन में दो-दो बार बनियाइन बदल लेता हूँ। यदि यह गंदेपन की आदत है तो...

मधु : (**उसी हंसी के साथ**) मैं कब कहती हूँ।

वसन्त : स्वच्छता बुरी नहीं, न सुरुचि बुरी है, पर तुम तो हर चीज़ को सनक की हद तक पहुँचा देती हो और सनक से मुझे चिढ़ है। (**फिर कमरे में घूमने लगता है**) बनियाइनों और तौलियों की क़ैद मैंने मान ली, लेकिन यदि मैं ग़लती से बनियाइन न बदल पाऊँ, या ग़लत तौलिया ले लूँ तो इसका यह मतलब तो नहीं कि मैं स्वभाव से गंदा हूँ और मेरे इस स्वभाव पर तुम्हें मुँह फुलाकर बैठ जाना या अपनी विषैली हँसी बिखेरना चाहिए।

मधु : (चुप रहती है)

वसन्त : (रेडियो के पास से) तुमने अपने-आपको इन झूठे बंधनों में इतना जकड़ लिया है कि मेरा ज़रा-सा खुलापन भी तुम्हें अखरता है। अपने सिद्धांतों को तुमने सनक की हद तक पहुँचा दिया है। ऊषी और निम्मो...

मधु : (बुनना छोड़ देती है) आपने फिर ऊषी और निम्मो की बात चलायी। ऊषी और निम्मो...

वसन्त : (हँसते हुए) कल मिल गयीं बाज़ार में। मैंने पूछा—निम्मो आयी नहीं तुम इतने दिनों से ? कहने लगी—हमको चची से डर लगता है। (हँसता है।)

मधु : (उसी विषैली हँसी के साथ) मैं उन्हें खा जो जाती हूँ।

वसन्त : (तिपाई के पास) खाओगी तो तुम क्या, पर वे बच्चियाँ हैं...

मधु : बच्चियाँ ! (व्यंग्य से मुँह बिचकाती हुई हँसती है।)

वसन्त : (उसके व्यंग्य को सुना-अनसुना करके तिपाई पर बैठते हुए)हँसना उनका स्वभाव है। वे हँसेंगी तो बेबात की बात पर हँसेंगी और तुम्हारी 'सुरुचि' और संस्कृति'—बस दबे-दबे, घुटे-घुटे फिरो—ऊँह ! बेज़ारी से सिर हिला कर उठता है) जो आदमी जी भर खा-पी नहीं सकता; हँस-हँसा नहीं सकता, वह जिंदगी में कर ही क्या सकता है। दुख और मुसीबतों के बंधन ही क्या कम हैं, जो ज़िंदगी को शिष्टाचार की बेड़ियों से जकड़ दिया जाये—यह न करो, वो न करो; ऐसे न बोलो, वैसे न बोलो; यों न बैठो वों न बैठो—इन वर्जनाओं का कहीं अंत भी है ?

मधु : (चुप रहती है)

वसन्त : और फिर तुम्हारे इस शिष्टाचार में वह स्निग्धता कहाँ है ? तुम्हारे आने से पहले मैं, देव और नारायण एक ही लिहाफ़ में बैठ जाते थे। ज़रा कल्पना तो करो—सर्दियों की सुबह या शाम, एक ही चारपाई पर, एक ही रजाई घुटनों पर ओढ़े, चार-पाँच मित्र बैठे हैं। गप्पें चल रही हैं। सुख-दुख की बातें हो रही हैं। वहीं चाय आ जाती है। साथ-साथ बातें होती हैं, साथ-साथ चुस्कियाँ लगती हैं —इस कल्पना में कितना आनंद है ? कितनी स्निग्धता है ? अब मित्र आते हैं। अलग-अलग कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। एक-दूसरे पर बोझ मालूम होता है। (जोश से) चिड़िया तक तो फटकने नहीं देतीं तुम बिस्तर के पास। मैं तो इस तकल्लुफ़ में घुटा जाता हूँ।

जाकर कुर्सी पर बैठ जाता है और हजामत का सामान ठीक से रखने लगता है।)

मधु : मैं स्वयं तकल्लुफ़ पसंद नहीं करती। पर जब दूसरों को सफ़ाई का कुछ भी ख़याल न हो तो विवश हो, इससे काम लेना पड़ता है।

आप ही बताइये—कितने लोग हैं, जिन्हें सफ़ाई की आदत है? कितने हैं, जो हमारी तरह पाँव धोकर रज़ाई में बैठते हैं?

वसन्त : **(वहीं से)** पाँव धोने की मुसीबत रज़ाई में बैठने का लुत्फ़ ही किरकिरा कर देती है।

मधु : कुत्ता भी बैठता है तो दुम हिलाकर बैठता है। आदमी स्वभाव ही से सफ़ाई-पसंद है। मुझे गंदे लोगों से सख्त नफ़रत है। **(फिर स्वेटर बुनने लगती है।)**

वसन्त : **(मुड़कर)** नफ़रत, नफ़रत, नफ़रत—यही तो मैं कहता हूँ। तुम्हें मुझसे नफ़रत है, मेरे स्वभाव से नफ़रत है, मेरे मित्रों से नफ़रत है। तुम्हारा वातावरण मेरे वातावरण से घृणा करता है।

मधु : **(उसी विषैली हँसी के साथ)** यह आप कह सकते हैं।

वसन्त : तुम्हें मेरी हर एक बात से घृणा है—मेरे खाने-पीने से, उठने-बैठने से, हँसने-बोलने से—मैं जब हँसता हूँ, जी खोलकर हँसता हूँ और इसीलिए ऊषी और निम्मो...

मधु : **(स्वेटर को फेंककर)** आपने फिर ऊषी और निम्मो की बात छेड़ी। मुझे हँसना बुरा नहीं लगता। पर समय-कुसमय का भी ध्यान होना चाहिए। उस दिन पार्टी में आते ही ऊषी ने मेरे कान पर चुटकी ले ली और निम्मो ने मेरी आँखें बंद कर लीं। कोई समय था उस तरह के हँसी-मजाक का। मुझे हँसी-मजाक से नफ़रत नहीं, बदतमीज़ी से नफ़रत है।

वसन्त : ऊषी...

मधु : परले सिरे की बदतमीज़ है। मदन की वर्ष-गाँठ के दिन वे सब आये थे। निम्मो इतनी चंचल है, पर वह तो बैठ गयी एक ओर, यह नवाबज़ादी सैंडल समेत आ बैठी मेरे सामने टाँगें पसारे और वे उसके गंदे सैंडल—मेरी साड़ी के बिल्कुल नज़दीक आ गये! आप इस बदतमीजी को शौक से पसंद करें, मैं इसे हरगिज पसंद नहीं कर सकती। जिसे बैठने, उठने, बोलने का सलीका नहीं, वह आदमी नहीं—पशु है।

वसन्त : **(गरजकर)** पशु! तुम तो मुझे पशु समझती हो? तुम आदमी की सहज भावनाओं को निर्मम वर्जनाओं की बेड़ियों में ऐसे बाँधकर रखना चाहती हो कि उसकी रूह ही मर जाये। मुझे यह सब पसंद नहीं और इसलिए तुम मुझसे घृणा करती हो। तुम्हारी इस विषाक्त हँसी में, मैं जानता हूँ, कितनी नफ़रत छिपी है और मुझे डर है कि किसी दिन मैं सचमुच पशु न बन जाऊँ। अभी मेरा जी चाहा था कि इस ज़लील-से तौलिये को उठाकर बाहर फेंक दूँ और...और...मेरा जी चाहा करता है कि मैं तुम्हारी इस हँसी

का गला घोंट दूँ। घृणा—तुम मेरी हर बात से घृणा करती हो—मुझे पशु समझती हो !

मधु : (स्वेटर उठाते हुए भरे हुए गले से) आप नाहक हर बात को अपनी ओर ले जाते हैं। अपनी कल्पना से मेरे मन में वे बातें देखते हैं, जो मैं स्वप्न में भी नहीं सोचती। मुझे आपसे नफ़रत है या नहीं, इसे मैं ही जानती हूँ, पर आपको मुझसे ज़रूर नफ़रत है। आपने मुझसे शादी कर ली, मैं जानती हूँ। क्यों कर ली, यह भी जानती हूँ। लेकिन शादी के लिए आपका तैयार हो जाना, यह नहीं बताता कि आपको मुझसे नफ़रत नहीं। इसका गुस्सा चाहे अब आप मेरी सुरुचि पर निकालें या संस्कृति पर, पहनावे पर या स्वभाव पर !

वसन्त : तुम तो...

मधु : मेरा ख़याल था, मैं आपको सुख पहुँचा सकूँगी। आपके अव्यवस्थित जीवन को व्यवस्था सिखा दूँगी; किंतु मैं देखती हूँ कि मेरी सारी कोशिशें बेकार हैं।...आपको इस गंदगी में, इस अव्यवस्था में सुख मिलता है। आपको मेरी व्यवस्था मेरी सफ़ाई बुरी लगती है। मैं आपकी दुनिया में न रहूँगी। मैं आज ही चली जाऊँगी !

उठ खड़ी होती है—तभी टेलीफ़ोन की घंटी बजती। वसन्त जल्दी से जाकर चोंगा उठाता है।

वसन्त : हैलो, हैलो ! जी, जी !

मधु : (**नौकरानी को आवाज़ देते हुए**) मंगला !

मंगला : **स्नानगृह की ओर के दरवाजे से आती है**) जी बीबीजी !

मधु : मेरा बिस्तर तैयार कर और मेरा ट्रंक इस कमरे में ले आ।

मंगला : बीबीजी आप...

मधु : मैं जो कहती हूँ उठा ला !

मंगला चली जाती है। वसन्त 'जी, जी बहुत अच्छा।' कहते हुए चोंगा रख देता है और हँसता हुआ आता है।

वसन्त : मैं कहता हूँ तुम अपना सामान बाँधने की सोच रही हो, पहले मेरा सामान ठीक कर दो। मुझे पहली गाड़ी से बनारस जाना है। अभी साहब ने आदेश दिया है। अपना सामान बाद में बाँधना।

हँसता है—परदा तत्काल गिरता है।

कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है। कमरा वही है। सामान भी वही है। सिर्फ़ इतना अंतर है कि जहाँ मेज़ थी, वहाँ एक पलँग बिछा है। और टेलीफ़ोन उसके सिर-हाने एक तिपाई पर रखा है। मेज़ ड्रेसिंग-टेबल की जगह चली गयी है। और शृंगार की मेज, अपनी कुर्सी के साथ

दायें कोने को सरक गयी है।

पलँग पर मधु, लिहाफ़ घुटनों पर लिये, दीवार के सहारे, अन्यमनस्क-सी आधी लेटी है।

कुछ क्षण के बाद वह कैलेंडर की ओर देखती है। उसकी दृष्टि का अनुसरण करते ही मालूम होता है कि जनवरी का महीना है और नया साल चढ़ गया है, जिसका मतलब यह है कि मधु को हम दो महीने बाद देख रहे हैं। बाहर का दरवाज़ा खुला है और तीखी हवा अंदर आ रही है। लिहाफ़ को कंधों तक खींचते हुए मधु नौकरानी को आवाज़ देती है।—'मंगला, मंगला !' लेकिन आवाज़ इतनी हल्की है कि शायद मंगला तक नहीं जाती। मधु रज़ाई लेकर लेट-सी जाती है। कुछ क्षण बाद मंगला स्वयं ही आती है।

मंगला : बीबीजी, यह आप उदास-उदास क्यों हैं ?

मधु : (लेटे-लेटे ज़रा सिर उठाकर) मंगला, यह किवाड़ बंदकर दे, बर्फ़-सी हवा अंदर आ रही है।

मंगला : (किवाड़ बंद करते हुए) मेरी बात का जवाब नहीं दिया आपने बीबीजी ?

मधु : योंही कुछ तबीयत उदास है मंगला !

मंगला : कोई पत्र आया बाबूजी का ?

मधु : आया था। शायद आज-कल में आ जायें !

मंगला : तो फिर...

मधु : (विषाद से हँसकर) तबीयत कुछ भारी-भारी-सी है। शायद सर्दी के कारण...

दरवाजे पर दस्तक होती है।

: (ज़रा उठकर) कौन ?

सुरो : (बाहर से) दरवाजा तो खोलो।

मधु : (बैठकर) मंगला, ज़रा किवाड़ खोलना।

मंगला दरवाज़ा खोलती है। सुरो और चिन्ती आती हैं।

: (रज़ाई परे करके) अरे सुरो ! चिन्ती ! तुम यहाँ कैसे ?

सुरो : आज ही सवेरे यहाँ उतरी हैं।

चिन्ती : माताजी प्रयाग जा रही थीं। सरिता बहन का ख़याल था कि दिल्ली भी देखते चलें।

मधु : ठहरी कहाँ हो ?

चिन्ती : कनाट प्लेस में मलिक चाचाजी के यहाँ। देर से उनका अनुरोध था कि दिल्ली आयें तो...

मधु : और मुझे पत्र तक नहीं लिखा ! इतने दिनों से मैं कह रही थी कि दिल्ली आओ तो ..

सुरो : सबसे पहले तुम्ही से मिलने आये हैं। माताजी कहती थीं कुतुब मीनार...

चिन्ती : मैंने कहा, कुतुब मीनार एक तरफ़ और मधु बहन एक तरफ़...

मधु ठहाका लगाती है।

सुरो : और फिर दो घंटे से मारे-मारे फिर रहे हैं तुम्हारी तलाश में।

मधु : लेकिन पता तो मेरा...

चिन्ती : सुरो बहन भूल गयीं। इन्होंने तांगे वाले को भैरों के मंदिर चलने के लिए कह दिया।

मधु : **(आश्चर्य से)** भैरो के मंदिर...

चिन्ती : और ताँगे वाला ले गया सब्ज़ी मंडी, कहीं तीस हज़ारी के गिरजे के पास।

मधु : गिरजे के पास...**(ज़ोर से ठहाका लगाती है।**

चिन्ती : **(अपनी बात जारी रखते हुए)** तब इन्हें ख़याल आया कि मंदिर तो हनुमान का है। फिर नयी दिल्ली वापस आयीं।

मधु फिर ज़ोर से हँसती है।

सुरो : और तब पता चला कि हम लोग तो यों ही परेशान होते रहे। घर तो तुम्हारा पास ही था।

मधु : तुम लोग भी, मैं कहती हूँ...**(ज़ोर से हँस पड़ती है।)**

सुरो : यह इतना हँसना तुम कहाँ से सीख गयीं। तुम तो थीं जन्म की सिड़ी...

चिन्ती : भाई साहब ने सिखा दिया इतने ज़ोर के ठहाके लगाना ! कहाँ हैं वे ?

मधु : बनारस गये हुए हैं, दो महीने से। वहाँ की फ़र्म का मैनेजर बीमार पड़ गया था। शायद आज-कल में आ जायें।

चिन्ती : अच्छे तो हैं ?

मधु : अच्छे हैं। मौज में हैं। लेकिन तुम खड़ी क्यों हो ? इधर आ जाओ बिस्तर पर ! **(नौकरानी को आवाज़ देती है)** मंगला, मंगला !

सुरो और चिन्ती कुर्सियों पर बैठने लगती हैं।

: अरे कुर्सियाँ छोड़ो। बस चली आओ इधर। पलँग पर बैठते हैं लिहाफ़ लेकर।

सुरो : लेकिन मेरे पाँव ! **(हँसकर)** और मैं धो नहीं सकती इन्हें।

मधु : अरे क्या हुआ है तुम्हारे पाँवों को। जुराबें तो पहन रखी हैं तुमने ?

चिन्ती : पर तुम्हारा बिस्तर ?

मधु : कुछ नहीं होता बिस्तर को। मेरे बिस्तर का ख़याल छोड़ो। बस

चली आओ इधर। यह किवाड़ बंद कर दो, बर्फ़-सी हवा अंदर आ रही है।

मंगला आती है।

मंगला : आपने आवाज़ दी थी बीबीजी ?

मधु : मंगला चाय बनाकर लाओ !

चिन्ती किवाड़ बंद कर देती है। तीनों घुटनों पर लिहाफ़ लेकर आराम से बिस्तर पर बैठ जाती हैं।

सुरो : पुष्पा की शादी हो रही है, अगले महीने।

मधु : **(चौंककर ख़ुशी से)** लेफ़्टिनेंट वीरेन्द्र के साथ ?

चिन्ती : (हँसकर) सब तुम्हारे जैसी नहीं। वह प्रेम करती रहेगी वीरेन्द्र से ज़िदगी भर, पर शादी तो उसकी प्रोफ़ेसर मुंशीराम ही के साथ होगी।

मधु : पर मुंशीराम...

सुरो : खड़े का ख़ालसा[1] है ! भई लेफ़्टिनेंट साहब तो आते हैं कभी-कभी वर्ष भर में एक-दो बार और प्रोफ़ेसर साहब सिर पर सवार रहते हैं आठों पहर, बुरे साये की तरह !

चिन्ती : लम्म-सलम्मा लमढींग-सा आदमी, ज़ोर की हवा चले तो उड़ता चला जाये। मैं तो सोचती हूँ कि उसे पुष्पा-जैसी मोटी-मुटल्ली से प्रेम भी हुआ तो कैसे ?

मधु : और मैं इस बात पर हैरान हूँ कि पुष्पा उसे पसंद ही कैसे करती है ! मैं तो उसे पाँच मिनट के लिए भी सहन न कर सकूँ। चेहरे पर तो उसके नहूसत बरसती है और मालूम होता है जैसे...

चिन्ती : वर्षों गुसलख़ाने का मुँह न देखा हो।

सुरो : सहन तो उसे करना ही पड़ता है। उसके पिता प्रोफ़ेसर मुंशीराम पर बड़े प्रसन्न हैं। उन्होंने प्रोफ़ेसर साहब को पढ़ाया-लिखाया और अपने कॉलेज में लगाया। वीरेन्द्र तो चार वर्ष बी० ए० में रहे और प्रोफ़ेसर मुंशीराम ने रिकॉर्ड तोड़ा था।

चिन्ती : अब दोनों मिलकर बच्चे पैदा करने का रिकॉर्ड तोड़ेंगे।

सब हँसती हैं—मंगला चाय की ट्रे लाती है।

मंगला : कहाँ लगाऊँ चाय बीबीजी ?

मधु : वहाँ मेज़ पर रख दो और एक-एक प्याला बनाकर हमें दो। यह तिपाई सरका कर इस पर बिस्कुट रख दो।

सुरो : **(आश्चर्य से)** मधु !

मधु : अरे उठकर कहाँ जाओगी ! यहीं बैठी रहो। इस गर्म बिस्तर से

---

1. पंजाबी का मुहावरा—जो आदमी सिर पर खड़ा रहता है, वह काम निकाल लेता है।

उठकर डाइनिंग-टेवल पर जाने में आ चुका चाय का मज़ा।

चिन्ती : (उठने का प्रयास करते हुए हल्के से क्रोध से) मधु !

मधु : हटाओ भी। अव वैठी रहो यहीं।

चिन्ती : (व्यंग्य से) तो व्याह के वाद रानी मधुमालती ने अपने सव सिद्धांत वदल डाले हैं। अव डाइनिंग-टेवल के बदले बिस्तर पर चाय पीती हैं और विस्तर पर ही खाना भी नोश फ़रमाती हैं।

सुरो : कहाँ तो यह कि पानी का गिलास भी पीना हो तो डाइनिंग-रूम की ओर भागतीं और कहाँ यह कि...

मधु : अरे क्या रखा है इस तकल्लुफ़ में। सच कहो, इस समय किसका जी चाहता है कि इस नर्म-गर्म विस्तर से उठकर डाइनिंग-टेवल पर जाये। लो, विस्कुट लो और चाय का प्याला उठाओ। ठंडी हो रही है।

सव चाय के प्याले उठा लेती हैं और चाय पीते-पीते बातें करती हैं।

सुरो : मैं पूछती हूँ—चाय विस्तर पर गिर जाये तो ?

मधु : तो क्या हुआ। चादर धुलवाई जा सकती है। और फिर किसी दिन सहसा हो आने वाली दुर्घटना के भय से कोई अपने रोज़ के सुख-आराम को तो नहीं छोड़ देता।

सुरो : सुख-आराम (व्यंग्य से हंसती है) तुम विस्तर पर चाय पीने को वहुत वड़ा सुख समझती हो...(फिर हँसती है।)

चिन्ती : और फिर संस्कृति, सुरुचि...

मधु : आदमी की वुनियादी प्रवृत्तियों पर नित्य नये दिन चढ़ते चले जाने वाले पर्दों का नाम ही तो संस्कृति है। सोसाइटी के वर्ग के लिए दूसरा वर्ग हमेशा असभ्य और गंवार रहेगा। फिर कहाँ तक आदमी सभ्यता और संस्कृति के पीछे भागे। और रही सुरुचि, तो यह भी अभिजात वर्ग की स्नाव्री[1] का दूसरा नाम है।

सुरो : यह तुम क्या कह रही हो ! क्या तुम चाहती हो कि इतना कुछ सीख-समझकर आदमी फिर पहले की तरह वर्वर वन जाये ?

मधु : नहीं, वर्वर वनने की क्या ज़रूरत है। आदमी सीमाओं को छूता हुआ क्यों चले। मध्य का मार्ग क्यों न अपनाये। न इतना खुले कि वर्वर दिखायी दे, न इतना वँधे कि सनकी—महात्मा वुद्ध ने कहा है...

सुरो : (हँसकर) महात्मा वुद्ध ! तुम्हें हो क्या गया है, सदियों पुराने, गले-सड़े विचारों को तुम आज की सभ्यता पर लादना चाहती हो !

---

1. Snobbery = अपने से छोटों को हेय समझने का स्वभाव।

चिन्ती : मनुष्य हर घड़ी, हर पल, प्रगति के पथ पर अग्रसर है। आज के सिद्धांत कल काम न देंगे और कल के परसों। बर्नार्ड शॉ...

मधु : (**व्यंग्य से हँसकर**) बर्नार्ड शॉ—हटाओ क्या बे-मज़ा बहस ले बैठी हो। मंगला, चाय का एक-एक कप और बनाओ।

चिन्ती : बस भाई, अब तो हम चलेंगे। इतनी देर हो गयी हमें यहाँ आये। मंगला, हाथ धुला दो हमारे।

मधु : अरे भाई एक-एक प्याला तो और लो।

सुरो : नहीं मधु, अब चलेंगे। वहाँ सब लोग परेशान हो रहे होंगे। हमने कहा था, हम केवल मधु का घर देखने जा रहे हैं। एक-आध घंटे में लौट आयेंगे और यहाँ आने ही में दो घंटे लग गये।

चिन्ती : बाथ-रूम किधर है ? हम वहीं हाथ धो आते हैं।

मधु : अरे क्या धोओगी इस सर्दी में हाथ ?

सुरो : नहीं भई, हाथ तो हम ज़रूर धोयेंगे ! चिप-चिप कर रहे हैं।

मधु : तो मरो ! (**मंगला से**) मंगला, इनके हाथ धुलवा दो।

सुरो : बाथ-रूम...

मधु : अरे बाथ-रूम में जाकर क्या करोगी ? इधर बरामदे ही में धो लो।

किवाड़ खोलकर सुरो और चिन्ती हाथ धोती हैं। मधु चुपचाप अपने प्याले की शेष चाय पीती है।

सुरो : (**गीले हाथ लिए वापस आकर**) तौलिया कहाँ है ?

मधु : तौलिया नहीं दे गयी मंगला ? अच्छा वह ले लो, जो खूँटी पर टँगा है।

सुरो : (**क्रोध से**) मधु तुम अच्छी तरह जानती हो...

मधु : मंगला, इन्हें अंदर से एक धुला हुआ तौलिया ला दो।

चिन्ती भी गीले हाथ लिये आ जाती है। मंगला तौलिया ले आती है और दोनों हाथ पोंछती हैं।

मधु : मैं कहती थी, अभी कुछ देर बैठतीं !

चिन्ती : नहीं भई, अब कल आने की कोशिश करेंगे।

हाथ पोंछकर तौलिया कुर्सी की पीठ पर रख देती है।

मधु : कोशिश नहीं, ज़रूर आना ! भूलना नहीं ! और खाना यहीं खाना।

सुरो : हाँ, हाँ, ज़रूर आयेंगे।

मधु उठने का प्रयत्न करती है।

: अब उठने का तकल्लुफ़ न करो। बैठी रहो अपने गर्म लिहाफ़ में। दरवाज़ा हम बंद किये जाते हैं। बर्फ़-सी हवा अंदर आ रही है।

हँसती हुई चली जाती हैं, दरवाजा बंद किये जाती हैं।

मधु : मुझे एक प्याला और बना दो मंगला।

मंगला : (प्याला बनाकर देते हुए) ये कौन थीं बीबीजी ?

मधु : मेरी सहेलियाँ थीं। कॉलेज में हम साथ-साथ पढ़ते थे और होस्टल में भी साथ-साथ ही रहते थे।

कुछ क्षण मधु चुपचाप चाय पीती है, फिर :

: मंगला !

मंगला : जी, बीबीजी।

मधु : मंगला, ज़रा मेरी ओर देखकर बता तो क्या मैं सचमुच बदल गयी हूँ ?

मंगला : (चुप रहती है)

मधु : (जैसे अपने-आप से) मेरी सहेलियाँ कहती हैं, मैं बदल गयी हूँ। पड़ोसिनें भी यही कहती हैं ! मेरी ओर ज़रा देखकर बता तो मंगला क्या मैं वास्तव में बदली सकी हूँ ?

मंगला : मैं तो आठों पहर आपके पास रहती हूँ बीबीजी, मैं क्या जानूँ !

मधु : (अपनी बात जारी रखते हुए) मेरी आँखों में देखकर बता मंगला, क्या ये बदल सकी हैं। इनमे घृणा की झलक तो नहीं ?

मंगला : (आश्चर्य से) घृणा...

मधु : मेरे व्यवहार में तकल्लुफ़ और बनावट तो नहीं ?

मंगला : (उसी आश्चर्य से) बनावट...तकल्लुफ़...

मधु : तकल्लुफ़, बनावट, नफ़रत —तीनों को अब मैं अपने मन से निकाल देना चाहती हूँ (जैसे अपने-आप से) दो महीने पहले, वे इसी बात पर मुझसे लड़कर चले गये थे।

मंगला : क्या कह रही हैं बीबीजी आप ! बाबूजी तो...

मधु : (शून्य में देखते हुए) उनका गुस्सा अभी तक नहीं उतरा। इन दो महीनों में उन्होंने मुझे एक पत्र भी नहीं लिखा।

मंगला : एक पत्र भी नहीं लिखा ! लेकिन...

मधु : (व्यंग्य से) 'मैं कुशल से हूँ, अपनी कुशल का पता देना !' या 'मैनेजर बीमार है। ज्योंही स्वस्थ हुआ चला आऊँगा !—इन्हें तुम पत्र लिखना कहती हो। वे मुझसे नाराज़ हैं। उनका ख़याल है कि मैं उनसे घृणा करती हूँ।

मंगला : (कुछ भी समझने में असफल होते हुए) घृणा...घृणा !

मधु : यदि मैं बचपन ही से ऐसे वातावरण में पली हूँ, जहाँ सफ़ाई और सलीके का बेहद ख़याल रखा जाता है, तो इसमें मेरा क्या दोष है ? (लगभग भरे हुए गले से) वे सफ़ाई और सुरुचि को मेरी घृणा बताते हैं। मैं बहुतेरी कोशिश करती हूँ कि इस सब सफ़ाई-उफ़ाई को छोड़ दूँ, इन तकल्लुफ़ात को तिलांजलि दे दूँ, पर अपने इस

प्रयास में, कभी-कभी मुझे अपने-आप से घृणा होने लगती है। (लम्बी साँस भरकर) बचपन से जो संस्कार मैंने पाये हैं, उनसे मुक्ति पाना मेरे लिए उतना आसान नहीं (अचानक दृढ़ता से) पर नहीं ! मैं अपनी इस सारी सनक को छोड़ दूंगी। पुरानी आदतों से छुटकारा पा लूंगी। वो समझते हैं, मैं उनसे नफ़रत करती हूँ।

मंगला : आप क्या कह रही हैं बीबीजी ?

मधु : वो समझते है—मैं उनसे, उनके स्वभाव से, उनके वातावरण से—उनकी हर एक बात से घृणा करती हूँ। (सिसकने लगती है) मैंने इन दो महीनों में अपने-आपको बिल्कुल बदल डाला है।

दरवाजा अचानक खुलता है और वसन्त प्रवेश करता है।

वसन्त : हेल—लो मधु ! क्या हालचाल हैं जनाब के ? (**मंगला से**) मंगला, ताँगे से सामान उतरवाओ। और...(**जेब से पैसे निकालते हुए**) और यह लो डेढ़ रुपया ! ताँगेवाले को दे दो।

मंगला पैसे लेकर चली जाती है।

: (**फिर मधु के पास आते हुए**) कहो भाई, क्या हाल-चाल हैं ? यह सूरत कैसी रोनी बना रखी है ! जी कुछ ख़राब है क्या ?

मधु : (**जो इस बीच में पलंग से उतर आयी है—हँसने का प्रयास करते हुए**) सूखा जाड़ा पड़ रहा है। जुकाम है मुझे तीन-चार दिन से।

वसन्त : मैंने तुम से कितनी बार कहा है कि अपनी सेहत का ध्यान रखा करो। सेहत—सेहत—सेहत ! दुनिया में जो कुछ है, सेहत है। तुम्हारी यह सफ़ाई और सुघड़ता, यह सुरुचि और संस्कृति, ये नज़ाकतें और नफ़ासतें ज़िन्दगी में इतना काम न देंगी, जितना सेहत। अगर यही ठीक नहीं रहती तो ये सब किस काम की और जब यह ठीक है तो फिर इनकी कोई ज़रूरत नहीं। (**अपने कथन की बारीकी का स्वयं ही आनंद लेता है और फिर जैसे उसने पहली बार कमरे को अच्छी तरह देखा हो**) अरे ! यह काया-पलट कैसी ? यह पलँग ड्राइंग-रूम में कैसे आ गया ? और ट्रे और प्याले...।

मधु : मैंने पलँग इधर ही बिछा दिया है कि आप और आपके मित्रों को ज़रा भी कष्ट न हो। मज़े से लिहाफ़ लेकर बैठिये। टेलीफ़ोन आपके सिरहाने रहेगा।

वसन्त : (**उल्लास से**) वाह ! मैं कहता हूँ। तुम...तो, तुम...तो...बेहद अच्छी हो ! (**उसे आलिंगन में भर लेता है।**)

मधु : मैं स्वयं अपनी सहेलियों के साथ इसी लिहाफ़ में बैठी रही हूँ।

वसन्त : (**आश्चर्य-मिश्रित उल्लास से, दोनों बाँहों को थामे, उसकी आँखों**

में देखते हुए) सच !

मधु : (उसकी ओर प्रशंसा की इच्छुक प्यार-भरी दृष्टि से देखते हुए) और चाय भी हमने यहीं पी है।

वसन्त : (प्रसन्नता से) व...ा...ह ! (उसे छोड़ कमरे में एक चक्कर लगाकर) मैं कहता हूँ—अब तुम ज़िंदगी का राज़ समझ पायी हो। सफल जीवन का भेद बाहरी तड़क-भड़क में नहीं, अंतर की दृढ़ता में है। अगर हमारी प्रतिरोध-शक्ति, हमारी पावर ऑफ़ रिज़ेस्टेंस कायम है...

मधु : चाय भी अब आप यहीं पिया कीजियेगा; अपने नर्म-गर्म बिस्तर पर !

वसन्त : (अत्यधिक उल्लास से) वाह वा वाह ! अब इसी बात पर तुम मंगला से कहो, मेरे लिए चाय का पानी रखे।

मधु : अब तो आप नाराज़ नहीं हैं ?

वसन्त : (आश्चर्य से) नाराज़ !

मधु : आप इतने दिनों तक मन में ग़ुस्सा रख सकते हैं, यह मैंने सपने में भी न सोचा था।

वसन्त : (और भी आश्चर्य से) ग़ुस्सा !

मधु : दो महीने से आपने ढंग से पत्र तक नहीं लिखा !

वसन्त : पर मैंने...

मधु : लिखे थे...जी ! 'मैं कुशल से हूँ, अपनी कुशल का पता देना'— इसे पत्र लिखना कहते होंगे !

वसन्त : (ज़ोर से ठहाका मारता है) तो तुम इसका कारण यह समझती हो कि मैं तुमसे नाराज़ हूँ ? पगली ! तुमसे भी कभी कोई नाराज़ हो सकता है ?

मधु : पर दो पंक्तियाँ...

वसन्त : दो पंक्तियाँ लिखने का भी अवकाश मिल गया, तुम इसी को बहुत समझो।

मधु : अच्छा, आप जा कर हाथ-मुँह धो लीजिये। मैं चाय तैयार करती हूँ।

वसन्त : मैं कहता हूँ तुम कितनी...तुम कितनी...तुम कितनी अच्छी हो ! उसे बाँहों में भरकर कमरे में एक चक्कर दे देता है।

मधु : (हँसकर अपने-आपको उसके आलिंगन से मुक्त करते हुए) अच्छा, अच्छा चलिये, पहले हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलिये।

वसन्त : यह फिर तुमने कपड़े बदलने की पख लगायी ?

मधु : क्यों, कपड़े न बदलियेगा ? एक रात और एक दिन गाड़ी में सफ़र करके आये हैं। रास्ते की धूल सारे शरीर पर पड़ी हुई है। चलिये,

चलिए, जल्दी हाथ-मुँह धोकर कपड़े वदलिए। मैं इतने में चाय तैयार करती हूँ (वसन्त को स्नानगृह के दरवाज़े की ओर धकेल देती है और नौकरानी को आवाज़ देती है) मंगला, मंगला।

मंगला : (दूसरे दरवाज़े से झाँकती है) जी बीबीजी !

मधु : सामान रखवा लिया या नहीं ?

मंगला : जी बीबीजी !

मधु : यह ट्रे और प्यालियाँ उठा। पानी तो चाय का ठण्डा हो गया होगा। बाबूजी उधर हाथ-मुँह धोने गये हैं। मैं और पानी रखती हूँ। इतने में यह पानी फेंककर चायदानी और प्यालियाँ अच्छी तरह धो डाल !

मंगला ट्रे आदि उठाकर जाती है। एक चम्मच गिर जाता है।

: (कुछ तीखे स्वर में) यह चम्मच फिर फ़र्श पर गिरा दिया तूने। वीस वार कहा है कि चम्मच न गिराया कर फ़र्श पर, चिप-चिप होने लगती है। अब ट्रे वाहर रखकर इस जगह को गीले कपड़े से पोंछ डाल !

वसन्त : (स्नानगृह से) अरे भई, साबुन कहाँ है ?

मधु : ध्यान से देखिये। वहीं तख़्ती पर पड़ा है।

वसन्त : (वहीं से) और तौलिया !

मधु : हाथ-मुँह धो आइये और इधर कमरे से सूखा नया तौलिया लेकर पोंछ लीजिये।

मंगला कपड़े का टुकड़ा भिगोकर लाती है और चुपचाप फ़र्श साफ़ करने लगती है।

: तू फ़र्श साफ़ करके चायदानी और प्यालियाँ धो डाल और मैं पानी रखती हूँ चाय का।

रसोई-घर के दरवाज़े से चली जाती है। कुछ क्षण तक मंगला चुपचाप फ़र्श साफ़ किये जाती है। फिर वसन्त हाथ-मुंह धोकर कुर्ते की आस्तीनें चढ़ाये, गुनगुनाता हुआ आता है :

हिंडोला कैसे झूलूं, मेरा जिया डोले रे।
मैं झूला कैसे झूलूं, मेरा जिया डोले रे।

और अपने ध्यान में मग्न कुर्सी की पीठ पर पड़े हुए उस तौलिये से मुंह पोंछने लगता है, जिससे मुरो और चिन्ती हाथ-मुंह पोंछकर गयी हैं।

मधु : (रसोईघर से) यह केतली कैसी वना रखी है मंगला तूने ! मनों मैल जमी हुई है पेंदे में ! (केतली हाथ में लिये आती है) तुझे कभी

बर्तन न साफ़ करने आयेंगे मंगला ! कितनी बार कहा कि सफ़ाई का...(**अचानक वसन्त को सुरो वाले तौलिये से मुँह पोंछते हुए देखकर लगभग चीख़ते हुए**) यह सूखा तौलिया नया तौलिया लिया है आपने ? मैं पूछती हूँ, आप सूखे और गीले तौलिये में भी तमीज़ नहीं कर सकते। अभी तो सुरो और चिन्ती चाय पी कर इस तौलिये से हाथ पोंछकर गयी हैं।

वसन्त : (**घबराकर**) पर नया तौलिया...

मधु : नया तौलिया उधर कमरे में टँगा है।

वसन्त : ओह ! ये कम्बख़्त तौलिये ! मुझे ध्यान ही नहीं रहता। असल में दोनों तौलिये साफ़ हैं, मुझे...

मधु : जी साफ़ हैं ! ज़रा आँख़ खोलकर देखिये ! गीले और सूखे...

वसन्त : मैंने ऐनक उतार रखी है और ऐनक के बिना तुम जानती हो, हमारी दुनिया...(**खिसियानी हँसी हँसता है।**)

मधु : जी ! आपकी दुनिया ! जाने आप किस दुनिया में रहते हैं। अब तो ऐनक नहीं। ऐनक हो तो कौन-सा आपको कुछ दिखायी देता है !

मुँह फुलाकर धम से काउच में धँस जाती है।

वसन्त : यह तुमने फिर मुँह लटका लिया। नाराज़ हो गयी हो ?

मधु : (**व्यंग्य से हँसकर**) नहीं, मैं नाराज़ नहीं।

वसन्त : (**चिल्लाकर**) तुम्हारा ख़याल है, मैं इतना मूर्ख हूँ, जो यह भी नहीं पहचान सकता !

पर्दा सहसा गिर जाता है।

1943

देवताओं की छाया में

पात्र

मरजाना रज्जी
नूरी भरी
बेगाँ रहीम
चौधरी, जलाल, ताफ़ी, आदि

उन्नति के इस युग में, जब नागरिकों के जीवन का स्तर दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है और नगरों के तंग, गंदे, सील-दार मकानों में उनका दम घुटने लगा है, बड़े-बड़े नगरों के इर्द-गिर्द मीलों तक नयी आबादियां बसती चली जा रही हैं, जिनमें से कई गाँवों के समीप तक चली गयी हैं।

काक्कूके ऐसी ही एक नयी आबादी के पास दो-ढाई सौ कच्चे घरों का एक गांव है। एक व्यवसायी सोसाइटी ने, जो शिष्ट-व्यवसाय की कला में निपुण है, इसके पास तीन-चार सौ एकड़ ऊसर धरती सस्ते दामों मोल ले ली है और फिर इस अपील पर कि उस धरती पर एक नये समाज की नींव रखी जायेगी, जो सम्प्रदाय के स्थान पर मानव को अपने प्रेम का भाजन बनायेगा और देश के दीन-हीन कृषकों का सुधार करेगा, मँहगे दामों प्लॉट बेच कर, 'देव नगर' नाम से एक नयी बस्ती का सूत्रपात कर दिया है। निकटवर्ती गाँवों के धरती-विहीन मजदूर वहाँ सुबह सात-आठ बजे से शाम के सात-आठ बजे तक सख्त सर्दी अथवा सख्त गर्मी में काम करते हैं और पाँच-छह आने दैनिक मजूरी पाते हैं। और वे लोग पत्र-पत्रिकाओं में बड़े गर्व-भरे स्वर में घोषणा करते हैं कि उन्होंने लाखों रुपये देहात में वितरित कर दिये हैं और उनके नगर के निकटवर्ती

गाँव संपन्न हो रहे हैं।

इसी काकूके के एक आँगन में पर्दा उठता है।

मरजाना बैठी ओखली में धान कूट रही है। ओखली धरती में गड़ी है और इसके इर्द-गिर्द धरती से ज़रा-ज़रा ऊँची मिट्टी की तह जमाकर गोबरी[1] कर दी गयी है। मूसल की धमक से धान उछल-उछलकर बाहर बिखर-बिखर जाते हैं और वह उन्हें फिर समेट, ओखली में डाल कर कूटे जाती है।

मरजाना सोलह-सत्रह वर्ष की ग्रामीण युवती है। शरीर भरा-गठा है, रंग गोरा, लेकिन नासाफ़, बाल रूखे और उलझे—दो-दो, चार-चार लटें दोनों ओर कपोलों पर बिखरी हुई हैं। ओढ़नी के नाम पर पुरानी गर्म लोई का टुकड़ा सिर पर है, जो धान कूटते समय कंधों पर आ रहता है।

मरजाना के पीछे रसोई-घर है, जिसका चौखट-विहीन दरवाज़ा कोने में है। उसके दायीं ओर दर्शकों के सामने दो कोठरियाँ हैं, जिनमें से एक का दरवाज़ा खुला है और एक का बंद। तीसरी कोठरी का दरवाज़ा रसोई-घर के बे-चौखट के दरवाज़े में से दिखायी देता है। रसोई-घर की दीवार सात-आठ फुट से कुछ ही ऊँची है। इसमें एक झरोखा है, जिसमें से धुआँ निकलकर दीवार को सियाह कर चुका है। इसी झरोखे के नीचे खूंटी से सूप लटक रहा है।

बायीं ओर तथा रसोईघर के इधर को दायीं ओर, कच्ची रसोईघर जितनी ही ऊँची, चारदीवारी है।

आँगन में एक चारपाई पड़ी है, जिसके पाये और बाध बेहद घटिया किस्म का है। इसी चारपाई के पास बायीं ओर को कुछ हटकर, धरेक (बकायन) का एक युवा पेड़ है, जो सर्द-हवा के झोंकों से कभी-कभी सिहर उठता है।

मरजाना चुपचाप धान कूटती है। खाँजन[2] का ढेर उसके पास लगा है। कार्तिक को बीते कुछ ही दिन गुज़रे हैं। आकाश पर आज सारा दिन बादल रहे हैं और धूप

---

1. गोबर मिट्टी डालकर लीपना।
2. कूटे हुए धान को पंजाब में खांजन कहते हैं।

अब निकली भी है तो सफ़ेद-सफ़ेद-सी, मुरझायी-मुरझायी सी, यक्ष्मा से पीड़ित की मुस्कान की तरह, सुर्ख़ी तो दूर, पीलापन तक उसमें नहीं है।

सर्द हवा का एक झोंका आता है और एक झुरझुरी-सी लेकर तथा ओढ़नी को सिर पर करके वह तेज़ी से मूसल चलाने लगती है।

गली के दरवाज़े से भागती पर ठिठुरती हुई नूरी आती है और धम् से आकर मरजाना के सामने बैठ जाती है, मरजाना नहीं बोलती, सिर नीचा किये चुपचाप धान कूटे जाती है।[1]

नूरी : मरजी, मरजी !

मरजाना चुप मूसल चलाये जाती है।

: (प्यार से) मरजानी !

मरजाना चुप।

: (चिढ़कर शरारत से) ई मर-जानी[2] !

मरजाना : (सिर उठाकर और झटके से बालों की लटों को पीछे करके) मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है नूरी कि गाली न दिया करो ! (फिर मूसल चलाती है।)

नूरी : ओहो, बड़े मिज़ाज तेज़ हैं मेरी बीबी के, आज रहमे से झगड़ा हो गया होगा न...

मरजाना : (कूटना छोड़कर) मैं कहती हूँ तुम बाज़ न आओगी ? (मुख लाल हो जाता है।)

नूरी : और मैं पूछती हूँ बंदर की बला तबेले के सिर क्यों ? भाई रहीम रूठ गये होंगे तो मान जायेंगे। कब तक रूठेंगे ? आखिर पड़ना तो उन्हें एक दिन तुम्हारे ही पाँवों पर है ना, आज मँगेतर हैं तो कल...

मरजाना : (मूसल उठाकर) तू पिटे बिना न मानेगी !

नूरी उठकर भागती है। मरजाना मूसल उठाकर उसके पीछे भागती है। दोनों चारपाई के इर्द-गिर्द चक्कर काटती हैं, बकायन का पेड़ धीरे-धीरे हिलता है। बेगां तीसरी

---

1 मर-जानी पंजाबी की आम घरेलू गाली है—मरने योग्य।

2 नोट—(रंगशाला के निर्देशक के लिए) रसोई-घर दर्शकों की दायीं ओर रंगमंच के आधे पिछले हिस्से की ओर है, रसोई-घर के इधर की ओर, आँगन की दायीं दीवार के साथ कुछ पौधे लगे हुए हैं। मरजाना इस तरह बैठी है कि रसोई-घर उसके पीछे और सामने की कोठरियाँ उसके दायीं ओर को हैं, बकायन का पेड़ और गली का दरवाज़ा सामने है। गली का दरवाज़ा काफ़ी इधर को है।

कोठरी से, रसोईघर के दरवाजे में से होती हुई, निकलती है। खूँटी से सूप उठाती है।

वेगाँ : अरी यह क्या धमाचौकड़ी मचा रखी है ? यह धान कूटे जा रहे हैं या ज़मीन ! (**ओखली के पास बैठकर खांजन फटकने के लिए सूप में भरती है।**) शर्म नहीं आती तुझे ?

नूरी धम् से आकर उसके पास बैठ जाती है। तनिक लज्जित-सी होकर मरजाना भी आ बैठती है और मूसल चलाने लगती है। बेगाँ धान फटकती है।

: इतनी बड़ी हो गयी है, अभी बच्चों की तरह भाग-दौड़ कर रही है। तुम्हारे जितनी लड़कियाँ तो दो-दो बच्चों की माएँ हैं। (**हाथ से भूसी चावलों से अलग करती हुई**) और क्यों री नूरी, कोई काम नहीं है तुझे ?

नूरी : मैं तो चाची, भरी के घर वाले की बात सुनाने आयी थी कि यह मेरे पीछे पड़ गयी।

मरजाना : (**कूटना छोड़कर**) गाली नहीं दी तूने ?

नूरी : मैंने गाली दी ? अल्लाह कसम मैंने तो प्यार से मरजानी कहकर बुलाया था।

मरजाना : (**क्रोध से**) मर...जानी !

वेगाँ : (**फटकना छोड़कर**) क्या हुआ भरी के शौहर को ?

नूरी : मैंने 'मर-जानी' कब कहा, रूठी बैठी है किसी से और लड़ती है किसी से। आ लेने दे भाई रहीम को...

शरारत से मरजाना की ओर देखती है, मरजाना आग्नेय दृष्टि से एक बार उसकी ओर देखकर फिर जल्दी-जल्दी धान कूटने लगती है।

वेगाँ : (**उत्सुकता से**) भरी के ख़ाविंद की क्या बात थी ?

नूरी : कल टकुआ[1] लेकर अपनी सास के घर जा पहुंचा। रज्जी लाहौर गयी हुई थी। घर में बहन और उसकी लड़की थी। वह भरी को ज़बरदस्ती उठाने लगा। बहन ने रोका तो पिल पड़ा उस पर। कहने लगा मैं कतल कर दूंगा सबको। उसने हाय-तौबा मचायी तो लोग इकट्ठे हो गये।

रज्जी अस्त-व्यस्त, परेशान और सजल-आंखें लिये प्रवेश करती है।

रज्जी : (आते-आते) सुनी मरजी की अम्मा तूने इस लड़के की बात ? तो अभी आयी लाहौर से, पता चला कि रात कतल करने चढ़

---

1. फरसा।

दौड़ा। (**बैठकर आँसू पोंछते हुए आर्द्र कंठ से**) मेरी बहन तक पर हाथ उठाया उसने। मैं तो अब पंचायत में फैसला करवा के रहूँगी।

बेगाँ : मैंने अभी नूरी से सुना, पर वह तो गया था फ़ौज में भर्ती होने !

रज्जी : गया था जहन्नुम में। जब से इधर बसें चलीं और दूध शहर जाने लगा और गाय-भैंसों का मोल चढ़ गया तो अपने जानवर बेचकर सपूत ने खा-उड़ा डाले। फिर कर्ज़ लेकर यहाँ हलवाई की दुकान खोली। जो बनाता था, वह अपने यार-दोस्तों को खिला देता था कि वे हमें तंग न करें। छह रुपया निगोड़ा साल का किराया, वह तो दुकान से निकाल न सका, और क्या तीर मार लेता ! फिर फेरा लगाने लगा, पर फेरा लगाना क्या आसान है ! जवानों की मौत मरना है—ऊसर में खोंचा उठाके गाँव-गाँव फिरना, पैसा-पैसा करके दाम बटोरना। उसे छोड़, ताँगा चलाने लगा। फिर सुना था, फ़ौज में भरती होने चला गया है। मैंने सुख की साँस ली थी। कल फिर कहीं आसमान से आ टपका।

धीरे-धीरे सिसकने लगती है। बेगाँ एक-दो बार धान फटकती है। मरजाना अपने विचारों में मग्न धान कूटे जाती है।

रज्जी : (**आँसू पोंछकर**) करने को काम की क्या कमी है, अपनी खेती-बारी तो खैर गयी भाड़ में, खेत ही मेरे कमाऊ ने गिरवी रख दिये। लेकिन पास नगर बस रहा है। ख़ुदा ने घर बैठे रोज़ी दी है। दूसरे लड़के भी मजूरी करते हैं। लेकिन मजूरी को तो वह अपनी हतक समझता है (**फिर गला भर आता है**) आप बेकार फिरता है और गुस्सा निकलता है मेरी ग़रीब बेटी पर। (**गला साफ करती है और दुपट्टे से आँसू पोंछती है।**)

बेगाँ : (**फटकना छोड़कर**) हाँ, और कुछ नहीं तो पाँच-छह आने रोज़ तो कमाकर ला ही सकता है।

रज्जी : कमाकर क्या लायेगा, खाक ! उसे तो उनकी नकल की पड़ी हुई है। 'मैं इसे पर्दा न करने दूंगा', 'मैं इसे सैर करने ले जाया करूँगा', 'यह कुछ पढ़ती नहीं'—कोई पूछे तूने आठ जमातें पढ़ के कौन-सी कलक्टरी कर ली है ?—दो-एक बार लाहौर गया, वहाँ से ख़ुशबूदार साबुन, तेल और न जाने क्या-क्या फ़िज़ूल की चीज़ें ले आया। जो दस-बीस बीघे ज़मीन थी, इन्हीं लच्छनों के मुँह गिरवी रख दी, ढोर-डंगर तक ठिकाने लगा दिये; भरी की 'टूम्बें'[1] तक बेच-

---

1 गहने

बाचकर खा डालीं और इस पर दम वही है कि मैं टोकरी न उठाऊँगा। भला बीबी बताओ हम उन अमीरों की बराबरी कर सकते हैं ?

बेगाँ : अल्लाह अल्लाह करो ! **(सहानुभूति से भरी लम्बी सांस खींचती है।)**

रज्जी : मैं तो किसी को मुँह दिखाने की नहीं रही मरजी की अम्मा ! सबसे बैर मोल लेकर तो मैंने यह नाता किया। भरी के ताऊ अपने लड़के के लिए कितना जोर दे रहे थे ! पर ननद पीछे पड़ी थी इस अपने कपूत के लिए ! और फिर अल्लाह जानता है, जो मैंने एक पैसा भी लिया हो। सोचती थी, सब यही कहेंगे कि राँड़ लड़की का दाम लेकर मौज उड़ा रही है।

बेगाँ फिर खांजन फटकने लगती है। मरजाना चुपचाप धान कूटे जा रही है, जैसे उसे भरी की अम्मा की इस दुख-गाथा से कोई दिलचस्पी न हो, अथवा वह अपने ही किसी दुख में डूबी हुई हो।

रज्जी : **(पूर्ववत आर्द्र कंठ से)** मैं तो कुछ नहीं चाहती भाई **(हाथ से हवा को चीरती है)** वह चोरी करे, यारी करे, दुकान डाले, ताँगा चलाये, बस हमें खुलासी दे। **(उठकर पोधों में गला साफ़ करने जाती है फिर आकर बैठ जाती है।)**

नूरी : फूफी, अगर वह ले जाना चाहता है तो तुम क्यों नहीं भेज देतीं भरी को उसके साथ ?

रज्जी : न बीबी, अब नहीं। दो बार भेज चुकी हूँ। वह उसे बेतरह पीटता है। उसकी परदादी तक ने जो बातें नहीं कीं, वे सब उसे करने को कहता है। नहीं करती तो गँड़ासा और टकुआ दिखाता है। भरी को तुम जानती हो, सारा गाँव उसकी गवाही देगा। उस बेज़बान का क्या है ? जैसे धरती को पीट लिया, तैसे उसे पीट लिया ! ज़मीन-जायदाद खुद गिरवी रख दी; जो दो गहने थे, खा-उड़ा डाले। अब गुस्सा उस पर उतारता है। भरी के ताऊ उस दिन ननद के घर गये, यह सुनकर कि भरी को पीटा जा रहा है। बस उन्हें देखकर तो सादिक को खून चढ़ गया। कहने लगा, मैं इसे यहीं कतल कर दूंगा। तब उस भलेमानुष ने कहा कि बेटा तू कतल क्यों करेगा, मैं ही इसे साथ ले जाता हूँ। और अभी दस दिन नहीं हुए इस बात को कि टकुआ लेकर चढ़ दौड़ा ! **(धीरे-धीरे सिसकती है, फिर रोते-रोते)** न भाई मैं नहीं भेजती। **(फिर आँसू पोंछकर)** बख्शो बी बिल्ली, चूहा लँडूरा ही भला ! भाड़ पड़े सोना, जो कान खाय। मैं तो बीबी, पहले ही दुखों की मारी हूँ। भरी दो

साल की थी, जब उसके अब्बा अल्लाह को प्यारे हो गये। तब से जाने किस तरह मेहनत-मजूरी करके इसे पाला। सुनती थी, लड़का अच्छे मिज़ाज का नहीं, लोगों से लड़-झगड़ आता है, पर ननद ने कहा—लोगों से कोई लाख लड़े, अपने घर से तो सब बनाकर रखते हैं। (सहसा गला भरकर) न भाई, मैं तो अब कुछ नहीं चाहती, बस उसे खुलासी दे दे।

आँखों से आँसू पोंछती है। ठंडी हवा का एक झोंका आता है। धरेक का पेड़ झुरझुरी-सी लेता है।

बेगाँ : सूखी ठंड पड़ रही है। (**झुरझुरी लेकर**) हड्डियों में घुसी जा रही है। नूरी बेटी ज़रा रसोईघर से अँगीठी में कोयला तो डाल ला। हाथ सन्न हो रहे हैं।

नूरी उठकर जाती है।

बेगाँ : और तू मरजाना कोई कपड़ा ही ले ले, यह पाला तो...

फिर झुरझरी लेती है। मरजाना उत्तर नहीं देती। ओखली से कूटे हुए धान निकालकर बाहर कर देती है, पास पड़ी टोकरी से और डाल लेती है और फिर मूसल उठा लेती है।

रज्जी : मैं तो मरजी की अम्मा, परसों ही आ जाती, पर ठंडी सड़क पर एक इमारत गिर पड़ी।

बेगाँ : इमारत गिर पड़ी ?

रज्जी : हाँ। ठंडी सड़क के ऐन ऊपर। किसी कंपनी का दफ़्तर बन रहा था, तीन मंज़िला, ठेकेदार ने मसाला हलका लगाया या न जाने क्या हुआ, बस तीसरी मंज़िल की छत आ पड़ी। बीस-एक मज़दूर नीचे आ गये।

मरजाना अचानक कूटना छोड़ देती है और सुनने लगती है।

बेगा : बीस मज़दूर नीचे आ गये ! अल्लाह रहम करे। कोई मरा तो नहीं ?

रज्जी : मेरे भाई का लड़का भी काम करता था, वह तो बच गया, सिर्फ़ एक बाजू ही टूटा, लेकिन कई बेचारे दब गये (**तनिक काँपकर**) दो बेचारे तो पहचाने भी न जाते थे। लिलटन (लिंटन) की छत थी। लोहे की खपचियाँ उनके आर-पार हो गयीं। हड्डियाँ निकल आयीं। ऐ मेरे अल्लाह...

मरजाना : (**अचानक भर्राई हुई आवाज़ में**) अम्मा !

उसके स्वर की चिंता और आर्द्रता से सभी चौंक पड़ती हैं।

बेगाँ : क्या बात है ?

मरजाना : रहीम को अब काम पर न जाने देना।

बेगाँ : क्यों बेटी ?

मरजाना : मैं जो कहती हूँ। (स्वर और भी आर्द्र है।)

बेगाँ : पर क्यों ?

मरजाना : देवनगर में भी तो इतने ऊँचे-ऊँचे मकान बनते हैं और रहीम भी कुछ ऐसा ही नाम लिया करता है, निलटन या लिंटन या क्या, जिसकी छतें पड़ती हैं।

बेगाँ : अल्लाह सबका रखवाला है बेटी।

मरजाना : वह तो है, पर माँ कौन जाने...(सिहरकर) कोई पाँच-छह आने रोज़ाना के लिए जान तो नहीं गँवा लेता।

रज्जी : बच्ची, जिसकी आ जाये, उसे कौन बचा सकता है और जिसकी बनी है, उसे कौन मिटा सकता है। उन बेचारों की तो आ लगी थी, नहीं हज़ारों मकान बनते हैं, कोई सब थोड़े ही गिर पड़ते हैं। और फिर एक ताँगेवाला वहाँ ताँगा खड़ा करके आराम कर रहा था, वह मर गया। एक साइकिल वाला दब मरा। वे कोई मज़दूर थे ?

मरजाना फिर मूसल की चोट लगाती है, पर मन उसका उद्विग्न है, एक चोट नहीं लगाती कि मूसल रख देती है।

मरजाना : पर माँ और भी तो काम हैं वहाँ—सड़कें बनाना, मिट्टी उठाना, पानी लाना, सफ़ाई करना—वह उनमें से कोई क्यों नहीं कर लेता ? ये 'लिंटन' के मकान...रहीम आज आ जाये, तो मैं उसे न जाने दूँगी।

नूरी : (शरारत से) अभी से इतना हक़ जमाने...

लेकिन ज्यों ही वह मरजाना की ओर देखती है, उसकी आँखों की करुणा जैसे उसका गला दबा लेती है और शेष शब्द उसके मन ही में रह जाते हैं।

बेगाँ : (आकाश की ओर देखकर) शाम हो चली है, अभी रहीम आ जायेगा तो रोक लेना।

नूरी : (खड़ी होकर अँगड़ाई लेती है) यह कैसा सिंदूर-सा चारों ओर फैल गया है और वह देखो पश्चिम के आसमान पर बादलों का कैसा नगर-सा बस गया है ! जाने इनकी छतें भी 'लिंटन' की होंगी।

दोनों बुढ़ियाँ हँसती हैं, किंतु मरजाना इस हँसी में योग नहीं देती, वह बराबर धान कूटे जाती है।]

: (वही सामने आकाश में दृष्टि जमाये हुए) लिंटन की छतें।

स्वयं अपनी बात पर हँसने लगती है। तभी बाहर कुछ शोर मच उठता है और बगुले की तरह भरी प्रवेश

करती है।

रज्जी : (घबराकर) क्या बात है, क्या बात है ?

भरी : मकान की छत आ रही !

रज्जी : (चेहरे का रंग उड़ जाता है) किस मकान की ?

भरी : वह, जो देवनगर में तीन मंज़िल का बन रहा था।

मूसल छोड़कर मरजाना दरवाज़े की ओर भागती है।

बेगाँ : (उठकर उसके पीछे भागती हुई) मरजी, मरजी।

मरजाना : मैं जाऊँगी।

बेगाँ : पागल हो गयी है, जवान लड़कियाँ इस तरह कहीं बाहर जा सकती हैं ? मोमिन के घर में...

मरजाना : माँ...(ओढ़नी से मुँह ढाँपकर ऊँचे-ऊँचे रोने लगती है।)

बेगाँ : (उसके पास जाकर उसके कंधे को थपथपाती हुई) दीवानी न बन ! अल्लाह सबका रखवाला है ! चल बैठ, मैं देखती हूँ।

गली के दरवाज़े में जा खड़ी होती है, रज्जी भी उठकर उसके पास चली जाती है। नूरी भी वहीं चली जाती है। मरजाना चुपचाप जाकर ओखली के पास लगभग गिर पड़ती है। सिर्फ़ भरी धरेक का सहारा लिए मौन खड़ी है। बाहर शोर क्षण-प्रति-क्षण बढ़ता जाता है।

बेगाँ : (बाहर गली में किसी भागते व्यक्ति से) चौधरी...सुनो तो... चौधरी...

चौधरी हाँफता-हाँफता-सा दरवाज़े में आ खड़ा होता है।

चौधरी : ग़ज़ब हो गया मरजी की अम्मा, वह जो सबसे बड़ी कोठी थी न किसी रायसाहब की...तीन मंज़िलों की...जो इधर की ओर सड़क पर बन रही थी...उसकी लिंटन की छत आ रही।

रज्जी-बेगाँ : (दोनों) लिंटल की।

मरजाना : (आकुल होकर उठती है) माँऽऽऽ !

बेगाँ : (मुड़कर) मरजी ! (आवाज़ चीख़ की हद को पहुँची हुई है जिसमें क्रोध भी है और चिंता भी) बैठ तू वहाँ, मैं जाकर देखती हूँ। ख़बरदार जो दरवाज़े के बाहर पाँव रखा !

दोनों बाहर जाती हैं।

नूरी : ठहरो फूफी मैं भी आयी।

बेगाँ : तू मरजी के पास बैठ।

नूरी : उसके पास भरी बैठी है।

निकल जाती है। किवाड़ बंद हो जाते हैं और बाहर से साँकल लगने की आवाज़ आती है।

मरजाना फिर धम् से बैठ जाती है और ओढ़नी से

मुँह ढाँपकर रोने लगती है। कुछ क्षण तक मौन छाया रहता है, जिसमें धरेक का पेड़ काँपता है और हवा के झोंकों से अँगीठी पर पड़ी हुई राख उड़ती है। भरी धीरे-धीरे मरजाना के पास आती है।

भरी : मरजी !

मरजाना नहीं बोलती न मुँह से ओढ़नी हटाती है। हवा का तेज झोंका आता है, वह काँपती है।

भरी : मरजाना यहाँ ठंड है, अंदर चलो।

मरजाना नहीं हिलती।

: तो फिर अँगीठी में कोयले डाल दूँ।

रसोईघर से एक बर्तन में कोयले लाकर अँगीठी में डाल देती है। मरजाना चुप बैठी रहती है।

: अंदर से लिहाफ़ लाकर डाल दूँ। यहाँ बहुत सर्दी है।

जाने लगती है। मरजाना उसका हाथ पकड़ लेती है, और ओढ़नी हटाकर विगलित दृष्टि से उसकी ओर देखती है। भरी उसे आलिंगन में कस लेती है।

: हौसला करो। खुदा पर भरोसा रखो। अल्लाह सब ठीक ही करेगा। तुम तो यूँही डर गयी हो। अभी भाई रहीम हँसते-खेलते आ जायेंगे।

मरजाना : वह जरूर... (जोर से सिसक उठती है।

भरी : (उसके कंधे को थपथपाते हुए) मरजाना, मरजी।

मजराना : (भरे गले से) मुझे बुरे-बुरे खयाल आ रहे हैं, मेरी आँख फड़क रही है।

भरी : अल्लाह रहम करेगा।

मरजाना : ज़रूर कुछ बुरी बात होगी।

भरी : (उसके कंधे को प्यार से थपथपाते हुए) हौसला करो... अल्लाह...

मरजाना : (ओढ़नी चेहरे से हटाकर आँसू पोंछते हुए) तुम नहीं जानतीं भरी आज सुबह मैंने उसे जाते समय नाराज़ कर दिया था। वह मुझे छेड़ने लगा और मैंने उसका हाथ झटक दिया और वह रूठ गया। फिर मुँह ढाँप लेती है।)

भरी : हम लड़कियाँ हैं, हम अपनी इच्छा से हँस नहीं सकतीं, बोल नहीं सकतीं, हिल-जुल नहीं सकतीं। चाहे जी में घुट-घुटकर मर जायें ! मुझे ही देख लो। माँ चाहती है कि यहाँ से खुलासी[1] हो तो

---

1. मुक्ति।

ताऊ के लड़के के घर बैठा दे और उसकी निसबत[1] मुझे सादिक ही मंजूर है।

मरजाना : (आँसू पोंछकर) पर वह तो तुम्हें मारता है।

भरी : मारता तो है, पर मैं मार खा लेती हूँ।

मरजाना : तो फिर तू आयी क्यों ?

भरी : मैं कब आती थी। ताऊ को देखकर उसके सिर पर तो ख़ून सवार हो गया, वह गँडासा उठा लाया और ताऊ मुझे ले आये।

मरजाना : तो अब चली जा !

भरी : यही तो दुख है, जाऊँ कहाँ ? वहाँ तो खाने को सूखी रोटी भी नहीं। कल जब टकुआ लेकर चढ़ आया तो मैंने कहा---मुझे ले जाना चाहता है तो चार पैसे तो कमा कर ला। सिर्फ़ मारेगा ही या खाने को भी देगा ? कहने लगा—कोशिश तो करता हूँ, कुछ न बने तो क्या करूँ ? मैंने कहा—तो फिर मुझे ले जाकर क्या करेगा ? सारी दुनिया मजूरी करती है, तू क्यों नहीं करता। पेट तो खाने को माँगेगा। मार से वह न भरेगा।---सच कहती हूँ मरजाना, इस पर वह बोला नहीं, चुपचाप चला गया। असल में आठ जमातें पढ़कर टोकरी ढोते उसे शर्म आती है। बाप मर गया और सिखाया किसी ने कुछ है नहीं।

मरजाना : तुम्हारी अम्मा तो कह रही थीं कि उसने तुम पर भी टकुआ चलाया।

भरी : टकुआ चलाता तो मैं यहाँ बैठी रहती ? वह तो यों ही मौसी ने शोर मचा दिया।

दोनों कुछ क्षण आग सेंकती हैं। मरजाना फिर उद्विग्न हो उठती है।

मरजाना : मेरे दिल पर सुबह ही से भारी बोझ है भरी ! जाते-जाते कहने लगा—मरजी, अगर मैं आज ही मर जाऊँ तो फिर ! (**सहसा फिर आँखें छलछला आती हैं।**)

भरी : (**उसके कंधे पर प्यार से हाथ फेरकर**) तुम तो पागल हो, अल्लाह रहम करेगा।

मरजाना : मुझे तभी से न जाने कैसे-कैसे ख़याल आ रहे हैं। दिल धक्-धक् कर रहा है, और जी जैसे सुबह ही से रोने-रोने को हो रहा है। आज रहीम ख़ैर-आफ़ियत से आ जाये तो पीर गुलाब शाह की कब्र पर सवा रुपया चढ़ाऊँ।

दरवाजा खुलता है। आगे-आगे चौधरी फिर अचेत-से

---

1. अपेक्षा।

रहीम को उठाये दो आदमी, फिर बेगाँ और फिर उसके पीछे अन्य व्यक्ति प्रवेश करते हैं। मरजाना घबराकर रहीम की ओर बढ़ती है।

बेगाँ : अंदर जाओ, देखती नहीं हो, ग़ैर आ रहे हैं!

दोनों लड़कियाँ भागकर रसोईघर में चली जाती हैं। एक व्यक्ति आंगन में पड़ी चारपाई ठीक करता है। बेगाँ भागकर अंदर से पुरानी सी दुलाई लाने जाती है।

मरजाना : (जब बेगाँ, अंदर से दुलाई लेकर गुजरती है) अम्मा!

बेगाँ : (चारपाई पर दुलाई बिछाती हुई) घबराओ नहीं। अल्लाह ने बचा लिया है। सिर्फ़ भारी चोटें आयी हैं।

दुलाई बिछा देती है। अचेत-प्राय रहीम को उस पर लिटा दिया जाता है। चौधरी उसके हाथ-पांव आदि ठीक तरह रखता है और बेगाँ से कहता है।

चौधरी : मरजी की माँ, अंदर से लिहाफ़ लेकर इस पर डाल दे, सर्दी कड़ी है।

बेगाँ कोठरी में जाती है।

चौधरी : (मुड़कर भीड़ में देखते हुए) अरे कोई मुख़्तार दीनदार को बुलाने गया है या नहीं?

एक व्यक्ति : ताफ़ी डॉक्टर को बुलाने गया है।

चौधरी : अरे डॉक्टर क्या खाकर मुख़्तार का मुकाबला करेगा। मुख़्तार टूटी हड्डियों की किरचों तक को जोड़ दे। जा भागकर बुला ला उसे!

वह व्यक्ति भाग जाता है।

चौधरी : (भीड़ में देखकर) और फिर वहाँ जाने कितने ज़ख्मी पड़े हैं! डॉक्टर किस-किस को देखेगा।

बेगाँ : (रहीम पर झुकते हुए) रहीम, बेटा रहीम!

चौधरी : तुम उसे आराम से पड़ा रहने दो बीबी। जाकर मीठे तेल का इंतजाम करो, आग जला दो, पानी गरम कर दो, शायद डॉक्टर ही आ जाये। (मुड़कर) अरे यार कोई भागकर कुछ गर्म-गर्म दूध तो लाओ! इसे कुछ होश तो आये। (एक युवक से) अरे जलाल जा तो जरा भागकर गूजरों के यहाँ!

जलाल भागकर जाता है।

रहीम : (कराहकर) चाची...मरजानी!

बेगाँ : बेटा!

चौधरी : मैं कहता हूँ मरजी की अम्मा, तुम मीठा तेल लाओ, मुख़्तार अभी आ रहा होगा। इस अँगीठी में और कोयले डालकर इसे यहाँ रख

दो ! रसोईघर में आग ज़रा-तेज़ कर दो ! ज़रूरत ही पड़ जाती है, कुछ चीज़ गर्म करने की।

बेगां अँगीठी उठाकर जाती है।

चौधरी : **(दीर्घ निःश्वास छोड़कर)** कुछ मकान गिरा है, सारी-की-सारी छत आ रही। यह ठेकेदार सब हराम की कमाई खाते हैं साले। पीर गुलाब शाह की ख़ानकाह को बने जाने सौ साल से ज़्यादा हो गये हैं, पर मजाल है, जो एक ईंट भी हिली हो। यहाँ चीज़ बनती पीछे है, मरम्मत पहले शुरू हो जाती है। जाने कितने आदमी दब गये ! **(सहसा मुड़कर)** क्यों भाई बाकियों का क्या हाल है ?

दो व्यक्ति : **(जो रहीम को उठाकर लाये थे)** हमें क्या मालूम। हम तो इसे उठाकर ले आये। अभी तो मलबा हटाया जा रहा था। सादिक और मंगू भी तो थे।

चौधरी : कौन सादिक ? लोहार !

वे दोनों : नहीं, रज्जी का दामाद।

चौधरी : लेकिन वह...

वे दोनों : आज ही काम पर गया था।

दरवाज़ा खुलता है। कुछ और आदमी हांफते हुए प्रवेश करते हैं।

चौधरी : क्यों ?

एक आदमी : सादिक मर गया।

रसोईघर में से किसी के धड़ाम् से गिरने की आवाज़ आती है साथ ही मरजाना चीख़ती है।

मरजाना : भरी को ग़श आ गया अम्मा !

चौधरी : अरे कोई भागकर कुछ दूध ले आओ।

जलाल दाख़िल होता है।

जलाल : गूजर कहते हैं—दूध कहाँ है, दूध तो सब देवनगर चला जाता है, बच्चों तक के लिए नहीं बचता।

पर्दा।

1940

अधिकार का रक्षक

पात्र

सेठ घनश्यामदास　　रामलखन
सेठानी　　भगवती
नन्हा बलराम　　संपादक
कॉलेज के दो लड़के इत्यादि

समय : आठ बजे सुबह

स्थान : सेठ घनश्यामदास के मकान का ड्राइंग-रूम

सामने दीवार में बायीं ओर को एक बड़ी मेज़ और इधर को एक गद्देदार कुर्सी लगी है। दायीं ओर एक तख़्त बिछा है। मेज़ और तख़्त के बीच एक ऊँचे स्टूल पर टेलीफ़ोन इस तरह रखा हुआ है कि कुर्सी और तख़्त दोनों से उसे सुगमता के साथ उठाया जा सके।

मेज़ पर दीवार के साथ एक छोटा-सा तिकोना बुक-रैक है, जिसमें पुस्तकें करीने से रखी हैं। दायें-बायें लोहे की दो ट्रे पड़ी हैं, जिनमें से एक में काग़ज-पत्र और दूसरी में अख़बार पड़े हैं। बीचों-बीच शीशे का एक चौकोर टुकड़ा है, जिसके नीचे ज़रूरी काग़ज़ दबे हैं। शीशे के टुकड़े और किताबों के रैक के मध्य एक सुंदर कलमदान रखा है और दो-एक कलम शीशे पर बिखरे हैं।

तख़्त के पास एक आराम-कुर्सी पड़ी है।

बायीं दीवार के साथ काउच का एक सेट लगा है। इस दीवार में दो खिड़कियाँ भी हैं, जिनके बीच दीवार में एक कैलेंडर लटक रहा है। दायीं दीवार में एक दरवाज़ा

है, जो घर के बरामदे में खुलता है।

पर्दा उठने पर सेठजी कुर्सी पर बैठे कोई समाचार-पत्र देखते नज़र आते हैं।

टेलीफ़ोन की घंटी बजती है। सेठजी समाचार-पत्र ट्रे में फेंककर चोंगा उठाते हैं।

सेठजी : हेलो...(ज़रा और ऊँचे) हेलो !...हाँ, हाँ, मैं ही बोल रहा हूँ। घनश्यामदास। आप...अच्छा अच्छा, रलारामजी, मंत्री हरिजन-सभा हैं ! नमस्ते, नमस्ते। (ज़रा हँसते हैं) सुनाइये महाराज, कल के जलसे की कैसी रही ?...अच्छा ? आपके भाषण के बाद हवा पलट गयी ! सब हरिजन मेरे पक्ष में प्रचार करने को तैयार हो गये। शुक्रिया, शुक्रिया ! हिं हिं...हिं हिं...ठीक ठीक ! आपने ख़ूब कहा, ख़ूब कहा आपने ! हिं हिं...हिं...असल में अपना सारा जीवन मैंने पीड़ितों, पददलितों और गिरे हुओं को ऊपर उठाने में लगा दिया है। बच्चों को ही लीजिये ! हमारे घरों में उनकी दशा कैसी भयानक है ! उनके लालन-पालन और पठन-पाठन का ढंग कितना पुराना, ऊल-जलूल और दकियानूसी है ! उनके स्वास्थ्य की ओर कितना कम ध्यान दिया जाता है और अनुचित-दबाव में रखकर उन्हें कितना डरपोक और भीरु बना दिया जाता है ! उनका स्वाभाविक विकास...

छोटा बच्चा बलराम भीतर आता है।

बलराम : बाबूजी, बाबूजी, हमें मेले...

सेठजी : (पूर्ववत टेलीफ़ोन पर बातें कर रहे हैं, पर आवाज़ तनिक ऊँची हो जाती है) हाँ, हाँ, मैं यही कह रहा था कि बच्चों का स्वाभाविक विकास हमारे यहाँ नहीं हो पाता। लेकिन शिक्षा-दीक्षा के लिए, उनके स्वास्थ्य...

बलराम : (और समीप आकर कुर्ते का छोर पकड़कर) बाबूजी...

सेठजी : (चोंगे से मुँह हटाकर, क्रोध से) ठहर कम्बख़्त ! देखता नहीं, मैं टेलीफ़ोन पर...

बच्चा रोने लगता है।

सेठजी : (टेलीफ़ोन पर) मैं आपसे अभी एक सेकेंड में बात करता हूँ, इधर ज़रा शोर हो रहा है। (चोंगा खट से मेज़ पर रख देते हैं। बच्चे से) चल, निकल यहाँ से। सूअर ! कम्बख़्त !!

कान पकड़कर उसे दरवाज़े की तरफ़ घसीटते हैं, बच्चा रोता हुआ बैठ जाता है।

: (नौकर को आवाज़ देते हैं) ओ रामलखन, ओ रामलखन !

रामलखन : (बाहर से) आय रहे हैं बाबूजी !

भागता हुआ भीतर आता है। साँस फूली हुई है।

: (जी वावूजी।

सेठजी : (नौकर को पीटते हुए) सूअर ! पाजी ! हरामखोर ! क्यों इसे इधर आने दिया ? क्यों इधर आने दिया इसे ?

रामलखन : अव वावू काहे मारत हो ? लिये तो जाय रहे हैं !

लड़के का बाजू थामकर उसे बाहर ले जाता है।

सेठजी : और सुनो, किसी को इधर मत आने दो ! कोई बाहर से आये तो पहले आकर खबर दो ! समझे !! नहीं तो मार-मारकर खाल उधेड़ दूंगा। (नौकर और लड़के को बाहर निकालकर जोर से किवाड़ लगा देते हैं।) हुँह ! अहमक ! मुफ़्त में इतना समय वर्वाद कर दिया। (चोंगा उठाते हैं।) (किंचित कर्कश स्वर में) हेलो !... (स्वर में तनिक विनम्रता ला कर) अच्छा, अच्छा आप अभी हैं। (स्वर को कुछ और संयत करके) तो मैं कह रहा था कि प्रांत में मैं ही ऐसा व्यक्ति हूँ, जिसने उस अत्याचार के विरुद्ध आंदोलन किया, जो घरों और स्कूलों में छोटे-छोटे बच्चों पर ढाया जाता है और फिर वह मैं ही हूँ, जिसने पाठशालाओं में शारीरिक दंड को तत्काल वंद कर देने पर जोर दिया। दूसरे अत्याचार-पीड़ित लोग, घरों में काम करने वाले भोले-भाले निरीह-नौकर हैं, जो क्रूर मालिकों के ज़ुल्म का शिकार बनते हैं। इस अत्याचार और अन्याय को जड़ से उखाड़ने के लिए मैंने नौकर-यूनियन स्थापित की। इसके अलावा अग्रवाल होते हुए भी मैंने हरिजनों का पक्ष लिया, उनके स्वत्वों की, उनके अधिकारों की रक्षा के लिए मैंने दिन-रात एक कर दिया है और अब भी यदि परमात्मा ने चाहा और यदि मैं विधान-सभा में गया तो...

(दरवाजा खुलता है।)

रामलखन : (दरवाजे से झाँककर) वावूजी जमादारिन...

सेठजी : (टेलीफ़ोन पर बात जारी रखते हुए) मैं वहाँ पर भी हरिजनों की सेवा करूँगा। आप अपनी हरिजन-सभा में इस बात की घोषणा कर दें।

रामलखन : (जरा अंदर आकर) वावू जी...

सेठजी : (क्रोध से) ठहर पाजी ! (टेलीफ़ोन में) नहीं नहीं, मैं नौकर से कह रहा था (खिसियाने-से होकर हँसते हैं) हाँ, तो आप घोषित कर दें कि मैं असेम्बली में हरिजनों के पक्ष की हिमायत करूंगा और वे मेरे हक़ में प्रोपेगेंडा करें।...हैं...क्या ?...अच्छा अच्छा...मैं अवश्य ही जलसे में शामिल होने का प्रयास करूंगा। क्या करूँ अवकाश नहीं मिलता...हिं-हिं...हिं...हिं...(हँसते हैं) अच्छा

नमस्कार ! (**टेलीफ़ोन का चोंगा रख देते हैं। नौकर से**) तुझे तो कहा था, इधर मत आना !

खन : आपै तो कहे रहेन कि केऊ आये तो इत्तला कर देई, मुदा अब ई जमादारिन आपन मजूरी माँगत...

ठजी : (गुस्से से) कह दे उससे, अगले महीने आये। मेरे पास समय नहीं। जा और किसी को मत आने दे !

गिन : (**दरवाजे के बाहर से विनीत स्वर में**) महाराज, जुग-जुग जिओ तरक्की करो। दो महीने हो गये हैं।

ठजी : कह जो दिया, फिर आना। जाओ ! अब समय नहीं।

भगवती प्रवेश करता है।

वती : जयरामजी की बाबूजी !

ठजी : तुम इस समय क्यों आये हो भगवती ?

वती : बाबूजी, हमारा हिसाब कर दो।

ठजी : (**बेपरवाही से**) तुम देखते हो, आजकल चुनाव के कारण कुछ नहीं सूझता। कुछ दिन ठहर जाओ।

वती : बाबूजी, अब एक घड़ी भी नहीं ठहर सकते। आप हमारा हिसाब चुका ही दीजिये।

ठजी : (**जरा ऊँचे स्वर में**) कहा जो है, कुछ दिन ठहर जाओ ! यहाँ अपना तो होश नहीं और तुम हिसाब-हिसाब चिल्ला रहे हो !

वती : जब आपकी नौकरी करते हैं तो खाने के लिए और कहाँ माँगने जायँ ?

ठजी : अभी चार दिन हुए, दो रुपये ले गये थे।

वती : वो कहाँ रहे ? एक तो रास्ते ही में बनिये की भेंट हो गया, दूसरे से किसी तरह आज तक का काम चला है।

ठजी : (**जेब से रुपया निकाल कर फ़र्श पर फेंकते हुए**) तो लो। अभी यह एक रुपया ले जाओ।

वती : नहीं बाबूजी, एक-एक नहीं। आप मेरा हिसाब चुकता कर दीजिये। तनखाह मिले तीन-तीन महीने हो गये हैं। एक-एक, दो-दो से कितने दिन काम चलेगा ? हमारे भी आखिर बीबी-बच्चे हैं; उन्हें भी खाने-ओढ़ने को चाहिए। आप एक एक के चाय-पानी में जितना खर्च कर देते हैं, उतना हमारे एक महीने...

ठजी : (**क्रोध से**) क्या बक-बक कर रहे हो ! कह जो दिया, अभी यह ले जाओ, बाकी फिर ले जाना।

वती : हम तो आज ही सब लेकर जायँगे।

ठजी : (**उठकर, और भी क्रोध से**)—क्या कहा ! आज ही लेगा ! अभी लेगा ! जा। नहीं देते। एक कौड़ी भी नहीं देते। निकल जा

यहाँ से, जाकर पुलिस में रिपोर्ट कर दे। पाजी, हरामख़ोर, सूअर, आज तक, सब्ज़ी में, दाल में, सौदा-सुलुफ़ में, यहां तक कि बाज़ार से आने वाली हर चीज़ में पैसे रखता रहा, हमने कभी न कहा। अब यों अकड़ता है। जा निकल जा। जा कर अदालत में मामला चला दे। चोरी के जुर्म में छह महीने के लिए जेल न भिजवा दूं तो घनश्यामदास नाम नहीं।

भगवती : सच है बावूजी, गरीब लाख ईमानदार हो तो चोर है, डाकू है और अमीर यदि आँखों में धूल झोंककर लाखों पर हाथ साफ़ कर जाय, चंदे के नाम पर हज़ारों...!

सेठजी : (क्रोध से पागल होकर) तू जायेगा या नहीं! (नौकर को आवाज़ देते हैं) रामलखन, रामलखन!

रमलखन : जी बावूजी, बावूजी! (भागता हुआ भीतर आता है।)

सेठजी : इसको बाहर निकाल दो!

रामलखन : (भगवती के बलिष्ठ, चौड़े-चकले शरीर को नख-से शिख तक देखकर) एका बाहर निकारि दें, ई हम सों कब निकरि सकत हैं, ई तो हमैं निकारि दे...

सेठजी : (बाज़ू से रामलखन को परे हटाकर) हट, तुझसे क्या होगा! (भगवती को पकड़कर पीटते हुए बाहर निकालते हैं।) निकलो, निकलो!

भगवती : मार लें, और मार लें! हमारे चार पैसे रख कर आप लखपती न हो जायेंगे।

सेठजी उसे बाहर निकालकर ज़ोर से दरवाज़ा बंद कर देते हैं।

सेठजी : (रामलखन से) तुम यहाँ क्या देख रहे हो? जाओ!

रामलखन डरकर चला जाता है। सेठजी तख़्त पर लेट जाते हैं।

: बेवकूफ़, नामाकूल! (फिर उठकर कमरे में इधर-उधर घूमते है, फिर सीटी बजाते हैं और घूमते हैं, फिर नौकर को आवाज़ देते हैं।) रामलखन, रामलखन!

रामलखन : (बाहर से) आय रहे बावूजी! (प्रवेश करता है।)

सेठजी : अख़बार अभी आया है कि नहीं?

रामलखन : आय गया बावूजी, दढ़े काका पढ़ि रहे हन, अभी लाये देइत है।

सेठजी : पहले इधर क्यों नहीं लाया? कितनी बार तुझे कहा है, अख़बार पहले इधर लाया कर। ला भागकर।

रामलखन भागता हुआ जाता है।

सेठजी : (घूमते हुए अपने-आप) मेरा वक्तव्य कितना ज़ोरदार था, छात्रों

में हलचल मच गयी होगी, सबकी हमदर्दी मेरे साथ हो जायेगी। ...छात्रों को वोट का अधिकार चाहे न हो, लेकिन वोटरों पर असर तो डाल सकते हैं, आंदोलन करके मेरे हक में फ़िज़ा तो तैयार कर सकते हैं।

टेलीफ़ोन की घंटी बजती है। सेठजी जल्दी से चोंगा उठाते हैं।

सेठजी : **(टेलीफ़ोन पर, धीरे से)** हेलो! **(जरा ऊँचे)** हेलो!...कौन साहब? ...मंत्री होजरी-यूनियन? अच्छा अच्छा, नमस्कार, नमस्कार। हिं हिं...हिं हिं...सुनाइये, आपके चुनाव-क्षेत्र का क्या हाल है?...क्या? ...सब मेरे पक्ष में वाट देने को तैयार हैं! मैं कृतज्ञ हूँ। मैं आपका अत्यंत कृतज्ञ हूँ...इस ओर से आप बिलकुल निश्चित रहें। मैं उन लोगों में से नहीं, जो कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। मैं जो कहता हूँ वही करता हूँ और जो करता हूँ, वही कहता हूँ। आपने मेरी चुनाव-संबंधी घोषणा नहीं पढ़ी? मैं असेम्बली में जाते ही मजदूरों की स्थिति सुधारने का प्रयास करूँगा। उनकी स्वास्थ्य-रक्षा, सुख-आराम, पठन-पाठन और दूसरी माँगों के संबंध में 'विशेष बिल' विधान सभा में पेश करूंगा!...क्या? हाँ...हाँ, इस तरफ़ से भी मैं बेपरवाह नहीं। मैं जानता हूँ, इस सिलसिले में मजदूरों को किस मुसीबत का सामना करना पड़ता है। ये पूंजीपति ग़रीब श्रमिकों के कई-कई महीनों के वेतन रोककर उन्हें भूखों मरने पर मजबूर कर देते हैं। स्वयं मोटरों में सैर करते हैं, शानदार होटलों में खाना खाते हैं, और जब ये ग़रीब दिन-रात खून-पसीना एक कर देने के बाद, अपनी मजदूरी माँगते हैं तब हाथ तंग होने का, कारोबार में हानि होने का या कोई ऐसा ही दूसरा बहाना बनाकर उन्हें टरका देते हैं। मैं असेम्बली में जाते ही एक ऐसा बिल पेश करूंगा, जिससे वेतन के बारे में मजदूरों की सब शिकायतें सरकारी तौर पर सुनी जायँ और जिन लोगों ने ग़रीब मजदूरों के वेतन तीन महीने से ज़्यादा दबा रखे हों, उनके विरुद्ध मामला चलाकर उन्हें दंड दिया जाय।...हाँ, आपकी यह मांग भी सोलहो-आने ठीक है। मैं असेम्बली में इस मांग का समर्थन करूंगा। हफ़्ते में 42 घंटे काम की मांग कोई अनुचित मांग नही। आख़िर मनुष्य और पशु में कुछ तो अन्तर होना ही चाहिए। तेरह-तेरह घंटे की ड्यूटी! भला काम की कुछ हद भी है!

धीरे-धीरे दरवाज़ा खुलता है और संपादक महोदय भीतर आते हैं—पतले-दुबले-से, आंखों पर मोटे शीशे की ऐनक

चढ़ी है। गाल पिचक गये हैं और ऐसा लगता है जैसे देर से अतिसार का रोग है। धीरे से दरवाजा बंद करके खड़े रहते हैं।

सेठजी : (संपादक से) आप बैठिये। (टेलीफ़ोन पर) ये हमारे संपादक महोदय आये हैं। अच्छा तो फिर शाम को आपकी सभा हो रही है। मैं आने का प्रयास करूंगा। और कोई बात हो तो कहिये। नमस्कार! (चोंगा रख देते हैं।) (संपादक से) बैठ जाइये। आप क्यों खड़े हैं?

संपादक : नहीं, नहीं, कोई बात नहीं।

तकल्लुफ़ के साथ काउच पर बैठते हैं। रामलखन समाचार पत्र लिए आता है।

रामलखन : बड़े काका तो देत नहीं रहेन, मुदा जबरजस्ती लेइ आये।

सेठजी : (समाचार-पत्र लेकर) जा, जा, बाहर बैठ! (कुर्सी को तख्त-पोश के पास सरकाकर उस पर बैठते हैं. पांव तख्त-पोश पर टिका लेते हैं और समाचार-पत्र देखने लगते हैं।)

संपादक : मैं...मैं...

सेठजी : (पत्र बंद करके) हाँ, हाँ, पहले आप ही फ़रमाइये!

संपादक : (होंठों पर जबान फेरते हुए) बात यह है कि मेरी...मेरा मतलब है...कि मेरी आँखें बहुत खराब हो रही हैं।

सेठजी : आपको डॉक्टर से राय लेनी चाहिए थी। कहिये डॉक्टर खन्ना के नाम रुक्का लिख दूं?

संपादक : नहीं, यह बात नहीं। (थूक निगल कर) बात यह है कि मेरी आँखें इतना बोझ नहीं बरदाश्त कर सकतीं। आप जानते हैं, मुझे दिन के बारह बजे आना पड़ता है। बल्कि आज-कल तो साढ़े ग्यारह ही बजे आता हूँ। शाम को छह-सात बजे जाता हूँ, फिर रात को नौ बजे आता हूँ। वापसी पर एक भी बज जाता है, दो भी बज जाते हैं, तीन भी बज जाते हैं।

सेठजी : तो आप इतनी देर न बैठा करें। बस, जल्दी काम निबटा दिया...

संपादक : मैं तो लाख चाहता हूँ, पर जल्दी कैसे निबट सकता है? एक मैं हूँ और दो दूसरे आदमी हैं, जो न ठीक अनुवाद कर सकते हैं, न ठीक लेख लिख सकते हैं, और पत्र बड़े-बड़े आठ पृष्ठों का निकालना होता है। फिर भी शायद काम जल्द खत्म हो जाये, पर कोई समाचार रह गया तो आप नाराज़...

सेठजी : हाँ, हाँ, समाचार तो नहीं रहना चाहिए।

संपादक : फिर यही नहीं, आपके भाषणों की रिपोर्ट की भी प्रतीक्षा करनी होती है। उन्हें ठीक करते-करते डेढ़ बज जाता है। अब आप ही

बताइये पहले कैसे जा सकते हैं !

सेठजी : (बेज़ारी से) तो आख़िर आप चाहते क्या हैं ?

संपादक : मैंने पहले भी निवेदन किया था कि एक और आदमी का प्रबंध कर दें तो अच्छा हो। दिन को वह आ आया करे, रात को मैं, और फिर प्रति सप्ताह बदली भी हो सकती है। इससे...

सेठजी : मैं आपसे पहले भी कह चुका हूँ, यह असंभव है, बिलकुल असंभव है। पत्र कोई बहुत लाभ पर नहीं चल रहा है। इस पर एक और संपादक के वेतन का बोझ कैसे डाला जा सकता है ? अगले महीने पाँच रुपये मैं आपके बढ़ा दूंगा।

संपादक : मेरा स्वास्थ्य आज्ञा नहीं देता। आख़िर आँखें कब तक बारह-बारह तेरह-तेरह घंटे काम कर सकती हैं ?

सेठजी : कैसी मूर्खों की बातें करते हो जी। छह महीने में पाँच रुपया वृद्धि तो सरकार के घर में भी नहीं मिलती। यों आप काम छोड़ना चाहें तो शौक से छोड़ दें। एक नहीं दस आदमी मिल जायेंगे, लेकिन...

रामलखन भीतर आता है।

रामलखन : बाहर दुई लरिका आप से मिलै चाहत हैं।

सेठजी : कौन हैं ?

रामलखन : कौनो सकटड़ी कहन रहेन...

सेठजी : जाओ, बुला लाओ। (**संपादक से**) आज के पत्र में मेरा जो वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, मालूम होता है, उसका कॉलेज के लड़कों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है।

संपादक : (**मुँह फुलाये हुए**) ज़रूर पड़ा होगा।

सेठजी : मैंने छात्रों के अधिकारों की हिमायत भी तो ख़ूब की है, छात्र-संघ ने जो माँगें विश्वविद्यालय के सामने पेश की हैं, मैंने उन सबका समर्थन किया है।

दो लड़के प्रवेश करते हैं। दोनों सूट पहने हुए हैं, एक ने टाई लगा रखी है, दूसरे के गले में खुले कालर की कमीज़ है।

दोनों : नमस्ते।

सेठजी : नमस्ते !

दोनों काउच पर बैठते हैं।

सेठजी : कहिये मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

(खुले कालर वाला) : हमने आज आपका वक्तव्य पढ़ा है।

सेठजी : आपने उसे कैसा पसंद किया ?

वही लड़का : छात्रों में सब ओर उसी की चर्चा है। बड़ा जोश प्रकट किया जा रहा है।

सेठजी : आपके मित्र किसको वैक कर रहे हैं ?

वही लड़का : कल तक तो कुछ न पूछिये; लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि आज 75 प्रतिशत आपकी ओर हो गये हैं। अभी हमारी सभा हुई थी। छात्रों का बहुमत आपकी ओर था।

सेठजी : (प्रसन्नता से) और मैंने ग़लत ही क्या लिखा है ? जिन लोगों का मन बूढ़ा हो चुका हो, वे नवयुवकों का प्रतिनिधित्व क्या खाक करेंगे। युवकों को तो उस नेता की ज़रूरत है, जो शरीर से चाहे बूढ़ा हो चुका हो, पर जिसके विचार न बूढ़े हों, जो रिफ़ार्म से ख़ौफ़ न खाये, सुधारों में कन्नी न काटे।

वही लड़का : हम अपने कॉलेज के प्रबंध में भी कुछ परिवर्तन चाहते थे। लेकिन कॉलेज के सर्वे-सर्वाओं ने हमारी बात ही नहीं सुनी।

सेठजी : आपको प्रोटेस्ट करना चाहिए था।

वही लड़का : हमने हड़ताल कर दी है।

सेठजी : आपने क्या माँगें पेश की हैं ?

वही लड़का : हम वर्तमान प्रिंसिपल नहीं चाहते। न वह ठीक तरह पढ़ा सकता है, न ठीक प्रबंध कर सकता है। कोई छींके तो जुर्माना कर देता है, खाँसे तो बाहर निकाल देता है। छात्रों से उसका व्यवहार सर्वथा अनुचित और उनके संबंधियों से निहायत अपमानजनक है।

सेठजी : (कुछ उत्साहहीन होकर) तो आप क्या चाहते हैं ?

दोनों : हम योग्य प्रिंसिपल चाहते हैं।

सेठजी : (गिरी हुई आवाज़ में) आपकी माँग उचित है, पर अच्छा होता यदि आप हड़ताल करने के बदले कोई वैधानिक ढंग अपनाते, प्रबंधकों से मिल-जुलकर मामला ठीक करा लेते।

वही लड़का : हम सब कुछ करके देख चुके हैं।

सेठजी : हूँ !

टा०वा०ल० : बात यह है जनाब कि छात्र कई वर्षों से वर्तमान प्रिंसिपल से असंतुष्ट हैं। व्यवस्थापकों ने कभी परवाह नहीं की। कई बार आवेदन-पत्र कॉलेज की प्रबंध-समिति के पास भेजे गये, पर समिति के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगी। हारकर हमने हड़ताल कर दी है। मुश्किल यह है कि समिति काफ़ी मज़बूत है, प्रेस पर उसका अधिकार है। हमारे विरुद्ध सच्चे-झूठे वक्तव्य प्रकाशित कराये जा रहे हैं, और हमारी ख़बर तक नहीं छापी जाती। आपने छात्रों की सहायता का, उनके अधिकारों की रक्षा का बीड़ा उठाया है। इसीलिए हम आपकी सेवा में आये हैं।

सेठजी : **(अन्यमनस्कता से)** मैं आपका सेवक हूँ। ये हमारे संपादक हैं, आप कल दफ़्तर में जाकर इनको अपना बयान दे दें। ये जितना उचित समझेंगे, छाप देंगे।

दोनों : **(उठते हुए)** जी बहुत अच्छा, कल हम संपादकजी की सेवा में उपस्थित होंगे। नमस्कार!

सेठजी और संपादक : नमस्कार!

दोनों का प्रस्थान।

सेठजी : **(संपादक से)** ये कल आयें तो इनका वक्तव्य हरगिज़ न छापियेगा। प्रिंसिपल हमारे मेहरबान हैं। और समिति के सदस्य हमारे मित्र!

संपादक : **(मुँह फुलाये हुए)** बहुत अच्छा।

सेठजी : आप घबरायें नहीं, यदि आपको कुछ दिन ज़्यादा काम ही करना पड़ गया तो कौन-सी आफ़त आ गयी? जब मैंने पत्र आरंभ किया था, मैं चौदह-चौदह, पंद्रह-पंद्रह घंटे काम किया करता था। यह महीना आप किसी-न-किसी तरह निकालिये, चुनाव हो ले, फिर कोई प्रबंध कर दूँगा।

संपादक : **(दीर्घ निश्वास छोड़कर)** बहुत अच्छा **(मुँह फुलाकर)** नमस्कार!

सेठजी केवल सिर हिलाते हैं। संपादक महोदय चले जाते हैं। सेठजी फिर समाचार-पत्र पढ़ना आरंभ करते हैं। दरवाज़ा जोर से खुलता है और बलराम का बाज़ू थामे सेठानी बगुले की तरह प्रवेश करती हैं।

सेठानी : मैं कहती हूँ, आप बच्चों से कभी प्यार करना भी सीखेंगे? जब देखो, घूरते, झिड़कते, डाँटते नज़र आते हो, जैसे बच्चे अपने न हों, पराये हों। भला आज इस बेचारे से क्या अपराध हो गया, जो पीटने लगे? देखो तो सही, अभी तक कान कितना लाल है!

सेठजी : **(पूर्ववत समाचार-पत्र पर दृष्टि जमाये हुए)** तुम्हें कभी बात करने की तमीज़ भी आयेगी? जाओ, इस वक्त मेरे पास समय नहीं है!

सेठानी : आपके पास हमारी बात सुनने के लिए कभी समय होता भी है? मारने और पीटने के लिए जाने कहाँ से वक़्त निकल आता है! इतनी देर से ढूँढ़ रही थी इसे। नाश्ता कब से तैयार था, बीसों आवाज़ें दीं, घर का कोना-कोना छान मारा। जाकर देखा कि भूसे की कोठरी में बैठा सिसक रहा है। आख़िर क्या बात हो गयी थी?

सेठजी : **(क्रोध से पत्र को तख़्त पर पटककर)** क्या बके जा रही हो ? बीस बार कहा है कि इन सबको सँभालकर रखा करो, आ जाते हैं सुबह दिमाग़ चाटने !

सेठानी बच्चे के दो थप्पड़ लगाती हैं, बच्चा रोता है।

सेठानी : **(बच्चे को पीटते हुए)** तुझे कितनी बार है, इस कमरे में न आया कर ! ये बाप नहीं दुश्मन हैं। लोगों के बच्चों से प्रेम करेंगे, उनके सिर पर प्यार का हाथ फेरेंगे, उनके स्वास्थ्य के लिए बिल पास करायेंगे, उनकी उन्नति के लिए भाषण झाड़ते फिरेंगे और अपने बच्चों के लिए भूलकर भी प्यार का एक शब्द ज़बान पर न लायेंगे ! **(बच्चे के एक और चपत लगाती हैं।)** तुझसे कितनी बार कहा है, न आया कर इस कमरे में ! मैं तुझे नौकर के साथ मेला देखने भेज देती ! **(आवाज़ ऊँची होते-होते रोने की हद को पहुँच जाती है)** ख़ुद जाकर दिखा आती। तू क्यों आया यहाँ—मार खाने, कान तुड़वाने ?

सेठजी : **(क्रोध से पागल होकर, पत्नी को धकेलते हुए)** मैं कहता हूँ, इसे पीटना है तो उधर जाकर पीटो ! यहाँ इस कमरे में आकर क्यों शोर मचा दिया ? अभी कोई आ जाये तो क्या हो ? कितनी बार कहा है, इस कमरे में न आया करो। घर के अंदर जाकर बैठा करो।

सेठानी : **(तुनककर खड़ी हो जाती हैं)** आप कभी घर के अंदर आयें भी ! आपके लिए तो जैसे घर के अंदर आना पाप है। खाना इस कमरे में खाओ, टेलीफ़ोन सिरहाने रखकर इसी कमरे में सोओ, सारा दिन मिलने वालों का ताँता लगा रहे। न हो तो कुछ लिखते रहो, लिखो न तो पढ़ते रहो, पढ़ो न तो बैठे सोचते रहो। आख़िर हमें कुछ कहना हो तो किस समय कहें ?

सेठजी : कौन-सा मैंने उसका सिर फोड़ दिया है, जो कुछ कहने की नौबत आ गयी ? ज़रा-सा उसका कान पकड़ा था कि बस आसमान सिर पर उठा लिया।

सेठानी : सिर फोड़ने का अरमान रह गया हो तो वह भी निकाल डालिये ! कहो तो मैं ही उसका सिर फोड़ दूँ !

पागलों की भाँति बच्चे का सिर पकड़कर तख़्त पर मारती है। सेठजी उन्हें तड़ातड़ पीटते हैं।

सेठजी : मैं कहता हूँ, तुम पागल हो गयी हो। निकल जाओ यहाँ से। इसे मारना है तो उधर जाकर मारो, पीटना है तो उधर जाकर पीटो, सिर फोड़ना है तो उधर जाकर फोड़ो। तुम्हारी रोज़ की बक-झक से तंग आकर मैं इधर एकांत में आ गया हूँ ! अब यहाँ भी आकर

तुमने चीख़ना-चिल्लाना शुरू कर दिया है। क्या चाहती हो ? यहाँ से भी चला जाऊँ ?

सेठानी : (रोते हुए) आप क्यों चले जायँ ? हम ही चली जायेंगी ! (भर्राई हुई आवाज़ में नौकर को आवाज़ देती हैं) रामलखन, रामलखन !

रामलखन : जी बीबीजी ? (प्रवेश करता है)

सेठानी : जाओ जाकर ताँगा ले आओ। मैं पीहर जाऊँगी।

तेज़ी से बच्चे को लेकर चली जाती हैं। दरवाज़ा ज़ोर से बंद होता है।

सेठजी : बेवकूफ़, गँवार !

आरामकुर्सी पर बैठकर टाँगें तख़्त-पोश पर रख लेते हैं और पीछे को लेटकर अख़बार पढ़ने लगते हैं। टेलीफ़ोन की घंटी बजती हैं।

सेठजी : (वहीं से चोंगा उठाकर कर्कश स्वर में) हेलो ! हेलो !...नहीं, यह 3812 है, ग़लत नम्बर है। (बेज़ारी से चोंगा रख देते हैं।) ईडियट्स।

टेलफ़ोन की घंटी फिर बजती है।

: (और भी कर्कश स्वर में) हेलो ! हेलो !...कौन ? श्रीमती सरला देवी ! (उठकर बैठते हैं। चेहरे पर मृदुलता और स्वर में माधुर्य आ जाता है) माफ़ कीजियेगा, मैं ज़रा परेशान हूँ। सुनाइये, तबीयत तो ठीक है ?...(दीर्घ निःश्वास छोड़कर) आपकी कृपा से अच्छा हूँ। सुनाइये, आपके महिला-समाज ने क्या पास किया है ? मैं भी कुछ आशा रखूँ या नहीं...मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ, अत्यंत आभारी हूँ। आप विश्वास रखें। मैं जी-जान से स्त्रियों के अधिकारों की रक्षा करूँगा। महिलाओं के अधिकारों का मुझसे अच्छा रक्षक आपको वर्तमान उम्मीदवारों में कहीं नज़र न आयेगा...

पर्दा गिरता है।

1938

चिलमन

पात्र

हरि : एक कवि, जो अपनी बीमार पत्नी की सेवा-शुश्रूषा में निमग्न है।
किरण : उसकी रुग्णा पत्नी
माँ : उसकी माँ
रूपा : उसकी बहन
मनोहर : उसका मित्र, जो शशि से प्रेम करता है
शशि : हरि से प्रेम करने वाली एक तरुणी, जो रंगमंच पर नहीं आती
राधे : हरि का छोटा भाई।

स्थान : तीस हज़ारी, दिल्ली में बीमार किरण का कमरा।
समय : रात का पहला पहर।

पर्दा उठाते समय स्टेज पर बिल्कुल अँधेरा है। माँ प्रवेश करती है।

माँ : यह तुमने अँधेरा क्यों कर रखा है? बत्ती क्यों नहीं जलाते?

बिजली का बटन दबाती है। कमरे में रोशनी हो जाती है। हरि किरण की चारपाई पर बैठा दिखायी देता है। किरण चादर ओढ़े अचेत पड़ी है। उसके टखनों में रस्सियों के साथ दो ईंटें बँधी हुई हैं। कमरा बिल्कुल साफ़ है। चारपाई के पास छोटी-सी मेज़ पर दवाइयों की कुछ शीशियाँ पड़ी हैं। इसके अतिरिक्त कमरे में और कुछ भी नहीं। सामने की दीवार में एक खिड़की है, जिस पर गहरे नीले रंग की चिलमन लगी हुई है।

हरि : रोशनी बुझा दो, रोशनी बुझा दो! किरण का जी कुछ ज़्यादा ख़राब है। रोशनी से वो घबराती है। परसों से धूप की शिकायत कर रही है।

माँ : तुम तो पाग़ल हो, जो अँधेरे में भूतों की तरह बैठे हो। उठो मैं इसके

सिरहाने बैठती हूँ। तुम ज़रा उन लोगों के साथ जाकर मन बहलाओ। ताश खेलो...

दूसरे कमरे से ठहाकों की आवाज़ आती है।

हरि : मैं यहीं बैठना चाहता हूँ। तुम रोशनी बुझा दो।

माँ : शशि बड़े दिन की छुट्टियों में आयी है। घर न रुककर, वह सीधी तुमसे मिलने चली आयी है। वह तुम्हारी बाट देख रही है।

हरि : मैं इसके होश में आने की बाट देख रहा हूँ।

दूसरे कमरे से फिर ठहाकों की आवाज़ आती है।

: आज इसकी कमज़ोरी बेहद बढ़ गयी है, घड़ी-घड़ी यह बेहोश हो जाती है, तुम ज़रा उन लोगों से कह दो—इतने ज़ोर से न हँसें।

माँ : कौन हँसता है ? आज चार बरस से हँसी-ठहाके इस घर के लिए पराये हो रहे हैं। सदा यहाँ एक मौत का-सा समाँ छाया रहता है। आज शशि आयी है। और उसके साथ मनोहर। और यह भारीपन कुछ दूर हुआ है। बहू की बीमारी का क्या ठिकाना ! और साल-भर भी चल सकती है, पर वह तो ख़ास तौर पर तुम्हें देखने बनारस से आयी है। ज़रा उनके पास जा बैठो...

हरि : मैं कहीं नहीं जाना चाहता। तुम रोशनी बुझा दो। यह दोपहर से बेहोश पड़ी है। होश में आयेगी तो रोशनी से घबरा जायेगी।

माँ : यह लो बाबा ! **(बत्ती बुझा देती है)** पर निपट अँधेरे में बैठने से तो अच्छा है, मिट्टी का दिया ही जला लो। **(चली जाती है।)**

किरण : **(होश में आकर)** यह घुप्प अंधेरा क्यों है ? **(और भी घबराये हुए स्वर में)** यह घुप्प अँधेरा क्यों है ?...मैं...मैं...

हरि : मैं तुम्हारे पास बैठा हूँ।

किरण : यह बाहर कुछ दिखायी क्यों नहीं देता ? क्या आसमान पर बादल छाये हुए हैं ? क्या कृष्ण-पक्ष शुरू हो गया ?...लेकिन एक तारा भी कहीं दिखायी नहीं देता।

हरि : खिड़की पर चिलमन जो लगी है। वरना आज तो पूर्णमासी है। तुम भूल गयीं, तुम्हीं ने तो कहा था—सूरज की धूप सीधी आँखों पर पड़ती है, यहाँ कोई चिक लगवा दो। आज दोपहर ही यह चिक बन-कर आयी है। साधारण मारकीन की नहीं, इस पर रंगा हुआ टाट लगा है—गहरे नीले रंग का। रोशनी की किरण तक इसके अंदर नहीं आ सकती। पर तुम तो सो रही थीं।

किरण : मैंने इसे नहीं देखा। **(लम्बी साँस लेती है)** न जाने क्यों मुझे कुछ नींद-सी आ जाती है ! बीमारी से जूझ-जूझकर थके हुए मेरे अंग आप-से-आप सो जाते हैं। चेतना-हीन-से हो जाते हैं। पर इस चिलमन को अब उठा दो। मैं रोशनी चाहती हूँ...

हरि : मैं बिजली की बत्ती जला दूँ ?

किरण : नहीं, नहीं। बिजली की रोशनी से मुझे घबराहट होती है। इस चिल-मन ही को उठा दो। मैं रोशनी चाहती हूँ...ठंडी-ठंडी, शांति-भरी रोशनी...

हरि जाकर चिक उठाता है। कमरे में मद्धिम-सी ज्योत्स्ना फैल जाती है।

: ज़रा और ऊँची, ज़रा और ऊँची, पूरी उठा दो! इस उजली, ठंडी चाँदनी को कमरे में वे-झिझक आने दो। मन होता है—चाँदनी मे जी भरकर स्नान करूँ। किरणों से मल-मलकर नहाऊँ। आह! पर यह ईंटों का बोझ—ये ईंटें अब उतार दो!

हरि : अभी परसों तुम्हारे पलास्टर लगाया गया था, डॉक्टर कहता है...

किरण : डॉक्टर! **(लम्बी सांस लेती है)** ऐसा लगता है जब से मैंने होश सँभाला है, मैं इसी तरह पड़ी हूँ; मेरे टख़नों में इसी तरह ईंटें बँधी हैं, मैं हिल नहीं सकती; बैठ नहीं सकती; उठ नहीं सकती और कभी-कभी मैं सोचती हूँ कि आप इन ईंटों की रस्सियाँ काट भी दें तो क्या मैं उठ कर चल-फिर सकूँगी? **(फिर दीर्घ निश्वास छोड़ती है)** टाँगें शायद चलना भूल गयी हैं। **(आकांक्षा-भरे स्वर में)** मैं इस चाँदनी रात में कितना घूमना चाहती हूँ!

दूसरे कमरे से फिर ठहाकों की आवाज़ आती है।

: यह कौन है?

हरि : मनोहर है, शायद वे लोग ताश खेल रहे हैं।

किरण : मुझे ताश खेले जैसे वर्षों बीत गये हैं। मैं कितना ताश खेलती थी! बाजी-पर-बाजी जीता करती थी...मैं ताश खेलना चाहती हूँ! मैं ताश खेलना चाहती हूँ। क्या वे इस कमरे में नहीं आ सकते? क्या मैं उनके साथ ताश नहीं खेल सकती?

हरि : तुम बहुत कमज़ोर हो किरण!

किरण : उनसे कह दो—इस कमरे में बैठकर खेलें। मैं केवल देखूंगी...

हरि : तुम बहुत कमज़ोर हो किरण। डॉक्टर कहता है...

किरण : आह डॉक्टर!

लम्बी साँस लेती है, दूसरे कमरे से फिर ठहाकों की आवाज आती है।

हरि : (चिढ़कर) ये लोग चुप क्यों नहीं होते? मैं कितनी बार कह चुका हूँ...

किरण : तुम उन्हें कुछ न कहो। मेरे कारण घर में पहले ही काफ़ी उदासी छायी रहती है। कोई हँसता-खेलता नहीं। जाओ, तुम भी जाओ। उनके साथ जाकर मन बहलाओ। मैं मन से तुम्हारे साथ रहूँगी, मेरी

आँखें तुम्हें खेलते देखेंगी...पर मेरी आँखें तो बंद हो रही हैं, वह ताकत की दवा कहाँ है ? वह ताकत की दवा कहाँ है ! मुझे नींद से डर लगता है, मुझे नींद से...

हरि ताकत की दवा ढूँढ़ता है। माँ दिया लिये प्रवेश करती है।

हरि : **(अपने-आप खीज भरे स्वर में)** मैं कहता हूँ वह ताकत की दवा कहाँ है ?

माँ : क्या बात है ? क्या ढूँढ़ रहे हो ?

हरि : वह ताकत की दवा कहाँ है ? किरण फिर बेहोश हो गयी है।

माँ : इस अँधेरे में तुम्हें क्या मिलेगी ! यह लो मैं दिया ले आयी हूँ। यह अँधेरा ठीक नहीं। अँधेरा अशुभ है। अँधेरा...

हरि : बाहर चाँद चमक रहा है।

माँ : पर कमरे में तो अँधेरा है। बिजली नहीं जलाना चाहते तो इसे ताक में पड़ा जलने दो। **(दिया ताक में रख देती है। वहीं दवा की शीशी पड़ी मिल जाती है। उसे उठा लेती है।)** और यह लो शीशी ! यही शायद ताकत की दवा है। पर मेरी मानो तो अब इसे आराम करने दो। इन दवाओं और इन प्लास्टरों से इसे मुक्ति दो !

हरि : तुम्हें कुछ मालूम नहीं तो चुप रहो। और देखो। और देखो उनसे कह दो—इतना गला न फाड़ें, इतने ज़ोर से न हँसें।

माँ : मैंने पहले ही तुम्हारे डर से उन्हें दूसरे कमरे में भेज दिया है।

हरि : **(जैसे अपने-आप)** इसकी तबीयत बेहद ख़राब है, यह बार-बार बेहोश हो जाती है। **(दवा चम्मच में डालकर उसके मुँह में टपकाता है।** सब गालों पर बह गयी। माँ तुम ज़रा चम्मच थामो, मैं दाँत खोलता हूँ।

माँ चम्मच लेकर दवा भरती है। हरि दाँत खोलकर फिर दवा डालने का प्रयास करता है।

: बेकार है, गिर जाती है, बहुत कम अंदर गयी है।

माँ : लो अब जाओ। तुम कब से यहाँ बैठे हो ? अब उठो मैं यहाँ बैठती हूँ। तुम उधर जाकर ज़रा कमर सीधी कर लो। ज़रा उनके साथ जाकर मन बहलाओ। ज़रा उनका जी रख लो...

हरि : मैंने एक बार कह दिया मैं नहीं जा सकता। मैं...

माँ : शशि न ठीक तरह से खेल रही है, न...

हरि : तो मैं क्या करूँ ? मनोहर वहाँ है...

किरण दायाँ हाथ हिलाती है।

: **(स्वर में कोमलता लाकर)** किरण !

किरण : **(जैसे सपनों की दुनिया से आने वाले डरे-डरे स्वर में)** मैं रोशनी

चाहती हूँ। मैं रोशनी चाहती हूँ। मैं अँधेरा नहीं चाहती। (**आँखें खोलती है**) मेरी चारपाई ज़रा उस खिड़की के पास रोशनी में कर दो ! मैं ज़रा बाहर झाँकना चाहती हूँ। (**लम्बी साँस लेती है**) लगता है जैसे बाहर की सब चीज़ें मेरे लिए अजनबी हो गयी हैं। पर ये मेरे सपनों में बार-बार आती है (**ज़रा उल्लास से**) अभी मैंने अपने-आपको अजीतगढ़ के उस मीनार पर चढ़े देखा था...

हरि : (**ताकत की दवा चम्मच में डालता हुआ अपने ध्यान में**) अजीतगढ़ के मीनार पर !

किरण : मैंने देखा, यह सारी-की-सारी राजधानी मेरे पैरों में बिछी हुई है और सूरज की धूप में मकानों की नयी-नयी छतें चमक रही हैं।

हरि : (**दवा की शीशी को मेज़ पर रखता हुआ पूर्ववत बेख़याली में**) सूरज तो कब का छिप चुका है।

किरण : हाँ, सूरज कब का छिप चुका है। (**उदास होकर**) शायद अब मैं उसे कभी न देख सकूँगी। अजीतगढ़ के मीनार से नये बने हुए मकानों की छतों को कभी न देख सकूँगी।

हरि : (**उसके कंठ में दवा टपकाता हुआ**) तुम वर्षों तक देखोगी। अपनी इन आँखों से, मेरी इन आँखों से—वर्षों तक देखोगी।

किरण : (**औषधि से कुछ शक्ति पाकर तनिक ऊँची और उल्लास भरी आवाज़ में**) आपको वह दिन याद है न, जब रात भर बारिश होती रही थी और सुबह भीगी-भीगी, भारी-भारी हवा चल रही थी और मैंने आपको सैर पर जाने के लिए विवश कर दिया था। हम रिज[1] पर गये थे और पीर ग़ायब के मज़ार पर चढ़े थे...

हरि : मुझे सब याद है, पर तुम अब चुप रहो, तुम थक जाओगी।

माँ बेज़ारी से सिर हिलाकर चली जाती है।

किरण : नहीं, मैं चुप नहीं रहना चाहती। ख़ामोशी से मुझे डर लगता है। मैं बोलना चाहती हूँ। मैं हँसना चाहती हूँ। मैं खेलना चाहती हूँ...

हरि : तुम ज़्यादा न बोलो किरण, तुम आराम करो...

किरण : मैं आराम ही तो करती रहती हूँ।

हरि : तुम्हारा तन आराम करता है, पर तुम्हारा मन हमेशा उड़ता रहता है।

किरण : (**लम्बी साँस लेती है**) हाँ, मेरा मन हमेशा उड़ता रहता है। अभी-अभी वह उड़कर उस मज़ार के खंडहर पर जा चढ़ा था—याद है न आपको—ठंडी, भीगी मस्त हवा चल रही थी और नीचे वर्षा से भीगी

---

1 तीस हज़ारी, दिल्ली के पास एक पहाड़ी है। उस पर रिज (ridge) भी है और जंगल भी।

हुई सड़कें वहती चाँदी की तरह चमकती, वल खाती, पेड़ों के पत्तों में झिलमिलाती थीं। मुझे उस बुड्ढे की शक्ल याद आती है।

हरि : (उसके सिर पर प्यार से हाथ फेरता हुआ वेखयाली में) बुड्ढे की !

किरण : वह नीचे सीढ़ियों से ऊपर चढ़ने लगा था कि मैं उतरने लगी—खिचड़ी-सी दाढ़ी, मटमैले कपड़े, सिर पर पगड़ी और कमर में तहमद—वहीं नीचे सीढ़ियों में खड़ा मुझे टुकुर-टुकुर तकता रहा। फिर जब उसने साथ की सीढ़ियों पर आपको भी उतरते देखा तो सहसा नीचे उतर गया था (धीरे-धीरे अत्यधिक तंद्रिल, सोये-सोये स्वर में) और जब हमने धरती पर पाँव रखा तो आगे बढ़कर गिड़गिड़ाया था—'जोड़ी सलामत रहे, भूखा हूँ।'

हरि : (घृणा से) भूखा था और नदीदा !

किरण : (और भी तंद्रिल स्वर में) मैं देखती हूँ, वही बुड्ढा मेरे सपनों में भयानक रूप धर-धरकर आता है। मैं हमेशा देखती हूँ—उसके पेट में एक भयानक भट्ठी धधक रही है, और मैं और मेरे जैसी न जाने कितनी औरतें उस लपलपाती भट्ठी का ईंधन बन रही हैं।

हरि : तुम अपने दिमाग़ को थका रही हो किरण !

किरण : (झुरझुरी-सी लेकर जागते रहने का प्रयास करती हुई) मुझे फिर नींद आ रही है, मेरी आँखों में अँधेरा छाया जा रहा है—नहीं, नहीं, मुझे अँधेरे से डर लगता है। मेरी चारपाई रोशनी मे कर दो।

हरि : तुम सो जाओ किरण, तुम अपने को थका रही हो।

किरण : (जागने का भरसक प्रयत्न करते हुए) मैं सोना नहीं चाहती, मैं जागना चाहती हूँ। (लम्बी साँस लेकर और भी तंद्रिल स्वर में) पर मेरी आँखें तो बंद हो रही हैं। मेरी आँखों में अँधेरा छा रहा है। मुझे दवा पिला दो ! मेरी चारपाई रोशनी में कर दो ! (आँखें बंद हो जाती हैं।)

हरि : (दवा की चम्मच भरकर उसके मुँह की ओर ले जाता हुआ) किरण ...किरण !

रूपा प्रवेश करती है।

रूपा : तुम दोपहर से इधर बैठे हो। चलो, उधर चलो !

हरि : (दवा को फिर शीशी में डालता हुआ) यह वेहोश हो गयी है।

रूपा : माँ को भाभी के पास बैठने दो। तुम ज़रा चलो, शशि कब से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। उसका सुंदर मुख कुम्हला गया है, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें रोने-रोने को हो रही हैं। वह मन से खेल में हिस्सा नहीं ले रही। अनमनी-सी बैठी है।

हरि : (सुनी-अनसुनी करके) तुम ज़रा चारपाई को खिड़की के पास करने में मेरी मदद करो। यहाँ अँधेरा है और दिये की काँपती हुई रोशनी

इस तक नहीं पहुँचती।

दोनों चारपाई उठाते हैं।

हरि : ज़रा धीरे ! ज़रा धीरे ! ईंटों के हिलने से इसे तकलीफ़ न हो ! **(खिड़की के पास चारपाई ले जाते हुए)** इस अँधेरे में इसकी कमज़ोर सूरत और भी कमजोर दिखायी देती है।

रूपा : अब इसमें रखा ही क्या है ? कभी तृप्त न होने वाली जोंक की तरह मुई इस बीमारी ने इसका सारा लोहू पी लिया है। तुम बेकार ही इसकी यातना बढ़ाये जा रहे हो। बेकार ही सारा-सारा दिन इसके सिरहाने परेशान बैठे रहते हो। ज़रा अपना मुँह तो देखो—कितना पीला पड़ गया है !

हरि : तुम इसका मुँह देखो—पीला भी नहीं, सफ़ेद है। ऐसा लगता है, जैसे यह चाँदनी इसके शरीर से निकलकर इस सारी सृष्टि पर फैल गयी है और अपनी ज्योति लुटाकर यह शरीर एकदम मुरझा गया है।

रूपा : तुम कैसी बातें करते हो ! उठो, माँ को यहाँ बैठने दो। चलकर कुछ देर के लिए शशि के पास बैठो ! बनारस से वह केवल तुमसे मिलने दिल्ली चली आयी है। तुम कैसे पत्थर हो !

हरि : **(उसकी बात का उत्तर न देकर)** यह चादर तुम इसके पैरों पर कर दो, नंगे हो गये हैं।

रूपा : न जाने कब तक तुम इस कंकाल के सिरहाने बैठे रहोगे !

हरि : **(जैसे अपने-आप)** न जाने मैं कब तक इस कंकाल के सिरहाने बैठा रहूँगा ? अपनी सूनी घड़ियों में, अपने सपनों में, अपने एकांत में...मैं स्वयं एक कंकाल बन जाऊँगा।

रूपा : **(भरे हुए गले से)** तुम्हें क्या हो गया है ? तुम्हें दिनोंदिन क्या होता जा रहा है ?

किरण हाथ हिलाती है।

हरि : ठहरो ! यह होश में आ रही है।

किरण : **(होश में आकर डरे-डरे स्वर में)** नहीं, नही, मैं अँधेरा नहीं चाहती। मैं अँधेरा नहीं चाहती। मैं रोशनी चाहती हूँ। मैं रोशनी चाहती हूँ। मेरी चारपाई रोशनी में कर दो।

हरि : तुम आँखें खोलो, देखो तुम्हारी चारपाई पर चाँदनी फैली हुई है। बाहर सड़क पर, पहाड़ी के पत्थरों पर, चट्टानों पर, पेड़-पौधों पर, धुली-निखरी चाँदनी फैली हुई है।

किरण : ओह ! मैं कितना डर गयी थी। **(आँखें खोलकर सुख की साँस लेती है।)**

हरि : **(चम्मच में दवा डालकर उसकी ओर बढ़ाता है)** तुम यह दवा पी लो !

किरण : (दवा पीकर फिर सुख की साँस लेती है) मैं कितना डर गयी थी ! (तंद्रिल स्वर में) अभी-अभी मैंने देखा—मैं इस जंगल में भटक गयी हूँ—पत्थरों से ठोकरें खाती, झाड़ियों से उलझती, अँधेरे में रास्ता ढूँढ़ती, मैं चली जाती हूँ। उलझती, गिरती, भटकती, अरावली की ऊँची पहाड़ियों तक चली जाती हूँ—अचानक सामने एक भयानक काला पहाड़ आ जाता है ! मैं उस पर चढ़ने लगती हूँ—साँस फूल जाती है, पाँवों में घाव हो जाते हैं, टाँगें चलने से इनकार कर देती हैं, लेकिन मैं बढ़े जाती हूँ, बढ़े जाती हूँ। रोती हूँ, सिसकती हूँ, पर चलना नहीं छोड़ती। (तनिक उल्लास से) और मैं उस पहाड़ के शिखर पर जा पहुँचती हूँ। देखती हूँ—सामने पूरब की आँखों में रोशनी जाग रही है और नीली-भूरी बदली से सूरज की सुनहली टिकिया सिर निकाल रही है।

माँ प्रवेश करती है।

हरि : सूरज की टिकिया...

किरण : मैं सहमी हुई-सी खड़ी रहती हूँ, किंतु मेरी नस-नस में नये उल्लास की एक लहर दौड़ जाती है। (लम्बी साँस लेती है) मुझे रोशनी कितनी अच्छी लगती है ! मुझे जागना...

माँ : (आगे बढ़कर) शशि जाना चाहती है।

हरि : ठहरो ! (किरण से) तुमने पहाड़ सर कर लिया है। (माँ और बहन दोनों को सुनाकर) किरन ने पहाड़ सर कर लिया है। (फिर किरण से) इस लम्बी बीमारी की सारी तकलीफ़ और यातना तुम बड़े सब्र से सहती आयी हो। (सुख की लम्बी साँस लेता है) तुम्हारा यह सपना कितना सुखद है, कितनी तसल्ली देने वाला है ! और देखो तुम रोशनी में हो—कितनी निखरी-धुली रोशनी फैली है ! सामने मंदिर की दीवारें इस पूर्णमासी के चाँद की पवित्र रोशनी में किसी स्वर्ग के मंदिर की याद दिला रही हैं।

किरण : (आकांक्षा भरे स्वर में) मुझे सहारा देकर बैठा दो, मुझे सहारा देकर बैठा दो—मैं खिड़की से मंदिर को देखना चाहती हूँ। कितनी बार अपने सपनों में, मैं इसकी चौखट से सिर पटकती रही हूँ। इसके अंदर जाने का प्रयास करती रही हूँ। (दीर्घ निश्वास छोड़ती है) मैं इसके अंदर जा भी सकूँगी या नहीं !

हरि : तुम ज़रूर जाओगी। तुमने उस काले भयानक जंगल में रास्ता बना लिया तो क्या तुम इस मंदिर के जर्जर किवाड़ों को पार न कर सकोगी ? तुम ज़रूर इसके अंदर जाओगी। हम दोनों साथ-साथ जायेंगे।

किरण : मुझे सहारा देकर बैठा दो। मैं इन पहाड़ियों को देख लूँ, इस मंदिर

के दर्शन कर लूँ।

हरि : अभी परसों तुम्हारे नासूर को प्लास्टर लगाया गया है।

मनोहर तेज़-तेज़ प्रवेश करता है, लेकिन पास आकर चुपचाप खड़ा हो जाता है।

किरण : मुझे लगता है जैसे मेरे नासूर को आराम आ रहा है। मुझे वैठा नहीं सकते तो मेरी चारपाई के नीचे, सिरहाने की ओर, ईंटें ही रख दो। **(अरमान-भरी सोयी-सोयी आवाज़ में)** चारपाई खिड़की-जितनी ऊँची हो जायेगी और मैं लेटे-लेटे सव-कुछ देख सकूँगी। **(लम्बी साँस लेती है)** न जाने क्यों, मेरा जी वाहर जाने को, पहाड़ी के पेड़ों में घूमने को, मीनार पर चढ़ने को हो रहा है। **(आँखें बंद कर लेती है।)**

हरि : तुम्हारे नासूर को आराम आ रहा है...

मनोहर : ख़ाक आ रहा है! तुम देख नहीं रहे, यह वेहोश हो गयी है। तुम क्यों इसको, अपने-आपको, दूसरों को धोखा दिये जा रहे हो। तुम कहते हो, नासूर भर रहा है। मैं कहता हूँ इसका सारा शरीर नासूर वन गया है। यह अव कभी न भरेगा। चार साल—चार लम्वे साल—कल्पना ही से मेरी आत्मा तक काँप जाती है। और यह चारपाई से हिली तक नहीं। धीरे-धीरे इसकी भरी हुई देह दुर्वल होती-होती हड्डियों का पिंजर रह गयी। इसकी टाँगें सूखते-सूखते लकड़ी वन गयीं और तुमने ये ईंटें फिर इसके टख़नों से वाँध दी हैं...

हरि : **(मनोहर की बात का उत्तर न देकर रूपा से)** रूपा, ज़रा वाहर से दो-चार बड़ी ईंटें उठा लाओ।

मनोहर : अव इन पलास्टरों और डॉक्टरों से इसको मुक्ति दो। इसके टख़नों से यह वोझ काट दो। इसे अंतिम घड़ियों में तो आराम लेने दो—तुम कितने निर्दयी हो कि इसकी इस बीमारी में भी रस लेते हो।

हरि : मनोहर!

मनोहर : यह रस लेना नहीं तो और क्या है? तुम इसकी पीड़ा में रस लेते हो। इसकी यातना से प्रेरणा पाकर दर्द-भरी कविताएँ लिखते हो और फिर उन्हीं के दर्द में डूबे रहते हो।

हरि : मनोहर!

मनोहर : और दुनिया की नज़रों में तुम अपनी वीमार, दम तोड़ती पत्नी के सिरहाने वैठे, दुःख और चिंता में डूवे रहते हो, पर असल में एक चालाक जादूगर की तरह तुम अपनी दर्द-भरी कविताओं का जाल शशि के इर्द-गिर्द बुनते जा रहे हो।

हरि : मनोहर तुम पागल हो गये हो!

मनोहर : मैं चार साल से देख रहा हूँ। किसी दूसरे घर में यह अव तक कव की ख़त्म हो चुकी होती—रीढ़ की हड्डी का कभी न भरने वाला

नासूर—लेकिन तुमने इसको इतना खींचा, इतना खींचा—इंजेक्शन दे-देकर, पलास्टर चढ़ा-चढ़ाकर, ईंटें बाँध-बाँधकर। और इसकी इस असह्य पीड़ा से तुम अपनी कविताओं के लिए प्रेरणा पाते रहे।

रूपा ईंटें ले आती है।

हरि : इधर दो ! (**रूपा से ईंटें लेकर चुपचाप पलंग के नीचे रखता है।**)

मनोहर : तुम इसकी तकलीफ़ का अनुमान नहीं कर सकते, तुम शशि की तकलीफ़ का अनुमान नहीं कर सकते ! ये ईंटें इसके पैरों में नहीं, शशि के पैरों में भी बँधी हैं और मेरे पैरों में भी; ये सुइयाँ इसको ही नहीं चुभतीं, उसको भी चुभती हैं और मुझे भी कचोके लगाती हैं और यही सूखकर काँटा नहीं हो रही, वह भी हो रही है और मैं भी ! तुमने किरण के शरीर का बीमार लोहू...

हरि : तुम पागल हो गये हो, ईर्ष्या और जलन ने तुम्हें अंधा कर दिया है।

मनोहर : तुमने यह जाल इस चालाकी से बुना है कि शशि इसमें फड़फड़ाती रहेगी, निकल न सकेगी !

हरि : मनोहर !

मनोहर : मैं कहता हूँ...

हरि : तुम देखते नहीं, किरण की हालत नाज़ुक है ! वह मरने को है और तुम अपनी इन विषैली बातों से मेरा हृदय छलनी करने आये हो !

मनोहर : तुम शशि को न अपनाते हो, न छोड़ते हो; और मैं त्रिशंकु की तरह बीच ही में लटका हुआ हूँ...तुम्हारी इस विरक्ति में, मैं जानता हूँ, कितनी आसक्ति छिपी है—वाह रे उदासीनता ! वह बनारस से तुम्हें मिलने के लिए आयी है, वह जब से बैठी है तुमसे मिलने को आतुर है—खेल में वह योग नहीं दे रही, बातचीत में वह हिस्सा नहीं ले रही—और तुम पल-भर को उससे बात करने नहीं आ सके...

हरि : किरण की हालत नाज़ुक है, तुम्हारी क्या आँखें नहीं हैं ?

मनोहर : वह फड़फड़ाती रहेगी; न जियेगी, न मरेगी ! किरण की सूखती हुई, बीमार देह का लोहू अपनी कविताओं के द्वारा तुमने शशि के शरीर में डाल दिया है।

किरण हाथ हिलाती है।

हरि : (**क्रोध से**) तुम जाओ ! तुम सब चले जाओ !! यह होश में आ रही है।

किरण : (**सोये-सोये-से, डरे-डरे-से क्षीण स्वर में**) मैं चिलमन नहीं चाहती। मैं चिलमन नहीं चाहती। मेरी रोशनी बंद न करो। मेरी रोशनी...

हरि : (**उसके मुँह में दवा टपकाता हुआ**) कौन तुम्हारी रोशनी बंद करता है ? यह देखो—चिलमन उठी हुई है और चाँद की पवित्र रोशनी तुम्हारे साथ खेल रही है। मैंने तुम्हारी चारपाई के नीचे ईंटें रख दी

हैं। उठो, देखो—

माँ : यह न उठेगी। देख नहीं रहे इसके हाथ मुड़ रहे हैं। इसे धरती पर उतार लो।

हरि : नहीं, मैं इसे धरती पर न लिटाने दूंगा—ठंडी, निर्मम, कठोर धरती पर...

किरण : मेरी रोशनी बंद न करो। मेरी रोशनी बंद न करो...

हरि : कौन तुम्हारी रोशनी बंद करता है ?

किरण : (जैसे दूसरी दुनिया से) शशि मेरी रोशनी बंद कर रही है।

चिलमन आप-से-आप खुल जाती है। कमरे में फिर अँधेरा हो जाता है। केवल दिये का मद्धिम प्रकाश है।

हरि : शशि !

किरण : (जैसे वहीं से) वह मेरी रोशनी बंद करने के लिए गहरा नीला टाट रँग रही है। मैं चिलमन नही चाहती। मैं चिलमन नहीं चाहती। मेरी रोशनी...(आँखें बंद कर लेती है)

हरि : (चिलमन उतारकर फेंक देता है) मैंने चिलमन उतार दी है...किरण ...किरण...

माँ : (नाड़ी देखते हुए) किरण कहाँ, किरण खत्म हो गयी। मैंने कहा था न, इसे धरती पर उतार लो।

राधे दरवाजे से झाँकता है।

राधे : शशि ने पूछा है, मैं यहाँ आ सकती हूँ ?

हरि : (उत्तेजित-से स्वर में) वह नहीं आ सकती। वह कभी नहीं आ सकती। देखते नहीं, मैंने चिलमन उतार दी है। मैंने चिलमन उतार-कर फेंक दी है...

पर्दा गिरता है।

1942

पड़ोसिन का कोट

पात्र

नीलिमा : केन्द्रीय जन-कल्याण मंत्रालय के जॉयण्ट सेक्रेट्री श्री सी० बी० खेड़ा की पत्नी। उमर पैंतीस वर्ष। न बहुत मोटा, न पतला, मझोला शरीर; गोरा रंग; कटे बाल; बतीसी ज़रा-सी बाहर को निकली हुई। मुस्कराती है तो सुंदर लगती है। क्रोध में चेहरा विकृत करते हुए चिल्लाती है, तो चेहरे पर दाँत-ही-दाँत उभर आते हैं और उसे डरावना बना देते हैं।

मिसेज़ गंजू : 35 वर्ष की, लेकिन 40 की लगती है। तीखे नाक-नक्श वाली गोरी-चिट्टी, दोहरे बदन की कश्मीरी महिला।

मिसेज हनीफ़ : गंजू की सहेली बानो। गोल-मटोल। हल्के साँवले रंग की।

मिसेज़ सलूजा : नीलिमा की सहेली। सम्भ्रांतता का खोल चढ़ाये हुए पुराने विचारों की महिला।

पार्वती : उसी उमर की गोरी-चिट्टी नौकरानी।

सी० बी० : श्री चन्द्रवदन खेड़ा। नीलिमा के आई० ए० एस० पति। उमर 45 वर्ष। दोस्तों में सिर्फ़ सी० बी० कहाते हैं। दोहरे शरीर के व्यवहार-कुशल आदमी। चेहरे पर ऐसा भाव, जो अमीर बाप की बेटियों के ज़न-मुरीद पतियों के चेहरों पर अनायास आ जाता है।

रामअधार : चपरासी। उमर चालीस वर्ष।

ख़ानसामा : जैसा कि कर्कशा मालकिन के ख़ानसामे को धीर-गंभीर होना चाहिए !

स्थान : दिल्ली की एक पॉश कॉलोनी में श्री सी० बी खेड़ा के बँगले का ड्रॉइंग-रूम, जिसमें खाने की मेज़-कुर्सियाँ और साइड बोर्ड भी है और फ्रिज भी रखा है। काउच, सेंटर-टेबल और काउचों के साथ छोटी तिपाइयाँ आदि भी हैं। दो दरवाज़े हैं। एक

बाहर बरामदे में खुलता है। दूसरा किचन को जाता है।

समय : वर्तमान-शाम

पर्दा उठते वक्त मिसेज़ नीलिमा—जो अपनी सहेलियों में नीली या नीलू के नाम से पुकारी जाती है—ड्राइंग-रूम में बैठी स्वेटर बुन रही है। क्षण-भर बाद चपरासी एक हाथ में टिफ़िन कैरियर और दूसरे में अपने साहब का ब्रीफ़-केस लिये प्रवेश करता है।

नीलिमा : सी० बी० नहीं आये रामअधार ?

रामअधार : आयेन हैं मेम साहेब, मुदा रस्तवई माँ उतरि गयेन !

नीलिमा : रास्ते में ! कहाँ !

रामअधार : पी० सी० साहेब अपने बँगला के गेटवा पर खड़ा रहेन। उनहीं साहेब के बुलाइ लिहेन, एही से उहीं उतरि गयेन। अऊर हमके डेराइवर के संगे घरे पठे दिहेन।

नीलिमा : आने के बारे में...

रामअधार : हमसे त कछु नाहीं कहेन मेम साहेब !

नीलिमा : और मैं यहाँ चाय का पानी चढ़ाये बैठी हूँ **(बुना हुआ स्वेटर काउच पर पटककर उठ खड़ी होती है।)** सी० बी० में यही ख़ामी है। इतने बड़े अफ़सर हैं और टाइम-सेंस ज़रा नहीं !

बेचैनी से कमरे में घूमने लगती है। तभी टेलीफ़ोन की घंटी बज उठती है।

नीलिमा : देखो रामअधार, कौन है ?

रामअधार : **(चोंगा उठाते हुए)** डबल सिक टू नैन नैन नैन...जी, मैं रामअधार बोल रहा हूँ...जी हैं...जी देता हूँ **(नीलिमा की ओर देखकर)** साहेब के फ़ोन है मेम साहेब।

नीलिमा तिनतिनाती हुई दो ही कदमों में बढ़कर चपरासी से चोंगा झटक लेती है। रामअधार टिफ़िन-कैरियर और ब्रीफ़-केस क्रमश: किचन और स्टडी में रखने के लिए चला जाता है।

नीलिमा : (सक्रोध) सी बी०, तुम वहीं रास्ते में रुक गये और मैं चाय का पानी चढ़ाये तुम्हारी बाट देख रही हूँ। यह क्या ढंग है कि दफ़्तर से घर आते-आते रास्ते ही में दोस्तों के यहाँ जा बैठते हो ! चाय-नाश्ते के बाद क्या शाम को गप नहीं हो सकती ?... हाँ-हाँ, सुन रही हूँ...अच्छा-ा-ा **(नर्मी से उकसाते हुए)** तो तुम ज़रा धीरा से कहना कि स्वयं ही नहीं, अपनी पड़ोसिनों से भी कह दें, वे क्लब के वार्षिक चुनाव में हमारा साथ दें...

हाँ-हाँ, क्या हर्ज है, ग्रीन पार्क की लेडीज़ क्यों मेम्बर नहीं बन सकतीं ?...तुम पी० सी० से कहना कि धीरा अगर हमारी मदद करेंगी और अध्यक्ष के लिए मेरे नाम का प्रस्ताव करेंगी तो मैं सेक्रेट्रीशिप के लिए उनके नाम पर ज़ोर दूँगी। इस बार शहला का जादू तोड़ देना है—हाँ ! तुम उन्हें समझाना कि शहला अध्यक्ष है और नीलिमा सेक्रेट्री, दोनों में पटती नहीं और क्लब का काम 'सफ़र' करता है, नीलिमा अध्यक्ष हो जाये और धीरा सेक्रेट्री तो काम खूब फ़र्राटे से चलेगा...वो तो हुई है, वो तो हुई है...तुम ज़रा अपनी तरफ़ से दोनों को अच्छी तरह समझा देना। पी० सी० उन लोगों के भी तो मित्र हैं, शहला के लिए उनके मन में ज़रा वो कोमल-सा (हँसती है) इसीलिए...समझते हो ना...हाँ...हाँ (किंचित हँसकर) मैंने तुमसे कितनी बार कहा है कि मुझे माननीया-वाननीया मत कहा करो...दोस्तों में तो ऐसे दर्शाते हो कि मेरे इशारे के बिना...तो क्या घर जल्दी आने का इरादा नहीं है जो इतना मस्का उँडेल रहे हो...! हाँ-हाँ, चाय तो तुम वहीं पिओगे... मैं जानती थी...मिसेज़ गंजू और बेगम हनीफ़ का इंतज़ार कर रही थी...नहीं, अब अकेली ही पी लूँगी...

चपरासी टिफ़िन-कॅरियर और ब्रीफ़-केस रखकर आता है और चुपचाप बाहर के दरवाज़े की ओर जा रहा होता है कि फ़ोन पर बात करते-करते नीलिमा टोकती है।

नीलिमा : ठहरो ! तुमसे ज़रा बात करनी है (फ़ोन में) नहीं...नहीं, तुमसे नहीं कहा सी० बी०, मैं चपरासी से कह रही थी।... अच्छा तो अब तुम वहीं न बैठे रहना। बात करके जल्दी आ जाना...ज़रा पाराशर्ज़ के हो आयेंगे।...हाँ, क्या हर्ज है... मोहन भाई को मेरी याद दिलाना और साथ लाना। (फ़ोन रख देती है। रामअधार से) ख़ानसामा से कहो, साहब नहीं आयेंगे। छोटी केतली में दो प्याला भर चाय मेरे लिए बना लाये।

चपरासी चला जाता है। नीलिमा फ्रिज से एक सेंव निकालती है और साइड बोर्ड से प्लेट लेकर उस पर रखती है। साइड बोर्ड के खाने से बिस्कुटों का डिब्बा निकालकर उसमें से कुछ बिस्कुट दूसरी प्लेट में रखती है और दोनों प्लेटें खाने की मेज़ पर लाकर सजाती है। फिर एक कुर्सी पर बैठ जाती है। तभी आगे-आगे

रामअधार और पीछे-पीछे ख़ानसामा चाय की ट्रे लिये आता है। ख़ानसामा ट्रे मेज़ पर रखता है। चपरासी अदब से एक ओर खड़ा हो जाता है। ख़ानसामा एक प्याले में चाय ढालता है।

नीलिमा : (सक्रोध) यह चीनीदान पूरा-का-पूरा भर लाये हो, तुमसे कहा नहीं रामअधार ने कि सिर्फ़ मैं ही चाय पिऊँगी।

ख़ानसामा : जी वो...जी वो, साब आने वाले थे...

नीलिमा : हाँ, साहब आने वाले थे, लेकिन जब नहीं आये और सिर्फ़ मुझे ही चाय पीनी थी तो चीनी वापस नहीं रखी जा सकती? हज़ार बार तुमसे कहा है कि जितने चमचे चीनी दरकार हो, उतने ही गिनकर चीनीदान में डाला करो! ख़ानसामा की चतुराई उड़ाने में ही नहीं, बचाने में भी होती है।

चाय का प्याला अपने आगे करती है। ख़ानसामा वापस किचन को चला जाता है। नीलिमा प्लेट से उठाकर एक बिस्कुट कुतरती है और चाय की चुस्की लेती है, फिर चपरासी की ओर मुड़ती है।

: तुमने पार्वती से बात की रामअधार?

रामअधार : करे रहेन मेम साहेब!

नीलिमा : तो...

रामअधार : ऊ बात ई है मेम साहेब कि सीला मेम साहेब ओके छोड़ का तैयार नाहीं।

नीलिमा : (**बमकते हुए**) छोड़ने को तैयार नहीं! क्या शहला ने ख़रीद लिया है उसे? जब वह काम नहीं करना चाहेगी वहाँ, तो वह कैसे उसे ज़बरदस्ती रख लेगी?

रामअधार : बात ई है मेम साहेब कि पारबती के उहाँ नौकरी करत बहुत दिन होई गयेन। टुक्कू बाबा ओ से बहुते हिले हयन, ओहू के मन माँ भी ममता बा। आप जइसे समझाये रहेन वइसेन हम पारबती के सीला मेम साहेब से बात करै का बोले रहे।

नीलिमा : (**बेसब्री से**) फिर...

रामअधार : ऊ ओके पन्दरह रुपैया के तरक्की दै दिहेन।

नीलिमा : (**किंचित झटका लगता है**) एक साथ!

रामअधार : जी मेम साहेब!

नीलिमा : लेकिन पार्वती ने मुझे क्यों नहीं बताया? मैं धीरा से कहकर दो रुपये ज़्यादा ही दिला देती!

रामअधार : जी मेम साहेब ऊ धीरा मेम साहेब के हियाँ नाहीं जाय चाहत।

नीलिमा : क्यों ?

रामअधार : पता नहीं ओसे के कहि दिहैसि कि धीरा मेम साहेब बहुत खिट-खिट करति हैं।

नीलिमा : **(चमक कर)** आया ने कहा होगा ! वो आया एक ही हरामिन है। उसी की जगह तो वे पार्वती को रखना चाहती हैं।

रामअधार : अरे मेम साहेब, पारबती औरत जात है। ओकरे मन माँ भय बैठि गा है ! सीला मेम साहेब आपके सामनेन त रहित हैं, रोज आपसे मिलति हैं। आपई काहे नाहीं कहि देतिनि कि ओ के छोड़ि देंइ !

नीलिमा : तुम तो अहमक हो, मैं शहला से कैसे कह सकती हूँ ? **(चाय की प्याली वहीं छोड़कर कमरे में चक्कर लगाती है, फिर चपरासी के सामने आकर खड़ी हो जाती है।)** देखो रामअधार, एक बात समझ लो—अगर तुम्हारी बीबी शहला के घर काम करना नहीं छोड़ती तो न तुम साहब के दफ़्तर में काम कर सकते हो, न हमारे बँगले में रह सकते हो।...

रामअधार चुप रहता है।

: तुम फ़ाके करते थे, जब मैंने तुम्हें अपने कॉलेज में चपरासी रखवा दिया। याद है ?

रामअधार सिर हिलाता है।

: जब तीन साल बाद साहब से मेरी शादी हो गयी और हम दिल्ली से जाने लगे तो मैंने तुम्हें साथ चलने के लिए कहा था। याद है ?

रामअधार सिर हिलाता है।

: लेकिन तुम पार्वती के चक्कर में पड़े थे, नहीं गये, वरना डिप्टी कलक्टरों और कलक्टरों के चपरासी मालिकों से ज़्यादा मज़े करते हैं, पर मेरी बात तुम्हारी समझ में नहीं आयी। तुम यहीं रह गये। बीमार पड़ गये। गांव चले गये। छह महीने वहाँ पड़े रहे। पीछे तुम्हारी नौकरी छूट गयी। वापस दिल्ली आये तो फिर तुम्हारी कोई पक्की नौकरी नहीं लगी। जब तीन साल पहले साहब जॉयण्ट सेक्रेट्री होकर यहाँ आये और तुम एक दिन अचानक कनॉट प्लेस में सामने पड़ गये तो मैं तुम्हें पहचान तक न सकी, इतनी बुरी हालत थी तुम्हारी। तुम्हीं ने पहचाना। याद है ?...

रामअधार चुप रहता है।

नीलिमा : लगता था जैसे हफ़्तों से तुम्हारे मुँह में दाना नहीं गया। मैंने साहब से कहकर तुम्हें उनके दफ़्तर में चपरासी भरती करा

दिया। कोई पोस्ट नहीं थी। फिर भी अस्थायी रूप से तुम चपरासी बने चले आ रहे हो। वहाँ निहालचन्द के यहाँ कितनी गंदी ग़लीज़ सीली-अँधेरी कोठरी में तुम लोग रहते थे। वहाँ से लाकर तुम्हें बंगले में जगह दी...

रामअधार : **(विनम्रता भरी सख़्ती से)** सबै याद है मेम साहेब। हमहूँ आपके सेवा में कौनउ कसर नाहीं उठावत रहे। तनखा दफ़्तर में पाइत हैं, लेकिन सबेरे चारि बजे से दस बजे राति तक आपइ क डूटी देइत हैं। पारवती सीला मेम साहेब के इहाँ पूरे महीने के तनख़ाह पावति है, तबउ जब आपके काम पड़त है, दौड़ी आवति है।

नीलिमा : वह सब ठीक है, लेकिन मैं कब से कह रही हूँ कि पार्वती को किसी और जगह नौकरी के लिए कहो। धीरा के न सही, मैं दूसरे दस घरों में उसे इतने पर, बल्कि इससे भी कुछ ज़्यादा पर रखवा...

रामअधार : **(पैंतरा बदलकर)** हम त मनावत रहेन हैं मेम साहेब कि भगवान आपक गोदी भरैं आउर पारवती आपके बचवा के खेलावै। आप दस कम देईं या कुछौ न दें।

नीलिमा : तुम बातें करना बहुत सीख गये हो रामअधार! देखो, अगर पार्वती सामने के घर में काम छोड़ देगी तो जैसे भी होगा, मैं तुम्हारी नौकरी पक्की करा दूँगी, नहीं छोड़ेगी तो तुम लोग मुझे जानते हो कि...

बाहर कॉल-बेल बजती है।

: देखो कौन है? बिना मुझसे पूछे मत बोल देना...**आकर फिर डाइनिंग टेबल पर बैठ जाती है। चाय सिप करती है, गुस्से से वापस रख देती है। ज़ोर से आवाज़ देती है।)** खानसामा!

खानसामा : **(किचिन से)** जी मेम साब **(आता है।)** जी!

नीलिमा : यह प्याला ठंडा हो गया। एक प्याला और बनाओ!

खानसामा प्याले की चाय वॉश-बेसिन में गिराता है। थोड़ा-सा चाय का पानी डालकर प्याला गर्म करता है। फिर ताज़ा चाय ढालता है। रामअधार बाहर के दरवाज़े से प्रवेश करता है।

रामअधार : मेम साहेब गंजू मेम साहेब और बेग़म हनीफ़ हुसेन।

नीलिमा : उन्हें इधर भेज दो और तुम जाओ और पार्वती को समझाओ! **(खानसामा से)** चाय का पानी चढ़ा देना।

खानसामा चला जाता है। नीलिमा जल्दी-जल्दी हाथ का बिस्कुट एक साथ खाकर चाय पीती है। रामअधार

के पीछे-पीछे मिसेज़ गंजू और मिसेज़ हनीफ़ आती हैं।

: यह साढ़े पाँच बजे शाम आयी हो। पूरा आधा घंटा इंतज़ार करके अकेली चाय पीने लगी थी। **(रामअधार को वापस जाते देखकर)** रामअधार मेरी बात याद रखना! **(नवागताओं से)** आओ...आओ...इधर ही आ जाओ! **(प्लेट आगे करके)** लो, इतने में एक-एक बिस्कुट लो!

उठकर फ्रिज से दो सेब, निकालकर प्लेट में रखती है। साइड बोर्ड से प्लेटें निकालकर, एक में कुछ दालमोठ, दूसरी में नमकपारे और तीसरी में फ्रिज से रसगुल्ले निकालकर प्लेटें अपनी सहेलियों के आगे रखती है।

मिसेज़ गंजू : हम तो ऐन वक्त पर पहुँच जाते कि तुमसे वायदा किया था, लेकिन सोचा रास्ते में ज़रा पाराशर के यहाँ होते चलें...

नीलिमा : मैं खुद सोच रही थी कि सी० बी० आ जायें तो मैं भी मिसेज़ पाराशर के हो आऊँ। **(सरगोशी में)** कुछ अंदाज़ा किया!

मिसेज़ गंजू : हम तो दो-तीन दिन से घूम रहे हैं। जो सबका हाल है, वही मिसेज़ पाराशर का है।

नीलिमा : क्या मतलब?

मिसेज़ गंजू : तुम्हारी मेरी पुरानी दोस्ती है नीलू! ग़लत बात मैं कोई कहना नहीं चाहती। मुझे तो ऐसा ही लगता है, जैसा लोगों को 77 के चुनावों में लगता था।

नीलिमा : क्या मतलब?

मिसेज़ गंजू : मतलब यही कि कुछ भी पता नहीं चलता। कहती सब यही हैं कि आप जो कहेंगी, वैसा ही करेंगे, लेकिन किसी के हाव-भाव और बातचीत से उनके मन का अंदाज़ा नहीं होता। चुनाव के सिलसिले में लोग बहुत चालाक हो गये हैं।

मिसेज हनीफ़ : किसी को सपने में भी ख़याल था कि 77 में इंदिरा हार जायेंगी और इस बुरी तरह हार जायेंगी। रशीद कांग्रेस में है। उन दिनों कन्वैसिंग करती थी। उसी से मालूम हुआ कि कन्वंसर जब पहुँचते तो लोग दाँत चियारे, मूँड़ हिला देते कि जैसा आप कहती हैं, वैसा ही होगा...कि हम भी यही सोचते हैं। नतीजा क्या निकला। एकदम नीचे का ऊपर हो गया।

मिसेज़ गंजू : अब भई बात यह है कि वे लोग भी चुप नहीं बैठे हैं। सिन्हा और शीला...

नीलिमा : शहला कहो शहला। सिन्हा को यही नाम पसंद है और अब तो शीला भी अपने आपको शहला कहने लगी है।

मिसेज़ हनीफ़ : शहला या शैला! लिखती तो वह एस-एच-ई-आई-एल-ए० है।

नीलिमा : कोई शहला कहता है, कोई शैला, कोई शीला, पर हमारे चपरासी की बीवी तो उसे हमेशा सीला कहती है।

तीनों औपचारिकता से थोड़ा हँसती हैं।

मिसेज़ हनीफ़ : मैं तो उसे सदा शीला ही पुकारती हूँ और मेरे सामने तो उसने कभी यूँ बनने की कोशिश नहीं की। बहरहाल, मैं यह कह रही थी कि वे दोनों फिरकी की तरह घूम रहे हैं...

मिसेज़ हनीफ़ : अब मियाँ-बीवी के पास अपनी-अपनी कार है तो...हमारी तरह तो हैं नहीं कि मियाँ दफ़्तर से आयें तो कहीं कार में जाना नसीब हो...

मिसेज़ गंजू : सिन्हा साहब की इतनी बड़ी फ़र्म है। चार हज़ार उनकी तनख़ाह, मकान और कार और दो-दो नौकर कंपनी की तरफ़ से। फिर वाही-तबाही मुनाफ़ा। शीला का दिल भी दरिया है। इतने तोहफ़े-तहायफ़ बाँटती रहती है कि पिछले दस वर्षों से क्लब की अध्यक्ष बनी आ रही है।

नीलिमा : **(मुसकराते हुए ईर्ष्या-मिले व्यंग्य से)** अपना रुपया कौन उड़ाता है। हज़ारों रुपया चंदे में इकट्ठा होता है, हज़ारों की सरकार से मदद मिलती है। समाज-सेवा भी हो जाती है और बिज़नेस भी बढ़ता है। ऐसे ही तो फिरकी की तरह उनकी कारें नहीं घूम रहीं!

मिसेज़ हनीफ़ : **(सरगोशी में)** आप तो मिसेज़ खेड़ा साल भर से क्लब की सेक्रेट्री हैं, देखा कुछ इधर-उधर करते शहला को?

नीलिमा : **(हाथ चमकाकर)** मेरे रहते ऐसा-वैसा कुछ हो सकता है क्या? इसीलिए तो मैं शहला को एक आँख नहीं सुहाती... **(झल्लाकर उठती है।)** इस ख़ानसामे कम्बख़्त को क्या हो गया। अभी तक चाय नहीं लाया।

मिसेज़ गंजू : अरे नीलू तुम बेकार तकल्लुफ़ करती हो, चाय तो हम पाराशर्ज़ के...

नीलिमा : **(बराबर किचन को जाते हुए ज़रा सिर घुमाकर)** चाय पर जब मैंने बुलाया था तो वहाँ कैसे पी आयीं? रुको, मैं मिनट भर में आयी। **('ख़ानसामा! 'ख़ानसामा!' पुकारती हुई निकल जाती है।)**

मिसेज़ हनीफ़ : कि यही क्लब का रुपया इधर-उधर करना चाहती थी। शहला ने साथ नहीं दिया तो उसके पीछे पड़ गयी हाथ धोकर।...अब उसका मालिक इतना कमाता है, बड़े बाप की बेटी है, उसे क्या ज़रूरत है क्लब का रुपया हड़पने की।

मिसेज गंजू : **(सरगोशी में)** देखो बानो, तुम अपनी तरफ़ से कुछ न कहना,

बस 77 के वोटरों की तरह मूँड हिला देना (**हँसती है।**) मैं तो इसके साथ पढ़ती थी, यह सख़्त कीना रखने वाली औरत है। खेड़ा यूँ भी ख़ासे बदनाम आदमी हैं। दिल्ली आने से पहले जहाँ थे, वहाँ इन पर रिश्वत के बड़े इल्ज़ाम थे। इंक्वायरी तक बैठ गयी थी। सरकार ने बाल और पर नोच कर सेंटर में बैठा दिया।

मिसेज़ हनीफ़ : हाँ भाई, अपनी इज़्ज़त अपने हाथ ! बिना कुछ किये हाथ जलते हैं, करने पर तो...

मिसेज़ गंजू : अरे हम कुछ क्यों करेंगे। बाढ़ के दुखियारों के लिए दिन-रात एक करके रुपया इकट्ठा किया है, हमारे लिए तो कानी कौड़ी हराम है।

आगे-आगे नीलिमा और पीछे-पीछे चाय की ट्रे लिये ख़ानसामा दाख़िल होता है। नीलिमा प्यालियों में चाय ढालती है।

नीलिमा : चीनी गंजू !

मिसेज गंजू : मेरे प्याले में चीनी नहीं।

नीलिमा : सैक्रीन की गोली डाल दूँ। खेड़ा साहब के ब्लड में डॉक्टर ने कुछ शक ज़ाहिर किया था सो...

मिसेज गंजू : नहीं, नहीं, उसका टेस्ट मुझे अच्छा नहीं लगता। अब तो बिना चीनी के पीने की आदत हो गयी है।

नीलिमा : और आप बानो ?

मिसेज़ हनीफ़ : बस डेढ़ चम्मच !

नीलिमा : तुम तो गंजू मीठा लोगी नहीं, ये नमकपारे और दालमोठ लो (**दोनों प्लेटें मिसेज गंजू के आगे रखती है।**) तुम्हारे लिए बानो, मैं सेब छीलती हूँ, इतने में तुम बिस्कुट या रसगुल्ले लो !

मिसेज़ गंजू : अरे तुम फ़िक्र न करो, हम ले लेंगे।

फ़ोन की घंटी बजती है।

नीलिमा : (**ज़ोर से चिल्लाकर**) ख़ानसामा, ज़रा फ़ोन देखो।

ख़ानसामा भागा-भागा आता है और फ़ोन उठाता है।

ख़ानसामा : हैलो ऽऽऽ...जी, खेड़ा साब के बँगले से बोल रहे हैं।...नहीं साब घर पर नहीं हैं।...कौन साब बोल रहे हैं...ज़रा रुकिये बताते हैं। (**चोंगे पर हाथ रखकर**) मेम साब कोई आर० बी० खेड़ा हैं। आपको पूछ रहे हैं।

नीलिमा : कह दो नहीं हैं।

ख़ानसामा : मेम साब यहीं थीं, पड़ोस के बँगले में चली गयी हैं। आप नंबर

दे दीजिये। (ख़ानसामा फ़ोन रख देता है।)

नीलिमा : फ़ोन नंबर वहाँ पैड पर नोट कर दो।

ख़ानसामा : उन्होंने कहा, हम फिर फ़ोन करेंगे। **(वापस चला जाता है।)**

नीलिमा : **(सेब छीलकर प्लेट मिसेज़ हनीफ़ के आगे रखते हुए)** देखो गंजू, तुमसे कोई पर्दा नहीं। तुम मेरी क्लास-फ़ेलो रही हो। फिर गंजू साहब और खेड़ा साहब इकट्ठे काम करते रहे हैं। तुम पर मेरा हक बनता है।

मिसेज़ गंजू : क्यों नहीं...क्यों नहीं...!

नीलिमा : मैं यह जानती हूँ कि शहला से आप लोगों का अच्छा मेल-मिलाप है, लेकिन मैं यही कहना चाहती हूँ कि मैं भी आप से दूर नहीं हूँ। यूँ दोस्ती की शर्त मैं यह मानती हूँ कि दोस्त आपके लिए कुछ करे। इतने बरसों से शहला अध्यक्ष चली आ रही है, उसने तुम्हें गंजू, एग्ज़िक्टिव तक में तो लिया नहीं...

मिसेज़ गंजू : मैंने कभी चाहा भी नहीं।

नीलिमा : तुम्हारे न चाहने से क्या होता है। मैं अध्यक्ष हो जाऊँ तो देखूँ तुम कैसे मेरी कार्यकारिणी में नहीं आतीं। बल्कि मैं तो तुम्हारा नाम सेक्रेट्री के तौर पर प्रोपोज करने की सोचती हूँ—क्यों गंजू, क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम अध्यक्ष के लिए मेरे नाम की...

मिसेज गंजू : भाई देखो, तुम मुझसे अपना नाम प्रोपोज़-वरपोज़ मत कराओ, बाकी हम तुम्हारे साथ हैं।

नीलिमा : आप बानो।

फ़ोन की घंटी बजती है।

: **(ज़ोर से आवाज देती है)** ख़ानसामा !

ख़ानसामा भागा आता है। फ़ोन उठाता है।

ख़ानसामा : हैलोऽऽऽ ! जी हाँ...मैं ख़ानसामा बोल रहा हूँ।...अभी देखकर बताता हूँ ..कुछ मेहमान आये हुए हैं...**(चोंगे पर हाथ रख-कर)** कांता मेम साब का फ़ोन है।

नीलिमा : कह दो मेम साब अभी पाँच मिनट में आपको फ़ोन करेंगी।

ख़ानसामा : मेम साब अभी पाँच मिनट में आपको फ़ोन करती हैं। **(चोंगा रख देता है।)**

मिसेज गंजू : अच्छा तो नीलू हम चलते हैं।

नीलिमा : अरे बैठो पाँच मिनट। हाँ तो बानो साहिबा...मैं कुछ उम्मीद रखूँ ?

मिसेज़ हनीफ़ : हम तो ख़ादिम हैं...

नीलिमा : क्लब की कार्यकारिणी में माइनॉरिटी कम्यूनिटी का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। मैं अध्यक्ष बनी तो आपको मेरे साथ एग्ज़िक्टिब में काम करना होगा।

मिसेज़ गंजू : तुम बानो की तरफ़ से बेफ़िक्र रहो। यह दोस्तों की दोस्त है।

उठती है। बेगम हनीफ़ भी उठती है।

: अच्छा तो नीली, अब इजाज़त दो।

मिसेज हनीफ़ : यह कोट आपने मिसेज़ खेड़ा बहुत शानदार बनवाया है। क्या विलायती कपड़ा है ?

नीलिमा : नहीं ओ० सी० एम० का है ! उन्होंने विलायत वालों की तर्ज़ पर कोट के कपड़े पर लेडीज़ का यह नया डिज़ायन निकाला है। खन्ना कहता था कि तरह-तरह की शालें चल जाने से कोटों का रिवाज़ कम हो रहा है, इसलिए उन्होंने एक ही थान मँगाया था। गर्मियों में पहाड़ जाते हैं, बिना कोट के काम थोड़ी चलता है।

मिसेज हनीफ़ : (**चलते...चलते**) कितने में बन गया होगा ?

नीलिमा : यूँ तो ढाई-पौने तीन सौ में बन जाना चाहिए, लेकिन इसकी लाइनिंग ज़रा कीमती है। एन० एस० अहमदाबादकी ! खन्ना कहता था कि दर्ज़ी तो इतनी महँगी लाइनिंग लगाते नहीं। और लाइनिंग ख़रीदकर दर्ज़ी को देने का कष्ट कोई मोल नहीं देता। सो उन्होंने दो थान अपने ही लिए मँगाये थे। मेरे ज़ोर देने पर बड़े खन्ना ने कोट की लाइनिंग दे दी। सो पचास रुपये ज़्यादा लग गये। (**कोट के बटन खोलकर अंदर की लाइनिंग दिखाती है**) देखो ना, कितनी शानदार है, कितनी मुलायम और फिर रंग और डिज़ाइन कैसा ख़ूबसूरत है...

मिसेज़ हनीफ़ : (**कोट के कपड़े और लाइनिंग पर हाथ फेरते हुए**) जी होता है, मिल जाये तो एक कोट ऐसा ही मैं भी बनवा लूँ।...

उठती है, नीला भी उठती है।

मिसेज़ हनीफ़ : नहीं...नहीं...अब आप बैठिये !

नीलिमा : ज़रा ख़याल रखियेगा और अपनी सहेलियों से भी कहियेगा। तुम भी गंजू।

मिसेज़ गंजू : ज़रूर...ज़रूर...

चलती हैं। नीलिमा दरवाज़े तक छोड़ने आती है।

मिसेज़ गंजू : (**नीलिमा को वहीं रोककर**) अब तुम बैठो !...बाई... बाई...

नीलिमा हाथ उठाकर 'बाई' कहती है। दोनों सहेलियाँ चली जाती हैं। नीलिमा दरवाजा बंद करके पलटती

है। फ़ोन की घंटी फिर बजती है। ख़ानसामा अंदर से आकर फ़ोन उठाता है।

ख़ानसामा : हैलोऽऽऽ...! जी हाँ, मैं ख़ानसामा बोल रहा हूँ...जी, ज़रा रुकिये (चोंगे के आगे हाथ रखकर) कांता मेम साब का फ़ोन है।

नीलिमा : बोली, आती हूँ।

ख़ानसामा : जी आ रही हैं।

चोंगा तिपाई पर रख देता है। कुछ क्षण बाद नीलिमा चोंगा उठाती है। ख़ानसामा किचिन में चला जाता है।

नीलिमा : (फ़ोन में) मैं तुम्हें फ़ोन करने ही वाली थी कांता...अरे नहीं सच !...गंजू और बानो आ गयी थीं।...अब क्या बता सकती हूँ ? उन्हें कह दिया है, और उन्होंने वादा भी कर लिया है, लेकिन मैं बैंक उन पर नहीं कर सकती। बैंक तो मैं तुम पर, धीरा पर और दूसरी दोस्तों पर ही करती हूँ...हाँ-हाँ, मेरे साथ पढ़ी है गंजू...लेकिन शहला से भी उसका बहुत मेल-जोल है। अब भई, शहला उतनी पढ़ी-लिखी नहीं...हाँ-हाँ बी० ए० है; पर बी० ए० तो आजकल चपरासी भी होते हैं...ये डी० फ़िल और डी० लिट० किस्म की चीज़ें शहला के लिए बहुत बड़ी तोप हैं...ये उसके जहाँ जाती हैं तो वह इनकी बड़ी आव-भगत करती है। अहं, मान-सम्मान का ख़याल और सोफ़िस्टीकेशन तो शहला में है नहीं। इनके आगे बिछ-बिछ जाती है। इनके भी अहं को बहुत सुख मिलता है। मेरे तो बराबर की है गंजू। मैं तो वह सब नहीं कर सकती...हाँ-हाँ, वो तो है... वो तो है। ...कह तो गयी है कि हम आपके साथ हैं।... नहीं, प्रोपोज़ वह नहीं करेगी...

बाहर के दरवाज़े पर की कॉल-बेल बजती है।

नीलिमा : एक मिनट तो रुको कांता। बाहर कोई आया है (**फ़ोन के आगे हाथ रखकर ख़ानसामा से, जो किचन से आ गया है।**) देखो ख़ानसामा कौन है ?

ख़ानसामा दरवाज़े की ओर जाता है।

: और सुनो—कोई साहब को पूछ रहा हो तो नाम-पता ले लेना और चलता कर देना। कोई मुझसे मिलने वाला हो तो उधर के बरामदे में बैठाना।...और देखो, मुझे बात करते हुए डिस्टर्ब मत करना...

ख़ानसामा : (**स्वीकार में सिर हिलाते हुए**) जी मेम साब...(**चला जाता है।**)

नीलिमा : (चोंगे से हाथ हटाकर) तो मैं कह रही थी कि प्रोपोज़ तो मेरा नाम तुमको या धीरा को करना पड़ेगा। अब यह तुम दोनों मिलकर तय कर लो (कद्रे धीमी आवाज़ में) देखो कांता, हमको गुट तो बनाना ही पड़ेगा। जब देश के राजनीतिक दलों का, देश की सरकार का काम बिना गुटों के नहीं चलता तो हमारा ही कैसे चलेगा ? हम एक-दूसरे को सपोर्ट करेंगे तभी कुछ कर सकेंगे।...मैं चाहती हूँ कि तुम खज़ानची बनो... अरे, नहीं क्या...बैंक के मैनेजर की बीवी हो और खज़ानची बनने से घबराती हो, हम सारा अकाउंट तुम्हारे मेहरोत्रा साहब के बैंक में ट्रांसफ़र कर देंगे।...मानो-न-मानो, बिना गुट बनाये, बिना एक-जुट हुए, काम चलेगा नहीं...सी० बी० बताते थे कि जन-कल्याण-विभाग में बहुत-सी ऐसी स्कीमें हैं, जिनसे राहत-कार्यों के लिए सरकार रुपया देती है।...अब यह तो अध्यक्ष और खज़ानची को ही पता होना चाहिए कि कहाँ कितना ख़र्च हुआ। (सव्यंग्य) कौन उसमें से कितना रखता है यह...नहीं-नहीं, मैं यह नहीं कहती कि शहला ऐसा करती है...लेकिन बिना किसी लाभ के वह यूँ ही तो उस पद से नहीं चिपकी हुई।...हाँ...हाँ हज़ार-दो-हज़ार अपने पास से भी ख़र्च कर देती होगी...लेकिन यह तो देखो, जिन ग़रीबों में वह रुपया बाँटती है, उनके वोट कंट्रोल करती है...और राजनीति में इसका बहुत महत्व है...हाँ-हाँ मैंने भी सुना है, सिन्हा साहब कॉर्पोरेशन के चुनाव में खड़ा होना चाहते हैं...तो बस, तुम ख़ुद ही सोच लो...हाँ-हाँ, शक्ति और प्रभाव की भी बात है ही...

ख़ानसामा चुपचाप आकर खड़ा हो जाता है कि नीलिमा अपनी बात ख़त्म करे तो वह अपनी कहे।

नीलिमा : (पूर्ववत फ़ोन पर) तो मैं तुम पर बैंक करूँ ! यकीन रखो, अगर मैं अध्यक्ष होती हूँ, धीरा सेक्रेटरी, तुम खज़ानची और कार्यकारिणी में हमारा बहुत होता है तो मेहरोत्रा साहब का भी इसमें निश्चय ही बहुत लाभ होगा। ठीक है, तुम सोच लेना। कल शाम छह बजे तुम्हारी तरफ़ आऊँगी... (हँसती है) सईदा बानो ? अरे वह तो मिसेज़ गंजू की परि-शिष्ट है। गंजू जो करेगी, वही बानो करेगी...मेरे कोट की बड़ी तारीफ़ कर रही थी और ख़ुद भी बनवाना चाहती है— हाँ-हाँ, तुमने भी की थी...देखूँगी अगर कपड़ा मिल गया तो तुम्हारे लिए कोट का ज़रूर लाऊँगी...अच्छा बाई...कोई

बाहर मिलने के लिए आया हुआ है...ओ के...! (चोंगा रख देती है।) कौन है ?...

ख़ानसामा : सलूजा मेम साब हैं।

नीलिमा : सरला ! अरे तो ले आते।

ख़ानसामा : आपने ही कहा था, आपसे कोई मिलने आये तो...

नीलिमा : उसे उधर बैठाने को थोड़ी कहा था ! पर ठीक है, उधर के बरांडे में सभी आ जाते हैं और मैं नहीं चाहती कि सलूजा को शहला की कोई मित्र-पड़ोसिन यहाँ देखे। कोई आये तो बाहर बैठाना। यह मत कहना कि उधर बैठी हूं, कहना कि देखकर बताता हूं, पड़ोस में न निकल गयी हों।

ख़ानसामा : जी बेहतर मेम साब !

नीलिमा बाहर निकल जाती है। खानसामा दरवाजे की सिटकनी चढ़ाकर खाने की मेज साफ़ करता है। फलों और रसगुल्लों की प्लेटें फ्रिज में और नमकीन आदि की प्लेटें साइड बोर्ड पर टिकाकर चाय के प्याले और टी पॉट वग़ैरा ट्रे में रख, किचिन को ले जाता है। कुछ क्षण बाद कॉल बेल बजती है। खानसामा किचन से भागा आता है और दरवाजा खोलता है। श्रीचन्द बदन खेड़ा नाटकीय मुद्रा में प्रवेश करते हैं।

सी० बी० : (यह समझकर कि नीलिमा दरवाजा खोल रही है, अभिवादन में दोनों हाथ फैलाये हुए) माननीया नीलिमा जी...

ख़ानसामा : मेम साब सलूजा मेम साब के साथ उधर के बरामदे में बैठी हैं ...बुला लाऊँ साब ?

सी० बी० : (निराश हो, हाथ नीचे करके) उसे बैठने दो। तुम पानी का एक गिलास ले आओ। (पीछे की ओर मुड़कर) आओ मोहन, आ जाओ !

मोहन—एक ख़ुशपोश युवक सी० बी० साहब के पीछे प्रवेश करता है। ठेकेदार है। 'जन कल्याण विभाग' से ठेके पाता है। यद्यपि सी० बी० साहब से उमर में दस वर्ष छोटा है, पर उनसे काफ़ी खुला है।

सी० बी० : (मोहन से) माननीया नीलिमाजी तो उधर के बरामदे में अपनी उस चिड़िया की बेगम-ऐसी सहेली के साथ बैठी हैं। तुम आराम से बैठो मोहन, मैं बहुत थक गया हूँ। ज़रा लेटूंगा।

मोहन : (जो काउच पर बैठ गया था, पर सी० बी० साहब की बात सुनकर ज़रा-सा उठता है और दोनों हाथ बढ़ाकर कहता है।) हाँ, हाँ आप आराम कीजिये।

सी० वी साहव लम्बे काउच पर वैठ जाते हैं और लेटने से पहले तिपाई से वीकली उठाकर मोहन की ओर फेंकते हैं।

सी० वी० : तुम ज़रा वीकली देखो। खुशवन्तसिंह का तो पत्ता कट गया। ताज़ा 'संडे' में उसके वेटे राहुल का बयान छपा है कि मालिकों ने कैसे अनसेरिमोनियसली उसको चलता कर दिया।...और ये लोग कहते हैं कि एमरजेंसी में जो आवाज़ वंद हो गयी थी, उसे आजाद कर दिया गया है और सेंसरशिप हटा दी गयी है।

वग़ल से गद्दी उठाकर सिर के नीचे रखते हैं और सिर को जरा-सा ठीक करके आराम से लम्वे काउच पर पुन: पैर पसारकर लेट जाते हैं और पत्रिका पढ़ने लगते हैं।

मोहन : तव तो एक वर्गीज़ को लेकर ही हाय-तौवा मची थी, अव तो तीन-तीन एडीटरों को हटा दिया गया है। मज़े की वात यह है कि हिंदी दैनिक के जिस संपादक को उमर के विनाह पर रिटायर किया किया है, नया एडीटर उससे कई वर्ष वड़ा है।

सी० वी० फ़रमायशी ठहाका लगाते हैं। मोहन वीकली के पन्ने पलटता है। खानसामा पानी का गिलास लाकर तिपाई पर रख जाता है। तभी वाहर से नीलिमा के तेज-तेज चलने और चिल्लाने की आवाज़ आती है। दूसरे क्षण दरवाजा पटाख से खुलता है। पार्वती को वांह से पकड़े, चिल्लाती हुई आगे-आगे नीलिमा पीछे रामअधार और सरला प्रवेश करते हैं। नीलिमा पार्वती को लगभग घसीटती हुई कमरे के वीचोंवीच आ जाती है। पार्वती सुंदर है। उसने ऐन-मैन नीलिमा जैसा कोट पहन रखा है। पांवों में उसके आलता है, चांदी की पाजेव है और वह साफ़-सुथरी सूती साड़ी पहने है। लेकिन इस सवके वावजूद उसका सारा व्यक्तित्व उसके नौकरानी होने की चुगली खाता है। रामअधार वहीं दरवाजे के पास रुक जाता है। सरला वढ़कर दूसरे सिंगल काउच पर वैठ जाती है।

नीलिमा : तेरी यह जुर्रत हुई कैसे, मेरे वंगले में रहकर मेरा मुकावला करने की?

नौकरानी की वांह छोड़कर कमरे का चक्कर लगाती है। दीवार के पास पहुंचकर जव मुड़ती है तो कोहनी मोड़ते हुए जोर का झटका देती है, जो भंगिमा कि

उसके भयंकर क्रोध की द्योतक है। हठात उसकी निगाह काउच पर लेटे अपने पति पर जाती है। उस नजर के स्पर्श से जैसे सी० वी० उछलकर उठ बैठते हैं।

नीलिमा : अच्छा हुआ सी० वी० तुम आ गये। तुम हमेशा इस पार्वती का पक्ष लेते हो और मुझे दोष देते हो। देखो ज़रा इस बदतमीज़ औरत की हरकत... (फिर पागलों की तरह कमरे में चक्कर लगाती है।)

सी० बी० : हुआ क्या माननीया...

नीलिमा : (बिल्कुल पति के पास जाकर, जैसे उसके सिर पर सवार हो, गरजते हुए) हुआ मेरा सिर ! कभी तो सीरियस रहकर बात किया करो। हर वक्त तुम्हें भड़ैती सूझती है।

सी० बी० : (और भी धैर्य से) कुछ बताओ भी !

मोहन : क्या हुआ भाभी ?

नीलिमा : (ज़रा-सा मुड़कर दोनों सुनाते हुए) मैं कान्ता से बात कर रही थी कि सरला ने कॉल-बैल बजायी। मुझे डिस्टर्ब न करने के ख़याल से ख़ानसामा इसे उधर के बरामदे में ले गया।

सी० बी० : सरला की ओर देखते हुए) अजब अहमक है !

नीलिमा : (जैसे सरला को सफ़ाई देते हुए) मैंने ही कहा था कि वह मिसेज़ पिल्ले आयें तो उधर के बरामदे में बैठाना। यह सरला को ही उधर बैठा आया। फ़ोन रखने पर जब मुझे पता चला तो मैं भागी गयी। अभी ठीक से बैठी भी नहीं थी कि यह पार्वती सजी-बजी रामअधार के साथ कोठरी से निकली और मेरे सामने से होकर बाहर के गेट की ओर...

रामअधार : बाहर जाइके दूसर कौनउ रास्ता नाहि है मेम साहेब !

नीलिमा : सवाल दूसरे रास्ते का नहीं। सवाल यह है कि इसने यह कोट सिलाया कैसे ? (फिर कमरे में घूमने लगती है।)

रामअधार : (सफ़ाई देते हुए) मेम साहेब पारवती...

सी० बी० : कौन-सा कोट ?

नीलिमा : (पलटकर) तुमने आँखें क्या बंद कर रखी हैं सी० वी० ? (पार्वती के पास जाकर उसके कोट का दामन खींच, पति को दिखाते हुए) यह...यह...यह ! देखते नहीं ऐन-मैन मेरेवाला कपड़ा है। इसे यह सिलाने की हिम्मत कैसे हुई ?

सी० वी० : तुमने पैसे दिये थे ?

नीलिमा : (बेहतर खीझकर) तुम्हें क्या हो गया है सी० वी०। इसने अपने पैसे ख़र्च किये हों तो भी क्या उसी कपड़े का कोट इसे सिलाना चाहिए, जो इसकी मालकिन पहनती हो...क्यों सरला

...मोहन...!

सरला : **(जैसे शास्त्र-सम्मत किसी परम-सत्य का उद्घाटन करते हुए)** नौकरों को अपनी औकात में रहना चाहिए !...

नीलिमा : और क्या !

मोहन : लेकिन भाभी...

रामअधार : **(सफ़ाई देते हुए)** मेम साहेब, पारबती...

नीलिमा : **(जाकर जैसे उसको अपने आकार से छाते हुए)** मेम साहब पार्वती...मेम साब पार्वती...मेम साब पार्वती क्या...! अरे क्या तेरी यह औकात है कि तू अपनी बीबी को अपनी मालकिन जैसा कोट पहनवाये—उसी के बँगले में रहकर !—सारा दिन तो इसका बर्तन-भाँडे करते, बच्चा खिलाते, कपड़े धोते बीतता है, और चली है मुकाबला करने अपनी मालकिन का ! **(मुँह बिचकाकर)** बाँडी बिस्तुइया शहतीरों से गलवहियाँ !

सी० बी० : माननीया नीलिमाजी...

मोहन : **(समझाने के फुसलाहट-भरे स्वर में)** भाभी...

लेकिन नीलिमा नहीं सुनती। क्रोध में कमरे का चक्कर लगाती है।

रामअधार : मेम साहेब ई अपुनई नाही सिआएसि...

नीलिमा : **(बीच ही से मुड़कर)** इसने नहीं सिलाया तो क्या आसमान से टपक पड़ा।

रामअधार : सीला मेम साहेब सिलाइ दिहिन !

नीलिमा : क्या बकते हो। ओ० सी० एम० का कपड़ा और एन० एस० अहमदाबाद की लाइनिंग—दो सौ रुपये तो कपड़े-कपड़े पर लग जाते हैं और **(मुँह बिचकाकर)** शहला ने सिला दिया।

रामअधार : आप ख़ानसामा का भेजि के पुछवाइ लें।...पिछला महीना जब आप नवा कोट बनवाये रहिन, हम कहे रहे कि हुजूर ई पुरान वाला पारवती के बदे देइद्या। तब आप मना कई दिहेन कि तीनउ बरिस नाहीं भवा एके सिआये !...

पार्वती : हम कतौं सीला मेम साहेब से कहा कि सर्दी आ गयी वा, कौनउ पुरान-धुरान कोट देइ दें। तब सीला मेम साहेब कहिन, पुरान-धुरान का, तैं पहिन तो नवा सिलाई देई। हम नाहीं चाहित कि तैं पुरान-धुरान कोट पहिनि के टुक्कू बाबा के खेलावत फिरे ! अऊर बच्चा के जनम-दिन पर...

नीलिमा : **(गरजकर)** उसने तीन सौ का कोट सिला दिया।

रामअधार : आप ख़ानसामा को भेजि के पुछवाइ लें...

नीलिमा : लेकिन जब उन्होंने कपड़ा पसंद किया था तो तुम से कहा नहीं

गया कि इस कपड़े का कोट मेम साहब पहनती हैं, आप कोई दूसरा ले दीजिये।

पार्वती : ऊ कपड़ा दिखउबे नाहीं किहिन मेम साहेब। दरजी के बुलाइ के नाप लेइ लिहिन अऊर कोट बनिकै आवा तो पहिराइ दिहिन !

नीलिमा : तो जाओ, इसे अभी जाकर शहला को वापस करके आओ !

मोहन : भाभी, इसमें इस बेचारी का क्या दोष है ?

सरला : दोष इसका क्यों नहीं है ?

सी० बी० : माननीया नीलिमाजी, आप ज़्यादती करती हैं।

नीलिमा : तुम चुप रहो सी० बी० ! जो बात तुम नहीं समझते, उसमें टाँग मत अड़ाओ !

मोहन : लेकिन भाभी, यह कोट वापस देने जायेगी तो इससे शहला का अपमान नहीं होगा ?

नीलिमा : होता रहे अपमान ! मेरी नौकरानी को मेरे जैसा कोट दिलवाकर उसने मेरा अपमान नहीं किया ?

सी० बी० : लेकिन माननीया नीलिमाजी, पार्वती हमारी नहीं, उन्हीं की नौकरानी है।

नीलिमा : (क्रोध से) लेकिन रहती तो यह हमारे बँगले में है। तुम यह नहीं समझते कि पार्वती यह कोट पहने घूमेगी, तो मैं यह कैसे पहन सकती हूँ ? तुम्हीं ने इसे इतनी लिफ़्ट दे रखी है कि आज यह मेरे मुकाबिले पर आ खड़ी हुई है। इसे मेरे बँगले में रहना है तो इसे कोट अभी, इसी वक्त जाकर वापस करना होगा।

पार्वती : हम तो मेम साहेब कहे रहे सीला मेम साहेब से कि हम गरीब मनई हई सरकार, बर्तन-भाँडा करत हई, एतना महँगा कोट नाहीं पहिरि सकित। मेम साहेब बोलिन : नौकर मालिक में कौनऊ फरक नाहीं। कल तोर तीनि लाख के लाटरी निकलि आवै तो का तैं बढ़िया कोट न सिलवाइ लेबे। तैं मेहनत करत अहै कौनऊ खैरात नहीं पउते। टुक्कू बाबा के साथ जावा कर तो एही कोट पहिरा कर ! हम लाख कहा मेम साहेब, लेकिन ओ एको न सुनिन...हम अवहीं टुक्कू बाबा के ही खेलावै जात रहे...

नीलिमा : तो जाओ, उन्हीं के घर जाकर रहो।

न पार्वती हिलती है न रामअधार क्षण भर की खामोशी।

: **(पूरे जोर से चिल्लाकर)** तो तुम यह कोट वापस नहीं करोगी ?

दोनों में कोई नहीं हिलता।

: रामअधार, मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि पार्वती सामने के बँगले का काम नही छोड़ सकती तो तुम यहाँ नही रह सकते। तुम दोनों इसी वक़्त मेरा बँगला ख़ाली कर दो। जाओ।... जाओ !! (पार्वती असमंजस में है) जाओ !!!

सहसा रामअधार बढ़कर पत्नी की बाँह पकड़ता है और उसे ले जाता है।

: (उस वक़्त जब वे अभी दरवाज़े ही में होते हैं उन्हें सुनाते हुए) और सी० वी०, तुमने इस अहसान फ़रामोश को अगर कल दफ़्तर से न निकाला तो मुझसे बुरा कोई न होगा।

सी० वी० : मैंने तुम्हारे ही ज़ोर देने पर उसे रखा था। (कंधे झटकाते हुए) तुम कहती हो तो निकाल दूँगा। लेकिन सोच लो, आज-कल क्लास फ़ोर के अफ़सर—याने ये चपरासी—अपने-आप को क्लास वन के अफ़सरों से कम नही समझते। रामअधार जैसा भला चपरासी जल्दी किये नही मिल सकता।

नीलिमा : मैं और सब बर्दाश्त कर सकती हूँ, लेकिन कृतघ्नता सहन नहीं कर सकती। एकदम बेकार और भूखा मरता था, जब मैंने इसे कॉलेज में नौकरी दी थी। फिर जब इसकी नौकरी छूट गयी और यह कनॉट प्लेस में...

सी० वी० : लेकिन माननीया नीलिमाजी, वह सुबह से रात के ग्यारह बजे तक इसीलिए तो हमारी सेवा करता है। सवेरे उठकर एक मील जाकर वह भैंस का दूध दुहाकर लाता है। मार्केट में जाकर सब्ज़ी-तरकारी लाता है। कमरे साफ़ करता है। मेहमान आ जाते है तो ग्यारह-ग्यारह बजे रात तक बैरे का...

नीलिमा : मुझसे बहस मत करो सी० वी० ! उसने मेरी बात नही मानी और वह मेरे बँगले में नही रह सकता।

मोहन : लेकिन भाभी, इतने दिन उन लोगों ने आपकी सेवा की है। मकान पड़े नही मिलते। कहाँ जायेंगे बेचारे इन...

नीलिमा : मेरी तरफ़ से जहन्नुम में जायें। ऐसे अहसान-फ़रामोशों को मैं अपने बँगले में नही रहने दूँगी।

सरला : (सी० वी० से) नीलिमा ठीक कहती है भाई साहब। जब

बेकार रहेगा तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायेगा और फिर आकर आपके पाँव पर सिर रगड़ेगा।

ख़ानसामा किचन से तेज़-तेज़ आता है।

ख़ानसामा : साब वो रामअधार और परबतिया अपना सारा सामान उठाकर सामने के बँगले में जा रहे हैं।

नीलिमा : **(क्रोध-मिले आश्चर्य से)** क्या—ा—ा !

ख़ानसामा : रामअधार कहता गया है कि मेम साब हमारी नौकरी लेना चाहती है। हमें नौकरी की कौनो कमी नाहीं।

सरला : **(एकदम उठकर)** मैं कहती हूँ यह सब शहला की साज़िश है। उसका ख़ानसामा देश जा रहा है। वो जरूर रामअधार को चाहती होगी। और उसने...

मोहन : चुनाव सिर पर है भाभी, आपने नौकरों को निकालकर अच्छा नहीं किया। जाने वे सारी लोकैलिटी में क्या-क्या न कहते फिरेंगे...

सी० बी० : माननीया नीलिमाजी, लगता है तुम्हारी पड़ोसिन ने सिर्फ़ एक गर्म कोट सिलवाकर तुम्हारे दोनों नौकर छीन लिये। मैं न कहता था कि...

नीलिमा : **(क्रोध से बे-काबू होकर)** तुम चुप रहो सी० वी० ! तुम चुप रहो !!

हताश कुर्सी में धँस जाती है। सहसा सी० बी० साहब की नज़र पानी के गिलास पर पड़ जाती है। वे चुपचाप गिलास उठाकर पानी पीने लगते हैं, जब सहसा पर्दा गिरता है।

1978

अगर यह कहा जाय कि अश्कजी का विविध गद्य सचमुच विविध है तो इसमें कोई अतिरंजना नहीं होगी। चुटीले, दिलचस्प निवंधों से लेकर लेखकों की समस्याओं से संबंधित गहरी विश्लेषणात्मक टिप्पणियों और व्यक्तिगत संस्मरण-नुमा लेखों तक—अश्कजी के गद्य की अनेक शैलियाँ और रंग दिखायी देते हैं। गहरी वात को सीधी-सरल भाषा में कह देना अश्कजी की ख़ासियत है, जो उनकी यथार्थ-वादी दृष्टि और प्रच्छन्न व्यंग्य के साथ मिलकर उनके गद्य को वेहद आत्मीय वना देती है।

यही आत्मीयता अश्कजी के उन नितांत निजी निवंधों में भी झलकती है, जो उन्होंने अपने दाम्पत्य-जीवन का जायज़ा लेते हुए कौशल्याजी के साथ मिलकर लिखे हैं। 'शिकायतें और शिकायतें' में कौशल्याजी के लेखों के साथ संकलित ये निबंध हिंदी में अनोखे हैं। इनके माध्यम से अश्कजी ने सारे संघर्षों और मतभेदों के बावजूद पति-पत्नी के इकट्ठे रहने की प्रक्रिया को उकेरा है और दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं से पार पाने के लिए कुछ सूत्र भी दिये हैं। आश्चर्य नहीं कि स्व० फ़ादर कामिल बुल्के जव किसी मित्र-परिचित के विवाह में शामिल होते तो भेंट के रूप में नव-दंपति को 'शिकायतें और शिकायतें' की प्रति देना न भूलते। अनेक वार उन्होंने इस पुस्तक की प्रतियाँ विशेष रूप से पत्र लिखकर मँगवायीं और अपनी प्रिय पुस्तक के प्रति सुधी पाठक की निष्ठा को यों व्यक्त किया। ज़ाहिर हैं 'शिकायतें और शिकायतें' लेख-माला में संकलित अश्कजी के निबंध कौशल्याजी के लेखों के विना अधूरे ही जान पड़ते, इसलिए इस पुस्तक से अश्कजी का निवंध चुनते समय उससे संबंधित कौशल्याजी का लेख भी यहाँ पेश है। इसके अलावा लेखकों की समस्याओं पर लिखी गयी अश्कजी की पुस्तक 'कुछ···दूसरों के लिए' से एक टिप्पणी तथा दो अन्य निवंध यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो अश्कजी के जीवन्त आत्मीय गद्य की विविधता का परिचय देते हैं।

इश्कपेचा और ज़ंजीर

मैं सुबह ज़रा देर से उठता हूँ—साढ़े छह, सात, साढ़े सात, आठ ! कभी जब मेरा छोटा बच्चा मुँह-अँधेरे उठकर गहरी नींद में सोयी अपनी माँ को तंग करने लगता है और 'ममी उठो', 'ममी भूख लगी है', 'ममी चाय कब आयेगी ?' की रट लगा देता है अथवा अपने आप प्यानो के स्वर पर सीखी हुए—'अ, आ, इ, ई' रटने अथवा 'इस दिल के टुकड़े हज़ार हुए' या ऐसा ही कोई फ़िल्मी गीत गाने लगता है तो दूर लेटे हुए भी मेरी नींद उचट जाती है। कुनमना कर मैं फिर सोने का प्रयास करता हूँ, किंतु एक बार की उचटी नींद फिर सहसा नहीं आती।

कई बार बच्चा 'ममी' को जगाते-जगाते थक कर अपने 'पापा' को प्रातः के उस ठंडे वातावरण में चाय के एक गर्म-गर्म प्याले के आनंद की याद दिलाने आ पहुँचता है। वह धीरे-धीरे अपने विस्तर से उतरता है और अपने ठंडे-ठंडे हाथों में मेरे दोनों गाल लेकर मुझे हल्के से चूम लेता है। कभी इसके इस भोलेपन पर रीझ-कर मैं उसे अपने विस्तर पर उठा लेता हूँ और फिर हम दोनों उस समय तक एक-दूसरे को बड़े धीमे स्वर में कहानियाँ सुनाते हैं, जब तक मौसी (मेरी नौकरानी) चाय लेकर उसकी ममी को नहीं जगा देती। लेकिन कई बार जब मैं रात को देर से सोता हूँ और इतने सवेरे नींद का टूटना मुझे अप्रिय लगता है और यह ख़याल आता है कि मैं पूरा आराम नहीं कर रहा हूँ, कहीं फिर बीमार न पड़ जाऊँ, मैं उसे झिड़क देता हूँ कि जाकर अपने बिस्तर पर सोये, तंग न करे, नहीं तो पिट जायेगा और झुँझलाकर करवट बदल लेता हूँ। बच्चा सहमकर अपनी चार-पाई पर चला जाता है।

किंतु उसके अपनी चारपाई पर चले जाने और चुपचाप लेटे रहने के बाव-जूद (जो उसके चंचल शैशव के लिए नितांत असंभव है) नींद फिर जल्दी नहीं आती।

मैं ख़ुसरोबाग रोड के एक बँगले में पिछवाड़े की ओर एक छोटी-सी कॉटेज में रहता हूँ। हमारा मकान-मालिक 70 वर्ष का उद्यमी और गोरे रंग का आयरिश बूढ़ा है, जिसकी वृद्धा पत्नी उतनी ही निष्क्रिय, कुरूप और काली है। आधे बँगले में वह रहता है और आधे में भाई-बहन का एक अन्य अंग्रेज़ जोड़ा। बगल में एक

और छोटा ऐंग्लो इंडियन परिवार है एक युवक, उसकी पत्नी और तीन बच्चे। युवक सदा चुप रहता है। उसकी बीवी को देखकर मेरी कल्पना में सदा ऐसी प्यारी-सी बिल्ली घूम जाती है, जो सदैव खुर्र-खुर्र करती रहती है, पर पंजे निकालना भी बिलकुल नहीं भूलती। परिवार विपन्न है, इसलिए यह बिल्ली सदा खुर्र-खुर्र करती है।

बुड्ढे मकान-मालिक को छोड़कर प्रायः सब लोग मित-भाषी और शांतिप्रिय हैं। यह बँगला लीडर रोड और ग्रैंड ट्रंक रोड दोनों के मध्य है। चिल्ल-पों से तनिक दूर और प्रकट यहाँ पूर्ण शांति का निवास है। लेकिन मेरे जैसे कच्ची नींद वाले के लिए तो पत्तों का खड़खड़ाना भी परेशानी का कारण हो जाता है। करवट बदलकर रूठी हुई नींद को मनाने का प्रयास करने ही लगता हूँ कि समाचार-पत्र वाला, जिसे कई बार मैंने धीरे से अख़बार रख जाने को कहा है, अपने स्वभाव के अनुसार ज़ोर से अख़बार फेंक जाता है। बरामदे के फ़र्श से अख़बार के स्पर्श की ध्वनि मेरे कानों में हथौड़े-सी पड़ती है। मैं झुँझलाकर फिर करवट बदलता हूँ। नींद हल्के-हल्के आँखों में छाने लगती है कि पिछवाड़े के अहाते में रहने वाले विश्वकर्मा बंधुओं का देहाती अहीर अपने कर्कश स्वर में ज़ोर-ज़ोर से 'भैया दूध ले लो', 'बिट्टी दूध ले लो' चिल्लाने लगता है और उसके स्वर का भाला मेरे कानों के रास्ते, सोने का प्रयास करने वाले, थके सिपाही-से मेरे दिमाग़ को कचोका देकर उठा देता है। उसके बाद लाख यत्न करने पर भी नींद नहीं आती। कई बार जब बच्चा सोया होता हैं, यही स्वर मुझे प्रातः जगा भी देता है।

परंतु प्रायः जागकर भी मैं लेटा रहता हूँ। सैनेटोरियम से मैं सीख आया हूँ कि आराम करने के लिए सोना ही ज़रूरी नहीं, नींद न आये तो चुपचाप लेटे रहना चाहिए। लेटे-लेटे कई बार झपकी आ जाती है और क़ई बार दिमाग़ तरह-तरह की इच्छाओं, आकांक्षाओं और सुख-सपनों में खो जाता है, पर कभी जब महत्वाकांक्षाओं और सपनों के हल्के-फुल्के बादलों में उड़ता मन धरती पर उतर, दुश्चिताओं की भूल-भुलैया में खो जाता है तो मैं हड़बड़ाकर उठ बैठता हूँ।

परंतु दुश्चिताओं से घबराकर उठ बैठने के बदले मैं लेटा भी क्यों न रहूँ, प्रातःकाल की घड़ियों में नींद का न आना मेरा सारा दिन ख़राब कर देता है। लेटे-लेटे आराम लेने पर भी सुबह दस बजे से शरीर पर कुछ अजीब-सी थकान छा जाती है और जब तक मैं एक-दो घंटे सो नहीं लेता, काम करने के योग्य नहीं रहता।

और तब मुझे प्रायः उन दिनों की याद आ जाती है, जब मैं रात को एक बजे भी क्यों न सोऊँ, सदैव साढ़े चार या पाँच बजे प्रातः उठ खड़ा होता था। लाहौर में था तो लॉरेंस गार्डन घूमने जाता था और दिल्ली में था तो तीस हज़ारी की रिज्ज (Ridge) पर। मुझे अच्छी तरह याद है कि सर्दियों के दिनों में जब हम (मैं, भाई साहब और सोमनाथ—लाजपतराय एंड संज़ के प्रोप्राइटर) प्रातः पाँच-साढ़े-पाँच बजे सैर को जाते थे तो कई बार शुक्लपक्ष की ज्योत्स्ना

लॉरेंस बाग़ के पेड़-पौधों और सड़कों पर फैली होती थी। भाई साहब ठंडे पानी से नहाकर सैर को जाते थे। मैं आकर तेल की मालिश करता था, थोड़ी-सी कसरत करता था, सदैव ठंडे पानी से नहाता और दही की लस्सी का हाथ भर लम्बा गिलास पीकर काम में जुट जाता। कभी दस-ग्यारह बजे एक-आध घंटे के लिए सो जाता, नहीं तो दिन भर और प्रायः आधी-आधी रात तक अनवरत काम करता और मुझे कभी थकान महसूस न होती...लॉ कालेज के दिनों की याद आती है, जब मैं अठारह-बीस घंटे की औसत से पढ़ता था और ज़रा न थकता था ...'बंदेमातरम्' के दिनों की याद आती है, जब समाचार-पत्र के दफ़्तर में बारह-तेरह घंटे काम करने पर भी मैं साहित्य-लेखन और साँझ की सैर के लिए समय निकाल लेता था और थकता न था। आज जब मित्र मुझे सुबह देर से उठते देख-कर प्रातः की सैर के गुण बताते हैं, तब मुझे हँसी आ जाती है।

चाय का प्याला पीने के बाद, कई बार जब नींद खुल जाती है तो चाय का दूसरा प्याला पीने के पहले, मैं समाचार-पत्र पढ़ता हूँ। यदि उन दिनों क्रिकेट की कोई टीम विदेश से आयी हो तो अख़बार पढ़ने की उत्सुकता और भी बढ़ जाती है। मैं सबसे पहले स्पोर्ट्स का पृष्ठ देखता हूँ, फिर कोई दूसरी ख़बर। जीवन में ऐसे दिनों की भी कमी नहीं, जब हफ़्तों समाचार-पत्र पढ़ने को सुविधा अथवा समय नहीं मिला। लेकिन बीमारी के बाद से मेरा यही क्रम है। चाय पीकर मैं नित्यकर्म से निवृत्त होता हूँ और फिर प्रायः रोज़ स्नानघर के बाहर का दरवाज़ा खोल, सामने लगी इश्कपेचा की बेलों के पास जा खड़ा होता हूँ। पहली बरसात में मैंने कॉटेज के सामने अपने अहाते को घेरती हुई मेंहदी की बाड़, बैजंती, गुलाब, गेंदा और कॉक्सकोंब के पौधे लगाये हैं। दायीं ओर की कोठी से पर्दा करने के लिए बाथरूम के बाहर दीवार के साथ इश्कपेचा की बेलें लगायी हैं। मैं रोज़ नन्ही-नन्ही कोंपलों को फूटते-बढ़ते और दीवार के साथ लगी हुई रस्सियों से लिपटते हुए देखता हूँ। बेलें अभी बहुत नहीं बढ़ीं। रस्सी पर ज़रा-सा दबाव पड़ने से टूटकर धरती पर आ गिरती हैं। मैं फिर बाँध देता हूँ। रात भर में कितनी बढ़ी हैं, यह देखता हूँ और उन दिनों की कल्पना करता हूँ जब दायीं ओर ऊपर लगे तारों से लिपटकर ये गहरा हरा पर्दा बना देंगी और ग्रामोफ़ोन के भोंपू जैसे नन्हे-नन्हे जामुनी, गुलाबी फूल उस पर्दे पर फैल जायेंगे। इन बेलों को देखते-देखते मैं कभी-कभी आतिश की यह पंक्ति गुनगुनाने लगता हूँ :

इश्कपेचे पर मुझे होता है शक ज़ंजीर का।

और मेरी कल्पना के सम्मुख लम्बी-लम्बी, पतली-पतली, गोरी-गोरी बाँहें कौंध जाती हैं, जो सहारे के लिए छटपटा रही हैं और जब सहारा पा लेती हैं तो उसे ऐसे बाँध लेती हैं कि वह स्वयं उन्हीं के सहारे जीने को विवश हो जाता है।

बेलों को सँवारने के बाद मैं कभी-कभी बगीचे की देख-भाल करता हूँ। कौशल्या (मेरी पत्नी) के पास समय नहीं। घर को टिप-टॉप रखने, बच्चे को समय

पर स्कूल भेजने और किसी-न-किसी प्रकार प्रकाशन का काम आरंभ कर सकने की व्यवस्था में वह लगी रहती है। मेरे बड़े लड़के को सजी-सजायी जगह में बड़ी ही बेपरवाही से बैठने का शौक है, सजाने-सँवारने का नहीं। और मेरा छोटा बच्चा... यदि मैं कैने का कोई सड़ा हुआ पत्ता तोड़ता हूँ तो वह मेरे अनुकरण में सारे-का-सारा पौधा ही उखाड़ देता है। मैं गमलों में ज़रा-ज़रा पानी देता हूँ तो वह एक ही गमले को गच्च कर देता है कि पौधा मरने को हो जाता है और मैं अकेला ही इस बगीचे को सजाता-सँवारता हूँ।

कई बार जब मैं इस तन्मयता से बगीचा सँवारता हूँ तो उन दिनों की कल्पना करने लगता हूँ, जब मेंहदी की बाड़ कंधे-बराबर हो जायेगी और बरामदे के आगे लगे ख़लीफ़े के लाल-लाल, हरे-हरे, बड़े-बड़े पत्तों वाले, चारों पौधे अपने कद को पहुँचकर सहज ही आँखों को आकर्षित करने लगेंगे और दरवाज़े के आगे लगी मधुमालती की दोनों बेलें छत को छू लेंगी और लाल-लाल, सफ़ेद-सफ़ेद फूलों के गुच्छे लटकने लगेंगे; मैं कभी-कभी इस बेल की छाया में आ खड़ा हूँगा और कोई फूल तोड़कर उसका रस चूस लूँगा और मुर्ग़े की बड़ी-बड़ी पीली और लाल कल-गियों ऐसे कॉक्सकोम्ब और गेंदे के बड़े-बड़े शतदल पीले-पीले फूल खिल उठेंगे और उन्नाबी, गुलाबी, पीले और श्वेत बैजंती के गुच्छे लहलहायेंगे और...परंतु तभी मेरा मन आशंका से संत्रस्त हो उठता है...मैंने जब-जब घर बनाया है, उजड़ गया है। कभी मैंने लिखा था :

उसे बिजली ने ताका जूँही मैंने
नशेमन के लिए एक शाख़ ताकी।

लेकिन गत वर्षों के अनुभव से मैंने पाया है कि :

बना चुकता जब मैं आशियाना।
फ़लक हँसता है बिजली की लपक में।

और मैं सोचता हूँ कि फ़लक (नियति) मेरी इस नयी कल्पना को साकार भी होने देगा...पर मैं सदा ऐसे विचारों को झटककर मेज़ पर आ बैठता हूँ। किस्मत का काम बिजलियाँ गिराना है तो इन्सान का काम जले हुए आशियाने पर फिर नया आशियाना बनाना है—और पहले से बेहतर आशियाना बनाना है।

मेरे काम की गतिविधि निश्चित नहीं है। कई बार बड़े ध्यान और एकाग्रता से कुछ लिखने लगता हूँ कि दूसरे कमरे से पत्नी आवाज़ देती है कि ज़रा एक मिनट के लिए उसकी बात सुन लूँ। कई बार झुँझलाता हुआ जाता हूँ, और कई बार जब नहीं जाता तो बैठा-बैठा झुँझलाने लगता हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मेरा न जाना, मेरी पत्नी को सख़्त नागवार गुज़रता है और तब वह कितना भी महत्व-पूर्ण काम क्यों न हो, मुझे कभी न बुलाने की गुरु-गंभीर कसमें खाने लगती है और मन-ही-मन यह सब सोचकर न जाने पर भी, मैं मेज़ पर बैठा झुँझलाता रहता हूँ।

यदि पत्नी नहीं बुलाती तो बच्चा आ जाता है और बड़े विचित्र आदेश देने

लगता है...रबड़ का बड़ा-सा गेंद और पतला-सा तागा ले आता है और चाहता है कि उसे बाँध दिया जाये। तागा है कि उसे किसी भी तरह बाँधो, झट गेंद पर से फिसल जाता है और बच्चा है कि समझ नहीं पाता, जब उसने एक बार गेंद में रबड़ का तार लगा देखा था तो इसमें क्यों नहीं लग पाता...गुब्बारा ले आता है कि उसकी हवा निकाल दी जाये। हवा निकाल दी जाती है तो पाँच मिनट बाद फिर भरने का आदेश होता है...तार प्रायः मेरी झुँझलाहट पर टूटता है।

फिर कई बार जब बीवी और बच्चा नहीं आते तो प्रायः मित्र आ जाते हैं और मेरे लिए अपरिचित हो अथवा परिचित, हर आदमी की मुलाकात मसीहा और ख़िज़र की मुलाकात से बेहतर है।[1] मित्र बनाने की कला के लेखक अमरीका के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डेल कार्नेगी ने कहा है कि अपना नाम और अपनी आवाज़ सबको प्यारी लगती है। सबके बारे में तो मैं कह नहीं सकता—ऐसे लोग भी हैं, जिनको न केवल अपना, वरन् दूसरों का नाम भी प्रिय है और जो दूसरों की बात मौन रूप से सुन लेना भी जानते हैं, परंतु अपने बारे में मैं कह सकता हूँ कि मुझे बातें करने का रोग है। कितना भी अहम काम क्यों न हाथ में हो, उसे भूलकर बातें करने लगता हूँ और काम को भूल जाता हूँ। प्रायः मेरी बातों में लोग अपना काम भी भूल जाते हैं, लेकिन कई बार जब किसी को अपना काम याद रहता है और वह मेरी व्यस्तता की याद दिलाता हुआ उठने लगता है तो मैं उसे फिर बैठा लेता हूँ।

मित्र के जाने के बाद प्रायः मुझे पत्नी की डाँट सुननी पड़ती है। परिणाम यह होता है कि कई बार इस सतर्कता में कि मैं बातों में न लग जाऊँ ख़ासी अशिष्टता से अपने मिलने वाले से छुट्टी पा लेता हूँ और फिर अपने इस बेतुकेपन पर कुढ़ता रहता हूँ। झींखता हूँ कि मुझे ऐसी सुविधा प्राप्त नहीं कि घर की चीं-पीं और समय-कुसमय आने वालों से मुक्ति पाकर साहित्य-सृजन कर सकूँ। ऐसे समस्त अवसरों पर मैं किसी एकांत कुँज की आकांक्षा करता हूँ। लेकिन मैं यह भली-भाँति जानता हूँ कि यह आकांक्षा भी आत्म-वंचना के अतिरिक्त कुछ नहीं। जब घर में कोई नहीं होता और मैं काम करने के लिए स्वतंत्र होता हूँ तो प्रायः काम करते-करते बीच ही से उठकर पड़ोस के किसी नौकर, मकान-मालिक, किरायेदार अथवा अहीर ही से बातों में निमग्न हो जाता हूँ। किसी से बातें नहीं करता तो लिखते-लिखते पढ़ने लगता हूँ और मेरा लिखना धरा-का-धरा रह जाता है। वास्तव में जरूरत ऐसी जगह की है, जिसमें जब चाहें अकेले बने रहें और जब चाहें दुकेले—मौन का अंग भी बन सकें और शोर का भी।

जब से बीमार हुआ हूँ, दोपहर में खाना खाने के बाद घंटे-दो-घंटे ज़रूर लेट जाता हूँ। प्रायः उठता हूँ तो चाय का समय हो जाता है। चाय पीकर फिर मेज़ पर

---

1. ऐ 'जौक' किसी दोस्ते-देरीना का मिलना, बेहतर है मुलाकाते मसीहा-ओ-ख़िज़र से।

आ बैठता हूँ और यदि कोई विघ्न-बाधा न पड़े तो नौ-साढ़े नौ बजे तक लिखता या लिखाता रहता हूँ। रात को देर तक जागना अब बंद हो गया है। यह अच्छा भी हुआ और बुरा भी। अच्छा यों कि मेरा अनियमित जीवन, नियम से रहना सीखने लगा है और बुरा यों कि साढ़े नौ के बाद जब बीबी-बच्चे छोड़, पड़ोसी भी सो जायें और न कोई बात सुनने वाला हो न सुनाने वाला, तो जो एकाग्रता प्राप्त होती है, वह दिन को संभव नहीं, परंतु परिस्थितियाँ जैसी भी हों, लिखने की मेरी इच्छा ऐसी बलवती है कि मैं कुछ-न-कुछ लिखते रहने का समय निकाल ही लेता हूँ। वर्तमान परिस्थितियों में भी अपने स्वभाव की समस्त त्रुटियों के साथ ऐसा कर पाऊँगा, इसका मुझे पूरा विश्वास है।

दिन भर काम करने के बाद मैं फिर अपनी कॉटेज के सामने चारपाई पर आ लेटता हूँ और अचानक मेरी दृष्टि इश्कपेचा की बेल पर जा टिकती है और मुझे ख़याल आता है कि ज़िंदगी इश्कपेचा की बेल है और हम उसके फूल हैं, कभी ख़याल आता है कि ज़िंदगी जंजीर है और हम इसमें बँधे हैं और कभी यह कि हम जंजीर की कड़ियाँ हैं और ज़िंदगी हमसे बँधी है और कभी...लेकिन मेरा बच्चा या मेरी बीबी मुझे कभी अकेले में देर तक नहीं लेटे रहने देते और इश्क-पेचा की लम्बी-लम्बी घेरती बाँहें मेरी आँखों के सामने आ जाती हैं जो सहारा देती भी हैं और मैं गुनगुना उठता हूँ :

इश्कपेचे पर मुझे होता है शक जंजीर का

लेकिन पत्नी कहती है, 'मारिए गोली इश्कपेचा को, चलिये ज़रा हाईकोर्ट तक घूम आयें।'

और मैं उठकर उसके साथ सैर को चल देता हूँ।

धन्यवाद

धन्यवाद—इस छोटे-से शब्द का ध्यान आते ही बीसियों चित्र आँखों के सामने कौंध जाते हैं।

...एक अफ़सर तूफ़ानी रात में अपने क्लर्क को बुलवा भेजता है। अचानक उसे बीमारी का दौरा हुआ है। ग़रीब क्लर्क उस तूफ़ानी रात में न केवल डॉक्टरों के पीछे मारा-मारा फिरता है, बल्कि सारी रात उसकी सेवा-सुश्रूषा करता है। सुबह जब अफ़सर की तबीयत ठीक हो जाती है और उसके अफ़सर-मित्र और रिश्तेदार उसकी बीमारी की खबर सुनकर 'अफ़सोस' प्रकट करने के लिए (कि यह भी सभ्य समाज का एक नियम है) आते हैं, तो वह एक सूखे 'धन्यवाद' के साथ उस क्लर्क को छुट्टी दे देता है। मन में उसके है कि इस कम्बख़्त की मैंने इतनी सहायता की है, धन्यवाद ही काफ़ी है।

ग़रीब क्लर्क ने अपने अफ़सर के आड़े आकर और अफ़सर ने उसको धन्यवाद देकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया; लेकिन इससे अफ़सर को चाहे संतोष हो, क्लर्क को, यदि उसमें स्वाभिमान का लेश भी शेष है, इस रुखाई पर क्रोध ही आयेगा। सवाल अफ़सरी-मातहती का नहीं। कोई दूसरा अफ़सर अपने ग़रीब क्लर्क को ऐसी ही स्थिति में ऐसे धन्यवाद दे सकता है कि उसे उम्र भर के लिए ख़रीद ले।

...एक कुमारी भरे बाज़ार में साइकिल से फिसल जाती है और भीड़ बड़ी निर्ममता से ठहाका लगाकर आवाज़ें कसती हुई उसे घेर लेती है कि एक युवक बढ़कर उसे उठा देता है। उसके ख़ासी चोट आ गयी है। युवक झट ताँगा बुलाकर उसे उस पर बैठाकर स्वयं उसकी साइकिल उसके घर छोड़ आता है। अपने घर का दरवाज़ा बंद करते हुए लज्जारुण मुख और फड़कती पलकों से वह उसे धन्य-वाद देती है।

और यह छोटा-सा शब्द युवक के दिल के तार झंकृत कर देता है। उसके सपनों का संसार बसा देता है!

धन्यवाद—यह शब्द क्रोध भी उपजा सकता है और प्रेम भी। प्रश्न भावना का है। क्या इस शब्द के पीछे भावना की, कृतज्ञता की मिठास है या केवल कर्तव्य-

पालन की शुष्कता या केवल तकल्लुफ़-भरे स्वभाव की औपचारिकता? क्योंकि जहाँ यह शब्द केवल स्वभाव-वश ज़वान पर आता है, दिल को नहीं छूता—न क्रोध उत्पन्न करता है, न क्षोभ, न राग, न विराग वहाँ वह किसी ठस रागिनी-सा कानों में प्रवेश करता है और हृदय के किसी तार को झंकृत नहीं करता।

...कुछ आधुनिक लोगों के विचार में हमारा देश बड़ा पिछड़ा हुआ देश है। धन्यवाद की महत्ता को यहाँ के अक्सर लोग नहीं जानते। विदेशों में, जहाँ ज्ञान-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं, वहाँ 'धन्यवाद' के विशेषज्ञ भी हैं। ऐसे ही एक विशेषज्ञ ने 'धन्यवाद' की महत्ता का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि 'धन्यवाद'—यह छोटा-सा शब्द—आपके लिए बहुत कुछ कर सकता है और उनका परामर्श है कि कोई व्यक्ति आपके लिए छोटे-से-छोटा काम भी क्यों न करे, उसे धन्यवाद देना आपका परम कर्तव्य है। इस धन्यवाद-विशेषज्ञ की पुस्तक लाखों की संख्या में बिक चुकी है और प्रकट है कि जहाँ-जहाँ यह गयी है, लोगों ने उनके परामर्श से लाभ उठाया है। हमारे यहाँ से एक वैदिक मिशनरी विलायत गये। वहाँ के एक परिवार में खाने पर निमंत्रित हुए। गृहस्वामी उस धन्यवाद-विशेषज्ञ के अनुयायी थे। हमारे वैदिक मिशनरी ने देखा कि गृहस्वामी ज़रा-सी कृपा के लिए, खान-सामा हो, बैरा हो, भंगी हो, मित्र हो या पत्नी...उन्हें धन्यवाद देना न भूलते थे। खाने के दौरान में बैरा जितनी बार सूप या सालन या शराब या पानी लाया, उन्होंने उसे धन्यवाद दिया। हमारे वैदिक मिशनरी कुछ हिसाबी आदमी हैं। उनका ख़याल है कि सदा आँखें खोलकर चलना चाहिए। यदि वे किसी मकान में जाते हैं तो उसकी सीढ़ियाँ तक गिन लेते हैं। उनके विचार में आँखें खोलकर चलने की यही निशानी है। दूसरी बार वे उस परिवार में निमंत्रित हुए, तो उन्होंने गिनना शुरू किया कि गृहस्वामी खाने के दौरान कितनी बार नौकरों या साथियों को धन्यवाद देता है और उनका कहना है कि गृहस्वामी ने साठ बार धन्यवाद दिया। यह उल्लेख करके उन्होंने भारतीयों की असभ्यता का मजाक उड़ाते हुए लिखा है कि 'धन्यवाद' सभ्य समाज का आभूषण है। इसी से संस्कृत-असंस्कृत, सभ्य-असभ्य की पहचान होती है।

मैंने जब से यह लेख पढ़ा है, मैं सोचता हूँ कि मुझे यदि खाने के दौरान साठ वार धन्यवाद सुनना पड़े, तो मैं डाइनिंग हॉल से उठकर भाग जाऊँ। मुझे इस शब्द से चिढ़ है, या मैं असंस्कृत रहना पसंद करता हूँ, ऐसी बात नहीं, पर मुझे लगता है कि स्वभाववश इस शब्द का प्रयोग इसकी महत्ता को घटा देता है। आदमी प्राय: विना कृतज्ञता अनुभव किये इसका प्रयोग करता रहता है और कई वार जव उसे सचमुच कृतज्ञता प्रकट करनी होती है तो वह उसमें आभार की वह भावना पैदा नहीं कर सकता, जो कि उसे करनी चाहिए और सुनने वालों को ख़ासी कोफ़्त होती है।

मुझे एक घटना याद आती है। मेरे एक पुराने उर्दू कवि-मित्र थे, जो युद्ध के ज़माने में कर्नल हो गये थे। कभी वहुत पहले उनका प्रेम-विवाह लाहौर की एक

उर्दू कवयित्री से हुआ था। तब मैंने उनकी बीवी को न देखा था। दिल्ली में, जहाँ वे मेरे एक मेजर कवि-मित्र के यहाँ ठहरे हुए थे, मुझे पहली बार उन्हें देखने का इत्तफ़ाक हुआ। वे दोनों मेजर साहब के दफ़्तर में बैठे थे, तब कर्नल ने अपनी बीवी को संबोधित करते हुए 'मेरी जान' शब्द का प्रयोग किया। एक बार उनकी बेगम ने भी उन्हें इसी शब्द से पुकारा। मुझे बड़ा ही अच्छा लगा। लेकिन जब मैं शाम को मेजर साहब के घर खाने पर गया और मैंने उठते-बैठते उस दंपत्ति को 'मेरी जान', 'मेरी जान' का पहाड़ा रटते देखा, तो सारा रोमांस हवा हो गया। विशेषकर जब मुझे मालूम हुआ कि 'ऊपर से 'मेरी जान', 'मेरी जान' कहने वाले उन मियाँ-बीवी के संबंध खासे तनावपूर्ण हैं, उठते-बैठते 'धन्यवाद' कहने वालों को देखकर मुझे उन्हीं मियाँ-बीवी की याद आ जाती है। शब्द 'मेरी जान' प्यारा है, मीठा है, पर जब यह केवल औपचारिक रह जाता है, तो अपनी मिठास खो देता है। 'धन्यवाद' भी जब अंतर की भावना के साथ (जिसकी झलक आँखों में दिखायी दे जाती है) नहीं सुनायी देता, दिल के तार नहीं छूता।

...घरों में जिस तरह माँ-बाप नन्हे बच्चों को हर आने-जाने वाले के सामने हाथ उठाकर 'नमस्ते, करना सिखाते हैं और जब नन्हा-सा बच्चा कठिनाई से हाथ उठाकर छोटे बंदर की तरह माथे पर ले जाता है, तो खुशी से फूले नहीं समाते, उसी तरह सभ्य घरानों में बच्चों को 'धन्यवाद' का प्रयोग भी सिखाया जाता है। मुझे एक भोली-सी बच्ची की याद आती है, जिसे डॉक्टर इंजेक्शन दे रहा था। वह रोये जा रही थी और 'धन्यवाद डॉक्टर,' धन्यवाद डॉक्टर !' कहे जा रही थी। एक शाम उसके पापा ने किसी शरारत पर दो थप्पड़ जमा दिये। स्वभाववश उसने कहा—'धन्यवाद पापा !'

और जब मैं सोचता हूँ कि मेरा बचपन कम-से-कम धन्यवाद के इस अत्याचार से मुक्त रहा है, तो मुझे बड़ी खुशी होती है। हालाँकि बहुत बचपन में इसी की बदौलत मुझे बुरी तरह पिटना भी पड़ा और वह घटना आज भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। हुआ यूँ कि एक सिक्ख ज्ञानीजी मेरे पिता से मिलने आये। किसी बात में वे उनकी सहायता चाहते थे। जब पिता ने उन्हें सहायता का वचन दिया तो वे जाते समय बड़े आभार-भरे स्वर में बोले, 'पंडितजी, मैं तुहाडा बड़ा ही धन्यवादी हाँ[1]।'

हमारे पिता अपने बच्चों को अंग्रेज़ी सिखाने के बड़े हिमायती थे। अंग्रेजी बोलने में वे ताक़ हो जायें, इसकी उन्हें बड़ी चिंता रहती थी। ज्ञानीजी के जाते ही उन्होंने आदेश दिया—'इस वाक्य की अंग्रेजी बनाओ।' मैंने धन्यवादी शब्द पहली बार सुना था। डरते-डरते पूछा, 'धन्यवादी क्या होता है ?'

'धन्यवादी नहीं जानते ?' वे गरजे, 'इसका मतलब है शुक्रगुज़ार ! थैंकफ़ुल। अब बनाओ अंग्रेजी।'

---

1. पंडितजी, मैं आपका बड़ा शुक्रगुजार हूँ।

लेकिन मैं फिर भी उस वाक्य की अंग्रेजी न बना सका। धन्यवादी मुझे इलाहाबादी, मुरादाबादी, मलीहाबादी की तरह लगता और मैं समझ न पा रहा था कि इसका मतलब शुक्रगुज़ार कैसे हो गया? फिर मैं बहुत छोटा था, अंग्रेजी नया-नया सीखने लगा था। उस वाक्य में 'तुम्हारा' की अंग्रेज़ी भरने का प्रयास कर रहा था। पिताजी ने स्वयं अंग्रेजी बनाकर बतायी। 'थैंक्स' कहाँ और कैसे और क्यों प्रयोग होता है, यह समझाया और फिर इस संदर्भ में नये वाक्य पूछे और जब तक उन्होंने मुझे पीट नहीं लिया, उन्हें संतोष नहीं हुआ।

और यूँ धन्यवाद से मेरा प्रथम परिचय हुआ। पंजाब में यह वाक्य—'मैं तुहाडा बड़ा धन्यवादी हाँ' मैं बराबर सुनता रहा, लेकिन हिंदी में 'आभार' से 'आभारी' तो है, पर 'धन्यवाद' से 'धन्यवादी' नहीं है। होता तो कितनी आसानी हो जाती, कभी-कभी मैं यह जरूर सोचा करता हूँ।

'धन्यवाद' मुरादाबाद और इलाहाबाद की तरह है, यह मैंने बचपन में सोचा था, लेकिन पिछले दिनों जब मैं कश्मीर में था, वहाँ के एक उर्दू-भाषी कश्मीरी मित्र ने कमाल कर दिया। इधर जब से कश्मीर हिंदुस्तान के साथ मिल गया है, राष्ट्र-भाषा और उसके साहित्य के बारे में वहाँ के लेखकों में काफी जिज्ञासा है। हमारे ये मित्र हिंदी पढ़ तो नहीं सकते, पर हिंदी-कवियों और कहानी-लेखकों के बारे में बात-चीत करने के बड़े शौकीन हैं। जाने किसी ने उनसे मज़ाक किया या उन्हें बनाया, वे मुझसे मिलने आये तो बड़ी संजीदगी से हिंदी-कवियों के बारे में बातचीत करने लगे। सहसा उन्होंने पूछा, अश्कजी, हिंदी कविता में यह जो धन्य-वाद नाम से नया वाद आया है, यह क्या है?'

मैं क्षण-भर उनके मुँह की ओर देखता रहा। कोई युवक यह बात कहता, तो मैं समझता मुझसे मज़ाक कर रहा है, पर एक तो वे आर्टिस्ट; दूसरे, उम्र में मुझसे एक-दो साल बड़े; तीसरे बहुत संजीदा, मतीन और गंभीर।...मैं हँसा। 'आपने धन्यवाद के बारे में क्या सुना?' मैंने पूछा।

'छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के बारे में तो मैंने काफ़ी जानकारी हासिल की है', वे बोले, लेकिन अभी कल ही एक मित्र ने बताया कि हिंदी में एक नया वाद शुरू हुआ है—धन्यवाद। और उन्होंने वचन दिया है कि इस वाद की कुछ कविताएँ वे मुझे सुनायेंगे। मालूम हुआ कि आप हिंदी के अच्छे लेखक और कवि हैं तो मैंने सोचा कि आप ही से इस नये वाद के बारे में कुछ जानकारी हासिल करूँ।'

'हाँ, धन्यवाद भी एक वाद है', मैं हँसा।

लेकिन उन्होंने मेरी हंसी की ओर ध्यान नहीं दिया। उसी संजीदगी से बोले, 'क्यों साहब, उर्दू में तो वाद इतनी जल्दी नहीं बदलते, हिंदी में ऐसा क्यों होता है?

'हिंदी वालों को वादों का बड़ा शौक है', 'मैंने कहा, उर्दू में जहाँ युगों-युगों तक एक वाद चलता है, हिंदी में नये दिन नया वाद उगता है।'

कश्मीरी मित्र हैरत से आँखें फाड़े, मुँह बाये, मेरे होठों से निकलने वाला एक-

एक शब्द मानो पी रहे थे।

'वह कवि हिंदी में कवि माना ही नहीं जाता', मैंने उन्हें समझाया, 'जो किसी नये वाद को जन्म न दे और चार-छह कवियों को अपने पीछे न लगा ले। छायावाद का जोर बढ़ा तो किसी कवि ने प्रगतिवाद का नारा दिया। फिर चारों ओर प्रगतिवाद की तूती बोलने लगी और छायावादी कवि भी अपने आपको प्रगतिवादी कहने लगे। फिर किसी कवि ने प्रयोगवाद का स्वर अलापा, तो जिधर देखो प्रयोगवादी कवि नज़र आने लगे और पुराने प्रगतिवादियों ने कहना शुरू किया कि भाई, प्रयोगवाद कोई नया वाद नहीं, प्रयोग तो हर युग में होते आये हैं और हम स्वयं प्रयोगवादी है। इन प्रयोगवादियों का ज़ोर कम करने के लिए विवादी और प्रवादी कवियों ने मोर्चा सँभाला। मगर वे आपस ही में लड़-मरकर शहीद हो गये। लिहाज़ा अब कविता के क्षेत्र को कुछ निष्कंटक जानकर 'धन्यवादी' कवि मैदान में उतर आये हैं।'

कश्मीरी मित्र यह सब सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। 'धन्यवाद की कविता का कोई नमूना तो बतलाइये, मुझे बड़ा ही इश्तयाक़[1] है।' उन्होंने फ़रमाइश की।

मैंने कहा, 'मुझे इस समय याद नहीं। नया-नया ही यह वाद चला है, छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का निचोड़ इस धन्यवाद को समझिये।'

'तो भी इस वाद की किसी कविता का कोई एक-आध बंद ही सुनाइये।'

अब मैं क्या कहता! 'लो आप अपने दाम[2] में सय्याद[3] आ गया' के अनुसार स्वयं अपने जाल में फँस गया। एक ज़रूरी टेलीफ़ोन करने के बहाने, उन्हें वहीं बैठाकर, मैं नीचे होटल में गया और वहाँ पाँच मिनट कुर्सी पर बैठकर जो मन में आया लिख लाया। आकर मैंने कहा, 'कोई पूरी-की-पूरी धन्यवादी कविता तो मुझे याद नहीं। एक बंद सुनिये। सभी वादों की चाशनी आपको इसमें मिल जायेगी :'

आज क्यों मेरे स्वर हैं मौन ?
गिरा को लाज
घिरा अवसाद
कोढ़ में खाज
कि जैसे किसी श्रमिक के थके हुए तन पर मन की आवाज़ !
किंतु ये घाव पुराने,
तन-मन के जाने-पहचाने,
यद्यपि अनोखा सुख है, इनमें आज !
ओ मेरे दुख देने वाले—
देख, नहीं करता मैं किंचित भी फ़रियाद !
और सहर्ष तुझे देता हूँ
एक बार,

---

1. औत्सुक्य 2. जाल 3. शिकारी

दो वार,
दस, बीस,
पचास—
शत-शत बार
सहस्र बार—
धन्यवाद !

उन्होंने चाहा कि धन्यवाद-युग के काव्य की यह अनुपम रचना मैं उन्हें लिखवा दूँ। पर मैंने उनसे कहा कि यह कोई बहुत अच्छी रचना नहीं। धन्यवाद-धारा की की बड़ी अच्छी कविताएँ इधर हिंदी में हुई हैं। मैं इलाहाबाद से कुछ पत्रिकाएँ मँगा रहा हूँ, तब आपको कोई अच्छी-सी धन्यवादी कविता सुनाऊँगा और लिखवाऊँगा।

राहें मंज़िल नहीं...

कैसी भी बड़ी मुसीबत आ पड़े, कितनी भी उलझी समस्या सामने आ खड़ी हो, अश्कजी का सीधा-सादा नारा होता है—'औसान न ख़ता होने दो।' और ये दसियों किस्से सुनाकर अपना यह नारा हम पर लादते रहते हैं और समझाते हैं कि औसान बहाल रख के किस तरह कमज़ोर ने शक्तिशाली को पछाड़ दिया या आदमी औसान बहाल रखे तो किस तरह बड़ी-से-बड़ी मुसीबत दुम दबाकर भाग जाती है; कष्ट-साध्य और असंभव लगने वाले काम सरल होकर संपन्न हो जाते हैं; दुर्घटनाएँ होते-होते बच जाती हैं—यानी क्या-क्या नहीं हो जाता ! और ये बचपन में सुना या पढ़ा किस्सा दोहराना नहीं भूलते कि किस प्रकार शिमला को जाने वाली पैसेंजर गाड़ी के ड्राइवर ने औसान कायम रखे और एक बड़ी भारी दुर्घटना को घटने से बचा लिया—सहसा उसने सामने निगाह डाली थी तो उसने देखा था कि ऊपर चार-पाँच मोड़ आगे मालगाड़ी के दो डिब्बे, बिना इंजन के, पूरी तेज़ी से रिढ़े आ रहे थे। पैसेंजर गाड़ी का मामला, ड्राइवर घबरा जाता तो जाने कितनी जानें चली जातीं, लेकिन ड्राइवर ने औसान नही ख़ता होने दिये। उसने तत्काल गाड़ी रोककर इंजन को गाड़ी से अलग किया और उसे पूरी रफ़्तार पर छोड़कर सफ़ाई से कूद गया। कुछ ही क्षणों बाद बड़े ज़ोर का धमाका हुआ और मालगाड़ी के डिब्बे और इंजन टकराकर चूर-चूर हो गये...

अश्कजी अपना यह नारा हमी पर लादते हों और स्वयं उस पर न चलते हों, ऐसी बात नहीं। बड़ी-से-बड़ी मुसीबत में मैंने इन्हें ठंडे दिमाग़ से सोचते और बड़े-से-बड़े झगड़े में औसान बहाल रखकर प्रतिपक्षी का हर वार ख़ाली करते देखा है, लेकिन एक स्थिति ऐसी भी है, जब ये अपना यह नारा भूल ही नही जाते, इनके औसान भी बेतरह ख़ता हो जाते है। ऐसा तब होता है जब इन्हें कहीं यात्रा करनी होती है।

इन्हें कहीं जाना होता है तो प्रोग्राम निश्चित हो जाने पर लगता है कि ये निश्चिन्त हो गये हैं। लेकिन इनकी असली चिंता और घबराहट तभी शुरू होती है। कई दिन पहले से ही शोर मचाना शुरू कर देते हैं—'अब तुम सामान ठीक कर लो,

ऐन वक़्त पर चीज़ें भूल जाती हैं। बिस्तर भी बाँध रखो, फिर काम में समय नहीं मिलेगा और चलते समय भगदड़ मचेगी।'—और मैं कह देती हूँ—'हाँ कर लूँगी।' अब बताइये छह-आठ दिन पहले कोई बिस्तर बाँधकर रखेगा? फिर ज़रूरी कपड़े धोबी से मँगाने होते हैं, इस्तरी कराने होते हैं, पर इन्हें कौन समझाये? समझाया जाये तो कहेंगे कि इतने दिन इन्हीं कपड़ों से काम चलायेंगे और बिस्तर तुम दूसरे निकाल लो।

तैयारी कर लेने की बात ये रोज़ आते-जाते दोहरा देंगे और फिर काम में जा लगेंगे। मैं धोबी को कहला देती हूँ कि अमुक दिन कपड़े तैयार रखे, मैं मँगा लूँगी या वह दे जाये। साथ ले जाने वाले कपड़े निकालती हूँ, सूई-धागा लेकर बैठती हूँ कि कोई बटन टूटा हो तो टाँक दूँ कि ये उधर आ निकलते हैं, 'अब बटन टाँकने बैठी हो, इस तरह हो चुकी तैयारी!' ये बड़बड़ाते हैं।

'आप देख लीजिये, आपके कौन-कौन से कपड़े साथ ले जाने हैं तो मैं बक्स में रख दूँ।' मैं कहती हूँ।

इन्हें और भी घबराहट होने लगती है, तुम सब सामान निकालकर एक जगह रख लो, फिर मैं देख लूँगा।' ये कहते हैं और जैसे आये थे, उसी तरह अपने कमरे की ओर भाग जाते हैं।

इस बीच कोई आ जाता है। ये घंटों बातें करते रहते हैं, बल्कि कभी मुझे भी उधर बुला लेते हैं कि भई अमुकजी आये हैं, चाय-वाय नहीं पिलाओगी? चाय पी जाती है। मित्र चले जाते हैं तो कोई काम आ पड़ता है, ये उसमें लग जाते हैं या कहीं बाहर चले जाते हैं। आकर कपड़े देखते हैं तो फिर झल्लाते हैं कि अभी तक कपड़े रखे नहीं।...'आपने देखे ही नहीं', मैं कहती हूँ। 'मैं तो थक गया हूँ।' ये उत्तर देते हैं, 'और फिर मुझे क्या देखना है। जो ले जाना है, जल्दी पैक करके छुट्टी करो।'...और अपनी मेज़ पर निढाल जा बैठते हैं!...दो-चार दिन चीज़ें फैली रहती हैं, लेकिन कभी ये मिलने वालों से उलझे रहते हैं, कभी काम में। और कुछ नहीं तो फ़ोन ही करते रहेंगे और फ़ोन पर ज़रूरी बात ही नहीं करते, दुनिया-जहान की बातें डिसकस करते हैं, पत्र सुनते और सुनाते हैं और कहानी तक सुना डालते हैं। मैं टोकती हूँ तो चिढ़ जाते हैं—'तुम मुझे बात भी नहीं करने देतीं।' ये अपने इसी तरह के कार्यक्रम में लगे रहते हैं, लेकिन तैयारी कर लेने की बात कहना भी नहीं भूलते।

जिस दिन चलना होता है, उस दिन या उससे एक दिन पहले धोबी से कपड़े मँगाकर, बाजार से ज़रूरी सामान खरीदकर, मैं सचमुच तैयारी शुरू कर देती हूँ। मैं सामान पैक कर रही होती हूँ कि ये उधर आ निकलते हैं:

'अभी तक तैयारी नहीं हुई, मैं इतने दिनों से कह रहा था। तुम्हारी आदत ऐन वक़्त पर सामान बाँधकर भागने की है और मेरा जी घबराने लगता है।'

'शाम की गाड़ी से जाना है, अभी सारा दिन पड़ा है, आप क्यों परेशान हो रहे हैं?' मैं कहती हूँ।

इनकी घबराहट फिर भी कम नहीं होती। अगर कभी मैं कोई कपड़ा सिलने को दे दूँ कि सिल जायेगा तो साथ ले जायेंगे और मैं किसी को लाने भेजूँ अथवा दर्ज़ी उसी दिन आ जाये तो इनकी घबराहट और बेचैनी कई गुना बढ़ जाती है-- 'पहले जाने तुम कहाँ सोयी रहती हो, ऐन चलते वक़्त तुम्हें सब काम याद आते हैं, जल्दी में भला कोई काम ठीक भी हो सकता है ? जल्दी का काम शैतान का होता है।'...और दर्ज़ी के सामने ही डाँटना शुरू कर देते हैं। मुझे बड़ा बुरा लगता है कि बेचारा समय से कपड़े सिल लाया है और ये झल्लाये जा रहे हैं।

दर्ज़ी के आने से यात्रा में बाधा पड़ेगी, सामान पैक नहीं होगा, टिकट खो जायेंगे, घड़ी तेज़ चलने लगेगी, समय पर रिक्शा नही मिलेगा, गाड़ी नहीं पकड़ पायेंगे—कुछ ऐसी ही आशंका और बेचैनी इन्हें घेरे रहती है। और जैसे सफ़र की बात भूलने को ये कहीं बाहर चले जायेंगे या चिट्ठियाँ निबटाने लगेंगे, या कोई दूसरा काम करने लगेंगे, लेकिन वहाँ भी इन्हें चैन नहीं। थोड़ी देर वाद फिर आ जायेंगे, कहेंगे, 'गाड़ी का समय तो तुमने पूछ लिया है न ?'

'हाँ, हाँ, पूछ लिया है।' मैं इन्हें आश्वस्त करना चाहती हूँ। ये छोटे बेटे को आवाज देंगे—'गुड्डे, ओ गुड्डे !' वह भागा-भागा आयेगा कि जाने क्या हो गया जो पापाजी इतना चिल्ला रहे हैं ! 'क्या टाइम है तुम्हारी घड़ी में ?' वह बतायेगा कि दो बजे हैं या ढाई का वक़्त है। तब उससे कहेंगे कि फिर भी तुम फ़ोन करके ठीक बक़्त पूछ लो। वह लाख कहेगा कि आज सुबह ही मैंने वक़्त मिलाया हैं, मगर ये नहीं मानेंगे।—'तुम स्टेशन की घड़ी से भी मिला लो।' फिर वहू से पूछेंगे कि उमेश कितने बजे दफ़्तर से आने को कह गया था। वह कहेगी कि चार बजे, तो कहेंगे, 'तुम उसे फ़ोन करो, जल्दी आ जाये !'

घर भर को चार घंटे पहले से इकट्ठा कर लेंगे। जल्दी मचाकर मुझे भी घबरा देंगे और दो घंटे पहले से ही स्टेशन चलना चाहेंगे। मैं खीज उठती हूँ कि इतनी देर पहले जाकर क्या होगा ?

'वहीं बैठकर बातें करेंगे।' (मानो हमारे पहले जाने से गाड़ी जल्दी आ जायेगी।)

अपनी घबराहट में ये इतनी अफ़रा-तफ़री मचाते हैं कि चलते-चलते मुझे प्रायः देर हो जाती है। ये शोर मचाने लगते हैं। मैं जल्दी करती हूँ, पर ये— 'सामान बाहर रख दो।'...'रिक्शा जल्दी लाओ।'...'पानी की सुराही न भूल जाना।'...'बिस्कुट का डिब्बा रख देना, मुझे भूख लग आयेगी !'...'टिकट सँभालकर रख लेना'...आदि, आदि, चिल्लाते हुए शोर मचाते जायेंगे। मार-धाड़, उठा-पटक से ये और भी घबरा देते हैं और उस घबराहट में और भी देर हो जाती है।

पहले चले जायें तो ये वेटिंग-रूम में नहीं, प्लेटफ़ार्म पर ही बैठना पसंद करते हैं। उमेश को आदेश देंगे, गुड्डे को समझायेंगे, बातें करेंगे, चाय पियेंगे। (अच्छे-से-अच्छे रिफ़्रेशमेंट-रूम से चाय मँगायेंगे, पर पियेंगे प्लेटफ़ार्म पर बैठकर ही।)

लगता है ये इधर-उधर हुए नहीं कि गाड़ी आकर भागी नहीं। प्लेटफ़ार्म की भीड़-भाड़, खोंचे वालों के शोर और इधर-उधर की बातों में ये अपनी घबराहट को भूल जाना चाहते हैं। इनके मित्र-परिचित वहाँ हों तो इन्हें कुछ राहत मिलती है, पर भीतर से फिर भी घबराहट बनी रहती है। आख़िरकार गाड़ी आ जाती है। सामान रखवाकर अपनी लिस्ट से मिलाते हैं (और लिस्ट में सिर की टोपी से लेकर छड़ी या छाता तक नोट होता है।) फिर बिस्तर बिछवाकर ये सीट पर जा बैठते हैं और गाड़ी के चलते ही बिस्तर पर ऐसे थककर लेट जाते हैं जैसे बहुत लम्बा सफ़र तय करके आये हों।

यह हाल तो साधारण यात्राओं का है, जब दस-बीस दिन के लिए दिल्ली-लखनऊ या कलकत्ता-बंबई जाना हो। लेकिन विशिष्ट यात्राएँ भी होती हैं, जैसे पहाड़ आदि पर तीन-चार महीने के लिए जाना और रास्ते में इधर लखनऊ या उधर दिल्ली-जालंधर या दिल्ली-चंढीगढ़ रुकते हुए जाना। तब उसी अनुपात में ये घबराते हैं, इनके औसान ख़ता होते हैं और ये मेरे औसान ख़ता करने पर तुल जाते हैं।

सामान प्रायः ज़्यादा हो जाता है। मौसम के अनुसार तो कपड़े होने ही चाहिए, यदि वर्षा हो गयी, हवा में खुनकी आ गयी, रात में ज़्यादा गर्मी हो गयी या फिर ठंडी हवा चलने लगी—बाहर का तापमान और फिर तबियत का तापमान—इस सबकी व्यवस्था होनी ही चाहिए। सर्दी हो या गर्मी, दोहरे-दोहरे, बल्कि तिहरे-तिहरे कपड़े ओर बिस्तर! पहाड़ पर इतनी देर रहना हो तो लिखना-पढ़ना भी होता है। फिर जाने किस-किस चीज़ की ज़रूरत पड़ जाये! पुस्तकें, फ़ाइलें, लिखने की मेज़ का पूरा सामान, ठंडे-गर्म कपड़ों के बक्स, गर्मी-सर्दी के बिस्तर, अटैचीकेस, खाने-पीने और दवाइयों की टोकरियाँ, सुराही या जग, छाता, छड़ी, रेन-कोट...छोटा-मोटा घर ही उठाकर ले जाना पड़ता है और इस सबकी तैयारी में समय भी उतना ही लगता है। यह सारा समय घबराहट और बेचैनी में बीतता है।

अगर सच पूछिये तो सर्दियों में ही ये पूछने लगते हैं—'इस बार मुझे किस पहाड़ पर भेजोगी?' मैं कहती हूँ—'जहाँ आप जाना चाहें।' और हम नैनीताल, मसूरी, रानीखेत से शुरू करके डलहौज़ी, शिमला, कश्मीर और ऊटी तक घूम लेते हैं, लेकिन ये निश्चय नहीं कर पाते। 'यह भी अच्छा', 'वह भी ठीक' में बात फिर वहीं आ जाती है। 'तुम तय कर दो।'—ये कहते हैं। मैं जानती हूँ, जब खुद तय करके जाते हैं और वहाँ किसी तरह की असुविधा होती है तो शिकायत मुझी को सुननी पड़ती है कि तुमने रोका क्यों नहीं। अब अगर मैं तय कर दूँ तो जाने शिकायतों की ही पुस्तक लिखें वहाँ बैठकर। मैं टाल जाती हूँ कि अच्छा, सोचकर बताऊँगी। लेकिन हर सातवें-आठवें यह चर्चा चलती रहती है और सर्दियों के महीने योजनाएँ बनाते-बनाते बीत जाते हैं।

अब ? अब तो कुछ तय करना ही होगा। और मैं गंभीरता से सोचने लगती हूँ। हालाँकि मैं जानती हूँ, मेरे सोचने और तय करने से कुछ नहीं होगा।...एक बार शिमला जाने का प्रोग्राम बनाया था, वहाँ एक मित्र को लिख भी दिया कि हमारे रहने की व्यवस्था कर दें। प्रोग्राम पक्का करके तार भी भेज दिया कि अमुक दिन पहुँचेंगे, लेकिन दो दिन पहले प्रोग्राम बदल गया। शिमला दूसरा तार भेजा कि हम नहीं आ रहे...और हम कश्मीर पहुँच गये। लोगों का प्रोग्राम नहीं बदलता, न बदले, लेकिन कलाकार को नैनीताल से डलहौज़ी, मसूरी से कसौली, शिमला से कश्मीर ज़्यादा अच्छा लगे और वह भी चलने से दो दिन पहले तो इसमें उसका क्या कसूर ? कलाकार बेचारे की यही तो मुसीबत है कि वह प्रोग्राम बनाकर बँध नहीं सकता। बीवी के साथ बँध जाये, यही क्या कम है।...

बहरहाल कहीं भी जायें, तैयारी तो करनी ही होती है। मैं सामान निकालती, ख़रीदती, बाँधती रहती हूँ और बदलते प्रोग्राम के अनुसार उसमें तब तक परिवर्तन होता रहता है, जब तक कि गाड़ी में न बैठ जायें। इस बीच ये खोये-खोये-से, परेशान और बेचैन डोलते रहते हैं, जैसे कोई बड़ी भारी मुसीबत आ पड़ी हो और उसका सामना किये बिना चारा न हो। बात-बात पर चिढ़ जाते हैं अकारण झींखते हैं, बच्चों को डाँटते हैं, मुझसे उलझते हैं और अगली-पिछली शिकायतों का रोना ले बैठते हैं। सामान का काफ़िला तैयार हो जाता है और तब ये और भी घबराते हैं कि अब तो यह सब लेकर सफ़र करना ही पड़ेगा। 'तुम मुझे छोड़ आओ और वहाँ सब ठीक-ठाक कर आओ !' तान इस बात पर टूटती है।

कोई पुस्तक छप रही हो या दफ़्तर में काम ज़्यादा हो तो मेरा जाना मुश्किल होता है। तब ये मुझे समझाते हैं कि तीन-चार दिन में लौट आना, फिर वहाँ का काम निबटाकर कुछ दिन के लिए चली आना और मुझे ले आना। यानी सामान पैक करके इन्हें कोई पहुँचा दे, वहाँ सब व्यवस्थित कर दे और फिर वहाँ से पैक करके इन्हें ले आये। एक तो सफ़र, उस पर इतना सामान ! सामान ही पहले पहुँच जाये तो बेचैनी कुछ कम हो और बेचैनी कम करने के लिए गत वर्ष इन्होंने सामान पहले ही भेज दिया। यह दूसरी बात है कि बेचैनी और परेशानी कई गुना बढ़ गयी।

पिछले ही वर्ष की बात है। इनके पहाड़ जाने का प्रोग्राम अभी निश्चित न हुआ था। घर बैठे हम देश का तूल-अर्ज़ नापते हुए विभिन्न पहाड़ों की सैर कर रहे थे कि एक स्नेही मिलने आ पहुँचे। उन्होंने बताया कि चम्बा से चार-पाँच मील परे राजपुरा में फलों के बगीचे हैं, वहीं वे रहते हैं। निकट ही रावी नदी बहती है... मौसम बड़ा खुशगवार होता है और बड़े आग्रह से उन्होंने वहाँ आने का निमंत्रण दिया। तब इन्होंने निश्चय कर लिया कि इस बार राजपुरा में ही डेरे डाले जायें और मन-ही-मन फलों के बगीचों का आनंद लेते और रावी-तट की सैर करते अपना सामान उनके साथ ही भेज दिया।...सामान उनके साथ भेज दिया और

स्वयं कसौली पहुँच गये। फिर किन परिस्थितियों में, कितनी मंजिलें तय करके सामान इन्हें मिला और कितनी परेशानी हुई, यह एक लम्बी कहानी है।

सफ़र करने की घबराहट तो होती ही है, उसके बाद भी इन्हें चैन नहीं। छोटी-छोटी बातें इन्हें परेशान करती रहती हैं...डलहौज़ी उपन्यास लिखने की सोचकर गये थे। बँगला अच्छा मिल गया, सामने धौलाधार के हिममंडित शिखर...नौकर भी मिल गया था। मैं सब ठीक कर आयी थी, लेकिन कुछ दिन बाद उनका पत्र मिला कि यहाँ के सौंदर्य को देखकर कविता लिखी है, उपन्यास का मूड ही नहीं बनता, मन उदास है...कोई बताये, यह भी परेशानी की बात हुई...जब तक रहते हैं पत्रों में ऐसी ही बातें होती हैं—'यह तुमने नहीं भेजा, वह क्यों भेज दिया।' एक पत्र में लिखेंगे—'यह चीज़ जल्दी भेज दो, मुझे बहुत ज़रूरत है।' मैं सब काम छोड़कर पहले वह चीज़ भेजती हूँ, दूसरे दिन पत्र मिलता है—'मैंने भेजने को लिखा था, न भेजो।'

यह बेचैनी और घबराहट जाने इनके स्वभाव की ही होती है या फिर घर आने के लिए दो महीने बाद सफ़र करना होगा, उसके ख़याल से, लेकिन होती ज़रूर है।

पहले-पहल मैं झुँझला जाया करती थी, कई बार परेशान भी हो जाती थी, घबरा जाती थी, लेकिन अब जान गयी हूँ कि इस घबराहट, बेचैनी और परेशानी से पार पाना इनके बस का नहीं। अब इनके साथ सफ़र करने या इनके ऐसे पत्र पाकर मैं इनके औसान ख़ता होते देखती हूँ तो अपने औसान ख़ता नहीं होने देती।

नवम्बर 64 —कौशल्या अश्क

...मंज़िल से मगर कम भी नहीं

कौशल्या के साथ शादी करने के बाद जब भी किसी यात्रा पर गया हूँ और उसे सफ़र की तैयारी करते देखा है, मेरी आँखों में पच्चीस-एक वर्ष पहले की घटना घूम गयी है।

शादी से लगभग साल भर पहले मैं कुछ दिन को अपने बड़े लड़के के साथ (जो उस वक़्त छह-सात वर्ष का था) कौशल्या के यहाँ रेनाला खुर्द गया।...रेनाला मिंटगुमरी ज़िले में छोटा-सा कस्बा है और पंजाब के प्रसिद्ध इंजीनियर रायबहादुर सर गंगाराम के फ़ार्मों, नहर के बाँध, बिजली घर, ऊँची ज़मीन पर चढ़ाये गये रजबहों और सात मील लम्बे माल्टा के बाग़ों के लिए प्रसिद्ध है। कौशल्या जब आती थी, उनके किस्से सुनाती थी—कैसे सर गंगाराम ने नहर में बाँध लगा कर बिजली निकाली, कैसे उन्होंने नहर के पानी को ऊँची ज़मीनों पर चढ़ाया और कैसे वह ऊपर हरी-भरी खेतियों से लहलहा उठा, कैसे माल्टों के बाग़ में खूनी रंग के लाल लाल माल्टे हैं और कैसे अजवाइन को साल-साल भर नींबू का पुट देकर पेट के हर रोग के लिए तैयार किया जाता है...और इस सबका जिक्र करते हुए वह मुझे कुछ दिन रेनाला चलकर रहने का निमंत्रण देती। जब दो बार वादा करके भी मैं नहीं गया तो इस बार जब वह आयी, हमें (मुझे और उमेश—मेरे बड़े लड़के को जो उन दिनों छह-सात वर्ष का था) तैयार करके साथ ही ले गयी।

मैं उन दिनों कुछ अस्वस्थ था और छुट्टी पर लाहौर गया हुआ था। सोचकर यही रेनाला गया कि दो-तीन दिन में लौट आऊँगा, लेकिन वहाँ के इन्हीं दर्शनीय स्थानों को देखने और लोगों से मिलने-मिलाने में छह दिन लग गये। सातवें दिन मैं वापस चलने को तैयार हो गया। एक दिन पहले ही से मैंने कहना शुरू किया कि मैं कल चला जाऊँगा—मैं और कौशल्या साल भर से एक-दूसरे को जानते थे। हफ़्ते-पखवारे चंद घंटे साथ ही गुज़ारते थे। वह रेनाला से लाहौर आ जाती और मैं प्रीतनगर से वहाँ पहुँच जाता। तो भी हमारे संबंध काफ़ी औपचारिक थे—एक-आध बार दबी ज़बान से कौशल्या ने हमें रुकने को कहा, पर जब मेरे स्वर में कुछ कड़ाई आ गयी तो वह बोली, 'आप घबराइए नहीं, मैं आपको शाम की गाड़ी

चढ़ा दूँगी।'

रेनाला से एक ही गाड़ी शाम को पाँच बजे लाहौर आती थी। जब तीन बजे तक कहीं सुन-गुन न लगी कि हमारे जाने की तैयारी हो रही है तो मैं घबराया— 'मैं अपना बिस्तर बाँध लूँ,' मैंने कहा, 'मुझे पहले ही बहुत दिन हो गये हैं, मेरी नौकरी छूट जायेगी।'

'हाँ, हाँ बँध जाता है आपका बिस्तर, पाँच मिनट का काम है, अभी दो घंटे पड़े हैं।'

और तब उसने चपरासी को बाग़ से माल्टे लाने के लिए भेजा और दाई से कहा कि वह बच्चे के लिए मीठे पराँठे पका दे।

'अरे भाई, शाम को नौ बजे गाड़ी पहुँच जाती है। तुम बेकार परेशान होती हो। घर जाकर खा लेगा।'

'आपके लिए तो नहीं बनवा रही हूँ। बच्चा है, अगर भूख लग आयी तो... चार घंटे का समय है, क्या कीजियेगा!' और वह दाई के साथ पराँठों में जा लगी। उसका ख़याल था कि चपरासी बाहर से आयेगा तो मेरा बिस्तर बाँधेगा। जब गाड़ी के आने मे पद्रह मिनट रह गये और स्टेशन निकट होने के कारण दूसरे स्टेशन से गाड़ी चलने की सूचना देने वाली घंटी की टन-टन सुनायी दी तो उसने मेरे साथ बिस्तरा बँधवाया। दाई से कहा कि पराँठे डिब्बे मे बंद कर, चाय की ट्रे मेज पर रख दे और स्टेशन भाग जाये और बाबू से कहे कि बड़ी बहन जी के मेहमान जायेंगे।...इस बीच चपरासी आ गया। उसे सब सामान नीचे उतार, स्टेशन पहुँचाने का आदेश देकर, कौशल्या तैयार होने लगी। चाय उसने पी नहीं थी। दाई चाय की ट्रे लगाकर स्टेशन भाग गयी थी। साड़ी पहनकर बालों में कंघी करते-करते वह चाय की चुस्की भी लेती रही।...हम घर से नीचे उतरे ही थे कि गाड़ी स्टेशन पर आ गयी।

छोटा-सा स्टेशन, गाड़ी केवल तीन मिनट रुकती थी। कौशल्या का घर स्टेशन से फ़र्लांग भर के फ़ासले पर होगा। मैं अपने लड़के की अँगुली पकड़कर भागने ही वाला था कि कौशल्या ने रोक दिया, 'घबराइये नहीं, आपको लिये बिना गाड़ी नहीं जायेगी।'

हम लोग तेज़ चलने लगे। मेरा लड़का तो भाग ही रहा था। मेरी चाल भागने से कुछ ही कम थी। कौशल्या के लिए मेरा साथ देना मुश्किल था। यों मैंने लाहौर में उसे सीना ताने, खट्-खट, जैसे हवा को चीरते हुए चलते देखा था। लेकिन रेनाला खुर्द मे अपने पद के अनुरूप ही वह सिर ढँके, लेकिन तेज़ चाल से मेरे पीछे-पीछे आ रही थी।

हम आधे रास्ते ही में होंगे कि स्टेशन का पानी वाला भागता आया। 'बहनजी, चलिये, गाड़ी आपके लिए रुकी है।' हम किंचित् और तेज़ी से बढ़े। स्टेशन पर पहुँचे तो स्टेशन मास्टर ने 'बहनजी' को हाथ जोड़कर नमस्कार किया और उसके हाथ से रोटी का डिब्बा लेकर हमारे आगे-आगे बढ़ा। सामान हमारा

रखवा दिया गया था। हम चढ़े कि गार्ड ने सीटी दी।

बाद में मुझे मालूम हुआ कि स्टेशन मास्टर की लड़की उसके स्कूल में पढ़ती थी और कौशल्या की स्थिति उस छोटे-से कस्बे में किसी गज़टेड ऑफ़िसर से कम नहीं थी। इस बार तो हम आधे रास्ते में थे, पर कई बार ऐसा भी हुआ कि वह घर से नहीं निकली और गाड़ी स्टेशन पर आ गयी और स्टेशन मास्टर ने उसे घर से बुलवाया।

कौशल्या साल भर बाद ही रेनाला खुर्द से चली आयी। वह छोटे-से कस्बे की हेड मिस्ट्रेस नहीं रही कि स्टेशन मास्टर अपनी लड़की की बड़ी बहनजी के लिए गाड़ी रुकवा दे, लेकिन जब भी कहीं यात्रा पर जाना हो तो कौशल्या वैसे ही तैयार होती है।

मेरे अपने पिता स्टेशन मास्टर थे और अपने स्टेशन पर ही नहीं, पूरे डिवीज़न भर में दबंग मशहूर थे। गार्डों, ड्राइवरों, टिकट-कलेक्टरों और अफ़सरों को सदा खिलाते-पिलाते रहते थे, लेकिन जाने प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अथवा अपनी माँ के नैतिक प्रभाव के कारण या फिर अपने नन्हें-से अहम् के अधीन मैंने कभी स्टेशन मास्टर के बेटे की तरह बिना टिकट यात्रा करना अथवा गाड़ी के स्टेशन आ जाने पर ही घर से निकलना पसंद नहीं किया।

जब हम पिता के पास न होते और अपने घर जालंधर होते और कहीं यात्रा पर जाना पड़ता तो घंटा-डेढ़-घंटा पहले घर से चलना अनिवार्य हो जाता।

हमारा घर जालंधर में था और जालंधर फ़िरोज़पुर डिवीज़न में नहीं था कि मेरे पिता का कोई मित्र हमारी ख़ातिर गाड़ी रुकवा लेता। इसके अतिरिक्त हमारा घर भी स्टेशन के निकट नहीं था, पूरे डेढ़ मील के अंतर पर शहर के एक गुंजान मुहल्ले में था। घर में कोई घड़ी नहीं थी। टाइम पूछने के लिए मुहल्ले के सिरे पर बाज़ार में चचा गोपालदास पंसारी की दुकान पर जाना होता और उनकी घडी भी स्टेशन की घड़ी से मिली हुई हो, ऐसी बात न थी। उसके लिए पंद्रह-बीस मिनट आगे या पीछे होना सहज बात थी। इसलिए जब रेलगाड़ी से कहीं यात्रा करने की बात होती तो हमें कम-से-कम डेढ़ घंटा पहले घर से रवाना होना पड़ता। सामान साथ में न हो तो हम प्रायः यह रास्ता भी पैदल तय करते। सामान साथ हो तो और भी पहले तैयारी करनी पड़ती। क्योंकि ताँगा आध मील परे सैदाँ गेट में ही मिलता था और घर से एक-डेढ़ फ़र्लांग पर चौक कादेशाह में रुक जाता था। कुली या नौकरों की कोई व्यवस्था न थी। सामान अपने कंधों पर लादकर वहाँ पहुँचना होता। मुझे ऐसी कई घटनाएँ याद हैं. जब घर से तड़के चले, ताँगा मिल नहीं पाया और सामान कभी सिर पर या कभी इस कंधे और कभी उस कंधे उठाये हम स्टेशन पहुँचे। स्टेशन पर भले ही घंटा-आध-घंटा गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी हो, लेकिन एक भी ऐसी घटना याद नहीं, जब हम देर से

पहुँचे हों और गाड़ी न मिली हो।

कौशल्या की स्थिति मुझसे एकदम भिन्न रही है। वह अपने अमरीका-पलट मामा के यहाँ पली है। उनका मकान लाहौर में वीडन रोड पर था। नीचे ही डेयरी में फ़ोन लगा था, जहाँ से गाड़ी का ठीक टाइम पूछा जा सकता था और वाल्कनी से आवाज़ देने पर ताँगा रोका जा सकता था और उसके मामा घड़ी देखकर वक़्त से तैयार होते और 5-7 मिनट पहले स्टेशन पहुँच जाते। रोज़-रोज़ सफ़र करने के कारण उन्हें किसी तरह की घबराहट भी नहीं होती। उनके साथ से कौशल्या भी ऐन-मैन वैसी हो गयी।...अपने वैवाहिक जीवन के पिछले वाइस-तेइस वर्षों पर दृष्टि डालता हूँ तो उनके साथ गाड़ी पर सवार होने अथवा उसे सवार कराने के कई दृश्य मेरी आँखों में कौंध जाते हैं...

...1945 ई० की एक शाम की याद आती है। मैं 'फ़िल्मिस्तान' वंबई में काम करता था। कंपनी का स्टूडियो गोरेगाँव में था और मैं एक स्टेशन परे मलाड में रहता था। मैंने कौशल्या से कहा था कि वह शाम को समय से आ जाये तो हम स्टूडियो से सीधे ही दादर जायेंगे। दादर में उसकी वहन रहती थी। घर उसका कैडिल कोर्ट, कैडिल रोड पर था, जहाँ से कुछ ही क़दम आगे दादर का सागर-तट था। वहाँ शाम को ज्वार अथवा भाटे का बड़ा ही सुंदर दृश्य दिखायी देता था। इरादा यह था कि उसकी वहन और वहनोई को लेकर हम लोग वहाँ जायेंगे, खायें-पीयेंगे और सागर का नज़ारा करेंगे।

कौशल्या कुछ देर से पहुँची। जब हम स्टूडियो से स्टेशन की ओर चले तो अभी हम आधे रास्ते में ही थे कि दूर मलाड की ओर से लोकल के आने की आवाज़ सुनायी दी। कुछ लोग गाड़ी की आवाज़ सुनकर भागने लगे। मैंने कहा, 'यह गाड़ी तो गयी। अब आध घंटा कम-से-कम इंतजार करना पड़ेगा। देर हो जायेगी। मैं सोचता हूँ, अब घर चलें। दादर कल जायेंगे।'

'कल क्यों जायेंगे ? चलिये, भागकर पकड़ लेते हैं।' कौशल्या ने कहा।

और हम दोनों भागने लगे।

रास्ता काफ़ी था। लेकिन हम लगातार भागते गये। ज्यों-ज्यों गाड़ी की आवाज निकट आती गयी, हमारे भागने की गति भी तेज़ होती गयी। हमारे आगे-आगे भागने वाले कई लोग पीछे रह गये। कइयों ने यह सोचकर दम छोड़ दिया कि अब वे गाड़ी न पकड़ पायेंगे। लेकिन हम निरंतर भागते रहे। स्टेशन से कुछ दूर ही थे, जब गाड़ी स्टेशन में दाख़िल हो गयी। चर्चगेट को जाने वाली गाड़ी नं० 2 प्लेटफ़ार्म पर रुकती थी और पुल पार करके उसे पकड़ा जा सकता था। हम भागते स्टेशन में दाख़िल हुए तो गाड़ी लाइनों के पार सामने ही खड़ी थी और चलने ही वाली थी और हमारे आगे पहुँचने वाले स्टूडियों के दो साथी हसरत-भरी नज़रों से उसे देख रहे थे।

कौशल्या ने कहा, 'चलिये, लाइनें क्रॉस करके चढ़ जायें।'...और निमिष भर को यह देखकर कि कोई दूसरी गाड़ी तो नहीं आ रही, हम दोनों कूद गये। गाड़ी

हरकत में आ गयी थी। जब हम पिछली ओर से एक डिब्बे में चढ़ गये और खिड़की में खड़े-खड़े हमने कुछ अजीब से विजयोल्लास से अपने साथ भागने वाले साथियों को हसरत-भरी आँखें लिये स्टेशन पर खड़े देखा।

लेकिन दादर आया तो हमारी विजय पराजय में बदल गयी। हमने देखा कि गाड़ी वहाँ बिना रुके उसी तेज़ी से बढ़ती चली गयी—हम अपनी तेज़ी और जल्दी में फ़ॉस्ट पैसेंजर में चढ़ गये थे, जो सीधी ग्रांट रोड जाकर रुकी।...

...मलाड में हमारा घर स्टेशन के बिलकुल निकट था। स्टेशन पर आने वाली गाड़ी हमारी बालकनी से दिखायी दे जाती थी और हम गाड़ी के स्टेशन पर आ जाने के बावजूद कई बार भागकर जा चढ़ते थे। लेकिन धीरे-धीरे गाड़ियों के टाइम का पता चल गया। कौशल्या भी बच्चे से हो गयी। मैंने भाग-दौड़ पर बंदिश लगा दी और अपनी आदत के अनुसार मैं चाहने लगा कि हम लोग वक़्त से स्टेशन पर जायें और इत्मीनान से गाड़ी में सवार हों।

कौशल्या का नाम मैंने सैंडहर्स्ट रोड के प्रसिद्ध मैटर्निटी होम—डॉ० अजिंक्याज़ क्लिनिक—में रजिस्टर करा दिया था और मैं उसे लेकर हर हफ़्ते वहाँ जाता था। वह आठवें महीने से होगी। एक दिन हम स्टेशन के बाहर ही थे, जब गाड़ी दूसरे नंबर पर आकर खड़ी हो गयी। भाग हम सकते नहीं थे, इसलिए कोई उम्मीद नहीं थी कि चढ़ जायेंगे। चूंकि शाम के वक़्त मलाड की ओर से रश नहीं रहता था, इसलिए मलाड से चर्चगेट की ओर को गाड़ी घंटे-पौन-घंटे बाद जाती थी और उधर से हर पंद्रह मिनट बाद आती थी। मैं बड़बड़ाने और कौशल्या को कोसने लगा कि जब उसे पता है, डॉक्टर के यहाँ जाना है तो क्यों वक़्त से तैयार नहीं होती? अब इतनी देर स्टेशन पर क्या बैठेंगे, चलो घर चलें।

लेकिन कौशल्या विचलित नहीं हुई। उसने कहा कि गाड़ी निकल जायेगी तो वहीं बैठे इंतज़ार कर लेंगे। अब वापस कौन जाये, सीढ़ियाँ चढ़े, फिर उतरे। यह उससे नहीं होगा। उसकी उस अवस्था में हम पुल पर से नहीं जाते थे। एक नंबर का प्लेटफार्म पूरा पार करके मलाड बाज़ार के रेलवे फाटक से होकर दूसरे प्लेट-फ़ार्म पर चढ़ते थे। तेज़-तेज़ चलते हुए उसी तरफ़ से हम दूसरे प्लेटफार्म पर गये। गाड़ी की पिछली ओर गार्ड के डिब्बे से केवल दो क़दम के फ़ासले पर थे कि गाड़ी सरकने लगी। कौशल्या ने चाहा दो क़दम भाग कर ब्रेक-वैन ही में सवार हो जाये। सहसा गार्ड की नज़र हम पर पड़ी। भला आदमी था। उसने हाथ पकड़ कर उसे ब्रेक-वैन में चढ़ा लिया। मैं भी वहीं सवार हो गया। जी में बेहद गुस्सा था, इसलिए सारे रास्ते मन-ही-मन भुनभुनाता रहा।...पैर फिसल जाता तो? ...पायदान पर ठीक से न रखा जाता तो? यह क्या मज़ाक है कि समय से दस मिनट पहले स्टेशन पर न पहुंचा जाये...आदि-आदि...

लेकिन कौशल्या के चेहरे पर न कोई घबराहट थी, न अफ़सोस...बल्कि शांति और संतोष के साथ वह गार्ड से बतिया रही थी।

...इलाहाबाद के शुरू के दिनों की बात है, हम रेलवे स्टेशन से निकट ही

5, खुसरो बाग़ रोड में आ गये थे। ए० पी० लेना यद्यपि मैंने वंद कर दिया था, पर मेरा दायाँ फेफड़ा काम न करता था और तेज़ चलने और भागने में मुझे कठिनाई होती थी। कौशल्या ने यू० पी० सरकार से ऋण के लिए आवेदन-पत्र दे रखा था और उसी सिलसिले में उसे लखनऊ जाना था। मेरा छोटा लड़का नीलाभ तब चार एक साल का था।

यों तो लखनऊ को सुबह भी गाड़ी जाती है और रात को भी, लेकिन सवेरे वाली नौ बजे इलाहाबाद से छूटती है और रात वाली सुबह पाँच बजे लखनऊ पहुँचाती है और कौशल्या चूँकि सुबह साढ़े आठ बजे तक सोने की आदी है, अतः उसके लिए दोनों गाड़ियाँ सुविधाजनक नहीं। वह शाम चार बजे वाली पैसेंजर से जाना पसंद करती है। गाड़ी तो वह रात को दस बजे लखनऊ पहुँचाती है, लेकिन कौशल्या के मामा वहाँ रहते हैं, तार दे दिया जाता है और किसी तरह की असुविधा नहीं होती

मैं भी उस गाड़ी से दो-तीन बार गया हूँ, लेकिन चूँकि वह गाड़ी सात नंबर के प्लेटफ़ार्म से छूटती है, जो मेन गेट से काफ़ी दूर है, इसलिए मैं हमेशा समय से पहले पहुँचा हूँ और मुझे कभी कठिनाई नहीं हुई। लेकिन कौशल्या चली तो अपनी आदत के अनुसार उसने देर कर दी। हम पुल पर ही थे जब दूर सात नंबर पर खड़ी गाड़ी ने सीटी दे दी। कौशल्या हसब-आदत सरपट भागी। गुड्डा (नीलाभ) मेरी अंगुली पकड़े तेज़-तेज़ चल रहा था। चंद क़दम वह मेरे साथ भागा, फिर रोने लगा। उसे मैंने गोद में उठा लिया और कौशल्या के पीछे भागा —और मेरी याद के पर्दे पर वह दृश्य सदा के लिए अंकित हो गया—दूर गाड़ी सीटी दे रही है। कौशल्या आगे-आगे भाग रही है। उसके पीछे कुली बिस्तर और अटैची लिये भाग रहा है और मैं रोते हुए बच्चे को उठाये उनके पीछे भाग रहा हूँ...उसी तेज़ी से हम पुल की सीढ़ियाँ उतरते हैं और उसी क्रम से प्लेटफ़ार्म-दर-प्लेटफ़ार्म भागते चले जाते हैं।...गाड़ी सरकने लगती है जब कौशल्या पिछले डिब्बे में सवार हो जाती है। कुली भागकर बिस्तर और अटैची उसे दे देता है। वह बिस्तर पीछे खींच लेती है और गुड्डे के लिए हाथ बढ़ाती है। कुली गुड्डे को मुझसे लेकर, भागता हुआ, उसकी बाँहों में दे देता है और वह छाती से लगाकर चूमती हुई उसे पापा को 'टा-टा करने के लिए कहती है। हाथ हिलाते दोनों नज़रों से ओझल हो जाते हैं। मैं क्रोध के मारे चुपचाप उन्हें कुछ क्षण देखता, हाथ हिलाता रहता हूँ, फिर गाड़ी के निकल जाने पर कुली को पैसे देकर वहीं (अपने कपड़ों की परवाह किये बिना) प्लैटफ़ार्म के फ़र्श पर बैठ जाता हूँ।

...कुछ ऐसे विशेष अवसरों को छोड़कर जब कहीं मुझे अकेले जाना हुआ और मैं शोर मचाकर घंटा-आध-घंटा पहले स्टेशन पर जा बैठा, मुझे एक भी ऐसा मौक़ा याद नहीं जब कौशल्या कहीं अकेले गयी और ऐसे अफ़रा-तफ़री में नहीं चढ़ी। जबसे ख़ुसरो बाग़ रोड के इस बँगले में आये हैं, वह और भी बे-परवाह हो गयी है, क्योंकि यहाँ टेलिफ़ोन की सुविधा भी है और यहाँ से स्टेशन भी बिलकुल

नज़दीक है। गाड़ी स्टेशन पर आ गयी हो तो भी हम घर से चलकर सवार हो सकते हैं और इस बात ने उसे और भी निश्चित बना दिया है। अपने बंद फेफड़े के बावजूद पुल पर से सात नंबर के उस प्लेटफ़ॉर्म पर भागते हुए जाने की उस घटना के बाद मैंने उसकी लाख इच्छा के बावजूद, उसके साथ जाना छोड़ दिया है। उसे कहीं अकेले जाना हो तो मैं अपने लड़कों अथवा कौशल्या के भाइयों या फिर दफ़्तर से किसी को उसे गाड़ी पर सवार कराने भेज देता हूँ। बाद में आकर वे सविस्तार बताते हैं कि कैसे उन्होंने मम्मी या बहनजी या बहूजी को गाड़ी में चढ़ाया। मेरी समझ में कभी नहीं आता कि इस तरह अफ़रा-तफ़री में चढ़ने की बजाय पाँच-दस मिनट पहले स्टेशन पर पहुँच जाने में क्या बुराई है।

गाड़ी में कौशल्या सदा ऐसे ही सवार हुई है, लेकिन उपरोक्त तीन दृश्य इसलिए मुझे याद रह गये हैं कि उन तीनों में काफ़ी खतरे की संभावना थी। और अब भी जब मुझे उनकी याद आती है तो वे ख़तरे जो नहीं पेश आये, पर आ सकते थे, मेरी कल्पना में कौंध जाते हैं और मेरा ख़ून खौल उठता है।

लेकिन कौशल्या के यात्रा पर रवाना होने का केवल यही एक पहलू नहीं। कई बार ऐसा भी हुआ है कि स्टेशन के रास्ते में सहसा उसे याद आया है कि वह ताश का पैकेट या पान की डिबिया या बाथरूम स्लीपर या सुराही या कोई और ऐसी ही मामूली चीज़ घर भूल आयी है और उसने वहीं से अपने बेटे या भाई या माली या नौकर को दौड़ा दिया है। मुझे दो-एक ऐसे भी मौक़े याद हैं, जब उसने स्टेशन पर पहुँचकर या गाड़ी में सवार होकर किसी मामूली-सी चीज़ के लिए आदमी को घर दौड़ाया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि घर स्टेशन के नज़दीक होने से प्रायः चीज़ आ भी गयी है, लेकिन मुझे सदा निहायत कोफ़्त हुई है और मैं कभी समझ नहीं पाया कि क्यों सब चीज़ें पहले से सँभालकर नहीं रख ली जातीं? इस तरह अफ़रा-तफ़री में चलने से किसी-न-किसी चीज़ का छूट जाना नितांत स्वाभाविक है। लेकिन मेरे लिए जो बात असाधारण है, कौशल्या के लिए वही सहज है।...उसके मामा सदा फ़र्स्ट में यात्रा करते हैं। सीट पहले से सुरक्षित होती है और वे गाड़ी के रवाना होने से एक मिनट भी पहले पहुँच जायें तो सवार हो सकते हैं। बीमारी के कुछ वर्षों को छोड़कर हमने प्रायः थर्ड में ही यात्रा की है, लेकिन कौशल्या थर्ड में भी फ़र्स्ट वालों की तरह यात्रा करती है, जबकि मैं फ़र्स्ट में भी थर्ड वालों की तरह यात्रा करता हूँ और हमेशा समय से कुछ पहले स्टेशन पर पहुँचता हूँ। यही हममें अंतर है।

कौशल्या के साथ यात्रा करने का एक और पहलू भी है और उसकी याद आ जाने से मुझे कम खिझलाहट या घबराहट नहीं होती।

...मुझे जनता से दिल्ली जाना है। चूँकि काम के आधिक्य के कारण दिन

और तारीख़ का निश्चय नहीं हो सका, इसलिए सीट रिज़र्व नहीं करायी जा सकी। कौशल्या स्वयं स्टेशन जाती है। वहाँ हमारे एक परिचित बाबू हैं। ज़रा-सी भी गुँजाइश हो तो सीट दिलवा देते हैं। वे कहते हैं, 'आपने देर कर दी। इलाहाबाद का कोटा चुक गया है। आप गाड़ी पर ज़रा पहले आ जाइयेगा तो कोशिश कर देखेंगे।' कौशल्या को परम विश्वास है कि सीट ज़रूर मिल जायेगी और वह यही तय करती है कि गाड़ी पर चांस लेंगे।

लेकिन मैं गाड़ी पर चांस लेने का ज़रा भी कायल नहीं हूँ। मैं कहता हूँ, 'भगवान के लिए तुम इतना करो कि बीस मिनट-आध घंटा पहले स्टेशन पर पहुँचा दो। सीट मैं अपने-आप ले लूँगा।'

और मैं सुबह से ही शोर मचाना शुरू कर देता हूँ। घंटा भर पहले तैयार हो जाता हूँ। कौशल्या ने चाय नहीं पी। मैं स्टेशन पर उसे बढ़िया चाय पिलाने का वादा करता हूँ और गाड़ी के आगमन से काफ़ी पहले स्टेशन पर पहुँच जाता हूँ। कुली को उस जगह सामान ले जाकर रखने का आदेश देता हूँ, जहाँ अगले डिब्बे आकर रुकते हैं। वहीं बिस्तर और ट्रंक पर बैठे बड़े मज़े से चाय पीते हैं। गप लगाते हैं। ज्योंही गाड़ी दूर स्टेशन में दाखिल होती दिखायी देती है और एकदम सब लोग उठ खड़े होते हैं, मैं भी उठता हूँ। कुली से केवल बिस्तर उठाने को कहता हूँ और आदेश देता हूँ कि मेरी ओर ध्यान रखे और मैं जिस डिब्बे में सवार होऊँ, भागकर मुझे बिस्तर पकड़ा दे। और यह कहकर मैं अगली पंक्ति में जा खड़ा होता हूँ। गाड़ी अभी हरकत में होती है कि मैं उचककर एक डिब्बे में सवार हो जाता हूँ और उतरने वालों की भीड़ को चीरता हुआ एक ख़ाली सीट पर जा अधिकार जमाता हूँ यानी अपना बैग वहाँ रख देता हूँ। कुली बिस्तर ले आता है और इससे पहले कि कोई सीट पर कब्ज़ा करे, मैं बिस्तर बिछा लेता हूँ और तकिये निकालकर आराम से लेट जाता हूँ—प्रतीक्षा करता हूँ कि कुली दूसरा सामान ले आये। जब काफ़ी देर तक कोई नहीं आता तो मैं ज़रा चिंतित होकर उठता हूँ, खिड़की से झाँकता हूँ और देखता हूँ कि पुश्शी—कौशल्या का छोटा भाई—भागा आ रहा है।

'जीजाजी, उधर बहनजी ने स्लीपर में सीट ले ली है।'

और वह गाड़ी के डिब्बे में आ जाता है।—'उठिये, उठिये! गाड़ी चलने वाली है।'

'मुझे नहीं जाना स्लीपर में। देखो, कितनी अच्छी सीट मिल गयी है। तुम जाकर सामान यहीं ले आओ।'

लेकिन दूसरे क्षण कुली के पीछे-पीछे कौशल्या स्वयं दाख़िल होती है। 'उठिये, उठिये! उधर स्लीपर में सीट मिल गयी है।'

मैं भुनभुनाता रह जाता हूँ। मेरी कोई नहीं सुनता। बिस्तर फिर गोल किया जाता है और कुली के सिर पर लदवाये भागमभाग हम गाड़ी के लगभग दूसरे सिरे पर लगे स्लीपर डिब्बे में पहुँचते हैं। डिब्बा ठसाठस भरा है, साँस तक

लेनी मुश्किल है। बड़ी कठिनाई से सीट तक पहुँचते हैं, मिडिल की सीट मिली है। उस वक़्त विस्तर बिछाने का सवाल ही नहीं पैदा होता। मुश्किल से बैठते हैं कि गाड़ी सीटी दे देती है।

सब उतरने को भागते हैं। कोई बात नहीं हो पाती। बेटे गाड़ी के साथ भागते हुए खिड़की में से हाथ मिलाते हैं। पुश्शी दूर से नमस्ते कहता है। कौशल्या साथ-साथ चलती हाथ हिलाती है और अपनी विजय पर मुस्कराती है।...रात को जब एक बार उठता हूँ तो भूल जाता हूँ कि मिडिल की सीट पर लेटा हूँ। माथा ऊपर की सीट से फूट जाता है और मैं कौशल्या की इस तत्परता को दुआएँ देता हूँ...

लेकिन यह उन दिनों की बात है, जब आतिश जवान था और चलती गाड़ी के डिब्बे में चढ़कर सीट पर अधिकार जमाने की शक्ति रखता था। धीरे-धीरे उमर और बीमारी ने मुझे इस काबिल नहीं रखा और मैंने सीट लेकर देने का काम बीवी-बच्चों पर छोड़ दिया है। और वे लोग जैसे सीट लेकर देते है, उससे मुझे यात्रा के नाम ही से वहशत होने लगती है। इसी सिलसिले में वर्षों पहले का एक सफ़र मेरी आँखों में घूम जाता है :

...मुझे अकेले ही दिल्ली जाना है, सीट हस्व-दुस्तूर अनिश्चय के कारण बुक नहीं करायी जा सकी और गाड़ी पर चांस लेने ही की बात है। बावजूद मेरे शोर मचाने के, कोई पहले तैयार नहीं हुआ। गाड़ी के आने में कुछ ही मिनट शेष हैं। इधर रिक्शों पर सामान लद रहा है, उधर कौशल्या चाय पी रही है और मुझ पर ज़ोर दे रही है कि मैं भी एक गर्म-गर्म प्याला पी लूँ। ऐसे में चाय की इच्छा तो तो दूर रही, खाने का समय हो तो मेरी भूख तक सूख जाये।...गाड़ी स्टेशन में दाख़िल हो रही होती है जब हम प्लेटफ़ॉर्म पर पहुँचते हैं। अगले या पिछले डिब्बे में जाकर सीट लेने का सवाल ही नहीं उठता। मैं बड़े लड़के से कहता हूँ कि जो भी डिब्बा सामने पड़े, उसी में सामान रख दे। कौशल्या परिचित बाबू के फ़िराक में चली जाती है। मेरा लड़का डिब्बे में दाख़िल भी हो जाता है, लेकिन इस डर से कि सामान फिर उतरवाना न पड़े, पुश्शी मुझे जाने से रोक देता है। कौशल्या का कहीं पता नहीं चलता। सब उसकी प्रतीक्षा करते हैं और सामान वहीं पड़ा रहता है। कुछ देर के बाद वह दूर से बाबू के साथ आती दिखायी देती है और हमारे पास से तेज-तेज निकल जाती है। हम लोग कुली के साथ उसके पीछे-पीछे स्लीपर डिब्बे तक जाते हैं। हमारा परिचित बाबू कंडक्टर के साथ काफ़ी देर बहस करता है और कौशल्या भी आगे बढ़कर उससे अनुरोध करती है, लेकिन कुछ नहीं हो पाता। हमें देर हो गयी है, इलाहाबाद में ख़ाली होने वाली सीटें भर चुकी हैं। गार्ड की सीटी सुनायी देती है। मेरा लड़का सीट छोड़कर आ चुका है। हम सामान के साथ डिब्बों के आगे से गुज़रते जाते हैं, लेकिन कहीं जगह दिखायी नहीं देती। तभी इंजिन चीख़ मारता है और मैं जो भी डिब्बा सामने पड़ता है, उसी में सवार

हो जाता हूँ। डिब्बा ठसाठस भरा है। कहीं सीट ख़ाली दिखायी नहीं देती। वहीं दरवाज़े में ट्रंक-बिस्तर रखवाता हूँ कि गाड़ी हरकत में आ जाती है—सामान कौशल्या सदा काफ़ी साथ कर देती है। चलती गाड़ी में सामान आये जाता है और मैं एक के ऊपर एक वहीं अंबार लगाये जाता हूँ। बात करना तो दूर, 'टा-टा' करने का भी अवसर नहीं मिलता। मैं किसी तरह सामान को वहीं ठीक-ठाक जमाकर, ट्रंक और बिस्तर के ऊपर चढ़कर टाँगे नीचे लटकाये जा बैठता हूँ। कानपुर में सिर्फ़ इतना होता है कि बैठने की सीट मिल जाती है और मैं छोटा-मोटा सामान सीटों के बीच में कर लेता हूँ, लेकिन ट्रंक-बिस्तर उधर लाने की सुविधा नहीं मिलती। सर्दियों के दिन हैं। मफ़लर से सिर-कान लपेटे, उस पर हैट लगाये, ओवरकोट से शरीर अच्छी तरह ढंके, बैठे-बैठे रात गुजार देता हूँ—यह भी डर है कि कहीं आँख लग गयी और कोई दरवाज़े से बिस्तर-ट्रंक लेकर ही चंपत हो गया तो क्या होगा।

और यों धीरे-धीरे मेरा यात्रा पर निकलना कम हो गया है। कहीं जाने के ज़िक्र ही से मुझे वहशत होने लगी है। कहीं जाना होता है तो दिनों पहले मेरी नींद हराम हो जाती है। कौशल्या मेरा मज़ाक उड़ाती है, मैं कुछ नहीं कह पाता। ग़ालिब का शेर दोहराना चाहता हूँ :

'या रब वो न समझे हैं न समझेंगे मेरी बात'

लेकिन नहीं दोहराता, इसलिए कि ग़ालिब कौशल्या को भी याद है। मैं यह पंक्ति पढ़ूँगा तो वह दूसरी पढ़ देगी और बात वहीं-की-वहीं रह जायेगी।

उपेन्द्रनाथ अश्क

दिसंबर 1964

लेखकों की समस्याएँ : व्यष्टि और समष्टि

व्यष्टि और समष्टि—व्यक्ति और समाज—कहानी-लेखन के संदर्भ में एक को हटाकर मैं दूसरे की कल्पना नहीं कर सकता। आदमी जिस क्षण आँख खोलता है, देखने-सुनने लगता है, बाहर होने वाले कार्य-व्यापार को वह अपने मन के आईने पर प्रतिबिंबित करके देखता है। देखने वाला, सुनने वाला, और उस देखे-सुने को अपने मन में ग्रहण करने और मस्तष्क की तुला पर तौलकर उसे फिर बाहर पाठकों को संप्रेषित करने वाला व्यक्ति ही है, सो उसके बिना कथा नाम की रचना असंभव है। तब प्रश्न उठता है—क्या समाज के बिना कथा संभव है ? मेरे ख़याल में—नहीं। **संसार में नितांत अकेला आदमी कहानी लिख सकेगा, इसमें मुझे संदेह है।** हो सकता है, अपने थके, ऊबे अथवा दुखी मन को बहलाने के लिए वह गुनगुनाने या पशु-पक्षियों के संग नाचने लगे, पर वह कथा लिखेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं।

कथा कहने के लिए सुनने अथवा पढ़ने वाले की अपेक्षा है। यह ठीक है कि कहानी रचने वाला लेखक व्यक्ति होता है। यह भी सच है कि ऐसा वह प्रायः अपने मन के सुख के लिए या फिर व्यष्टि अथवा समष्टि की किसी समस्या के भार से मुक्त होने के लिए करता है। (केवल धन के लिए लिखने वाला मेरी बहस के दायरे से बाहर है।) लेकिन इस बात की अपेक्षा कथाकार को ज़रूर रहती है कि उसके लिखे को दूसरा सुने अथवा पढ़े। जलयान के नष्ट हो जाने के बाद निर्जन द्वीप में नितांत अकेले रह जाने पर, ज़िंदगी का साथ बनाये रखने के लिए रॉबिसन क्रूसो ने और जो कुछ भी किया हो, उन्होंने कहानियाँ नहीं लिखीं। क्रूसो के रचयिता ने अपने नायक को ऐलेग्ज़ैंडर सेलकर्क नामक एक नाविक के जीवन से लिया था, जो अपने कप्तान से लड़कर एक निर्जन द्वीप में चार वर्ष और चार महीने रह गया था। अपने अकेलेपन को भुलाने के लिए, उन कुछ पुस्तकों को, जो उसके पास थीं, उसने बार-बार पढ़ा। कुछ समय बाद जब उसके पास बंदूक के कारतूस ख़त्म हो गये, उसने केवल हाथों के बल शिकार करना और नंगे पैरों हिरनों ऐसा तेज़ भागना सीख लिया। उसने जंगली बकरियों को पकड़ा। उन्हें सधाया। अपनी ऊब के क्षणों में वह गाता-गुनगुनाता भी था और पालतू बकरियों

के साथ नाचता भी था, पर धीरे-धीरे पेट की समस्या उसके लिए सर्वोपरि हो गयी और लिखना तो दूर रहा, जब चार वर्ष बाद एक जलयान ने उसे देखा और उसे सभ्य संसार में वापस लाया गया तो उसकी स्थिति जंगली पशुओं से भिन्न नहीं थी। वह सभ्य समाज के तौर-तरीके और खाने-पीने का स्वाद तक भूल गया था।

कभी जब मैं आलोचनाओं में 'व्यष्टिवादी' अथवा 'समष्टिवादी' शब्द पढ़ता हूँ तो मुझे हँसी आती है, क्योंकि आज कोई कहानी शत-प्रतिशत व्यक्तिवादी अथवा समष्टिवादी नहीं होती। आलोचकों ने कहानियों के प्रमुख स्वरों को जनाने के लिए ये शब्द गढ़ लिये हैं और उन्हीं अर्थों में यहाँ मैं उनका प्रयोग भी करूँगा। परम व्यक्तिवादी कहानी पर समाज का, लेखक के अपने परिवेश का, कोई प्रभाव या दबाव नहीं होता—मैं ऐसा नहीं मानता और न ही परम समष्टिवादी कहानी लेखक-व्यक्ति के चिनन-मनन के प्रभावों अथवा परिणामों से मुक्त होती है। मुझे तो ऐसा लगता है कि **कहानी विधा ही व्यक्ति के चिंतन-मनन पर समाज के उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव और दवाव का परिणाम है।**

समाज का यह प्रभाव या दवाव व्यक्ति पर दो तरह से पड़ता है। कभी प्रत्यक्ष और कभी परोक्ष। कभी सीधा और कभी टेढ़ा। कभी सकारात्मक और कभी नकारात्मक। समष्टिवादी रचनाएँ मेरे ख़याल में तब लिखी जाती हैं, जब समाज को स्वीकारते हुए, लेखक उसे बेहतर बनाना चाहता है और इसके लिए स्पष्ट और अस्पष्ट संकेत देता है। और व्यक्तिवादी तब, जब अपने जीवन अथवा समाज के दबाव के कारण वह समाज-विमुख हो, उपेक्षा से या क्रोध से या आभिजात्यि-सुलभ अहं के कारण अंतरोन्मुख हो जाता है।

वे अंतरोन्मुख व्यक्तिवादी रचनाएँ समाज के बिना संभव हैं, मैं ऐसा नहीं मानता और कई बार जब लेखक सामाजिक परिवेश के अंदर घुटते हुए व्यक्ति-मन में झाँकता है तो वे रचनाएँ सीधी समष्टिवादी रचनाओं की अपेक्षा समाज पर ज़्यादा करारा व्यंग्य करती हैं और व्यक्ति तथा समाज को समझने में अधिक सहायता देती हैं।

आज के संदर्भ में लेखक के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह अपने दिनों-दिन भ्रष्ट और खोखले होते समाज का क्या करे?—उसके प्रभावों और दवावों से कैसे जूझे? क्या वह इस समाज का, जिसमें कि वह रहता है, हू-ब-हू चित्रण करे? क्या इस संबंध में उसकी कोई प्रतिबद्धता है? अथवा वह उससे विमुख होकर अपने में रम जाय? या फिर उससे भागकर आत्मा और परमात्मा, जीवन और मृत्यु अथवा ऐसे ही शाश्वत सत्यों के उद्घाटन की उस चिरंतन खोज में लग जाये, जो मानव को सदा अपनी ओर आकर्षित करती रही है?

समाज के सीधे प्रभाव और उसके चित्रण का सरल और सीधा रूप प्रेमचंद के यहाँ मिलता है। प्रेमचंद समाज के प्रति पूर्णतः प्रतिश्रुत थे और उन्होंने अपने उपन्यासों

और कहानियों में समाज का वर्णन ऐसे कथाकार के नाते किया, जो समाज को आदर्श की ओर ले जाना चाहता है। जब ज़िंदगी के आख़िरी दिनों में उनका मोह भंग हुआ और उन्होंने यथार्थवादी आँखों से जीवन को देखना शुरू किया, तो भी वे समाज-विमुख नहीं हुए। उन्होंने उसके यथार्थ का चित्रण करने का प्रयास किया और अपने उपन्यास 'गोदान' में ही नहीं, अपनी कहानियों—'कफ़न', 'बड़े भाई साहब', 'नशा', 'मनोवृत्तियाँ', आदि में व्यक्ति और समाज के यथार्थ का चित्रण किया। उसी ज़माने में प्रसाद ने व्यक्तिमूलक कहानियाँ लिखीं। अपने ज़माने के समाज को न लेकर उन्होंने इतिहास को कुरेदा। प्रेमचंद ने जहाँ यथार्थ को समष्टि-सत्य की कसौटी पर परखा, वहाँ प्रसाद ने वास्तव को व्यक्ति-सत्य के धरातल पर आँका। (आदर्शोन्मुख दोनों रहे।) क्या काव्य, क्या नाटक और क्या कहानी, प्रसाद ने अपने ज़माने को प्रायः नहीं छुआ, जबकि प्रेमचंद ने यदि इतिहास से भी कोई कथानक अथवा पात्र लिया तो उसे भी अपने ज़माने की समस्याओं के समाधान का माध्यम बनाया।

एक ही नगर में, एक ही काल में रहने के बावजूद इन दोनों लेखकों की दृष्टि में इतना अंतर क्यों रहा? यदि हम इस प्रश्न की गहराई में जायें तो हमें मालूम होगा कि :

लेखक के जीने का उसके लेखन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। वह जैसे जीता है, जिस दृष्टि से जीता है, ज़िंदगी से उसकी जो आकांक्षा है, उसी के अनुसार उसका लेखन ढलता है।

जिस आदमी ने ज़िंदगी में वास्तविक संघर्ष नहीं देखा, वह महज़ कल्पना से उस संघर्ष का चित्रण नहीं कर सकता।

अपनी एक कोठरी को जलता देखकर आदमी जो महसूस कर सकता है, वह दूसरे के सारे भवन को जलते देखकर नहीं कर सकता।

ज़िंदगी को लिखने के लिए ज़िंदगी का सीधा संपर्क ज़रूरी है।

प्रेमचंद ने इसीलिए समाज का चित्रण किया कि उन्होंने ज़िंदगी भर समाज का सीधा संपर्क पाया। बचपन से लेकर निरंतर घोर संघर्ष किया और उसी मे समाप्त हो गये। नौकरी और अपनी स्वतंत्रता में उन्होंने स्वतंत्रता को चुना। सुख-आराम की ज़िंदगी के मुकाबिले में अनवरत संघर्ष की ज़िंदगी को अपनाया। फ़िल्मी दुनिया में गये तो वहाँ रह नहीं पाये। ऐसा आदमी ही वह लिख सकता था, जो प्रेमचंद ने लिखा। प्रसाद को उस तरह का कमरतोड़ संघर्ष नही करना पड़ा। संपन्न व्यापारी घराने में पैदा हुए। प्रतिभा-संपन्न थे, इसलिए अपनी अवकाश की घड़ियों में पढ़ते-लिखते थे। जीवन से सीधा संपर्क न होने से कल्पना के सहारे लिखते रहे, इसीलिए उनकी दृष्टि सामाजिक सत्यों की ओर नही गयी, व्यक्ति-सत्यों की ओर ही गयी। अथवा यों कहा जाये कि आरोपित व्यक्ति-सत्यों अथवा काल्पनिक व्यक्ति-सत्यों की ओर गयी। चूँकि समाज और व्यक्ति का प्रेमचद जैसा

उनका अनुभव नहीं था, इसलिए सारे सौंदर्य और आदर्श के बावजूद उनके पात्र कठपुतलियों से लगते हैं, हाड़-मांस के नहीं लगते। उनकी भाषा भी कृत्रिम है। व्यष्टि-सत्य का निरूपण उनके यहाँ होता है, पर जिस माध्यम से होता है, वह विश्वसनीय नहीं लगता। एक आलोचक ने लिखा है कि प्रसाद कवि थे और प्रेमचंद गद्यकार, इसीलिए प्रेमचंद के यहाँ विचार का पुट अधिक है और प्रसाद के यहाँ भाव का। मेरा विनम्र निवेदन है कि उस जीवन के साथ, जो प्रेमचंद ने जिया और उस संघर्ष के साथ, जो उन्होंने किया, यदि वे कविता लिखते तो उसमें भी समष्टि-मूलक तत्व आ जाते और वे अपनी कविताओं में भी समाज ही का चित्रण करते। इसके विपरीत प्रसाद ने गद्य लिखा तो उसमें भी कल्पना ही का सहारा लेते चलते रहे। **प्रसाद के लिए लेखन शौक था और प्रेमचंद के लिए जीवन।**

प्रसाद के बाद यदि काव्य-क्षेत्र में एक ओर महादेवी, पन्त और अज्ञेय और दूसरी ओर निराला को लें तो हम इस बात को और भी अच्छी तरह समझ सकेंगे। प्रसाद से छायावादी काव्य को उत्तराधिकार में पाकर, यदि पन्त और महादेवी उसे नहीं छोड़ सके और अज्ञेय छोड़कर भी 'आँगन के पार द्वार' में फिर उसी थाती से आ चिमटे तो इसीलिए कि ये तीनों संपन्न वर्ग में पैदा हुए। वैसा कोई दुख-दैन्य उन्होंने नहीं देखा। बाह्य जीवन तो दूर, पन्त और महादेवी ने गृहस्थ जीवन तक का निजी संपर्क नहीं पाया और अज्ञेय घर बसाकर भी 'छड़े[1] उठायी पूंछड़ी गया सौदाई हो' वाली पंजाबी कहावत को चरितार्थ करते रहे। संतान संबंधी सुख-दुख और संघर्ष उन्होंने नहीं देखा और कुँवारों की तरह लगातार देश-विदेश घूमते रहे।

इन सबसे बरअक्स निराला ने जीवन का कटुतम संघर्ष देखा और इसलिए उन्होंने छायावाद के छद्मतापूर्ण प्रभाव से निकलकर अपने काव्य में समष्टिगत तत्वों का समावेश किया। उनके काव्य में यदि क्लिष्ट संस्कृतनिष्ठ भाषा मिलती है तो सरल रोज़मर्रा की भी। उनके गद्य की भाषा बहुत सरल है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' की भाषा तो हिंदी-गद्य-साहित्य में अनूठी है। लघु उपन्यासों में उसका अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यह और बात है कि पेशेवर आलोचकों ने उस सशक्त कृति की ओर ध्यान नहीं दिया। अपनी बेटी की मृत्यु पर निराला जैसी कविता लिख सके, अपनी समस्त कल्पना-शक्ति और शब्द-सौष्ठव के बावजूद महादेवी अथवा पन्त अथवा अज्ञेय नहीं लिख सकते। महादेवी के चुप हो जाने और अध्यात्म के सागर में पन्त और अज्ञेय के डूबने अथवा अनुभव की धरती के बदले चिंतन के आकाशों में विचरने का भी यही कारण है। पन्त चूँकि जागरूक कवि हैं, इसलिए भावना के स्तर पर नहीं तो बौद्धिक स्तर पर उन्होंने अपने काव्य में समष्टिगत

---

1. छड़ा = कुँवारा = बे-पत्नी का = अकेला।

तत्वों का समावेश किया है। अज्ञेय ने भी प्रगतिशील दौर में वैसी समष्टिगत बौद्धिक कविताएँ लिखीं। महादेवी ने शुरू में 'श्रृंखला की कड़ियाँ' और 'अतीत के चलचित्र' में जरूर कुछ समष्टिगत तत्वों को लिया, लेकिन यह बहुत पुरानी बात है। (ये तीनों उत्कृष्ट कवि हैं और मैंने उनके काव्य में बहुत रस पाया है, पर यहाँ व्यष्टि तथा समष्टिवादी दृष्टियों का ज़िक्र है और उसी संदर्भ में मैंने यह बात कही है।)

यह समानता यहीं ख़त्म नहीं हो जाती। कथा-क्षेत्र में बरकरार नज़र आती है। यशपाल का जीवन देख लीजिये और फिर जैनेन्द्र और अज्ञेय का तो तत्काल मालूम हो जाता है कि यशपाल यथार्थवादी ही हो सकते थे और जैनेन्द्र और अज्ञेय समाज-विमुख व्यक्तिवादी ही। जैनेन्द्र जीवन-यापन के लिए शुरू ही से सेठाश्रयी रहे और प्रकाशन शुरू करने से पहले अपनी आय को वे गर्व से 'आकाश वृत्ति' कहते रहे। प्रकाशन जमाने में भी उन्हें साधारण प्रकाशक का-सा संघर्ष नहीं करना पड़ा कि अपनी किताबों का बैग लिये हुए वे शहर-शहर और दुकान-दुकान घूमते और जीवन-संघर्ष से उनका सीधा वास्ता पड़ता। कांग्रेस और मंत्रियों से अपने संपर्कों के कारण अपनी पुस्तकों की ख़रीद में उन्हें कभी कठिनाई नहीं हुई। अज्ञेय अपने आभिजात्य को बरकरार रखने के लिए जैसी ही बड़ी नौकरियाँ पाने और वैसा ही जीवन जीने का प्रयत्न करते रहे। क्रांतिकारी दल में वे भी शामिल हुए, पर यशपाल की तरह देश की गुलामी से प्रताड़ित होकर नहीं, अपने अहं की संतुष्टि और अभिजातवर्गीय 'एडवेंचर' के शौक को पूरा करने के लिए ही। समाज से सीधा संपर्क उनका कभी नहीं रहा। इसलिए चाहने पर भी उसके लिए यशपाल (या अश्क) जैसी कहानियाँ लिखना असंभव था।

यहीं जिज्ञासु पाठक के मन में एक दूसरा प्रश्न उठता है। इन बड़े लेखकों की बात छोड़िये, वह कहता है, आज अगणित ऐसे लेखक हैं, जो निम्न-मध्य वर्ग से उठे हैं, जिन्होंने भूख और बेकारी देखी है, पर जो घोर व्यक्तिवादी कहानियाँ लिखते हैं। इनमें कुछ की कहानियाँ यदि जैनेन्द्र या अज्ञेय की तरह व्यक्तिवादी नहीं, तो प्रेम-चंद और यशपाल की तरह समष्टिवादी भी नहीं। और वह पूछना चाहता है कि ऐसा क्यों है? कुछ में तो अजीब-सी वीभत्सता का चित्रण है। मेरा ख़याल है कि इसका कारण देशी और विदेशी प्रभावों और दवावों के कारण विकुंचित हो जाने वाला नये लेखकों का जीवन तथा उसकी विकुंचित दृष्टि ही है। यदि पुराने लेखकों का संपर्क समाज के साथ सीधा नहीं था तो आज के इन लेखकों का भी वैसी नहीं रहा। यदि वहाँ अपनी अभिजातवर्गीय रुचियों के कारण जीवन से पलायन था, तो आज के अधिकांश नितांत नये लेखकों में, एक ओर बाहर से आने वाले फ़ैशनों के कारण और दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर समाज के आदर्शच्युत हो जाने की घोर वितृष्णा के फलस्वरूप अपने परिवेश से पलायन है। इसी कारण वे समाज-विमुख

यहीं एक और बात की ओर मैं पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। प्रेमचन्द-जैसी सीधी-सपाट कहानियाँ आज लिखना संभव भी नहीं। स्वयं उनकी कहानियों में 1935-36 के करीब व्यक्तिमूलक तत्व आ गये थे...'कफ़न', 'नशा', 'बड़े भाई साहब', मैं व्यष्टि-समष्टिगत दृष्टियों का कुछ अजीव-सा मिश्रण है। मुझे स्मरण है कि उन्हीं से प्रभावित होकर स्वयं मैंने सीधी-सपाट कहानियाँ लिखना छोड़ दिया था और मेरी कहानियाँ 'डाची', 'मनुष्य—यह', 'अंकुर' और 'पिंजरा' उसी ज़माने की याद हैं और बाद में इन दोनों दृष्टियों का समावेश मेरे सारे साहित्य में रहा; और आज भी 'आकाशचारी', 'मरना और मरना' और मेरी ताज़ा कहानी 'अजगर' तक में यह विद्यमान है।

प्रगतिशील आंदोलन के उरूज का-सा जोश और सीधी दृष्टि आज नहीं है। बीसवीं काँग्रेस में ख्रुश्चोव द्वारा स्तालिन-युग के ज़ुल्मों से पर्दा उठाने और भारत-चीन विवाद तथा हाल ही में रूस द्वारा पाकिस्तानी 'ब्युरोक्रेसी' के समर्थन ने उस दृष्टि को बुरी तरह धुँधला दिया है और नये लेखकों को तमाम दुर्गुणों के बावजूद हमारा 'प्रजातंत्र' अच्छा लगता है। लेकिन जब उसके अधीन होने वाले देशव्यापी भ्रष्टाचार और मूल्यो के विघटन की ओर निगाह जाती है तो नये लेखक के लिए वैसी आस्था-भरी कहानियाँ लिखना असंभव हो जाता है और वह अंतरोन्मुख होकर व्यक्तिपरक कहानियाँ लिखता है। लेकिन इस बात की दाद नये लेखकों को देनी पड़ेगी कि उनकी व्यक्तिपरक रचनाओं में भी प्रसाद या जैनेन्द्र के जैसे झूठे पात्र नहीं, न अज्ञेय के पात्रों जैसे ठंडे। उनमें अनुभूति की आग है और जहाँ सत्य पश्चिम से उधार लिया गया या आरोपित नहीं—अनुभूत है—वहाँ पात्र विश्वसनीय हो गये हैं और कहानी का आधारभूत विचार निश्तर-सा सीने में उतर जाता है। दूधनाथसिंह की कहानी 'रीछ' अथवा ज्ञानरंजन की 'संबंध' या फिर सुदर्शन चोपड़ा की 'सड़क दुर्घटना' में जिस तीव्र अनुभूति का स्पर्श मिलता, है वैसी अनुभूति जैनेन्द्र अथवा अज्ञेय की गत दस वर्षों में लिखी किसी रचना में हो तो वह मेरी नज़र से नहीं गुज़री। पाठक ध्यान से इन नयी कहानियों को पढ़ेंगे तो पायेंगे कि ऐसी अनुभूति-बहुल कहानियाँ वैसी व्यक्तिवादी भी नहीं रहतीं, जैसी प्रसाद या जैनेन्द्र या अज्ञेय की। उनमें समष्टिगत तत्व आपसे-आप आ जाते हैं और वे तत्व समाज की उस व्यवस्था अथवा धारणाओं में परिवर्तन की माँग करते हैं, जो व्यक्ति के मन में ऐसे अँधेरे गर्त पैदा करती हैं, जिनमें समाज का अंग होते हुए भी व्यक्ति-जीवन क्षय-ग्रस्त हो रहा है और पुराने संबंध टूट रहे है। ऐसी कहानियों में परोक्ष रूप से समष्टिगत तत्व अभिव्यंजित रहते हैं। मेरा यह निश्चित मत है कि **कल्पना के बल पर किसी व्यक्ति-सत्य का उद्घाटन करने के बदले, जो कथाकार अनुभूति के बल पर किसी व्यक्ति-सत्य का उद्घाटन करता है, वह समष्टि-सत्य के तत्व अजाने भी कहानी में ले आता है।** फ़ादर इमेज़ (father-image)

के टूटने और बनने के व्यक्ति-सत्य को लेकर सारिका के ताज़ा अंक[1] में छपी वेदी की अद्वितीय कहानी 'सिर्फ़ एक सिगरेट' मेरे कथन का प्रमाण है। नये कथाकारों में भीमसेन त्यागी की 'एक और विदाई' तथा 'ज्ञानोदय' के अप्रैल अंक में छपी उसकी 'शमशेर', रवीन्द्र कालिया की 'बड़े शहर का आदमी' और महेन्द्र भल्ला की 'कुत्तेगीरी' ऐसी ही कहानियाँ हैं।...ज्ञानरंजन की उपरोक्त कहानी 'संबंध' ही को लीजिये। सरसरी नज़र से देखने पर यह घोर व्यक्तिवादी और कुछ स्थलों पर (जहाँ पर लड़का माँ के प्रति वितृष्णा दर्शाता है और भाई की मृत्यु की कल्पना करता है और उसकी प्रस्तावित आत्महत्या को उचित करार देकर सुख पाता है) बेतरह चौंकाती और मन में जुगुप्सा उपजाती है, पर ज़रा गहराई में जाने पर क्या यह उस समाज और उस परिवार के प्रति सोचने पर विवश नहीं करती, जहाँ परंपरागत संबंधों में ये दरारे पड़ गयीं हैं। क्यों पड़ गयी हैं, इसके बड़े सूक्ष्म व्यंग्य-भरे संकेत कहानी में हैं और उन्ही के कारण समष्टिगत तत्व का समावेश लेखक के जाने या अजाने कहानी में हो गया है। यह और बात है कि उन्हें जानने के लिए तनिक गहरे में उतरना पड़ता है। कहानी व्यंग्य दोधारी तलवार-सा काम करता है और अपने परिवार पर ही नही, कहानी का नायक अपने-आप पर भी व्यंग्य करता चलता है। ज्ञानरंजन की अन्य कहानियाँ—'पिता', 'खलनायिका और 'बारूद के फूल', और 'यात्रा'—सभी में यह दोहरा व्यंग्य है। ये सब और ऐसी ही कई कहानियाँ हैं जिन्हें शत-प्रतिशत व्यक्तिवादी नही कहा जा सकता। यहाँ व्यष्टि और समष्टि के सत्य अनुभूति के खरल में पिसकर कुछ ऐसा नया रूप धर लेते हैं कि उन्हें एक नाम दे देना कठिन हो जाता है।

लेकिन नये कथाकारों में ऐसे लेखक न हों, जिनके यहाँ समष्टिगत तत्व अपेक्षाकृत अधिक हैं—ऐसी बात नहीं। गिरिराज किशोर, भीमसेन त्यागी और ज्ञानप्रकाश की कहानियों में समष्टिवादी स्वर प्रखर है। इधर 'आवेश', के प्रवेशांक में सुदर्शन चोपड़ा की उपरोक्त कहानी 'सड़क दुर्घटना' इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। सुदर्शन मुख्यत: व्यक्तिवादी कथाकार हैं, पर उनकी यह कहानी व्यवस्था पर ऐसा करारा व्यंग्य है, जो सीधा दिल में उतर जाता है। यही कारण है कि ज्ञानरंजन की 'यात्रा' के साथ सुदर्शन चोपड़ा की उस कहानी ने पाठकों का ध्यान खींचा। मैंने उस कहानी को दोबारा पढ़ा तो मुझे और भी अच्छी लगी।

आजादी के पहले लेखक का जीवन आज के लेखक से भिन्न था। अपने लिखने का उसे कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था। स्वातंत्र्य-संग्राम ज़ोरों पर था। उसके जोश में आये दिन लोग बड़े-बड़े त्याग करते थे। लेखक भी पैसे के लिए नहीं लिखता था अथवा उसकी उसे चिंता नहीं थी, क्योंकि प्राय: उसे अपने लिखे का कोई पारिश्रमिक नहीं मिलता था और लेखन को कैरियर के रूप में भी लिया जा सकता

---

1. अप्रैल 66

है, यह वह कभी सोचता भी नहीं था। यदि कोई फ़्रीलांसर था भी तो इसलिए कि लिखे बिना रह नहीं सकता था और दूसरे किसी काम में उसका मन नहीं लगता था। पर आज ऐसी स्थिति नहीं। 1947 के पूर्व हमारा समाज अपनी तमाम गंदगी, ग़लाज़त और ग़ुलामी के बावजूद आदर्श के जो सपने देखता था, आज के युवा लेखक ने वे सपने नहीं देखे। उसने जिस समाज में आँखें खोली हैं, या जिसमें जवानी बितायी है, वह उसे नितांत भ्रष्ट, पतनशील और गलघोटू दिखायी देता है और लेखक के लिए उसमें साँस लेना कठिन हो गया है। चूँकि आदर्शवादी का-सा अमर्ष उसके यहाँ नहीं है और आदर्शच्युत हो जाने के कारण, यथा राजा तथा प्रजा के अनुरूप दस दूसरी मसलहतें उसके साथ हैं, इसलिए वह समाज का जस-का-तस चित्रण नहीं कर पाता और जब वह सुनता है कि अमुक या अमुक मंत्री ने कभी बड़ी क़ुर्बानियाँ की थीं तो उसे विश्वास नहीं होता। वर्तमान नेताओं का जीवन उसे निहायत भ्रष्ट लगता है और वह इसे ही मानव की सहज नियति मानता है। इसके अतिरिक्त अधिकांश युवक लेखकों के सामने कैरियर का प्रश्न रहता है—कोई सरकारी और कोई सरकार से अनुदान पाने वाली अर्द्ध-सरकारी संस्था में मुलाज़मत चाहता है। किसी अन्य के सामने किसी सेठ के आश्रय में चलने वाले मासिक, साप्ताहिक अथवा दैनिक की संपादकी या उसमें लिखने-लिखाने और पारिश्रमिक पाने की समस्या है। कोई तीसरा किसी बड़े प्रकाशन-गृह से पुस्तक छपवाना चाहता है। प्रकट ही कैरियर की इन गणनाओं का प्रभाव लेखक की रचनाओं पर भी पड़ता है।...हमारे वर्तमान समाज में चूँकि अधिकांश धाँधली पूँजीवादी व्यवस्था ही के कारण है, जो यह चाहती है कि लेखकों का ध्यान समाज की ओर न जाय, वे अपने में रमे रहें और उन्हीं की पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भारत में बीटनिकों का धुआँधार प्रचार होता रहा है और घोर व्यक्तिपरक रचनाओं को प्रश्रय मिलता रहा है। इन्हीं सब कारणों से नये लेखक समाज के भ्रष्टाचार, चोरबाजारी या दूसरी समष्टिगत बुराइयों का चित्रण नहीं कर पाते—अंतरोन्मुख होकर सेक्स और प्रेम के चीथड़े उधेड़ते हैं। यदि वे संघर्ष-रत नहीं हैं और बड़ी नौकरियों पर प्रतिष्ठित हैं, तो वे आकाशी अथवा वायवी बातें करते हैं अथवा प्रतीकों और बिंबों का सहारा लेते हैं।...यही नहीं, अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए ऐसे सारे लेखक समष्टि के सुख-दुखों, गंदगी और ग़लाज़त का चित्रण करने वालों को झूठे और अपने को 'जेनुइन' लेखक भी कहते हैं, जबकि कुछ अपवादों को छोड़, शेष के पास न सत्य अपने होते हैं, न अनुभव और वे अपने झूठ को छिपाने के लिए सच्चे को झूठा घोषित कर सुख पाते हैं। लेकिन जैसी रचनाएँ वे करते हैं, वे भ्रष्ट समाज अथवा वैसे कमजोर लेखकों के बिना संभव भी नहीं होतीं। इनमें से यदि एकाध कला की दृष्टि से उत्कृष्ट उतरती है, तो शेष का वार नितांत भोथरा साबित होता है।

फिर यों भी होता है कि कोई लेखक दोहरा व्यक्तित्व जीता है। समाज में रहते

हुए, उसने छल-छंद में पूरा योग देते हुए झूठ, दग़ा, फ़रेब, चाटुकारिता, घूसख़ोरी, टुच्चापन, नीचता आदि के दुर्गुण, उसके स्वभाव का अंग होते हैं। लेकिन चूंकि अपने दुर्गुणों के विरुद्ध उसके मन में तनिक भी क्रोध अथवा ग्लानि नहीं होती, इन्हें वह मानव की सहज नियति समझता है और इनका चित्रण करने और इन पर प्रहार करने की जरूरत नहीं समझता (सच्ची बात यह है कि उसे रुचि ही नहीं होती) इसलिए वह यदि पुराना लेखक है तो अपने रचनाकार को इस गंदगी और ग़लाज़त से ऊपर रख, संसृति के रहस्यों अथवा अध्यात्म के ऊँचे आकाशों में ले जाता है और उठते-बैठते ऊर्ध्व चेतना की वात करता है। यदि नया है तो चेतन, अचेतन, उपचेतन और अवचेतन में डूवता-उतराता रहता है। पहली स्थिति में समाज का दबाव उसे धरती से ऊपर उठा देता है, दूसरी में अदेखी-अजानी गहराइयों में गोते खाने को छोड़ देता है। कई आलोचक इसी प्रक्रिया में लिखे जाने वाले साहित्य के संदर्भ में कीचड़ में से कमल निकालने का मुहावरा इस्तेमाल करते हैं, लेकिन **जब जनता के आंदोलन जोर पकड़ते हैं, जब आदमी कैरियरों और नौकरियों की परवाह न करके अपने मन में उठने वाले तूफानों को स्वर देते हैं तो वे सब रचनाएं जो मानव को अपनी स्थिति भुलाती हैं, समाज से विमुख करती हैं, अफ़ीम का नाम पाती हैं।** दिलचस्प बात यह है कि एक ही रचना एक युग में कमल और दूसरे में पोस्त हो जाती है, जब कि उसकी उत्कृष्टता में कोई अंतर नहीं आता। यह समष्टि के दबाव और प्रभाव अथवा उसके अभाव ही के कारण होता है। **मैं उस रचना को बेहतर मानता हूँ, जो दोनों युगों में समान रूप से पढ़ी और पसंद की जा सके।**

समष्टि के संदर्भ में आज के लेखक की समस्या यह है कि वह कौन-सा रास्ता अपनाये ?—क्या विदेशी सरकार के ज़ुल्म-तले पिसने के बावजूद अपना स्वर ऊँचा उठाने में नितांत अशक्त छायावादियों की तरह आत्मा और परमात्मा के रहस्योद्‌घाटन अथवा प्रकृति के सौंदर्य में अपने साथ पाठकों को भुलाये अथवा यथार्थ जीवन के संघर्ष से भागकर सेक्स की 'ऐबेरेशंज़', परवर्शन्ज़' या फिर जिंदगी की सीलन और सड़न का चित्रण कर ज़िंदगी की घोर व्यर्थता को संकेतित करे और पाठकों की आत्मघाती वृत्तियों को उभारे ?

जैसाकि मैंने पहले कहा, हर लेखक हर तरह नहीं लिख सकता। जैसी ज़िंदगी वह जीयेगा, जितने समझौते करेगा, उन्हीं के अनुसार लिखेगा। ऐसे लेखक विरल होते हैं, जो घृणित जीवन जीते हुए भी उसकी आलोचना पूरी निर्ममता से कर सकें। जो न दूसरों को बख़्शें, न अपने-आपको माफ़ करें—**आम लेखक जो समझौते करते हैं, उनका प्रभाव उनकी लेखनी पर पड़ता है।** मेरे सामने ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने लेखक-जीवन का आरंभ विद्रोहियों के रूप में किया। उनकी रचनाएँ पढ़कर लगता था कि उनके विद्रोही स्वर कुछ अत्यंत उच्चकोटि की रचनाएँ देंगे, लेकिन उन्होंने सरकारी नौकरियाँ कर लीं और वे ऐसी चीजें लिखने लगे, जिनसे गुनाह का मज़ा भी आ जाय और हाथ से जन्नत भी न जाये।

...ऐसे लेखक और कवि भी मेरे सामने हैं, जो कभी ज़बरदस्त प्रगतिशील रहे, लेकिन जब ज़िंदगी के संघर्ष में टूटे और ऐसी संस्थाओं की ओर उन्मुख हुए, जिनके यहाँ नौकरी पाने के लिए समाज-विरोधी रचनाएँ उच्चतम सर्टिफ़िकेट थीं, तो उन्होंने निर्द्वंद्व होकर समष्टिवादी मुखौटे उतार फेंके और सरेआम नंगे हो गये। न केवल यह, बल्कि अपने नंगेपन के औचित्य में बड़ी-बड़ी बातें भी करने लगे। भारतीय समाज और उसके चित्रण से विमुख हो, उन्होंने अपने आपको अंतर्राष्ट्रीय मान लिया और पश्चिम के सत्यों को ऐसे ओढ़ लिया, जैसे यहाँ की मिट्टी की गंध ही उन्होंने न पायी हो और वहीं आँखें खोली हों। और आख़िर वहीं पहुँच गये, जहाँ कि पहुँचने की हविस उनके दिल में छिपी थी।

मेरे सामने ऐसे कवि का चित्र आता है, जो जीवन के चालीस-पैंतालीस वर्ष प्रगतिशील कविताएँ लिखता रहा। स्वतंत्र रह सके, इसलिए स्वल्प पर जीवन बिताता, तकलीफ़ पाता रहा और जितने लेखक उससे बेहतर जीवन जीते थे, उन्हें दुकानदार कहता रहा। उस दौर में उसने मज़दूरों के जुलूसों, पार्टी कामरेडों और चीनी और रूसी भाइयों पर कविताएँ लिखीं, लेकिन जब टूटा और दूसरों ने उसे ललचाया तो सीधा गिंज़बर्ग और एम० आर० ए० की गोद से जा गिरा— अब कुंठित प्रेम की, न समझ में आने वाली 'एब्सटैक्ट' चित्र-शैली की कविताएँ लिखता है, जिन्हें भारत में कोई नहीं समझता, लेकिन विदेशों में उनकी व्याख्या की जा रही है। और वह जल्द ही महान कवि घोषित किया जाने वाला है।

लेकिन यहीं एक दूसरा प्रश्न उठता है—क्या लेखक के लिए ज़रूरी है कि वह समाज के प्रति 'कमिटेड' (प्रतिश्रुत) रहे ?

मेरा ख़याल है कि यदि लेखक अपने और अपनी अनुभूतियों के प्रति प्रतिश्रुत है और उसके लिखने का उद्देश्य महज़ पैसा कमाना, अपने लेखन से महज़ चौंकाना अथवा लेखन को अच्छी नौकरी के लिए सीढ़ी बनाना नही है तो वह जो लिखेगा, व्यक्ति अथवा समाज की जिस स्थिति का उद्‌घाटन करेगा, जैसाकि मैंने पहले कहा, उसमें सीधे या प्रकारांतर से सामाजिक तत्व अपने-आप आ जायेंगे। मैं समझता हूँ कि **जो रचना समष्टि अथवा व्यष्टि को जानने-समझने का प्रयास करती है, वह समाज को आगे बढ़ाती है।** जब लेखक अधिकांशतः व्यष्टि-मूलक रचनाएँ लिखते हैं और व्यक्ति की कुंठाओं और निराशाओं, कमज़ोरियों और परेशानियों पर ज़ोर देते हैं, तो जैसाकि मैंने ज्ञानरंजन की कहानी के संदर्भ में बताया, प्रकारांतर से हमें यही बताते हैं कि जिस समाज में व्यक्ति की यह दशा हो गयी है, वह समाज दूषित है, उसे बदलना चाहिए। लेखक सीधे चाहे न कहे, पर यदि वह अपनी अनुभूतियों को सच्चाई और दयानतदारी से चित्रित करता है, उनसे आक्रांत होकर, आंतरिक कचोट से वशीभूत होकर लिखता है तो उसकी रचनाओं का यही प्रभाव पड़ता है।

यहीं एक और प्रश्न उठता है—क्या समाज के प्रति 'कमिटेड' रहे बिना अच्छा साहित्य नहीं लिखा जा सकता ?

मेरा विचार है कि लिखा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि समाज जब उन रचनाओं में अपनी समस्याओं अथवा अपनी उलझनों का प्रतिबिंब देखना चाहे और उसे वह न मिले तो वह उनसे विमुख हो जाये। रीतिकाल की कविता निकृष्ट कविता है, ऐसा कहना शायद ग़लत होगा, पर सामाजिक जागरूकता के युग में उसका महत्व न रह जाने से उसे पढ़ना अथवा उसमें रस पाना कठिन हो गया है। **समाज से कटी महज़ काल्पनिक कहानियों का भी अंततोगत्वा यही हश्र होता है।**

यहीं एक तीसरा सवाल पैदा होता है—क्या समाज की टॉपकैलिटी (Topicality) अर्थात् दैनंदिन होने वाली घटनाएँ और ग्रह-विग्रह ऊँचा साहित्य उपजा सकते हैं ?

साधारणतः यह माना जाता है कि समाज की टॉपिकैलिटी, उसके सीने पर उठने वाली क्षण-भंगुर तरंगें स्थायी रचना के लिए घातक हैं। यही कारण है, कुछ लोग मानते हैं कि युद्ध में अच्छे लेखक चुप लगा जाते हैं। व्यक्तिगत रूप से मैं इसे नहीं मानता। मेरा ख़याल है कि **यदि कोई रोजमर्रा का प्रसंग, बदलते जीवन की कोई सामान्य घटना, लेखक के मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है, उसके मन-मस्तिष्क में रस-बस जाती है, या फिर उसकी अनुभूति का अमिट अंग बन जाती है, तो उसको लेकर लिखी हुई रचना (यदि सधे हाथों से लिखी गयी है तो) मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ने वाली बनेगी।** इसके विपरीत यदि लेखक ने महज़ भावुकतावश अथवा कोरे प्रचार के लिए, बिना उस स्थिति को भोगे, उसे कलम की नोक पर रखा है तो उसका कोई स्थायी प्रभाव मन पर नहीं पड़ेगा।

इसी संदर्भ में मुझे एक रूसी कहानी की याद आती है। दूसरे महायुद्ध की बात है। मॉस्को में छपने वाली मासिक पत्रिका 'सोवियत लिट्रेचर' में (जिसका नाम बाद में शायद 'इंटरनेशनल लिट्रेचर' हो गया) उन दिनों युद्ध संबंधी सोद्देश्य कहानियाँ छपती थीं। अधिकांश कहानियाँ वैसी ही होती थीं, जैसी कि प्रायः प्रचारात्मक टॉपिकल कहानियाँ होती हैं। लेकिन एक कहानी अपनी तमाम टॉपिकैलिटी के बावजूद मुझे आज भी याद है। हालाँकि न मैंने उस लेखक का कभी नाम सुना और न किसी रूसी संग्रह में वह कहानी ही देखी, पर मेरे दिल पर उसका प्रभाव अमिट है और मेरे ख़याल में वह कहानी विश्व-साहित्य की किसी भी महान कहानी के बराबर रखी जा सकती थी।...यूक्रेन का एक हिस्सा नाज़ियों के चंगुल से छुड़ाया गया है। वहाँ कॉन्सेन्ट्रेशन कैंप में एक अफ़सर की

पत्नी मिलती है, जो काफ़ी बीमार है। मिलिट्री अस्पताल में मालूम होता है कि जल्द-से-जल्द उसका ऑपरेशन हो जाना चाहिए। मेजर ऑपरेशन होगा, जिसमें प्राणों का संकट भी हो सकता है। उसका पति सूचना पाकर उसे तत्काल अपने शहर में ले आता है। वह लड़ाई से पहले उसी शहर के थियेटर में प्रसिद्ध अभिनेत्री थी। ऑपरेशन के एक दिन पहले वह अपने पति से थियेटर दिखा लाने का अनुरोध करती है, जहाँ वही नाटक लगा हुआ है, जिसमें वह स्वयं काम किया करती थी। शाम का वक़्त है। मकानों की छतें वर्फ़ से सफ़ेद हैं। सन-शेडों से टपकता पानी धाराओं में जम गया है। उसे वह सब बहुत अच्छा लगता है। वह उस दृश्य से आँखें नहीं हटा पाती। बाज़ार, दुकानें, भीड़—उसे लगता है, जैसे वह उस सबको पहली बार देख रही है। वह थियेटर-हॉल में अपने पति के साथ बॉक्स में बैठी है। सामने वही नाटक चल रहा है, जिसमें वह स्वयं पार्ट किया करती थी। उसकी वाली भूमिका में जो युवती पार्ट कर रही है, वह उसे उस भूमिका के सर्वथा अनुपयुक्त लगती है। वह कौन-सा शब्द ग़लत बोलती है और कौन-सी भंगिमा ठीक से अदा नहीं करती, वह सब नोट करती जाती है। उसकी एक-एक मुद्रा की आलोचना करती हुई वह अपने पति को उसकी त्रुटियाँ बताती जाती है। उसे इस बात का दुख है कि बीमारी के कारण वह फिर कभी उस भूमिका को अदा न कर सकेगी। उसका पति उसे बहुत प्यार करता है। तसल्ली देता है कि वह अवश्य कर सकेगी। उसका ऑपरेशन ज़रूर सफल होगा।...दूसरे दिन उसका पति उसे अस्पताल के ऑपरेशन-हॉल में पहुँचा देता है और स्वयं बाहर बरामदे में बैठ जाता है। ऑपरेशन को दो घंटे लगने वाले थे। इस अवधि के बीत जाने पर एक-एक क्षण उसके लिए भारी हो जाता है। जब चार-साढ़े-चार घंटे के बाद डॉक्टर बाहर निकलता है और अफ़सर की उत्सुकता-भरी निगाहें उसके चेहरे पर जा टिकती हैं, तो डॉक्टर बढ़कर उसका कंधा थपथपा देता है और कहता है—'हम नहीं बचा पाये...बड़ा मज़बूत दिल था...बड़ा मुकाबिला किया...'

अफ़सर वापस मोर्चे पर आ जाता है। उसका साथी उसकी पत्नी का हाल पूछता है तो वह सारा वृत्तांत सुनाता है। साथी संवेदना प्रकट करता है तो वह कहता है—'ऐसा तो रोज़ होता है!'

कहानी का शीर्षक है 'एवरी डे' और इस अंतिम वाक्य के अलावा एक पंक्ति भी उसमें प्रचार की नहीं है। इसके बावजूद वह कहानी युद्ध और उसके अधीन टूटती ज़िंदगियों के प्रति मन में कुछ अजीव-सी करुणा और युद्धोन्मत्त आततायियों के लिए एक भयंकर अमर्ष मन में भर देती है। इसमें युद्ध की टॉपिकैलिटी की ज़द में आये हुए दो व्यक्तियों की अनुभूतियों का इतना प्रामाणिक चित्रण है—सीधा सरल, करुण—कि जब-जब कहीं युद्ध छिड़ा है, मुझे यह सरल-सीधी कहानी याद हो आयी है। इस कहानी के मुकाबिले में द्वितीय महायुद्ध के बारे में ही लिखा हुआ स्तालिन पुरस्कार प्राप्त एलिया एहरनबुर्ग का वृहद उपन्यास 'तूफ़ान' मुझे

वेकार लगता है।

दैनंदिन प्रसंगों पर लिखने वाले के सामने एक समस्या यह भी रहती है कि कई बार 'टॉपिक' तत्काल वदल जाते हैं और विना किसी टॉपिक को मन में रचाये-वसाये लिखने वाले घपले में पड़ जाते हैं। उस वक़्त जब भुट्टो, अयूब और पाकिस्तानियों को हमारे गीतकार और कथाकार गालियाँ दे रहे थे और युद्ध अथवा उसके मोर्चों का कोई अनुभव प्राप्त किये विना, मोर्चों की कहानियाँ लिख रहे थे, ताशकंद समझौता हो गया और उनकी रचनाएँ, जिसमें कोई स्थायी तत्व न था, वेकार हो गयीं। टॉपिकल फ़िल्में वनाने वालों की-सी दशा इन लेखकों की हुई।

अंत में दो-तीन दिलचस्प स्थितियों की ओर मैं पाठकों का ध्यान दिलाना चाहता हूँ। जिस प्रकार 1936 के आसपास प्रगतिशील आंदोलन वड़े ज़ोरों से उठा था, और उसमें वड़े-वड़े व्यक्तिवादियों के पाँव डगमगा गये थे, उसी तरह पिछले कुछ वर्षों में 'नये' का नाम धर 'नयी कविता' की नकल में, व्यक्तिपरक कहानियों का आंदोलन कुछ ऐसे उठा (कारण मैं ऊपर वता चुका हूँ) कि न केवल माने हुए प्रगतिशीलों के पाँव डगमगा गये, वरन नया कहाने के चक्कर में उन्होंने भी वैसी ही व्यक्तिमूलक निरुद्देश्य कहानियाँ लिखीं। कुछ वीच के कथाकार तो ऐसे भटके कि फिर अपनी राह पर आ नहीं सके। लेखकों की ही नहीं, स्वयं प्रगतिशील आलोचकों की दृष्टि भी धुँधला गयी और 'नया' कहाने की प्रतिस्पर्धा में उन्होंने न केवल घोर व्यक्तिपरक कहानियों को सराहा, वरन प्रगतिशील कहानियों की निंदा भी की। ऐसे आलोचकों में नामवर प्रमुख रहे। उन्होंने न केवल निर्मल वर्मा की नितांत व्यक्तिपरक कहानियों में प्रगतिशील तत्व ढूँढ़ निकाले, वरन विष्णु प्रभाकर की ज़वरदस्त और मन पर अमिट प्रभाव छोड़ने वाली समष्टिमूलक कहानी 'धरती अव भी घूम रही है' को फ़ार्मूला कहानी कहकर नकार दिया। बीच के लेखकों में यादव वुरी तरह रपट गये। 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'विरादरी वाहर', 'पास फ़ेल'—जैसी समष्टिमूलक कहानियाँ लिखते हुए उन्होंने 'छोटे छोटे ताज-महल' और 'प्रतीक्षा'—जैसी कहानियाँ लिखीं। उनका ताज़ा संग्रह 'अपने पार' देखता हूँ तो लगता है कि वे वदस्तूर रपटे हुए हैं और अपनी रविश पर पुनः लौटने की उनके यहाँ कोई संभावना नहीं। कमलेश्वर, जिन्होंने 'खोई हुई दिशाएँ' और 'नीली झील' जैसी समष्टिपरक कहानियाँ लिखी थीं, 'दुखों के रास्ते' और जो लिखा नहीं जाता' जैसी कहानियाँ लिखने लगे। श्रीकान्त वर्मा ने लगातार अनुभूतिशून्य कहानियाँ लिखीं। यही नहीं, अपनी मिट्टी तक को नकारकर वे एकदम अंतर्राष्ट्रीय वन गये। मुझे श्रीकान्त वर्मा की मजबूरी समझ में आती थी, लेकिन कमलेश्वर अथवा यादव की नहीं—सिवाय इसके कि नये कहाने के फ़ैशन में वे पीछे नहीं रहना चाहते थे। इधर कमलेश्वर के संबंध में भी यह वात साफ़ हो गयी कि उनके सामने फ़ैशन का नहीं, श्रीकान्त वर्मा की तरह नौकरी का

चक्कर था। सेठाश्रय में जाने के लिए पुरानी रविश को छोड़ना जरूरी था। रहे यादव तो उनकी स्थिति 'न खुदा ही मिला न विसाले-सनम' की-सी हो गयी। वे इन कैरियरिस्टों के पीछे लगकर अपनी रविश से हट भी गये और उनके हाथ भी कुछ नहीं आया।

मैंने इन सब लोगों के वक्तव्य पढ़े हैं और उनमें जो उलझाव है, वह वर्तमान सामाजिक और साहित्यिक स्थितियों में मेरी समझ में आता है। जो बात मेरी समझ में नहीं आती, वह यह है कि क्या कोई सचमुच अपनी मिट्टी को पूरी तरह नकार सकता है?—क्या राजधानी की किसी ऊँची इमारत के वातानुकूलित कमरे में बैठा कोई भावप्रवण, संवेदनशील लेखक यह भुला सकता है कि गाँव या कस्बे में उसका एक घर है और घर में उसके कुछ आत्मीय हैं।...इधर 'पिता' नाम के जीव को लेकर नये लेखकों ने कई कहानियाँ लिखी हैं और इस संबंध के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट की है। पिता को संबोधित कर कई कविताएँ भी लिखी गयी हैं—लेकिन क्या कोई लेखक अपने पिता को, जिसका रक्त उसकी धमनियों में प्रवाहित है, पूरे तौर पर नकार सकता है? वह जो है, बुरा या भला, उसी के कारण है—उसकी स्पर्धा या प्रतिक्रिया में है। फिर क्या हमारे लेखक नहीं जानते कि वे भारतीय निम्न-मध्यवर्ग के हैं और महज़ बौद्धिक आधुनिकता से वे व्यक्तिमूलक या समष्टिमूलक कोई इन्क़लाब बरपा नहीं कर सकते।...मैंने उनको अंध-परंपरावादियों की तरह बच्चे के जन्म पर बीवी को साथ लेकर अलोपी देवी या विन्ध्यादेवी या शीतलादेवी की पूजा को जाते देखा है। बीवी को मित्र से ज़रा हँसकर बातें करते देख, ईर्ष्या से प्राण देते और अपनी तथा उसकी ज़िंदगी दूभर बनाते देखा है। सुहागरात में पत्नी के सामने गर्व से अपने इश्क के किस्से सुनाते और पत्नी को कोई अपना 'अफ़ेयर' सुनाने के लिए कोंचते और उस सरला को अपना कोई किस्सा सुना देने पर अतीव यंत्रणा देकर उसका त्याग करते या उससे गुलामों का-सा बर्ताव करते देखा है। मैंने उन्हें बच्चों को पीटते, अपने विवाह पर दहेज की वांछा करते और दसियों दूसरी ऐसी हरकतें करते देखा है, जो किसी सच्चे आधुनिक लेखक के लिए लज्जाजनक हैं। हमारे अधिकांश लेखक चमड़ी के नीचे वही पुराने भीरु परंपरावादी हैं, जो परम आज्ञाकारिणी बीवी चाहते हैं, बराबर की संगिनी नहीं—बातें करने में चाहे वे सार्त्र और मादाम बोवुआ के जीवन को अपना आदर्श बतायें! यही कारण है कि उनकी अधिकांश कहानियाँ अनुभूतिशून्य और झूठी उतरती हैं।

रहा नया भाव-बोध और विद्रोह, तो कल्पना कीजिये कि कल किसी कारण अचानक सेठों के आश्रय में निकलने वाली सभी पत्र-पत्रिकाएँ प्रगतिशील लोगों के अधिकार में आ जाती हैं। वे अच्छा पारिश्रमिक देती हैं और समष्टिपरक रचनाओं की माँग करती हैं। तब, क्या कोई बता सकता है कि आज के इतने सारे नये लेखकों में से कितने ऐसे नहीं हैं, जो समष्टि के दुख-दर्द का, उसकी गंदगी-ग़लाज़त का, उसके दुराचार या भ्रष्टाचार का, उसकी आस्थाओं और

आदर्शों का चित्रण न करने लगेंगे और जितने ज़ोर से वे आज परंपराओं से एकदम कट जाने का शोर मचा रहे हैं, उससे दुगुने ज़ोर से परंपराओं के साथ अपने जुड़े होने का शोर न मचाने लगेंगे ? आज जो लेखक मजदूरों की पत्तल छोड़कर सेठों के यहाँ चाँदी की थाली अपना बैठे हैं, तब वे उस थाली को छोड़कर बड़ी हुमक के साथ उसी पत्तल पर आ बैठेंगे । मेरा निश्चित मत है कि अधिकांश ऐसा ही करेंगे । जो नहीं कर पायेंगे, वे चुप हो जायेंगे । **एक-दो प्रतिशत ऐसे लेखक होंगे जो सच्चे व्यक्तिवादी होंगे और वे लोग चाहे उन प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं में न छपें, पर लिखते रहेंगे, और अच्छा लिखते रहेंगे ।**

आज की धाँधली में, जब बड़ी शक्तियों का करोड़ों रुपया इसलिए यहाँ खर्च हो रहा है कि देश की एक भाषा न हो और अंग्रेज़ी बनी रहे; जब विदेशों से ढेरों पतनशील साहित्य देश में आ रहा है; जब विदेशों के व्यक्तियों को हमारी सेठाश्रयी पत्र-पत्रिकाएँ लगातार उछाल रही हैं; जब इस देश की परंपराओं को तोड़ने, इसे नैतिक रूप से खोखला करके पूँजीवाद के मुनाफ़े की मंडी बनाने की कोई कसर नहीं उठायी जा रही; जब विदेशी बीटिनिकों के अनुकरण में हमारे नये लेखक गाँजे और चरस के दम लगा रहे हैं और बिना इस बात का ख़याल किये कि यह गर्म मुल्क है, ज़्यादा शराब यहाँ नहीं सुहाती, ऐस्प्रो की गोलियाँ खा-खाकर शराब पी रहे हैं और दो-एक ने तो मिलर के 'ट्रॉपिक ऑफ़ कैंसर' के नायकों की नकल में जान-बूझकर उपदंश तक मोल ले लिया है—ऐसी भारत-व्यापी धाँधली में कुछ ऐसे लेखक ज़रूर हैं, चाहे वे दो-एक प्रतिशत ही क्यों न हों, जो न केवल भारतीय होने का गर्व कर सकते हैं, बल्कि जिन्हें इस मिट्टी से, इसकी संस्कृति से, इसकी परंपराओं से, इसके इतिहास से प्रेम है । पुराने में जो बुरा है, उसकी कटु आलोचना करते हैं, पर उससे एकदम कटना पसंद नहीं करते । जो समष्टि की मूर्खताओं पर चाहे जितना हँस लें या उसकी आलोचना कर लें, पर उससे पीठ नहीं मोड़ सकते । जो आज़ाद होकर और भी गुलाम नहीं हो गये हैं । जिनके दिमाग़ पर दूसरों का अधिकार नहीं और जो सरकारी आश्रय अथवा सेठाश्रय से मुक्त रहकर स्वतंत्र ढंग से सोच सकते हैं । अपनी अनुभूति और अपने चिंतन-मनन की तुला पर तौलकर समष्टि अथवा व्यष्टिपरक कहानियाँ लिख सकते हैं । जिन्हें मानव कहलाने में शरम नहीं, जो समाज के घावों को देखकर उससे मुँह नहीं मोड़ते, वरन उन पर निश्तर लगाने अथवा उनका इलाज सुझाने के अपने बौद्धिक कर्तव्य से नहीं चूकते । लिखना जिनके लिए शौक नहीं, न केवल जीवन-यापन या प्रतिष्ठा या ख्याति का साधन है । लिखना जिनका जीवन है ।...बाहर के पाठक जब भारत को देखना चाहेंगे तो इन्हीं लेखकों की रचनाओं में देखेंगे और आने वाली सदियों में आज के भारतीय समाज का चित्रण यदि कहीं मिलेगा तो इन्हीं लेखकों की रचनाओं में मिलेगा—ऐसा मेरा विश्वास है ।

नयी पुरानी डायरी

अश्कजी ने कभी विधिवत डायरी नहीं लिखी। यह मानते हुए कि छनकर रह जाने वाला ही स्मरण-योग्य है, उन्होंने अपने विपुल अनुभवों को अपनी तेज याद-दाश्त के बल पर अकसर अपनी रचनाओं में ही अभिव्यक्त किया है। इतनी सारी विधाओं में लिखने का एक कारण यह भी हो सकता है। उनकी डायरियों में अगर कुछ दर्ज किया हुआ मिलता भी है तो वह फुटकर विचारों, प्रसंगों, घटनाओं और लोगों के बारे में लिए 'नोट्स' की हैसियत ही रखता है। 'दिनचर्या-मार्का' डायरी अश्कजी ने बहुत कम रखी है—शायद इसलिए कि अपने बेलौस फक्कड़पन से ऐसी बहुत-सी बातें, जिन्हे आम-तौर पर रचनाकार डायरी के पन्नों में लुका-छिपा कर रखते हैं, अश्कजी ने खुले-आम या तो कह दी है या फिर अपने संस्मरणों और साक्षात्कारों में बयान कर दी है। देखा जाये तो उनकी डायरियों में भी यही बात मिलती है—वही बेलाग खुलापन, जो अश्कजी के व्यक्तित्व की विशेषता है। उनकी डायरियों से जो अंश यहाँ दिये जा रहे हैं उनमें से पहला जुलाई-अगस्त 1956 का है, दूसरा 1959 का और शेष फरवरी 1973 का। इनमें से सही अर्थों में 'डायरी' तो केवल फ़रवरी 1973 के अंश को ही कहा जा सकता है, बाक़ी में में तो कहीं अश्कजी का किस्सा-गो मुखर हो उठा है, कहीं उनका संस्मरणकार।

21 जुलाई 1956

मार्लन ब्रांडो की पिक्चर 'वॉटर फ्रंट' पैलेस में लगी थी। हम काफ़ी पहले पहुँच गये, इसलिए मैंने स्वभावानुसार एक रुपया पाँच आना वाले दो टिकट ले लिये और चूँकि जेब में रेज़गारी न होने के कारण रिक्शा के पैसे न दिये थे और कौशल्या वहीं बैठी थी, मैं टिकट लेकर बाहर को लपका—देखा, सीढ़ियों पर, कुछ ही दिन पहले विश्वविद्यालय में नियुक्त होने वाले, एक मित्र खड़े उससे बात कर रहे हैं। परे उनके दूसरे मित्र डटे हैं, जिनमें नये कवि भी हैं, उपन्यासकार भी और आलोचक भी—पर सबसे बढ़कर यह कि सब नये अध्यापक हैं।

'अच्छा भई आप लोग भी आये हैं ?' मैंने दूर ही से पूछा, 'पिक्चर देखने का इरादा है अथवा यों ही सिविल लाइंस में...'

हँसकर उन्होंने कहा कि इरादा तो है।

'किस दर्जे में जा रहे हो ?'

'वही, जिसमें हम जैसे मध्यवित्त के लोग जा सकते हैं।'

वे सदा दो रुपये दो आने वाले दर्जे में जाते थे, इसलिए मैंने पूछा, 'दो रुपया दो आने वाले में ?'

'हाँ।'

'मैंने तो भाई एक रुपये पाँच आने वाले टिकट लिये हैं।'

'तो हम भी उसी में चले आयेंगे।'

'तो मैं सीटें रोकता हूँ। कितने मित्र हैं ?'

उन्होंने गिनकर बताया कि आप छह सीटें रोकिये।

कौशल्या और मैं हॉल में चले गये और हम दोनों दो पंक्तियों में जा बैठे और हमने अपने साथ तीन-तीन सीटें रोक लीं।

तभी जब मैं कुछ क्षण बाद कौशल्या से बात करने के लिए पीछे को मुड़ा तो मैंने देखा कि पिछले दो रुपये दो आने वाले दर्जे में प्रो० ज० अपने गोल-मटोल शरीर के साथ बड़े संतोष से होंठ फैलाये, लुढ़कते चले आ रहे हैं। उनके पीछे उनके अन्य प्रोफ़ेसर मित्र हैं।

दूसरे मिनट हमारे वही मित्र दरवाज़े में नमूदार हुए और उन्होंने मुझसे बात सुनने का संकेत किया। मैं उठकर गया तो उन्होंने कहा—'श्री ज० इस दर्जे में

बैठने को तैयार नहीं। बात यह है कि यहां हमारे छात्र भी आ जाते हैं और...'

'हां, हां मैं आपकी पोजीशन समझता हूँ, आप जाइये, वहीं बैठिये।'

'नही, अब मैं वहां नहीं बैठूंगा। यहां बैठता तो श्री ज० को बुरा लगता, इसलिए मैंने गैलरी का 2 रु० 10 आने का टिकट लिया है। मैं ऊपर जा रहा हूँ।'

और दोनों हाथ मस्तक के ऊपर ले जाते हुए वे मुड़े। मेरे सामने विदेश के अध्यापकों की सूरतें घूम गयीं जो यूनिवर्सिटी के बाहर छात्रों के साथ घुल-मिल जाते हैं।

मैं वापस मुड़ा, सीटें छोड़ दीं और कौशल्या के साथ पिछली सीट पर जा बैठा। तभी न्यूज़ रील शुरू हो गयी।

इंटरवल में कौशल्या ने सहसा कहा, 'वो शायद र० जी बैठे हैं।'

और मैंने देखा—हमसे कई सीटें आगे रेलवे सर्विस कमीशन के चेयरमैन, प्रसिद्ध नेता और लेखक श्री र० अपनी लड़की के साथ बैठे हैं।

'ज़रा भी अभिमान नहीं र० जी में, दो हज़ार रुपये मासिक पाते होंगे पर...' कौशल्या ने कहना चाहा।

'ख़ाली आसमान ही सिर उठाये रहता है', मैंने कहा, 'भरा तो नत हो जाता है।'

26 जुलाई 1956

रिक्शा में प्रेस जा रहा था कि अचानक मिसेज़ बी० की याद आ गयी। क्यों? कारण समझ में नहीं आता। पिछली शाम एक बड़े अफ़सर के यहाँ चाय थी। हम वहाँ गये थे। मिसेज़ बी० यहाँ थीं तो सदा उनकी पत्नी के साथ चिपकी रहती थीं। रिक्शे पर बैठे-बैठे शाम की पार्टी का ख़याल आया तो अचानक मिसेज़ बी० का चेहरा भी आँखों के आगे घूम गया। यह रिक्शा भी अजीब सवारी है। कहीं पहुँचने की जल्दी न हो और मौसम अच्छा हो तो दुनिया-जहान की बातें दिमाग़ में आ जाती हैं।

मिसेज़ बी० सुंदरी हैं और फिर शृंगार के आधुनिक प्रसाधन उनके सौंदर्य को कुछ अजब-सा दहका देने वाला, कुछ आमंत्रण देता-सा गुण प्रदान कर देते हैं, जो दिखाता ज़्यादा है, छिपाता कम है। मुझे यह सौंदर्य पसंद नहीं। पर मेरी पसंद से तो दुनिया के सौंदर्य का हिसाब नहीं होता। सारे शहर में वे सुंदरी प्रसिद्ध हैं।

मुझे उन्होंने एक बार एक नाटक की रिहर्सल पर आमंत्रित किया था। रिहर्सल में देर हो गयी तो उन्होंने वहीं लंच लेने को मजबूर किया।

खाना खाते समय वे आम के अचार की पूरी फांक हाथ समेत मुँह में डाल,

उसे निहायत भद्देपन से चूसती रहीं। मुझे बड़ी कोफ़्त हुई—बड़ी हसीन, पढ़ी-लिखी, सुसंस्कृत युवती को सरे बाज़ार देहातियों की तरह अँगुलियों से चाट खाते देखकर होने वाली उलझन सरीखी। हालाँकि हसीन औरत भी इंसान है, उसे अपनी रुचि के अनुसार खाने का अधिकार है, पर इतने सजे-सजाये ढंग से रहने वाली महिला, जिसके ड्रॉइंग-रूम में पैर रखते समय संकोच हो कि उसका ग़ालीचा या कॉउच मैले न हो जायें, उन पर सिलवटें न पड़ जायें, यदि उस भद्दे ढंग से, हाथ-मुँह में ले जाकर, अचार की गुठली चूसे, तो न जाने क्यों, मन को कुछ धक्का-सा लगता है।—हो सकता है, यह महज़ मेरा पूर्वाग्रह है।

शायद मैं सुंदर, सुसंस्कृत युवती में सब कुछ सुंदर और संस्कृत देखना चाहता हूँ—केवल शारीरिक सौंदर्य और दिखावे की संस्कृति मुझे संतुष्ट नहीं कर पाती।

और यह मैं लिख रहा हूँ, जिसने खाने, पहनने, बोलने में कभी इस शिष्टता अथवा संस्कृति का ध्यान नहीं रखा। पर जो मुझमें नहीं है, शायद उसी की पूर्ति मैं दूसरों में चाहता हूँ अथवा मेरे बाहर के औघड़पन में गहरी सौंदर्यानुभूति छिपी है। यह भी हो सकता है कि कौशल्या के साथ इतने वर्ष गुज़ारने पर मैं यह सब अनजाने सीख गया हूँ।

कल शाम जिन बड़े अफ़सर के यहाँ चाय पी थी, उनकी बीबी भी कलाकार प्रसिद्ध हैं। नाटक लिखती ही नहीं, खेलती और खेलाती भी हैं। कभी अतीव सुंदरी भी रही होंगी—बहुमूल्य कपड़े, बहुमूल्य फ़र्नीचर, सजा-बजा ड्रॉइंग-रूम, बीच में शीशे की मेज में बनी नन्हीं-सी क्यारी में लगे फ़्लॉक्स के रंग-बिरंगे फूल—पहली दृष्टि में कुछ अजीब-सी रौब तारी हो जाता है। तभी चाय शुरू होती है और मैं कुछ क्षण बाद देखता हूँ कि अतिथियों को मिठाई अथवा नमकीन मिला है कि नहीं, उनके लिए दूध अथवा चाय की पूरी व्यवस्था हो गयी है या नहीं, बिना इसकी चिंता किये सब कुछ बैरों पर छोड़, वे एक ओर खड़ी पकौड़े और कोफ़्ते और चॉप्स खाये जा रही हैं—'काश इतने सुरुचिपूर्ण और सुंदर ढंग से रहने वाले, आचरण में भी सुंदर और सुरुचिपूर्ण होते...!'

रिक्शे पर बैठे-बैठे मुस्करा उठा—कौशल्या की शिष्टता और सुरुचि का मैं सदा मजाक उड़ाता रहा हूं और वह मेरे फक्कड़पने का, पर उसे क्या मालूम कि वर्षों तंग, सील-भरे, गंदे, अनपढ़, असंस्कृत वातावरण में रहने वाले इस फक्कड़ के मन में सौंदर्य की कैसी भूख छिपी है—दिखावे के सौंदर्य की नहीं—असली सौंदर्य की।

28 जुलाई 1956

एशियाई लेखक-सम्मेलन की प्रेप्रेट्री कमेटी की बैठक में सम्मिलित होने के लिए दिल्ली जा रहा था।

कानपुर से एक जोड़ा गाड़ी में सवार हुआ। जगह थी नहीं। सो ट्रंक पर बिस्तर लगाकर पति-पत्नी बैठ गये। दोनों युवा, दोनों सुंदर! पत्नी का स्वर भी सुंदर! जब वे खाना खा चुके तो पत्नी ने आदेश दिया कि ताश निकाला जाये। और वे दोनों खेलने लगे। पहले उन्होंने स्वीप खेली, फिर उससे ऊबकर रमी खेलने लगे, फिर तिनपत्ती...

मुझे सदा ऐसे लोगों से ईर्ष्या होती है जो समय को इस आसानी से काट सकते हैं। मेरे पड़ोस में एक अंग्रेज भाई-बहन रहते हैं। दोनों 70 की वयस पार कर गये हैं। भाई रिटायर्ड गार्ड है और बहन 30 वर्ष की उम्र में विधवा हो गयी थी। दोनों गत पंद्रह वर्षों से एक ही मकान मे रह रहे हैं। बहन ने तो खैर मुर्गियां और कई तरह के तोते पाल रखे हैं और उनकी देख-रेख मे व्यस्त रहती है, पर भाई सिवा सुबह पाँच बजे उठकर चाय बनाने के सारा-सारा दिन कुर्सी पर मौन बैठा रहता है, या घंटों बैठा पेशेंस खेलता रहता है—'यह कुछ सोचता नहीं, ऊबता नहीं, उकताता नहीं।'—मैं कभी-कभी सोचा करता हूँ—'मेरे लिए तो एक दिन भी चुपचाप लेट या बैठ सकना कठिन है।'

मैंने आन्द्रे जीद के जर्नल का एक भाग साथ ले लिया था और उसे पढ़ रहा था कि सहसा मैं उस लड़की की हंसी से चौंका और कुछ क्षण को उनका खेल देखने लगा। तब वे स्वीप खेल रहे थे। युवती ने एक अच्छा हाथ खेला तो मेरे होंठों पर मुस्कान आ गयी। खेल ख़त्म हुआ तो उसकी आँखों में कुछ ऐसा भाव आ गया कि यदि मैं भी खेल में भाग ले सकूँ तो बड़ा अच्छा हो। उसने पति को संकेत भी किया। पति के मस्तक पर बड़े हल्के-से तेवर बन गये। मैंने जर्नल आगे कर लिया और इस तरह पढ़ने लगा जैसे आज ही उसे ख़त्म कर लूँगा। पति के संकोच को मैं समझता था।

चार-पाँच घंटों में ऐसा चार-पाँच बार हुआ, लेकिन पति को (जो विलायत हो आया था, और अब कहीं प्रोफ़ेसर था, पर था मेरी तरह जालंधरी) एक अपरिचित को साथ खेलाने का साहस नहीं हुआ।

वे खेलते रहे और मैं जीद के जर्नल को दृष्टि की खुर्पी से छीलता रहा।

29 जुलाई 1956

एशियाई लेखक-सम्मेलन (नयी दिल्ली) में मैं एक दिन और दो घंटे देर से पहुँचा।

हल्की-सी घबराहट में आगे के कॉउच पर जा बैठा। मुल्कराज आनंद भाषण दे रहे थे। कुछ प्रकृतिस्थ होकर पीछे को निगाह दौड़ायी तो सरदार गुरुबख़्शसिंह और चंद्रगुप्त विद्यालंकार के मध्य बेदी को बैठे देखा।

बेदी !—और भाषण एकदम फीका पड़ गया। बेदी मेरा जवानी का दोस्त है। 1938-39 में न जाने कितनी शामें उसके साथ लाहौर में गोल बाग़ और लॉरेंस की सैरों में गुज़ारी हैं। फिर कुछ ऐसा हुआ कि मैं लाहौर से उखड़ा तो प्रीतनगर, दिल्ली और बंबई से होता इलाहाबाद आ गया और उससे बहुत ही कम मुलाकातें हुईं और हर बार ऐसा लगा कि भेंट अधूरी रही।

लाहौर का बेदी पतला, छरहरा, संकोची और सहृदय था। मैंने घंटों उसे अपनी आरंभिक कविताएँ सुनायी और समझायी हैं, क्योंकि वह हिंदी नहीं जानता, और उस ज़माने में लिखी उसकी लगभग हर कहानी सुनी है।

बंबई का बेदी बहुत कुछ देख चुका है। उसका शरीर भर गया है, संकोच दूर हो गया और वह अविश्वास, जो उसे अपनी प्रतिभा के बारे में था, दूर हो गया है।

बेदी से आँखें चार हुईं। उसकी आँखों में उल्लास चमक उठा। मुल्कराज का भाषण...लेकिन हम बहुत देर वहाँ बैठे न रह सके। बरामदे में उठ आये। फिर टैक्सी लेकर पान खाने गये। मैं पान नहीं खाता था। पाठकजी (श्री वाचस्पति पाठक) की बीस वर्ष की मैत्री ने मुझे पान-तंबाकू खाना नहीं सिखाया। पर जब पिछले बरस बेदी कलकत्ता से आते-आते इलाहाबाद में मेरे पास सात दिन ठहरा और मुझे पता लगा कि वह पान खाने लगा है तो चूंकि सतवन्त (मिसेज़ बेदी) को यह पसंद नहीं था, मैं उसे समझाता रहा। पर जब वह चला गया तो मैं भी पान खाने लगा और कौशल्या भी और चूंकि बेदी कहता था बिना तंबाकू के पान खाना गुनाह-ए-बेलज़्ज़त है, हम तंबाकू भी लेने लगे।

पान खाकर हम ने क्वालिटी में लंच खाया (जो हम दोनों में से किसी को अच्छा नहीं लगा—शायद इसलिए कि खाने की अपेक्षा हमारा ध्यान बातों में ज़्यादा था।)

फिर हम 52 कॉन्स्टीट्यूशन हाउस गये, जहाँ बेदी अपने मित्र कलाकार अमरनाथ सहगल के पास ठहरा था। बलवन्त गार्गी भी वहीं था।

बेदी ने इतने लतीफ़े सुनाये, इतना हँसाया कि 'संकेत कांड' और इलाहाबादी मित्रों के कारण दिमाग़ में जो तनाव था, जो कोफ़्त और कुदरत थी—सब एकदम ग़ायब हो गयी और हृदय सुबह की ओस से धुले फूल-सा खिल आया।

हम खाना खाकर लेटे थे कि नौजवान सिक्खों की एक फ़ौज ने धावा बोल दिया। एक सिक्ख जब सवा लाख के बराबर हो तो पाँच—सवा छह लाख के बराबर होंगे। पूरी-की-पूरी सेना—कमरा एकदम भर गया और लगा कि हम अपने तमाम साहित्यिक स्टेचर (stature) के बावजूद सिकुड़ गये हैं।

ये क्वातरा ब्रदर्ज़ थे—फ़िल्म प्रोड्यूसर और डिस्ट्रीब्यूटर्ज़ ! 'दोस्ती', 'पिल-

पिली' और ऐसी ही कुछ हिट पंजाबी फ़िल्में उन्होंने बनायीं थीं—भोंडे हास्य और भोंडी स्थितियों से भरी हुई। उनका कथन था कि जब-जब उन्होंने गंभीर फ़िल्म बनायी है, मार खायी है। बलवन्त गार्गी उनसे बहस करने लगा कि जिसे वे अत्यंत आर्टिस्टिक फ़िल्म समझते हैं, वह उतनी आर्टिस्टिक नहीं।

बहस को एक नाजुक मरहले पर पहुँचा जान, बेदी ने एक लतीफ़ा सुनाया और अभी हँसी बुझी भी न थी कि बेदी ने कहा कि सिक्खों के बारे में लतीफ़े सुनने हों तो सिक्खों से सुनो और सिक्खों में भी कर्तारसिंह साहब से—उसका संकेत छोटे भाई की ओर था, जो सबसे मोटा और लम्बा था। बेदी का यह कहना था कि कर्तारसिंह साहब चालू हो गये और कला और काव्य के सारे झगड़े भूल गये।

एक घंटा गुजर गया और वे अभी तक लतीफ़े सुना रहे थे।

1 अगस्त 1956

दो आने के पान खाने लिए बेदी ने दो-दो रुपये टैक्सी पर दिन में कई बार खर्च किये। मैंने एतराज नहीं किया, क्योंकि बेदी अब क्लर्क नहीं था। फ़िल्मों का सफल कथाकार था और यह फ़िल्म वालों की एक आम अदा है। उसे मद्रास होटल के पान पसंद आ गये थे और दूर-दूर से आकर हमने वहीं से पान खाये। जी भरकर, बल्कि अघाने की हद तक लतीफ़े सुने। मुल्कराज आनंद की कभी न ख़त्म होने वाली बातें (उसका गला ख़राब होने और डॉक्टर द्वारा मुकम्मल आराम के आदेश की सूचना के साथ-साथ) सुनी। रोशन मेनन के घर लंच खाया और मुल्कराज आनद की और भी बातें सुनी। लेकिन किसी की याद नहीं। साफ़ स्पष्ट कोई मूर्ति रूप नहीं ले पा रही। एक भी लतीफ़ा याद नहीं आ रहा। केवल उस महिला की याद आती है, जिसका नाम न जाने क्या सिंह बताता गया था। जिसने मांग बालों के बीचोंबीच निकाल रखी थी और जिसके सामने के दो दाँतों में इतना अंतर था कि जब वह मुस्कराती थी तो अजीब-सी बेबसी उसकी आकृति पर आ जाती थी और जो इन साहित्यिकों के जमघट में इस बात का प्रयास कर रही थी कि उसे भी बुद्धिजीवी समझा जाये!

'क्यों जी, यू० पी० के लोक-गीतों में भी वह बेबाकी है जो पंजाब में?' मुझे निकट पाकर उसने हठात पूछा।

'जरूर होगी। देहात में जज्बे सीधे होते हैं', मैंने कहा, 'बिना सोफ़िस्टीकेशन के। यू० पी० में वैसा क्यों न होगा?'

'जी, वहाँ तो सदा कृष्ण के माध्यम से बात होती है। पंजाब के देहात में लड़कियाँ वैसा धार्मिक सहारा नहीं लेतीं।' उसने कहा।

'कृष्ण शायद उत्तर प्रदेश की देहाती युवती के सामने पंजाब के राँझे से कम नहीं।' मैंने सफ़ाई दी, 'कृष्ण का प्रेमी-रूप ही उसके सामने रहता है और वह अपने को राधा ही समझती है, रुकमिणी नहीं। उसी तरह जैसे पंजाब की हर लड़की अपने को हीर समझती है।'

'पर राँझा तो जी, अवतार नहीं है। कृष्ण तो अवतार हैं। गीत में उनके आते ही धार्मिक भावना आ जाती है। वह सीधा प्रेम भाव वहाँ नहीं रहता। क्या बिना उस सहारे के गीत वहाँ नही है ?' उसने जिज्ञासा प्रकट की।

'जरूर होंगे।' मैंने कहा।

'देखिये न जी, पंजाबी लड़की कहती है—साजन पक्कियाँ नाखाँ, मैं तैनूं की आखाँ—कितना सीधा, स्पष्ट भाव है जी, जवानी के चढ़ाव और उसकी आकांक्षा का !'

और मैं मन में हँसा। कोई नारी किसी पुरुष के सामने (वे दोनों बुद्धिजीवी ही क्यों न हों) यह बंद दोहरायेगी, मैंने कभी न सोचा था। पर वारिस शाह ने ग़लत तो नहीं कहा—'उड़ के चंबड़दा ए इश्क पंजाबनाँ दा—कि पंजाबिनों का इश्क उड़कर चिमटता है।

3 अगस्त 1956

गुड्डी के साथ एक फ़िल्म देखने का प्रोग्राम बना। 'रिवोली' में ब्लड एंड सैंड' लगी थी, 'प्लाज़ा' में एक अन्य स्पेक्टैक्युलर याने दर्शनीय ऐतिहासिक और 'रीगल' में हास्य की पिक्चर ! तय न कर पाये कि ट्रैजेडी देखें या कॉमेडी। ट्रैजेडी मुझे तभी पसंद होती है जब वह ऊँचे दर्जे की हो। 'ब्लड एंड सैंड' बहुत अच्छी फ़िल्म है। आज तक मैंने जितनी फ़िल्में देखी हैं, उनमें मुझे वह सर्वाधिक पसंद है। उसमें न केवल दर्शनीयता है, बल्कि मैंटाडोर के जीवन की ट्रैजेडी भी। यही नहीं, जीवन की इतनी छोटी-छोटी यथार्थताएँ, सूक्ष्मताएँ हैं कि आज पंद्रह बरस बाद भी उसका असर वैसा ही कायम है। लेकिन उसे मैं दो बार देख चुका था।

दूसरी पिक्चर वैसी न थी। दर्शनीय, जैसी कि अधिकाँश ऐतिहासिक फ़िल्में होती हैं, लेकिन बस दर्शनीय, गहरी नहीं ! सो तय किया कि हास्यरस की पिक्चर देखें। एक बार भी खुलकर हँस लें तो ठीक। सो टिकट लेकर रीगल में जा बैठे। पिक्चर अच्छी नहीं थी। हम बातें करते रहे।

गुड्डी गहरी है। शशि की अपेक्षा कहीं गहरी, कहीं गंभीर। शशि पढ़ाई के सब शोर के बावजूद बी० ए० पास करते ही या उससे पहले किसी से शादी कर तीन-चार बच्चों की माँ बन जायेगी।

गुड्डी आई० ए० एस० बन जाय, फ़ॉरेन सर्विस में जाय, लेक्चरर बने, कुछ

भी संभव है। या सब-कुछ छोड़कर किसी अच्छे बहुत धनी लड़के से शादी कर ले। लेकिन शी इज़ कैलकुलेटिंग (वह गणना-प्रिय है।)

शशि पिघली बर्फ़ का उन्मुक्त प्रवाह है, जो पहाड़ की छाती पर दूधिया नदी के रूप में उछलता वह रहा है।

गुड्डी अभी नहीं पिघली। पिघली है तो उसमें अभी बूंद-बूंद पानी टपकता है। ज़िंदगी में वह ज़रूर कुछ वन के रहेगी।

शादी पर बात चली तो बोली—'लव (प्रेम) या मनी (धन)!'

पर वह बच्ची क्या जाने कि सफल वैवाहिक जीवन के लिए इन दोनों से भी ज़्यादा एक चीज की जरूरत है, जिसे 'अंडरस्टैंडिंग' कहते हैं। यदि प्यार-मुहब्बत और धन-वैभव के साथ पति-पत्नी एक-दूसरे की भावनाओं का ध्यान नहीं रखते तो शादी नाकाम रहेगी।

शशि जहाँ भी शादी करे संतुष्ट, प्रसन्न, प्रफुल्ल रहेगी। गुड्डी असंतुष्ट, लेकिन वह असंतोश दीखेगा नहीं।

पिक्चर बहुत अच्छी नहीं थी। हास्य स्थूल था, चाहे फूहड़ नहीं। एक दृश्य था, जिस पर कुछ हँसी आयी। मैं उस हास्य को पसंद करता हूँ जो या शुद्ध हो या सूक्ष्म—शुद्ध, जो हँसा-हँसाकर लोट-पोट कर दे, फिर चाहे वह अतिरंजित ही क्यों न हो, या सूक्ष्म, जो हँसाते-हँसाते रुला दे, जैसे चार्ली चैपलिन की फ़िल्मों का! मीडियॉक्रिटी (mediocrity)मुझे हास्य में भी पसंद नहीं।

इंटरवल में देखा—एक पंक्ति आगे चंद्रगुप्त विद्यालंकार अपनी श्रीमती के साथ बैठे हैं। मन हुआ इधर देखें तो उनसे दो बात करें।

गुड्डी को लगा कि यह बदतमीज़ी होगी। सो चाहे मन बदतमीज़ी करने को उछलता रहा, पर उसकी खातिर चुप बैठा रहा। पिक्चर जब ख़त्म हो गयी तो हम रुक गये कि अगली पंक्ति वाले बराबर आ जायें। गुड्डी चाहती थी कि निकल जायें। पर कोई परिचित मिल जाये और उसे बुलाये बिना मैं निकल जाऊँ, यह कभी नहीं हुआ।

उनकी पत्नी आगे थीं।

मैंने 'नमस्कार' के लिए दोनों हाथ जोड़ दिये।

'आप हमारे यहाँ आये नहीं?'

'कहाँ?'

लेकिन तब तक वे बिना मेरी ओर दूसरी बार देखे आगे निकल चुकी थीं।

तब चंद्रगुप्तजी ने बताया कि दस आदमी बुला रखे थे। दस बजे तक प्रतीक्षा करते रहे, पर मेरे न पहुँचने से उन्हें बड़ी निराशा हुई।

उनकी पत्नी ने जब शिकायत की थी, मैं तभी सोचने लगा था। चंद्रगुप्तजी के बताने पर याद आया कि चार-छह दिन पहले मैंने वेदी के सामने उनके घर डिनर खाने का वादा किया था और उन्होंने कहा था कि बलराज साहनी भी आ रहे हैं। उन्हीं के उपलक्ष्य में उन्होंने डिनर रखा है...

और अचकचाहट में मैंने कहा कि मेरी तबीयत ठीक न थी, मैं नरेश मेहता के के यहाँ पड़ा रहा...

सच्ची बात यह है कि मैं एकदम भूल गया था। इलाहाबाद में हफ़्तों-महीनों मैं कहीं आता-जाता नहीं। दिन-रात काम करता हूँ। कोई प्रोग्राम हो तो डायरी रखूँ। मुझे दिनों का ज्ञान नहीं रहता है—सात दिन पहले कोई प्रोग्राम फ़िक्स करें तो मैं याद नहीं रख पाता। वास्तव में दिन ही मुझे याद न रहा था और इसीलिए मेरे बहाने में ज़ोर न था। दिमाग़ पर एकदम धुंध-सी छा गयी।

मुँह बनाये हुए चंद्रगुप्तजी अपनी बीवी के पीछे चले गये। मैं गुड्डी के साथ 'रीगल' के सामने लॉन की एक बेंच पर जा बैठा। यह मेरी याद को क्या हो गया है! उन्होंने इतनी बार बुलाया, मैं न गया। वे समझेंगे, मैंने जान-बूझकर उनका अपमान किया है। सोचा—उनसे जाकर क्षमा माँग पाऊँगा। तभी चैन मिलेगा।

रात सो नहीं सका।

5 अगस्त 1956

12 बजे 7 क्वीन मेरीज़ एवेन्यू पहुँचा। लंच खाया। शशि नाराज़ थी कि मैं इतने दिन से दिल्ली आया हुआ हूँ, उनके यहाँ क्यों नहीं गया। उसने अंग्रेज़ी में (दिल-चस्प बात यह है कि सीनियर केम्ब्रिज में वह तीन बार अंग्रेज़ी ही में फ़ेल हुई है) मुझसे शिकायत की कि मैं सात दिन से हूँ पहले क्यों नहीं आया? उसकी अंग्रेज़ी बड़ी दिलचस्प है। तेज़ कैंची-सी चलती ज़बान पर जब कोई क्रिया नहीं आती तो वह पंजाबी अथवा हिंदी शब्द को अंग्रेज़ी के ढंग पर बोल देती है...

'हाँ जी', माथे को ज़रा-सा झटका देकर, जिससे उसके माथे की लट आँखों पर आ जाये (मैंने मार्क किया कि चंद्रगुप्त विद्यालंकार की नुपुत्री रेवा की तरह अंततः उसने माथे की लट भी बना ली है। उस लड़की का कैसा प्रभाव इस पर पड़ रहा है। मैं सोचने लगा। लेकिन उसने कुछ भी सोचने नहीं दिया।) बोली, 'यू नेवर बुलाओड मी। यू वेंट टू पिक्चर विद गुड्डी।'

मैंने कुछ कहने को मुँह खोला।

'नाऊ डोंट बहकाओ मी।'

कोई हैरत की बात नहीं कि वह अंग्रेज़ी ही में तीन बार फ़ेल हुई।

नथुने उसके फड़क रहे थे। स्लीवलेस जम्पर और सलवार उसने पहन रखी थी और बाल की लट को वह बड़ी कॉन्शसली आँख पर ले आयी थी।

मैंने उसे समझा दिया कि मैं क्यों नहीं उनके यहाँ जा सका। 'तुम्हारे डैडी की तबीयत ज़्यादा ख़राब हो गयी है', मैंने कहा, 'उन्हें और तुम्हें परेशानी होगी।'

'मैंने इलाहाबाद में जो कहा था कि आई वुड नॉट लेट यू हैव एनी इनकनवीनिएंस !' वह बदस्तूर मुँह फुलाये थी।

'बहरहाल, तुम इस क़िस्से को छोड़ो। आज मुझे चंद्रगुप्त विद्यालंकार के यहाँ ले चलो। मैं उनसे अपनी स्मृति के धोखा दे जाने के लिए माफ़ी माँग आऊँ। वे बहुत नाराज़ हैं।'

'मैं आपके साथ नहीं जाऊँगी।'

'तुम फ़ोन तो कर दो।'

फ़ोन पर उसने कहा कि हम आ रहे हैं।

और मेरी तरफ़ देखकर लाल हो गयी। पर फ़ोन बंद करके कहने लगी कि बस, मैं वहाँ आपको छोड़कर चली आऊँगी।

लेकिन वह मेरे साथ चंद्रगुप्तजी के यहाँ गयी। हाँ, उसका गुस्सा दूर करने के लिए मुझे डिनर पर क्वीन मेरीज़ एवेन्यू रुकना पड़ा।

26 दिसंबर 1956

रात देवजी के यहाँ डिनर था। भाभी और '—जी' विशेष रूप से आमंत्रित थे। देवजी के और उनके कार्यालय में इधर कुछ तनाव आ गया था और चूँकि उसे दूर करने में किंचित मेरा भी हाथ था, इसलिए देवजी ने उन्हें डिनर पर बुलाया तो हमें भी बुला लिया।

भाभी के अंदाज में वही पुरानी शान और दिखावा था—अपना कीमती ओवरकोट उन्होंने विलायत में कहाँ से और कितने में खरीदा, इसका ब्यौरा, कोट के रोओं पर हाथ फेरते हुए, वे बड़ी सरपस्ती से कौशल्या को देती रहीं—और '—जी' के स्वर में वही पुराना व्यंग्य और तानेकशी। वे अपने व्यंग्य के तीर मौका मिलने पर निरंतर मुझ पर छोड़ते रहे।

इधर जब से मैंने सुना है कि मेरा स्वीकृत और अधछपा लेख उन्हीं की राय से रोका गया था और उन्होंने धमकी दी थी कि यदि लेख फिर आगे छपना शुरू होगा तो वे त्यागपत्र दे देंगे—मैं बराबर यह सोचता रहा हूँ कि उनके आक्रोश का क्या कारण है। क्योंकि बिना किसी आंतरिक चुभन के, कोई व्यक्ति अन्याय के पक्ष में वैसा हठ नहीं कर सकता, विशेषकर जब वह अन्याय किसी मित्र के प्रति हो रहा हो।

ज़िंदगी के इस लम्बे और रंगा-रंग सफ़र में मैंने पाया है कि किसी आदर्श के पर्दे में मित्र जब मित्र का अहित करता है तो उस विरोध के पीछे प्रायः व्यक्तिगत द्वेष, ईर्ष्या, आहत, अहं अथवा हृदय के गुह्यतम स्तर में अनायास पैदा हो

उठने वाली नफ़रत ही रहती है—यद्यपि वह सब आदर्शों और मान्यताओं के इंद्र-जाल में दिखायी नहीं देता।

परसों सुबह एशियन राइटर्स कॉन्फ्रेंस की बैठक में मुझे उनके आक्रोश के कारण का पता चल गया। मीटिंग ख़त्म होने पर सहसा वे सामने पड़ गये तो मैंने कहा कि इधर आप बहुत दिनों से इलाहाबाद नहीं आये। तब पट से उन्होंने मेरे मुँह पर दे मारा, 'आयें क्या, तुम तो आते को चाय भी नहीं पूछते।'

मैं चौंका—दिमाग़ पर ज़ोर डालने पर भी मुझे वैसा अवसर याद नहीं आया, जब मेरे घर में उनकी ऐसी अवमानना हुई हो। मुझे तो यही स्मरण है कि जब-जब वे मेरे यहाँ आये, उनके स्वागत-सत्कार में मैंने अपनी बिसात से कुछ ज़्यादा ही किया...पहली बार जब वे मेरे यहाँ आये थे (याने मेरे यहाँ ठहरे थे, क्योंकि इलाहाबाद तो वे पहले भी कई बार आये होंगे) तो मैंने एक बड़ी पार्टी दी थी... फिर एक बार रात के दस बजे उन्होंने ब्रांडी पीने कीं इच्छा प्रकट की (वे प्रायः ब्रांडी साथ रखते हैं, लेकिन तब शायद उनका स्टॉक ख़त्म हो गया था) तब अपने बुड्ढे आयरिश मालिक-मकान को जगाकर दुकानें बंद हो जाने के बावजूद उसके साथ जाकर मैं उनके लिए ब्रांडी की बोतल ले आया...वे सुबह पाँच बजे चाय पीते हैं और हम आठ बजे उठने के आदी हैं. पर जब-जब वे मेरे यहाँ ठहरे, कौशल्या सुबह पाँच बजे उठकर उनके लिए स्वयं चाय तैयार करती रही...ऐसी कई बातें मेरे दिमाग़ में घूम गयीं।

लेकिन जब मैंने इस तथ्य की ओर उनका ध्यान खींचा तो उन्होंने पटाख से सव्यंग्य कहा, 'वह तभी तक था, जब तक तुम्हें मुझसे काम था।'

'काम ! क्या काम ? मेरा कौन-सा काम आपसे अटका था ?'

लेकिन वे हँसकर टाल गये कि मैं मज़ाक भी नहीं समझता।

मीटिंग ख़त्म होने के बाद कुर्सियों के पीछे से दीवार के साथ-साथ वे दरवाज़े की ओर बढ़ रहे थे कि हमारी मुठभेड़ हो गयी थी। वहीं खड़े-खड़े क्षण भर में यह अभियोग वे मुझ पर लगा गये। मैं न जाने कहाँ जाने का, किससे मिलने का प्रोग्राम बनाकर गया था, पर उनके पास से निकल जाने पर कहीं और जाने के बदले घर लौट आया।

'बड़ी जल्दी आ गये।' कौशल्या ने कहा। वह यद्यपि मेरे साथ ही कॉन्फ्रेंस के दिनों में दिल्ली आयी हुई है, पर हर रोज़ विज्ञान-भवन नहीं जाती।

मैंने उसे सारी बात बता दी।

'मैंने टाला था।' सहसा उसने कहा, 'आप उस शाम वहाँ नहीं थे। वे उस बार हमारे यहाँ नहीं. लूकरगंज में ठहरे थे और अपनी 'उसी' के साथ मिलने आये थे, मैं सिविल लाइंस को जा रही थी, इसलिए चाय को नहीं पूछ सकी। और फिर जिस तरह वे हमारे यहाँ बैठकर व्यवहार करने लगे हैं, वह मुझे पसंद नहीं।

कौशल्या की बात सुनकर मैं चुप हो गया। वास्तव में '—जी' की एक दूर के रिश्ते की लड़की इलाहाबाद में उन दिनों रहती थी। तब वे प्रायः इलाहाबाद

आया करते थे। उससे मिलने जाते थे। वह भी आती थी। एक-दो बार उसने हमारे यहाँ खाना भी खाया। फिर एक बार ऐसा हुआ कि वह डिनर को भी रह गयी। '—जी' डिनर से पहले थोड़ी-सी लेते हैं। उन्होंने वोतल निकाली और उससे ढालने को कहा। उसने निःसंकोच ढाल दी। वे कुछ ज़्यादा पी गये और कुछ मुखर भी हो गये।

कौशल्या को पहले तो उस वक्त, जब वे पी रहे थे, उस लड़की का वहाँ बैठना बुरा लगा, फिर '—जी' को शराब ढालकर देना अखरा और तव उस हल्के मूड में जो दो-एक मज़ाक उन्होंने किये, वे खल गये। उसका चेहरा तमतमा गया। वह जाने क्या कहने आयी थी। तिनतिनाती हुई किचन में चली गयी और फिर नहीं आयी।

[वास्तव में '—जी' के और कौशल्या के संस्कारों में अंतर है। वे अपने यहाँ जब पीते हैं तो भाभी प्रायः उनका साथ देती हैं। मेरे यहाँ मित्र कभी पियें तो कौशल्या उस समय तक कभी नहीं आती, जव तक मित्र पी-पिला न चुकें।

सच्ची बात कहूँ तो मुझे उस शाम कुछ वैसा बुरा नहीं लगा। मेरे पिता तो किंचित नहीं, काफ़ी पीते थे, पूरी-की-पूरी बोतल खाली कर देते थे और पीकर जाने क्या-क्या वाही-तबाही बोलते और '—जी' ने उस दिन जो मज़ाक किये होंगे, वैसे तो मैं विन पिये ही कर देता हूँ। लेकिन कौशल्या मुझे कोई वैसा सभ्य अथवा शिष्ट नहीं समझती। उसका अपने आपको हम लोगों से कहीं ज़्यादा सभ्य और शिष्ट समझना मुझे अखरता तो है, पर इस संवंध में कुछ किया नहीं जा सकता।]
वहरहाल, चूँकि वह बुरा मान गयी, मैं उठकर उसके पीछे रसोईघर में गया और मैंने उसे समझाया भी, पर उसका (और जब वाद में बात चली तो भैरव का भी) यह कहना था कि यह सब होटलों में होना चाहिए और उनका क्रोध मुझ पर था कि मैं क्यों इन वातों को प्रश्रय देता हूँ। अब बात यह है कि जैसे मैं उनकी बात कौशल्या को नहीं समझा सकता, कौशल्या की उनको नहीं समझा सकता। बात इतनी नाज़ुक है कि कौशल्या और भैरव के ज़ोर देने पर भी मैं कभी उनसे नहीं कह सकता। जिस मित्र को हम इतना मान देते आये हैं, जिसकी इतनी आव-भगत करते आये हैं, उससे कैसे यह सब कहें? वह स्वयं संकेत समझ ले, तव दूसरी वात है।

पर '—जी' कोई साधारण अतिथि तो नहीं थे और कौशल्या में अपने भावों को छिपाने की क्षमता नहीं, मन में जो होता है उसके चेहरे पर झलक आता है। उन्होंने कुछ समझा तो, पर उसके आक्रोश और मेरे उखड़ेपन (awkwardness) का जो कारण उन्होंने सोचा, उस पर मुझे हँसी भी आयी और खेद भी हुआ। काम उनसे मुझे क्या निकालना था। अपने वंवई के प्रवास में जव एक दिन गिर-गांव के 'हिंदी ग्रंथ रत्नाकर' से उनकी पुस्तकों का सेट ले आया था तो मुझे उनकी कुछ रचनाएँ वड़ी अच्छी लगी थीं, और मेरे मन में उनसे मिलने, उन्हें अधिक जानने की इच्छा थी। वैसा ही कुछ स्नेह-भाव उनके प्रति था, जो अपने प्रिय

लेखक के लिए होता है। चूँकि उमर में वे मुझसे पाँच-छह बरस बड़े हैं, इसलिए मैंने अपने यहाँ अपने बड़े भाई की तरह उनका सत्कार किया है। काम यदि उन्होंने मेरा कुछ किया भी तो 1949 ही में, जब हम अल्मोड़ा में पहली बार मिले और वापसी पर मैं उनके यहाँ गया। उसी सौहार्द से कृतज्ञ होकर तो मैं अपनी बिसात से बाहर उनकी आव-भगत करता रहा।

देवजी के घर उन्होंने जहाँ और कई व्यंग्य मुझ पर किये, वहाँ दूसरों को सुनाकर यह भी पूछा, 'सुना है तुमने अपना कहानी-संग्रह 'बैंगन का पौधा' राजस्थान के कृषि विभाग में यह कहकर ढाई सौ में बेच दिया कि वह कृषि संबंधी पुस्तक है।'

हठात् समझ में नहीं आया कि मैंने कब ऐसा किया। जब मैं राजस्थान के दौरे पर गया था तो 'बैंगन का पौधा' छपी भी न थी। और जब छपी थी तो मैं नहीं, कौशल्या दौरे पर गयी थी।

तभी मुझे वह घटना याद हो आयी, जो कौशल्या ने राजस्थान के दौरे से आकर मुझे सुनायी थी। वह जोधपुर में थी जब श्री देवराजजी उपाध्याय के एक छात्र श्रीगोवर्द्धन उसे लेकर अपने कॉलेज में गये थे। टीचर्स रूम में उन्होंने कौशल्या का परिचय सभी अध्यापकों को दिया और उनसे हमारी कुछ पुस्तकें ख़रीदने की प्रार्थना की। तब कृषि विभाग के अध्यापक सहसा बोले, 'वहनजी, हमने तो अश्कजी की पुस्तक 'बैंगन का पौधा' पहले ही अपने विभाग की लायब्रेरी के लिए ख़रीद ली है।

बात इतनी-सी है। कौशल्या ने तब वह कई जगह सुनायी भी थी और अध्यापक महोदय की समझ पर हम लोग हँसे भी थे। दो-तीन वर्ष में उसका यह रूप बन गया और '—जी' जैसे उपन्यासकार-मित्र ने उस पर विश्वास भी कर लिया। लेकिन स्नेह गुण खोजता है और विरोध दुर्गुण। अब यदि उनसे कोई कहे कि अश्क ने अमुक जगह चोरी की है तो न केवल वे विश्वास कर लेंगे, वरन उसका प्रचार भी करेंगे। उनकी बात से मैं चौंका तो, पर चूँकि उनकी तकलीफ़ का पता परसों सुबह चल गया था, इसलिए मैंने उनकी बात रद्द नहीं की। बल्कि हँसकर कहा, 'ढाई सौ नही भाई, पाँच सौ। मैंने तो 'बैंगन का पौधा' की पाँच सौ प्रतियाँ राजस्थान के कृषि विभाग के लिए बेची थीं।'

और वे बड़े प्रसन्न हुए (कि मेरे चरित्र के बारे में उनकी सूचना ठीक ही निकली और वे आज तक बड़े भ्रम में रहे) ज़ोर से ठहाका मारकर हँसे और बोले, 'यार, तुम सच कहते हो, तुम जैसा फ्रॉड हिंदी में दूसरा नहीं।'

6 फरवरी 1973

सवेरे ठंड में तेज़-तेज़ बरामदे में घूमते हुए उपन्यास के बाइसवें परिच्छेद की रूप-रेखा बनायी। फिर मन-ही-मन उपन्यास के इस खंड की भूमिका लिख डाली। फिर मन कुछ अजीब-सी आत्म-करुणा से भर आया। यह भी क्या ज़िंदगी है! इधर महीनों से यही क्रम है। सुबह-शाम बरामदे में आध-पौन घंटा (लगता है पागलों की तरह) तेज़-तेज़ घूमता हूँ। फिर दिन के डेढ़-दो बजे तक काम करता हूँ। दोपहर को घंटा-सवा-घंटा सोता हूँ। फिर मेज़ पर बैठ जाता हूँ। शाम को खाने से पहले आधा घंटा तेज़-तेज़ घूमता हूँ। रात को ग्यारह बजे आँखें झपकने लगती हैं।

आजकल धूप में घूमने को, मित्रों में (समय की चिंता से मुक्त) गप्पें लगाने को बड़ा जी होता है।

सोचा कि यह उपन्यास लिखने के किस चक्कर में फँस गया। इसने तो मेरी ज़िंदगी वीरान कर दी। यही सोचकर कि शेष ज़िंदगी ऐसे ही बीतेगी, मन बहुत उदास हो आया। दूसरा कोई चारा नहीं, क्योंकि कुछ नहीं लिखता तो शेष कुछ अच्छा नहीं लगता।

7 फरवरी 1973

रात बारह बजे सोया था, सुबह पौने पाँच बजे जग गया। आँखों में ज़रा भी नींद नहीं और भूख लगी थी। कॉफ़ी का प्याला बनाया। दो बिस्कुटों के साथ लिया। थोड़ी देर कमरे में घूमा, फिर बाथरूम गया और मुँह-हाथ धोकर मेज़ पर जा बैठा और जो काम रात नहीं हो सका था—याने 21वें परिच्छेद की पहली टंकित प्रति को पुनः एक नज़र देखना—उसे पूरा किया। यही नहीं, 22वें का पहला पृष्ठ लिख लिया। इतने में साढ़े आठ बज गये। नाश्ते की गुहार हुई। काम बंद करके चला गया।

कौशल्या चाहती थी, कल बसंत है, जाकर टुक्कू की हजामत बनवा लाऊँ, पर मैं नाश्ते के बाद मेज़ पर बैठ गया।

साढ़े 9 बजे दूधनाथ का फ़ोन आया। हिंदी परिषद की मीटिंग है, तीन बजे। पाँच दिन की दाढ़ी बढ़ी थी, बाल भी बहुत बढ़ गये थे। टुक्कू को ले गया। हजामत बनवायी—क्रिकेट के मैच की कमेंट्री सुनते हुए। विश्वनाथ ने 113 तथा दुर्रानी ने 73 रन बनाये। आकर नहाया।

1 बजे दोपहर तक उपन्यास लिखता रहा। खाना खाते वक़्त बंबई में होने वाले क्रिकेट टैस्ट मैच की कमेंट्री सुनता रहा। इंजीनियर और वाडेकर डटकर खेल रहे थे। वहीं रेडियो के पास बैठा रहा। सोया भी नहीं। क्रिकेट के टैस्ट मैच जब होते हैं, बहुत समय नष्ट कर जाते हैं। लेकिन मैच देखने की अपेक्षा कमेंट्री सुनना सहल ही नहीं, दिलचस्प भी है। मैच भले ही बोरिंग हो, कमेंट्री बोरिंग

नहीं होती। दूधनाथ ढाई बजे आया। उसके साथ स्कूटर पर विश्वविद्यालय गया। साढ़े 3 बजे यूनियन हॉल में भाषण दिया।

दूधनाथ के साथ ट्रांज़िस्टर पर रनिंग कमेंट्री सुनते हुए दुकान पर आया। इरादा था, पासोपोर्ट के लिए फ़ोटो खिंचवाने का।

कौशल्या को बुलवाया। टंडन के गये। ऐन वक़्त पर बिजली फ़ेल हो गयी। वापस आये। बहुत थकावट महसूस हुई, क्योंकि दिन में सोया नहीं था। किसी तरह खाना खाया और फ़ौरन सो गया, बहुत अच्छी नींद आयी।

8 फ़रवरी 1973

सवेरे फिर शेव की। गुड्डे ने फ़ोटो खींचा। कौशल्या ने उत्साह से टुक्कू की पट्टी पर गाचनी लगायी। पट्टी पूजा हुई। मैच की कमेंट्री सुनते रहे। प्यारासिंह के चले गये। रास्ते में कान्ता के पिता का घर पड़ता है, वह मिल गयी।

क्रिकेट के मैच में आज फ़्लेचर और ग्रेग लगभग सारा दिन खेले। दोनों ने शतक बनाये।

तीन बजे श्री ए० एस० बहल से मिलने चला गया। (मेडिकल कॉलेज वाली सड़क पर नये बने सरकारी फ़्लैट्स में।) पत्नी तो उनकी जालंधर की है। डॉ० विद्याप्रकाश डेंटिस्ट के बड़े भाई की लड़की। तेज़ है। बहल साहब चुपीते और सीधे हैं।

वापसी पर सीधे घर आ गया।

मेज़ पर बैठ गया और काम करने लगा। चूंकि दिन को सोया नहीं था, इसलिए बारह बजे रात आँखें झपने लगीं

9 फरवरी 1973

सवेरे पौने छै बजे उठा। ब्रश करके मेज़ पर बैठ गया। एक घंटा काम करके फिर बड़े मकान में गया। सभी सो रहे थे। चाय बनायी। तब तक बिम्मा उठ गयी। रात सेतू की तबीयत ठीक नहीं थी, इसलिए शायद जग गयी थी।

नित्य-कर्म से निबट, हाथ-मुंह धोकर मेज़ पर बैठा। साढ़े आठ बजे होंगे कि शिवाशंकर मिश्र आ गये। उपन्यास में मन रमा था। एकदम वहां से हटाकर उसे इंटरव्यू में लगाना कठिन हो गया। इंटरव्यू वाली फ़ाइल निकाली। पंद्रह एक मिनट तैयार होने में लगे। फिर शौनक के चार-पांच प्रश्नों के उत्तर लिखवाये।

उनके जाने के वाद फिर उपन्यास के परिच्छेद लिखे । काम करते हुए नाश्ता स्टडी में ही लिया ।

वर्मा दो ही बजे आ गये । उन्हें आगे के प्रश्न तैयार करके टाइप करने को दिये । चार वज गये । थक गया । सो गया । पाँच बजे उठा । हल्की भूख लग आयी । चाय पीते-पिलाते छह वज गये । आज एक से छह तक विजली-पानी बंद था । सो दूधनाथ के यहाँ चला गया ।

मशीनी युग और उसके लाभ-हानियों पर वात होती रही । आठ बजे उठे । मद्रास कैफ़े आये । कॉफ़ी पी और साढ़े 9 वजे तक पुल पर घूमते वातें करते रहे—वच्चों के प्यार और लाड़ की; निरपेक्ष जाने के प्रयास की; प्रियजनों की मृत्यु के भय की; उस भय से पार पाने की ! तमाम शक्तियों के वावजूद आदमी की वेवसी की वात होती रही । मैंने उसे वुढ़ापे और मृत्यु पर एक कहानी की थीम सुनायी । उसने पसंद की ।

रात वारह वजे आँखें झपने लगीं, पर कौशल्या को 22वाँ परिच्छेद सुनाकर ही सोया ।

10 फरवरी 1973

सवेरे पौने छह वजे उठा । व्रश किया । आकर मेज़ पर वैठा । सात वजे चाय पर गया । साढ़े सात वजे मिश्र के लिए तैयार हो गया, वे नहीं आये । सो आध घंटा सैर की ।

मिश्र साढ़े-आठ, पौने नौ आये । 10 तक प्रश्नों के उत्तर लिखाये । दस वजे वे गये । उनके जाने के वाद अगले प्रश्न तैयार किये । फिर उपन्यास लिखने लगा ।

यों नहाता तो हर तीसरे दिन हूँ, पर उपन्यास में लगा रहने के कारण कई-कई दिन हजामत नहीं वनाता । आज कई दिन वाद धूप में रखे पानी से नहाया । प्रीतनगर में रोज़ ऐसे करता था । यह मेरी सवसे वड़ी ऐयाशी है । वड़ा सुख मिला ।

दोपहर को सोया ।

शाम को उठकर काम लिया । फिर अँधेरा हो गया । ममता को फ़ोन किया । मालूम हुआ कालिया के रात चोट आ गयी है । सो वहाँ गया । विजली के खंभे से टकरा जाने के कारण उसका कान ज़ख़्मी हो गया है । हल्का वुख़ार भी था ।

वापसी पर पैदल आया ।

गुड्डे ने मधुरेश का लेख—'अश्क की कहानियाँ : प्रासंगिकता का सवाल'—दिया ।

पढ़ गया। मेहनत से लिखा है। लेकिन प्रासंगिकता को मधुरेश वर्तमान राजनीतिक स्थिति, क्रांतिकारी चेतना और समाज-व्यवस्था से मिलाता है और उसी कहानी को प्रासंगिक मानता है, जिसमें वर्तमान समाज-व्यवस्था को बदलने की क्षमता हो। लगता है मधुरेश सामयिकता और प्रासंगिकता को पर्याय मानता है। मैं प्रासंगिकता को ह्यूमन डेस्टिनी तथा ह्यूमन ट्रैजेडी से जोड़ता हूँ। 'झाग और मुस्कान' तथा 'बेबसी' जैसी जिन कहानियों को मधुरेश ने प्रासंगिक नहीं माना, मैं समझता हूँ, आज ही नहीं, वे कल भी प्रासंगिक रहेंगी।

'अजगर' का अंत वह नहीं समझा। लेकिन उसकी व्याख्या उसने खूब की है।

11 फरवरी 1973

सवेरे पौने छह बजे उठ गया। उपन्यास के दो-तीन पृष्ठ लिखे। गुड्डे को चाय पिलायी कि उसे सम्मेलन जाना था। आध घंटा घूमा। फिर आकर मेज़ पर बैठ गया। तभी कौशल्या ने कहा—मंडी से इकट्ठी सब्जी ला दीजिये। तीन-चार दिन की छुट्टी हो जाये। सो सब्ज़ी लेने चला गया।

वापस आकर बैठा ही था कि मिश्र आ गये। उन्हें शौनक के प्रश्नों के उत्तर लिखवाता रहा।

एक-डेढ़ घंटा काम किया होगा कि गुड्डे के दोस्त डँगवाल और रमेन्द्र आ गये।

डंगवाल खुद भी कहानियाँ लिखता है। मधुरेश के लेख की स्थापनाओं के के संदर्भ में उससे 'अजगर', 'बेबसी', 'झाग और मुस्कान' पर बात होती रही।

'दोपहर को खाने के बाद सोने का प्रयास किया। नींद नहीं आयी। तो भी साढ़े चार तक लेटा रहा। बिजली थी नहीं, बाहर बरांडे में चौकी रखकर काम करने की कोशिश की।

मूड नहीं जमा। टुक्कू बार-बार आता था। उसे छोटा गेंद चाहिए था। सो उसे बाज़ार ले गया।

सात बजे बत्ती आयी। पाँच मिनट बाद फिर चली गयी। मैं खाने के कमरे में खाने की मेज़ पर बैठकर गैस की रोशनी में काम करता रहा। दिन को नहीं सो पाया। खाना खाते ही सो गया।

12 फरवरी 1973

सवेरे साढ़े पांच उठा। साढ़े सात तक उपन्यास लिखता रहा।

पौने नौ बजे मिश्र आये। उन्हें एक घंटा शौनक के प्रश्नों के उत्तर लिखवाता रहा। उसके बाद दस बजे तक अगले प्रश्न ठीक किये।

दिन भर बाइसवां परिच्छेद लिखता रहता।

13 फरवरी 1973

सवेरे पौने छह उठा।

दिन भर उपन्यास तथा शौनक के प्रश्न ठीक करता रहा।

शाम को दूधनाथ आ गया। उसके साथ शाम तक बातें करता रहा। जाने क्यों तबीयत बहुत भारी हो गयी। उसके साथ बाहर निकल गया। हाईकोर्ट तक तेज़-तेज गया। तेज़-तेज़ आया। जाने-आने में थक गया।

खाना खाया तो नींद आ गयी। मुश्किल से कपड़े उतार सका। पड़ते ही सो गया।

14 फरवरी 1973

सवेरे चार बजे उठ गया। साढ़े छह बजे तक लगातार उपन्यास लिखता रहा। फिर जाकर दूध लाया। शक था कि ग्वालिन दूध में पानी मिलाती है। न केवल भैंसों के दूध के गाढ़े अथवा पतलेपन में अंतर था, वरन रंगत में भी फ़र्क था। एक भैंस का दूध आया तो मैंने लेने से इनकार कर दिया। ग्वाले ने दूसरी भैंस का दूध दुह दिया। वह एकदम साफ़-शफ़्फ़ाफ़ और गाढ़ा था। मालूम हुआ कि भैंस ज़्यादा दिन की ब्याई है, इसलिए दूध गाढ़ा है।

आकर दस बजे तक उपन्यास लिखता रहा। गुड्डे को मुश्किल से रेडियो पर कविता पढ़ने के लिए तैयार किया। सो उसके साथ दफ़्तर गया। वह साढ़े ग्यारह लौट आया। उससे कुछ पहले दूधनाथ, तिवारी और मत्स्येन्द्र शुक्ल आ गये। कुछ ही देर बाद नरूला आ गया। साढ़े बारह बजे तक गप लगी। तभी गुड्डे को लगा कि मेरे काम का हर्ज हो रहा है। सो मुझे मोटर साइकिल पर घर छोड़ गया।

दो बजे तक शौनक के प्रश्न करता रहा।

डेढ़ घंटा सोया।

शाम को फिर शौनक के प्रश्न करता रहा।

साढ़े छह दूधनाथ के गया। मधुरेश के लेख की टंकित प्रति रिवाइज़ करके देने। सिर्फ़ निर्मल मिली। एक घंटा बैठा रहा।

आकर उपन्यास लिखता रहा। साढ़े दस सो गया।

संपूर्ण नाटक :

अंजो दीदी

वैसे तो किसी भी रचनाकार के बारे में इस बात को कहना मुश्किल है, और अश्क-जी जैसे लेखक के बारे में तो और भी, लेकिन अनुमान लगाना ही हो तो अश्कजी के प्रिय नाटकों में 'अंजो दीदी' का नाम शायद 'क़ैद' के फ़ौरन बाद आयेगा। यों अश्कजी ने तेरह-चौदह नाटक लिखे हैं और किसी जगह यह भी स्पष्ट किया है कि लेखक को उसकी सभी रचनाएँ प्रिय होती हैं, मगर 'अंजो दीदी' ने देश-विदेश में सभी तरह के पाठकों के बीच जो लोकप्रियता प्राप्त की है, वह उसे सहज ही अश्क-जी के नाटकों में एक अलग ऊँचाई पर प्रतिष्ठित कर देती है। जैसा कि राजेन्द्र यादव ने नाटक की समीक्षा में कहा भी है: 'अंजो दीदी' के 'चिंतन और तैयारी में वही प्रतिभा और परिश्रम है, जो मानव की सामाजिक प्रवृत्तियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी चले आते विवश संस्कारों के रूप में ग्रहण करके देने वाले संवेदनशील रूसी कथाकारों की अपनी विशेषता रही है—विशेष रूप से तुर्गनेव और गोर्की के उपन्यासों और चेख़व के नाटकों के तीन पीढ़ी वाले कथानकों की। और इसमें संदेह नहीं कि अश्क ने पूरे यथार्थ के साथ नाटकीय तत्वों को उभारते हुए आवश्यक मानवीय सहानुभूति मनुष्य की भावनात्मक संस्कारगत विवशताओं का उचित ध्यान रखते हुए कथा को प्रस्तुत किया है।'

1955 में प्रकाशित होने के बाद से अब तक—इन तीस वर्षों के दौरान 'अंजो दीदी' ने पाठकों, रंगकर्मियों, साथी लेखकों और आलोचकों सभी का ध्यान समान रूप से आकर्षित किया है। यही वजह है कि 'क़ैद' और 'उड़ान' जैसे प्रतीकात्मक नाटकों या 'अलग-अलग रास्ते' और 'बड़े खिलाड़ी' जैसे सामाजिक नाटकों अथवा 'जय पराजय' जैसे अश्कजी के एकमात्र ऐतिहासिक नाटक के होते हुए भी प्रस्तुत संकलन में 'अंजो दीदी' को ही शामिल करने का फ़ैसला किया गया।

अश्कजी की नाटक-कला के बारे में निर्मल वर्मा ने एक जगह कहा है कि: 'अपने बहुत-से समकालीनों के विपरीत, नाट्य-कला की कारीगरी और शिल्प पर उनकी पकड़ निस्संदेह बड़ी मज़बूत है। उनके संवाद चुस्त और जीवंत हैं—सहज विनोद और व्यंग्य से अनुप्राणित।'

'अंजो दीदी' इस कथन की सबसे अच्छी मिसाल है।

पात्र

[जिस क्रम से कि वे नाटक में आते हैं]

पहला अंक		दूसरा अंक	
अंजली	इन्द्रनारायण	ओमी	नज़ीर
अनिमा	श्रीपत	अनिमा	श्रीपत
मुन्नी	राधू	राधू	इन्द्रनारायण
नीरज (उमर 11 वर्ष)		नीलम (उमर 11 वर्ष)	
		नीरज (उमर 31 वर्ष)	

स्थान—दिल्ली में अंजली दीदी के बँगले की बैठक और खाने का कमरा

समय—पहला अंक : 1933, गर्मियों का एक दिन

दूसरा अंक : बीस बरस बाद सर्दियों का एक दिन

पहला अंक

पहला दृश्य

[1933 की गर्मियाँ। पर्दा श्री इन्द्रनारायण वकील की भव्य कोठी के बड़े हॉल में खुलता है, जिसे लकड़ी के एक खुलने और बंद होने वाले सुंदर पर्दे की सहायता से दो भागों में बाँटकर, खाने के कमरे और बैठक में बदल दिया गया है। लेकिन वकील साहब के घर चूंकि उनकी पत्नी का दबदबा है, इसलिए वह उनकी कोठी न कहलाकर, उनकी पत्नी, श्रीमती इन्द्रनारायण की कोठी कहलाती है, जो साधारणतः 'अंजली दीदी' या यों कहें कि 'अंजो दीदी' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह खाने और बैठने का मिला-जुला हॉल लम्बा-चौड़ा और खुला है। कोठी को वर्षों पहले एक अंग्रेज इंजीनियर ने बनवाया था और तब शनि के दिन यह हॉल नृत्य-कक्ष का भी काम देता था। पर जब शराब और जुए के कारण कर्ज से लदकर इंजीनियर साहब ने कोठी बेची और वकील साहब के पिताजी ने उसे खरीद लिया तो यद्यपि उन्होंने इससे 'नृत्य-कक्ष' का काम कभी नहीं लिया तो भी इसकी शेष सजावट अंग्रेजी ढंग ही की रहने दी।

बायीं ओर के आधे भाग में खाने की मेज़ और छह कुर्सियाँ लगी हैं। सामने एक बहुत ख़ूबसूरत साइड-बोर्ड है, जिसमें चाय की प्लेटें, प्याले, काँटे-छुरियाँ और चीनी के अन्य बर्तन पड़े हैं। एक कोने में तिपाई पर चिलमची रखी है और ऊपर खूंटी पर तौलिया टँगा है। छत पर बिजली का पंखा मंथर गति से चल रहा है।

बायीं दीवार में एक दरवाजा है, जो वकील साहब तथा नीरज के कमरों में खुलता है। उसकी चौखट के ऊपर दीवार में एक कीमती, सुंदर घड़ी अनवरत टिकटिक कर रही है।

खाने के कमरे और बैठक के मध्य सागौन की लकड़ी का जो कीमती पर्दा खड़ा है, उसके फ्रेम में रेशमी कपड़ा लगा है। आवश्यकता पड़ने पर यह पर्दा बंद करके अलग भी रखा जा सकता है। बैठक में आने का मार्ग इस पर्दे के दोनों ओर से है। घर के अंदर से आने वाले, पर्दे के उधर से आते हैं और बाहर से आने वाले, पर्दे के इधर से।

बैठक में सामने तख़्त और गाव-तकिये लगे हैं। इधर को काउच और तिपाई लगी है। जमीन पर ग़ालीचे बिछे हैं। एक दरवाज़ा दायीं दीवार में है, जो बाहर बरामदे में खुलता है। एक दरवाजा सामने दीवार में पर्दे के निकट है, जो रसोईघर को जाता है।

पर्दा उठते समय बैठक खाली है। खाने के कमरे में पाँच कुर्सियाँ मेज़ के नीचे हैं और छठी पर अनिमा (पच्चीस-एक वर्ष की, मँझले कद और गदराये शरीर की युवती) बैठी, संभवतः दूसरों के आने की प्रतीक्षा में लेस बुन रही है। अनिमा अंजो दीदी की अंतरंग सहेली है और गर्मियों की छुट्टियाँ बिताने दिल्ली आयी हुई है।

दोनों कमरे निष्कलंक रूप से साफ़ हैं। प्रकट है कि उनकी सफ़ाई केवल नौकरों पर ही निर्भर नहीं, अंजो दीदी

स्वयं उसमें दिलचस्पी लेती हैं। हर चीज़ करीने से लगी साफ़ और स्वच्छ है। दोनों कमरों में कहीं धब्बा, जाला या धूल नहीं।

सुबह का वक्त है। घड़ी में आठ बजने को हैं। पर्दा उठने पर घड़ी में आठ की टन-टन सुनायी देती है। इसके साथ ही अंदर के दरवाज़े से अंजो दीदी प्रवेश करती हैं और तेज़ी से अनिमा के पास से निकलती हुई रसोईघर के दरवाज़े पर आकर आवाज देती है :

अंजली : मुन्नी, नाश्ता रखो मेज़ पर। **(तनिक कड़े स्वर में)** तुम कर क्या रही हो? आठ बज गये हैं और नाश्ते का कहीं पता नहीं।

मुन्नी : **(पृष्ठ-भूमि में)** बस, लिये आ रही हूँ मेम साहब !

अंजली फिर खट-खट करती हुई, अंदर के दरवाजे पर जाकर बच्चे को आवाज देती है।

अंजली : नीरज बेटा, कपड़े बदल लिये तुमने ?

नीरज : **(पृष्ठ-भूमि में)** बस हो गया तैयार ममी !

अंजली : और अपने पापा से कहो, नहा कर सीधे इधर आयें। नाश्ता कर लें फिर चाहे जो करते रहें। तौलिया उनका टावल-स्टेंड पर पड़ा है और कपड़े पलंग पर रखे हैं। **(फिर पलटती है)** अभी तक नहाये नहीं और आठ बज गये हैं...

इन्द्र० : **(पृष्ठ-भूमि में)** अरे भाई, आया, आ...इ...या...आ...ा...ई...या !

अंजली : **(अनिमा की ओर देखकर)** इनकी आदत भी...तुम बैठे-बैठे ऊब तो नहीं उठीं अन्नो ! मैंने कहा, नाश्ते का समय हो रहा है, इन सबको तैयार कर दूं। **(हँसती हुई मेज के नीचे से एक कुर्सी खींचती है)** मैं शोर न मचाऊँ तो नाश्ते को दस बज जायें। **(बैठ जाती है।)**

अंजली की आयु यद्यपि तीस के निकट है, लेकिन वह पाँच-एक वर्ष बड़ी दिखायी देती है—पतले-छरहरे शरीर की, दुर्बल नसों वाली युवती, जो न केवल गृहस्थी की चक्की में जुटी हुई है, बल्कि पूरी निष्ठा और गंभीरता से जुटी हुई है। सुंदर चेहरे पर अभी से हल्की-सी लकीरें बन गयी हैं और मुस्कान के बावजूद, जो इस समय उसके होठों पर खेलने लगी है, उसका मस्तक, मस्तिष्क की सदा तनी रहने वाली नसों का परिचय देता है।

लेकिन इस सूक्ष्म-सी मलिनता के अतिरिक्त—क्या

पहरावे की सुरुचि, स्वच्छता और निर्दोषता और क्या व्यक्तित्व की स्फूर्ति, सजगता और जागरूकता—वह हर बात में अनिमा को मात देती है।

अनिमा उस मुक्त मृगी-सी लगती है, जो जाल के बंधन से अनभिज्ञ है। उसके बनाव-सिंगार और पहरावे से पूरी बेपरवाही टपकती है।

उसके मुकाबले में अंजली ऐसे लगती है, जैसे कोई देवी, जिसके माथे पर किसी आंतरिक विचार के कारण बल पड़ गये हों, अभी-अभी सांचे में ढलकर आयी है।

अनिमा : (निरंतर लेस बुनते हुए) मैं तो हैरान रह गयी अंजो दीदी, तुम्हारे यहाँ का सलीका और समय की पाबंदी देखकर !

अंजली : (प्रशंसा से फूलकर) इस घर के कण-कण को मैंने सलीका, समय की पाबंदी और सभ्य लोगों के तौर-तरीके सिखाये हैं। कहीं तुम पहले आकर देखतीं—घर भूतों का डेरा बना हुआ था। इतना बड़ा मकान, यह भी तो पता नहीं चलता था कि कौन-सा कमरा खाने का है, कौन-सा सोने का और कौन-सा उठने-बैठने का। सभी जगह चारपाइयाँ, कपड़े और बर्तन बिखरे रहते थे।

अनिमा : लेकिन नौकर तो...

अंजली : थे। पर न उन्हें बात करने का ढंग आता था, न काम करने का ! (उपेक्षा से) गंदे, गँवार, चोर और बदतमीज़ !

अनिमा : मैं तो हैरान रह गयी मुन्नी को देखकर। नौकरानी लगती ही नहीं। मैं तो समझी, जीजाजी की बहन...

अंजली : (सहसा मुड़कर) हैं ऐं...ऐं...!

अनिमा : इतनी साफ़-सुथरी, इतनी सुघड़, इतनी सभ्य...

अंजली : (प्रसन्न होकर) कितनी जान खपायी है उसके साथ, तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं। और राधू...

अनिमा : वह आया तो मैं समझी तुम्हारे ससु...(घबराकर) कि जीजाजी के पि...(बेतरह घबराकर) कि...कि तुम्हारे कोई बुज़ुर्ग हैं। मैं उसके लिए आदर से कुर्सी छोड़कर खड़ी हो गयी।

अंजली : बुज़ुर्ग...

अनिमा : (अपनी बात जारी रखते हुए) वह चौंका। पर जब तक वह कुर्सियाँ-मेज़ झाड़ता रहा, मुझे बैठने का साहस नहीं हुआ। हालांकि मैं अच्छी तरह जान गयी हूँ कि वह नौकर है, पर जैसे विश्वास ही नहीं होता।

अंजली : हमारे नानाजी कहा करते थे : नौकरों को सदा साफ़-सुथरा रखना चाहिए। जैसे घर के भाग्य का पता देहरी से चलता है, वैसे ही

मालिकों के स्तर का पता नौकरों के पहरावे से चलता है।—गंदे नौकरों से नानाजी को बड़ी चिढ़ थी। उनके साथ रहकर मैं भी वैसी ही हो गयी। मैं तो चाहती हूँ कि नीरज भी सफ़ाई-पसंद, सभ्य और सलीके वाला बने।

अनिमा : बड़ा प्यारा बच्चा है नीरज, इधर से गुज़रा तो हाथ जोड़कर बोला, 'मौसीजी नमस्ते!'

अंजली : (फूलकर) सभ्यता और शिष्टाचार की कमी तुम उसमें न पाओगी। (**उठती है और अंदर से दरवाजे पर जाकर आवाज़ देती है**) हो गया तैयार नीरू बेटे?

नीरज : (**पृष्ठ-भूमि से**) जी ममी!

अंजली : (**फिर पर्दे के पीछे दरवाजे पर जाकर नौकरानी को आवाज देती है**) मुन्नी, नीरू बेटे को नाश्ता दे दो!

मुन्नी : (**पृष्ठ-भूमि में**) दे रही हूँ मेम साहब।

अंजली : वह हमेशा सुबह समय से उठता है, समय से अपने डैडी के साथ सैर को जाता है, समय से स्नान-संध्या करता है और फिर कपड़े बदलकर ठीक वक़्त पर नाश्ते के लिए तैयार हो जाता है। हमारे नानाजी कहा करते थे: वक़्त की पाबंदी सभ्यता की पहली निशानी है—और नीरू काम, आराम और खेल के समय का पूरा-पूरा ध्यान रखता है। समय पर पढ़ता है, समय पर आराम करता है और समय पर खेलता है। सोने की वेला खेलते या पढ़ते अथवा पढ़ने की वेला खेलते या सोते तुम उसे कभी न पाओगी। (**जाकर देखती है कि चिलमची आदि साफ़ है या नहीं।**)

अनिमा : एक हमारे यहाँ के बच्चे हैं—आठ-आठ बजे तक सोते रहते हैं, कान उमेठ-उमेठकर जगाना पड़ता है, महीनों स्नान नहीं करते और उद्दंड इतने हैं कि दूसरों को तो क्या, माता-पिता तक का आदर नहीं करते।

अंजली : नानाजी कहा करते थे: बच्चों को शुरू से ही अच्छी आदतें डालनी चाहिएँ—इतना बड़ा हो गया है नीरज, कभी कान उमेठने या डाँटने की नौबत नहीं आयी।

अनिमा : मैंने पूछा—नीरज बेटा, नाश्ता तो तुम हमारे साथ ही करोगे न? कहने लगा—मैं अपनी ही मेज़ पर नाश्ता करता हूँ मौसीजी।

अंजली : उसकी अलमारी, मेज़, टॉयलेट का सामान, सोने का कमरा—सब कुछ अलग है। वह सदा अपनी मेज़ पर नाश्ता करता है; अपनी अलमारी में कपड़े रखता है; अपने बिस्तर में सोता है; अपनी कंघी से बाल बनाता है—अपने सब काम आप करता है। नानाजी कहा करते थे: बच्चों को अपनी मदद आप करने की आदत डालनी चाहिए...

अनिमा : मैं तो भई मान गयी तुम्हें। मैं ख़ुद सोच रही हूँ, कुछ दिन तुम्हारे

पास रहकर अपनी आदतें सुधारूँ। समय पर उठूँ, समय पर खाऊँ, समय पर सोऊँ। कहीं मुझे तुम्हारे ऐसा सलीका और सुघड़ापा आ जाये...

अंजली : नानाजी कहा करते थे : सुघड़ापा स्त्री का गहना है और सदाचार पुरुष का—और मैं चाहती हूँ, नीरज सभ्य, शिष्ट और समयनिष्ठ बने !

अनिमा : और मैं कहती हूँ अंजो, तुम अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल हुई हो। अपने घर को तुमने घड़ी-सा बना रखा है। सब मानो उसके पुर्ज़े हैं।

अंजली : ज़िंदगी स्वयं एक महान घड़ी है। प्रातः-संध्या उसकी सुइयाँ हैं। नियम-बद्ध एक-दूसरी के पीछे घूमती रहती हैं। मैं चाहती हूँ—मेरा घर भी घड़ी ही की तरह चले। हम सब उसके पुर्ज़े बन जायें और नियम-पूर्वक अपना-अपना काम करते जायें।

अनिमा : जीजाजी को तो बड़ा बुरा लगता होगा यों बँधना ?

अंजली : बुरा ! (**कुर्सी पर बैठते हुए हँसती है**) बड़े सिटपिटाये थे पहले-पहल। पर मैं ले ही आयी अपने ढब पर। सच कहती हूँ, मुझे नीरज पर इतनी जान नहीं खपानी पड़ी, जितनी तुम्हारे इन जीजाजी पर। कोई भी तो कल न थी सीधी। न सफ़ाई का खयाल, न समय का। मुझे चीज़ों को अपनी जगह रखते देर लगती, इन्हें बिखेरते देर न लगती। नहा-कर बाल बनाते तो कंघी कहीं रख देते, शीशा कहीं और तौलिया कहीं। कचहरी से आकर कपड़े बदलते तो कोट कहीं फेंक देते और पतलून कहीं। सच कहती हूँ, कई हैट टूट गये। आते ही कुर्सी पर पटक देते, फिर जब बेख़याली में बैठने लगते तो ठस्स—!

हँसती है।

अनिमा : लेकिन जीजाजी तो...

अंजली : (**मुँह बनाकर**) बड़े कल्चर्ड दिखायी देते हैं, कभी इधर की चीज़ उधर नहीं रखते। जी हाँ ! जानती हो, कितनी माथा-पच्ची करनी पड़ी है इनके साथ ? कितनी भूख-हड़तालें की हैं ? कितनी बार रूठकर पीहर जा-जा बैठी हूँ ? (**हँसती है**) मैं जब आयी तो इनके लिहाफ़ पर ग़िलाफ़ तक न था। मैंने लिहाफ़ के नीचे चादर लगा दी। लेकिन जब भी लिहाफ़ ओढ़ते, चादर एक ओर होती और लिहाफ़ दूसरी ओर। हारकर मैंने उसे लिहाफ़ के साथ ही सीं दिया। दूसरे दिन क्या देखती हूँ—चादर लिहाफ़ के ऊपर तैर रही है। लिहाफ़ ही जनाब ने उलटा ओढ़ रखा था।

अनिमा हँसती है।

अंजली : क्या कहूँ, पलँग-पोश समेत बिस्तर में घुस जाया करते थे।

वकील साहब—श्री इन्द्रनारायण—हँसते हुए प्रवेश करते हैं।

अंजली से केवल आठ-दस वर्ष बड़े हैं, लेकिन शरीर उन्होंने अभी से छोड़ दिया है। यों अप-टू-डेट सूट पहने हैं। पतलून की क्रीज़ और कोट का कॉलर, लगता है, जैसे अभी प्रेस किये गये हैं। अंजली के साथ बैठे तो बेमेल नहीं लगते। उनकी बेपरवाही को सूट पूरे तौर पर छिपाये हुए है, लेकिन जब भी हँसते हैं तो पता चल जाता है कि वास्तव में उन्हें सूट ने कैसा जकड़ रखा है। बात करते हैं तो प्राय: कंधे झटकाते हैं। पहले शायद विवशतावश ऐसा करते होंगे, पर अब तो यह उनकी आदत बन गयी है।

इन्द्र० : अरे भई, दुनिया में दो तरह के लोग होते हैं—एक वो, जो आप भी चलते हैं और दूसरों को भी चलाते हैं—इंजन की तरह—अंजो उनमें से है। दूसरे वो, जो आप नहीं चल पाते, पर दूसरा कोई चलाये तो उसके पीछे-पीछे आराम से चले जाते हैं—(हँसते हैं) गाड़ी के डिब्बों की तरह। सो भई, हम तो इन दूसरी तरह के लोगों में से हैं (कुर्सी खींचकर उसमें धँस जाते हैं) हाँ—!

अनिमा : गाड़ी के डिब्बे। (हँसती है) जीजाजी भी...

इन्द्र० : और अंजो जैसे चलाती है, चले जाते हैं। क्यों अंजो ! दिया कभी शिकायत का मौका हमने तुम्हें ? (हँसते हैं) दिन में तीन बार नहाते हैं, चार-चार बार हाथ-पाँव धोते हैं, कम-से-कम चार बार खाते हैं और पाँच बार...

अंजली : इस नाश्ते को आप...

इन्द्र० : तुम इसे नाश्ता कह लो, हम तो इसे खाना ही कहेंगे। (अपनी बात जारी रखते हुए)...और पाँच बार कपड़े बदलते हैं। सफ़ाई, वक्त की पाबंदी, सभ्य-समाज के तौर-तरीके—सबका पूरा-पूरा ख़याल रखते हैं। (हँसते हैं) अंजो के साथ शादी करने के बाद लगता है, जैसे हम तो अछूत थे, अंजो ने आकर हमारा उद्धार किया।

पूरे जोर से ठहाका मारते हैं, जिसमें अंजो की 'आप तो...' और अनिमा की 'जीजाजी भी...' गुम हो जाती है।

अंजली : (लज्जा को स्वर की तीव्रता में छिपाकर) मुन्नी, नाश्ता रखो मेज़ पर !

मुन्नी : (नाश्ते की ट्रे लाते हुए) यह लायी मेम साहब !

नीचे की बातचीत में मुन्नी चुपचाप नाश्ते का सामान मेज पर रखे जाती है !

इन्द्र० : और सच कहते हैं, हमने अपने आपको सोलहों आने अंजो के अनुरूप बना लिया है। (उपेक्षा से मुँह बनाकर) हमें ख़ुद अब गंदे लोगों से सख़्त नफ़रत होती है। ये फ़ौजदारी के वकील...आठों पहर कप-

राधियों के साथ रहने से खुद भी उन्हीं जैसे लगते हैं। (हँसते हैं) वही आदतें, वही तौर-तरीके और भई, हम सच कहते हैं, कुछ की तो शक्ल भी...

अनिमा : (हँसकर) जीजाजी, आपकी शक्ल तो अभी भगवान की कृपा से...

इन्द्र० : मुझे अंजो ने बचा लिया, नहीं उनके साथ रहकर तो मेरी सूरत भी... (हँसते हैं) सभ्यता और सदाचार तो उन्हें छू भी नहीं गये...

अंजली : नानाजी कहा करते थे : सदाचार पुरुष का आभूषण है।

इन्द्र० : पर आभूषण- अलंकार स्त्रियों की चीज़ समझकर वे इसे पास भी नहीं फटकने देते। सदा अश्लील बातें करने में उन्हें रस मिलता है और गंदे इतने होते हैं कि पास बैठना दूभर हो जाता है। जूतों-समेत मेज़ पर पाँव रखे, बैठे डकारते रहते हैं। (अतीव घृणा से) बदतमीज़ कहीं के ! और पानी के बताशे, दही-बड़े और चाट खाकर...

अंजली : नानाजी कहा करते थे : दही-बड़े और चाट

इन्द्र० : मैं तो नानाजी को दुआ दिया करता हूँ, जिन्होंने तुम्हारे द्वारा मुझे इस चटोरपने से बचा लिया। कसम ले लो, जो पिछले छह बरस में चाट को मुँह भी लगाया हो। और-तो-और, कभी नीरज...

अंजली : मुँह लगाने देती हूँ मैं नीरज को ऐसी गंदी चीज़ें।

इन्द्र० : जब मैं देखता हूँ कि बड़े-बड़े वकील-एडवोकेट दही-बड़े और पानी के बताशों जैसी निकम्मी चीज़ खाकर दोने वहीं फ़र्श पर फेंक देते हैं, तो मैं नानाजी को दुआ देता हूँ, जिनकी शिक्षा, अंजो के द्वारा, मुझे इस बदतमीज़ी से बचाये हुए है। भगवान साक्षी है, जो मैंने पिछले छह बरस से चाट को एक बार भी मुँह लगाया हो।

अनिमा : (हँसकर) केवल दोने देखे हैं।

वकील साहब एक खोखला ठहाका लगाते हैं।

अंजली : अच्छा, फिर हँसियेगा, पहले नाश्ता कर लीजिये।

इन्द्र० : भई, मैं कहता था, कुछ देर प्रतीक्षा कर लेते। श्रीपत का पत्र आया था कि वह आज सुबह की गाड़ी से आ रहा है।

अंजली : (**व्यंग्य से**) आ गया श्रीपत ! इन छह बरसों में उसने कितने पत्र नहीं लिखे ? कभी आया भी ?...आप भी बस...नाश्ता शुरू कीजिये !... नृपत भाई की चिट्ठी आती तो मैं आखें दरवाजे से लगाये बैठी रहती, पर श्रीपत...क्या भरोसा उसका ?

श्रीपत बैठक में प्रवेश करता है, पर अपना नाम सुनकर ठिठक जाता है। फिर धीरे-धीरे खाने के कमरे के पर्दे की ओर बढ़ता है।

इन्द्र० : भई, वह घुमक्कड़ आदमी है। सदा बाहर दौरों पर रहा है।

अंजली : जी, दौरों पर रहा है ! जब भी इधर से गुज़रा, बड़े तमतराक से

लिख दिया—श्रीमान राय श्रीपत राय इस बार अवश्य अंजो दीदी के ग़रीबख़ाने पर पधारेंगे—लेकिन सदा गुज़र गये और पता भी न दिया, किस गाड़ी से गुज़रे। नानाजी कहा करते थे कि श्रीपत...

श्रीपत : **(पर्दे के पास से निकलकर)** *श्रीमान राय श्रीपत राय पधारते हैं!*

सब चौंकते हैं। श्रीपत पर्दे के पास खड़ा है। कीमती सिल्क का कुर्ता और लट्ठे का पायजामा पहने हुए है, लेकिन कुर्ते के दो बटन खुले हैं और दोनों कपड़े तनिक मैले हो रहे हैं। आयु में अंजो से दो-अढ़ाई वर्ष कम है, लेकिन अंजो की तरह पतला-दुबला और कमज़ोर व्यक्ति नहीं। खाने-पीने और मौज मनाने वाला आदमी है। लम्बा, तगड़ा और किंचित मोटा; कलाई में कीमती घड़ी और मुँह में स्टेट एक्सप्रेस का सिगरेट।

इन्द्र० : **(उल्लास से)** श्रीपत!

श्रीपत : **(सिगरेट वहीं फेंककर पैर से मसलते और बढ़कर वकील साहब को आलिंगन में लेते हुए)** जीज्जा जी!

इन्द्र० : **(उसे अपने आलिंगन में भींचकर)** भई, बड़ी उमर है तुम्हारी। अभी अंजो कह रही थी कि श्रीपत...

अंजली : श्रीपत, क्या कर रहे हो? धूल और पसीने से तुम्हारे कपड़े ग़च हो रहे हैं और तुम लिपटे जा रहे हो इनसे। चलो नहाओ! कपड़े बदलो! सामान कहाँ है तुम्हारा?

श्रीपत : अरे दीदी!...इतने बरस बाद मिले हैं जीजाजी से, तो क्या अच्छी तरह गले भी न मिलें **(फिर लिपट जाता है)** कहिये जीजाजी, कैसे मिज़ाज हैं हुज़ूर के? कसम आपकी, युग बीत गये आपको देखे। कहिये, वकालत का क्या हाल है? सूरत से तो, कसम आपकी, आज जज दिखायी देते हैं। फ़ौजदारी के वकील... **(अलग होकर, एक दृष्टि वकील साहब पर नख-से-शिख तक डालकर, सिर हिलाते हुए)** रत्ती भर नहीं। अंजो-दीदी ने शायद...

अंजली : चाय ठंडी हुई जा रही है। चलो नहा लो। फिर बातें करना। सामान कहाँ हैं तुम्हारा?

श्रीपत : सामान ही कौन-सा है, बिस्तर पड़ा है बाहर बरामदे में!

अंजली : सामान नहीं, लेकिन...

श्रीपत : अरे, आजकल सामान साथ लेकर चलने के दिन हैं?

अंजली : पर कपड़े...

श्रीपत : एक अचकन, कुर्ता और पायजामा होगा, सो बिस्तर में बंद है।

अंजली : **(नौकर को आवाज़ देती हैं)** राधू...राधू!

राधू : **(बाहर से)** जी मेम साहब! **(अंदर आकर)** जी! जी!

अंजली : बाहर बरामदे में इनका बिस्तर पड़ा है, उठा लाओ ! बाथरूम में नया तौलिया और साबुन रख दो ! अलमारी से साबुन की नयी टिकिया ले लो। ये नहायेंगे।

श्रीपत : तुम भी बस दीदी...अभी चला आ रहा हूँ। पसीना तक सूखा नहीं और तुमने नहाने का नादिरशाही हुक्म जारी कर दिया। **(कुर्ता उतारकर साथ की कुर्सी पर फेंक देता है)** ज़रा पंखा तेज़ कर दो दीदी, इंजन के धुएँ ने धूल और पसीने से मिलकर...

अंजली : अरे...रे...रे...क्या कर रहे हो श्रीपत ! तुम्हें शर्म नहीं आती ? देखो, यहाँ अन्नो बैठी है और तुमने कुर्ता उतारकर फेंक दिया। नंगे बदन तुम्हें यहाँ बैठे...

श्रीपत : अरे दीदी !...तुम तो फ़िज़ूल ही गृहस्थी की चक्की में अपनी सारी प्रतिभा नष्ट कर रही हो। तुम्हें तो सेना में छोटी-मोटी लेफ़्टिनेण्ट या कैप्टन हो जाना चाहिए।

इन्द्र० : हिंदुस्तानी सेना में अभी औरतों को लेते नहीं, वरना...

अंजली : **(अपने पति पर एक आग्नेय दृष्टि डालकर श्रीपत से)** शिष्टता तो तुम्हें छू भी नहीं गयी। अन्नो बैठी है और तुम...

श्रीपत : **(कुर्सी घसीटते हुए)** इस वक़्त तो मैं कुर्सी पर बैठ रहा हूँ, तुम पंखा ज़रा तेज़ कर दो दीदी। यह पसीना न सूखेगा तो मैं नहा न सकूँगा। **(हँसकर अनिमा की ओर मुड़ते हुए)** कहो अन्नो, तुम्हें तो जैसे युगों के बाद देखा है। मैं तो, कसम तुम्हारी, पहचान भी न सका तुम्हें। सच कहना, क्या चंद मिनट इस पंखे के नीचे मेरे बैठने पर तुम्हें कोई आपत्ति है ? **(अंजली की आग्नेय दृष्टि को लक्ष्य करके)** अरे दीदी ! ऐसे देख रही हो, मानो मैं कोई भारी अपराध कर रहा हूँ। अभी कहोगी—**(अंजली की नकल उतारते हुए)** हमारे नानाजी कहा करते थे...तुम्हें अपने नानाजी की कसम दीदी, क्षण भर को बिलकुल उनका ध्यान छोड़ दो और पंखे की हवा तेज़ कर दो।

मेज़ पर पाँव टिकाकर आराम से कुर्सी पर बैठ जाता है।

अंजली : मैं कहती हूँ, तुम कितने गँवार हो ! यह खाने की मेज़ है और तुम यहाँ कपड़े उतारकर पसीना सुखाने बैठ गये हो। कोई हद भी है बदतमीज़ी की ! नानाजी कहा करते थे...

श्रीपत : ...कि श्रीपत बेहद गँवार आदमी है। खाने की मेज़ पर बैठकर पसीना सुखाता है। मैं कहता हूँ दीदी, मैं इतनी मुद्दत के बाद यहाँ आया हूँ, तुम्हारा छोटा भाई हूँ, तुम लोगों से मिलने की हसरत दिल में लिये हुए न जाने कब से इस महान भारत के नगर-नगर भटक रहा हूँ। और तुम्हें मेरा पल भर को भी यहाँ बैठना नहीं सुहाता। तुम्हारी कसम, मैं जितनी देर यहाँ रहूँगा, एक मिनट के लिए भी आप लोगों

को अपनी नज़र से ओझल न होने दूँगा।

अंजली : यही तो मैं कहती हूँ, तुम उठो, नहाओ, फिर बैठकर...

श्रीपत : मैं कहता हूँ, ब्रह्म का वाक्य और मेरा वाक्य एक बराबर है। मैंने कहा न कि मिनट भर के लिए भी आप लोगों को मैं अपनी नज़र से ओझल न होने दूंगा। बाथरूम में जाने की तो बात ही दूर रही।

अंजली : (**हताश होकर**) ठंडी हो गयी चाय तुम्हारी बातों में !

श्रीपत : फिर गर्म हो जायेगी। (**नौकर को आवाज देता है**) राधू ! ओ राधू !

राधू : (**बाहर से**) जी आया साहब !

श्रीपत : (**हँसकर**) कुछ ही मिनट हुए हैं मुझे यहाँ आये और कितनी जल्दी तुम्हारे नौकर का नाम मुझे याद हो गया है ! (**अपने आप हँसता है।**)

अंजली : क्या करेगा नौकर चाय का पानी गर्म करके ?...फिर ठंडा हो जायेगा। तुम नहा तो लो।

श्रीपत : मैं कहता हूँ दीदी, चाय पीना भी कोई संध्या-वंदन करना है कि स्नानादि की जरूरत हो। ज़रा गर्म-गर्म चाय का एक कप पिलाओ, जान-में-जान आये, नहाने की भी देखी जायेगी।

अंजली : (**घड़ी की ओर देखते हुए खीझकर**) मैं कहती हूँ, नाश्ते का समय कब का हो गया और तुम हो कि...

श्रीपत : यही तो कहता हूँ। बस झट-पट नाश्ता कर लिया जाये ! (**ट्रे को अपनी ओर खींचता है**) सब लोग मेरे लिए क्यों बैठे रहें ! भई, आप सब तो नहाकर बैठे हैं, मैं नहाकर न बैठा सही। (**सहसा वकील साहब की ओर मुड़कर**) क्यों जीजाजी, आपको कोई आपत्ति है ?

इन्द्र० : (**अंजली की ओर देखकर और खँखारकर**) मुझे...ए...ए...

श्रीपत : और अन्नो तुम्हें ?

अनिमा : (**अंजली की ओर देखकर झिझकते हुए**) मैं...ऐं...ऐं...

श्रीपत : तो लाइये, चाय पी जाये ! मुझे आप सबकी कसम, सचमुच बड़े ज़ोरों की भूख लगी है। (**प्लेट से तोस उठाकर उस पर छुरी से मक्खन लगाते और खाते हुए**) और नहाने में मुझे कम-से-कम एक घंटा लग जायेगा। मेरी आदत है कि या तो मैं नहाता ही नहीं और नहाता हूँ तो महीनों की कसर एक ही दिन में निकाल देता हूं ! आप सब लोग बैठे रहेंगे मेरे लिए ?

इन्द्र० : (**राधू से, जो इस सम्भाषण में चुपके से आकर हाथ बाँधे, आदेश की प्रतीक्षा में खड़ा है**) राधू, ज़रा चाय का पानी और लाओ ! गर्म, गर्म ! यह तो ठंडा हो गया।

श्रीपत : और फिर मैं सोचता हूँ, गर्म चाय पीने से जितना पसीना निकलना है, निकल जाये। इसके बाद नहाऊँ। इसलिए मैं सदा नहाने से पहले

नाश्ता किया करता हूँ (**टीकोज़ी उठाकर चायदानी को छूता है**) चाय तो खूब गर्म है जीजाजी। राधू, और पानी अलग टी-पॉट में लाओ। तब तक एक-एक प्याला इसी में से हो जाये ! (**राधू जाता है, श्रीपत वकील साहब के प्याले में चाय ढालता है**) आप दूध तो ज़्यादा नहीं लेते ? (**दूध डालता है**) और चीनी ?

अंजली : (**आगे बढ़कर क्रोध से**) श्रीपत, तुम्हें टेबल-मैनर्ज़ का भी ज्ञान नहीं। हटो, मैं बनाती हूँ चाय।

श्रीपत : ना दीदी, चाय तो मैं अपनी सदा आप बनाता हूँ। तुम्हारी कसम, दूसरा कोई काम खुद नहीं करता, पर चाय—मैंने फ़ैसला कर रखा है कि या मेरी पत्नी आकर बनायेगी या फिर मैं ही...

अंजली : (**भाभी के आने की संभावना ही से जो प्रसन्न हो जाती है**) तुम करो भी शादी, लड़कियाँ तो हज़ारों...

श्रीपत : (**चाय की चुस्की लेकर**) अरे दीदी !...शादी की कल्पना में जो मज़ा है, वह शादी में कहाँ ! (**सहसा वकील साहब की ओर मुड़कर**) जीजाजी से पूछ लो !

अंजली : क्यों, इन्हें क्या...

इन्द्र० : नहीं भई, मैं तो...

श्रीपत : वाह जीजाजी !...आपको अपनी कसम, भगवान को साक्षी जानकर कहिये, शादी की कल्पना मे ज़्यादा मज़ा है या शादी में ? याद है न, मैं अंजो दीदी की सगाई के सिलसिले में आपसे मिलने आया था—कितना हँसते थे आप उन दिनों; कितने ठहाके लगाते थे; कितनी बेपरवाही थी आपके स्वभाव में ! जो जी चाहे खाते थे, जो जी चाहे करते थे, जहाँ जी चाहे जाते थे। (**हँसता है**) और अब...इतनी देर से बैठे हैं और एक ठहाका भी तो आपने नहीं लगाया। आपकी कसम, आप तो हाई-कोर्ट के जज दिखायी देते हैं...(**हँसता और चाय की चुस्की लेता है**) जबकि अभी आप एडवोकेट भी नहीं बने...जब एक वकील जज नज़र आने लगे तो समझिये कि वह बुड्ढा हो गया। वकील तो जवानी का प्रतीक है (**हँसता है**) और जज बुढ़ापे का। कसम आपकी जीजाजी, शादी ने आपको बुड्ढा बना दिया है। **स्वयं ज़ोर से ठहाका लगाता और चाय पीता है**) और क्यों जीजाजी, अपना वचन तो आप नहीं भूले न ! पिछली बार जब हम मिले थे तो आपने कहा था कि एक बार फिर दिलकुशा होटल में...

इन्द्र० : (**इस बात से घबराकर कि श्रीपत अपनी झोंक में कुछ और न बक दे, प्याला हाथ ही में लिये उठ खड़े होते हैं**) लो भई, मुझे तो देर हो रही है। एक मामला है ज़रूरी। मैं लंच पर आने की कोशिश करूँगा उसे निबटाकर। मेरी प्रतीक्षा न करना।

हाथ के प्याले को एक ही घूंट में समाप्त करके मेज़ पर रखते हुए चले जाते हैं।

अंजली : हैट तो अपना लेते जाइये !

उनके पीछे-पीछे जाती है। श्रीपत चाय का दूसरा प्याला बनाता हुआ गुनगुनाना आरंभ कर देता है।

भरी बज़्म[1] में राज़ की बात कह दी
बड़ा बे-अदब हूँ सज़ा चाहता हूँ।

श्रीपत गुनगुना रहा है, जब राधू दूसरा टी-पॉट लाता है और उसे मेज़ पर रखकर चला जाता है। अनिमा उसमें से अपना प्याला बनाती है।

अनिमा : **(अपने प्याले में चाय ढालते हुए)** मैं पूछती हूँ, क्या आप किसी तरह के शिष्टाचार में विश्वास नहीं रखते ?

श्रीपत : **(हँसकर)** किसी तरह के भी नहीं ! शिष्टाचार शादी का, यों कह लो कि बंधन का प्रतीक है। उधर आपकी शादी हुई, इधर आपके *गले में शिष्टाचार का जुआ पड़ा। ये आपकी सास हैं*—*इनके सामने* सिर नीचा किये शिष्टता से यों मुस्कराइये, मानो आपके सारे दाँत झड़ गये हैं। ये आपकी सलहज हैं—इनके सामने विनम्रता से ऐसे हँसिये, मानो आपकी बत्तीसी मोतियों की है। ये आपकी पत्नी हैं—आचार-व्यवहार, सदाचार और शिष्टता की मौसी ! **(खूब ज़ोर से ठहाका मारता है)** मेरे ख़याल में आचार-व्यवहार के सभी कानून-कायदे शादी-शुदा लोगों के अधेड़ दिमाग़ों की उपज हैं। इसलिए मैं ब्याह की कल्पना ही करता हूँ, उसके बंधन में नहीं फँसता। **(सहसा अनिमा की ओर मुड़कर)** क्यों अन्नो, क्या तुम भी शादी-वादी करना चाहती हो या तुम्हें भी मेरी तरह ब्याह के सपने देखना ही पसंद है ?

अंजली : **(वापस आते हुए तनिक क्रोध से)** चलो अनिमा, चलकर बैठक में बैठें। चाय पी ली न तुमने ?

अनिमा प्याले को एक ही घूंट में समाप्त कर देती है।

: **(नौकर को आवाज़ देकर)** राधू ! राधू !

राधू : **(आँगन से)** जी आया ! **(अंदर आकर)** जी !

अंजली : राधू, यह सब उठाकर ले जा...और मैं कहती हूँ, मेज़ को अच्छी तरह साफ़ कर दे !

नीचे के संवाद में राधू चुपचाप मालकिन के आदेश का पालन करता है।

: सारी चादर ख़राब कर दी तुमने श्रीपत ! तुम तो बच्चों से भी गये-

---

1 मजलिस, सभा

बीते हो गये। नीरज अपनी मेज़ पर खाता है, लेकिन मजाल है जो कभी मेज़पोश ख़राब हुआ हो और तुम ऐसे हो कि...

श्रीपत : (अपना प्याला लिये हुए कुर्सी सरका लेता है कि राधू को काम करने में सुविधा हो) मैं कहता हूँ दीदी, तुम ज़रूर सेना में भरती हो जाओ ! गृहस्थी ने तुम्हारे सारे गुणों को मटियामेट कर दिया है।

अंजली : हटो, और यह प्याला अब ख़त्म करो। इस ग़रीब को दूसरे भी काम देखने हैं। देखो, घड़ी में क्या वक्त होने को आया है। चलो, आओ उधर बैठक में चलकर बैठें। यहाँ राधू सफ़ाई करेगा।

अनिमा उठती है।

श्रीपत : तुम चलो, मैं ज़रा यहीं आराम करूँगा। गर्म-गर्म चाय पीने से पसीना आ रहा है और पंखे की हवा बदन में ठंडी-ठडी सरसराहट पैदा कर रही है...तुम्हारी कसम, मैं तो यहाँ से उठकर स्वर्ग में भी न जाऊँ।

अंजली : पंखा तो उधर भी है।

श्रीपत : पर मुझमें उठने की सकत नहीं।

अंजली : हम तो जाते हैं, तुम बैठो यहाँ जितनी देर तुम्हारी इच्छा !

राधू सामान उठाकर चला जाता है श्रीपत कुर्ते की जेब से सिगरेट निकालकर मुँह में रखता है। लेकिन दियासलाई शायद उसके पास नहीं है। पुन: जेबें टटोलता है। फिर राधू को आवाज देने वाला होता है कि नीरज कमरे के दरवाजे से प्रवेश करता है।

नीरज दस-ग्यारह वर्ष का प्यारा-सा बच्चा है। नीली बुश्शर्ट और सफ़ेद नेकर पहने; सुंदर सुकुमार और सुसंस्कृत ! लेकिन चेहरा उसका गंभीर है। बाल-सुलभ चंचलता का वहाँ सर्वथा अभाव है। उसकी चाल उस बछड़े की-सी है, जिसने गले में बंधी रस्सी के साथ समझौता कर लिया हो।

नीरज : मामाजी नमस्ते !

श्रीपत : अख़...ा...ह...! भानजे साहब हैं। नमस्ते, नमस्ते ! कहो नीरू बेटे...नीरज ही हो न तुम ?

नीरज : जी मामाजी !

श्रीपत : (उसे बाँहों में उठाकर) अपने मामाजी के लिए दियासलाई की डिबिया तो लाओ बेटा।

नीरज : अभी लाया मामाजी।

श्रीपत उसे उतार देता है। वह दियासलाई की डिबिया लेने पर्दे के पीछे रसोईघर की ओर भाग जाता है। श्रीपत फिर कुर्सी पर बैठकर टाँगें मेज़ पर रख लेता है, जिसे अभी राधू साफ़ करके गया है और कुर्सी पर झूलता हुआ गुनगुनाता है।

श्रीपत : ऊधौ, अँखियाँ अति अनुरागी !
इक टक मग जोवति अरु रोवति,
भूलेहुँ पलक न लागी !
ऊधौ अँखियाँ अति अनुरागी ![1]

नीरज दियासलाई की डिबिया लेकर आता है। कुछ क्षण खड़ा गाना सुनता है, फिर आगे बढ़ता है।

नीरज : लीजिये मामाजी !

श्रीपत : लाओ बेटे !

नीरज दियासलाई देकर आदर से एक ओर खड़ा हो जाता है। श्रीपत वैसे ही टाँगें मेज़ पर रखे दियासलाई जलाकर सिगरेट सुलगाता है और बड़े आराम से कश खींचता है।

नीरज : **(पूर्ववत आदर से)** मामाजी, मेज़ पर टाँगें नहीं रखा करते।

सहसा श्रीपत की टाँगें नीचे आ जाती हैं, फिर वह तनिक चौंककर नीरज की ओर देखता है और अनायास ठहाका मारता है।

श्रीपत : **(फिर टाँगें उसी प्रकार मेज़ पर रखते हुए)** किसने कहा तुमसे ?

नीरज : ममी कहा करती हैं मामाजी ?

श्रीपत : वे तुम्हारे लिए कहती होंगी। तुम अभी बच्चे हो ना, जब तुम बड़े होकर किसी के मामा बनोगे तो तुम्हें भी मेज़ पर टाँगें रखकर बैठने की इजाज़त मिल जायेगी। **(फिर हँसता है)** कहो, किस क्लास में पढ़ते हो ?

नीरज : पाँचवीं में मामाजी !

श्रीपत : पढ़-लिखकर क्या बनना चाहते हो ?

नीरज : डिप्टी कमिश्नर मामाजी !

श्रीपत : डिप्टी कमिश्नर बनने की बात तुम्हें किसने सुझायी ?

नीरज : ममी ने मामाजी !

श्रीपत : तुम स्वयं क्या बनना चाहते हो ?

नीरज : मैं...मैं...मैं तो मामाजी...

श्रीपत : यह तुम्हें हर बात के साथ 'मामाजी, मामाजी' कहना किसने सिखाया ?

नीरज : ममी ने कहा है कि बड़ों से बात करते समय आदर से...

---

1 पहले संस्करण में निम्नलिखित गीत था :

लट उलझी सुलझा जा रे बालम
माथे की बिंदिया बिसर गयी मोरी
अपने हाथ लगा जा रे बालम
लट उलझी सुलझा जा रे बालम

श्रीपत : तो हो चुके तुम डिप्टी कमिश्नर ! इतने आदर से बात करोगे तो सरकार तुम्हें पटवारी बना देगी। अकड़कर चला करो, रौब से बात करो और...

नीरज : मैं तो कप्तान बनना चाहता हूँ मामाजी, पर...

श्रीपत : कप्तान ?

नीरज : क्रिकेट का कप्तान !

श्रीपत : क्रिकेट खेलते हो ?

नीरज : जी, ममी कहती हैं, बड़ा निकम्मा खेल है, चोट लग जाती है।

श्रीपत : तो फिर तुम बन चुके क्रिकेट के कप्तान। कितने घंटे खेलते हो ?

नीरज : दो घंटे।

श्रीपत : और कितना पढ़ते हो ?

नीरज : छह घंटे।

श्रीपत : छह घंटे खेला करो और दो घंटे पढ़ा करो।

नीरज : जी, मैं पास कैसे हूँगा ?

श्रीपत : पास होने के लिए रोज़ बाकायदा दो घंटे पढ़ लेना काफ़ी है और फिर तुम पास होते रहना चाहते हो या क्रिकेट के कप्तान बनना ?

नीरज : कप्तान बनना !

श्रीपत : तो जाओ, रोज़ दो घंटे जमकर पढ़ा करो और छह घंटे डटकर खेला करो। तुम्हारे मामाजी दुआ करते हैं कि भगवान ने चाहा तो बड़े होकर तुम अवश्य क्रिकेट के कप्तान बनोगे और भारत तो क्या, संसार भर में नाम पाओगे।

नीरज : **(गद्‌गद्‌ होकर)** मामाजी...**(बढ़कर श्रीपत से लिपट जाता है।)**

अंजली : **(दूसरे कमरे से)** नीरज !

नीरज : जी ममी !

अंजली : **(कमरे में प्रवेश करते हुए)** यहाँ क्या कर रहे हो ? उधर चलो अपने कमरे में। पढ़ने का समय हो गया है। अभी तुम्हारे मास्टर साहब आते होंगे...काम कर लिया कल का तुमने ?

नीरज : ममी, मैं तो खेलूंगा।

अंजली : **(क्रोध से)** क्या...ा...ा ! **(उसके कंधे को थपथपाते हुए नर्मी से)** चलो नीरू बेटा !

नीरज : छह घंटे खेलूंगा और दो घंटे पढ़ूँगा।

अंजली : **(क्रोध से)** क्या कहते हो ! **(नर्मी से)** चलो बेटा, तुम्हारे मास्टर साहब आने वाले हैं।

नीरज : मैं क्रिकेट का कप्तान बनना चाहता हूँ।

अंजली : **(क्रोध को बरबस रोककर नर्मी के साथ)** पागल ! सिर-पैर तुड़वायेगा क्रिकेट का कप्तान बनकर। तुझे तो डिप्टी कमिश्नर बनना है।

नीरज : मुझे डिप्टी कमिश्नर नहीं बनना। मैं तो क्रिकेट का कप्तान बनूंगा।

अंजली : **(क्रोध को रोक सकने में असफल होकर)** चल-चल, बन लिया क्रिकेट का कप्तान, अब चलकर पढ़। मास्टर साहब के आने का समय हो गया है। **(उसे कान से खींचती हुई ले जाती है)**

श्रीपत : अरे दीदी—तुम तो नीरू बेटे का कान उखेड़ दोगी।

अंजली : **(जाते-जाते मुड़कर क्रोध से)** चुप रहो श्रीपत ! तुम चाहते हो, मेरा बेटा भी तुम्हारी तरह आवारा हो जाये ! **(फुफकारती हुई)** न काम के, न काज के, अढ़ाई सेर अनाज के !

बिफरी हुई चली जाती है और जाते-जाते मेज पर से दियासलाई की डिबिया उठा ले जाती है।

श्रीपत : अरे दीदी ! तुम तो व्यर्थ की गृहस्थी की चक्की में अपनी जान खपा रही हो। तुम्हें तो कहीं सेना में कोई छोटी-मोटी लेफ़्टीनेंट या कैप्टन हो जाना चाहिए !

हँसता हुआ फिर कुर्सी पर आ बैठता है। सिगरेट उठाता है, लेकिन वह बुझ गयी है और डिबिया अंजली जाते-जाते साथ ले गयी है। इसलिए योंही जेबें टटोलकर रह जाता है।

श्रीपत : **(अपने-आप से)** भगवान ही बचाये दीदी से ! दियासलाई की डिबिया ही जाते-जाते उठा ले गयीं।

टाँगें मेज़ पर रख लेता है और नौकर को आवाज़ देता है।

श्रीपत : राधू...राधू !

राधू : **(दूर से)** जी आया। **(क्षण भर बाद आता है)** जी साहब।

श्रीपत : दियासलाई की डिबिया लाओ।

राधू : बहुत अच्छा साहब !

चला जाता है। श्रीपत गुनगुनाता है :

श्रीपत : यह दस्तूरे-ज़ुबाँ बंदी[1] है कैसी तेरी महफ़िल[2] में
यहाँ तो बात करने को तरसती है ज़ुबाँ[3] मेरी

श्रीपत के गाने के मध्य पर्दा गिर जाता है। क्षण भर तक गाने की ध्वनि आती रहती है, इसके बाद निस्तब्धता छा जाती है।

---

1. मौन का नियम। 2. सभा। 3. ज़बान, वाणी।

दूसरा दृश्य

कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है। श्रीपत खाने की मेज पर जूतों समेत सोया हुआ है। मेज की चादर गोला-सा बनी उसके सिर के नीचे तकिये का काम दे रही है। मेज चूंकि इतनी लम्बी नहीं कि वह टाँगें पसारकर लेट सके, इसलिए उसकी एक टाँग दूसरी के घुटने पर है, लेकिन दोनों टाँगें एक ओर को झुकी हुई हैं और अलग-अलग होना ही चाहती है।

मेज के पास फ़र्श पर एक आधा जला सिगरेट पड़ा है। घड़ी में बारह बज रहे हैं।

पर्दा फिर गिर जाता है।

तीसरा दृश्य

कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है। घड़ी में तीन बज चुके हैं। खाने के कमरे में श्रीपत पूर्ववत मेज पर सोया हुआ है, लेकिन उसके सिर के नीचे की चादर फ़र्श पर पड़ी है और पाँव भी मेज के नीचे लटक रहे हैं। पर्दे के दूसरी ओर बैठक में अंजली और वकील साहब बातें करते हुए प्रवेश करते हैं।

अंजली : आइये, अब दिखाऊँ श्रीपत को, खाने की मेज़ पर सोया हुआ है।

इन्द्र० : खाने की मेज़ पर ! तुम कह क्या रही हो !

अंजली : हाँ, हाँ खाने की मेज़ पर। मैंने आपको इसलिए नहीं बताया कि सुबह उसके कारण नाश्ते को नौ बज गये थे, अब बहाना न बनाती तो दोपहर के खाने को चार बज जाते ! **(उन्हें खाने के कमरे की ओर ले जाती है।)**

इन्द्र० : अरे भाई तो उसे जगाया नहीं तुमने ?

अंजली : जगाया, उँह ! **(बेज़ारी से सिर हिलाती है)** मैंने तीन बार जगाने की कोशिश की। एक बार 'ऊँ'-'ऊँ' करके सो गया। दूसरी बार सिर्फ़ करवट बदली। तीसरी बार कंधों को झकझोरा तो बोला, 'दीदी, सो लेने दो, रात भर का जगा हुआ हूँ। थर्ड क्लास में यात्रा की है। पल

भर को भी आँख नहीं लगी।'

इन्द्र० : थर्ड क्लास में !

अंजली : और हमारे नौकर तक इंटर में यात्रा करते हैं।

इन्द्र० : सेकिंड या इंटर में शायद जगह न मिली हो। (**पर्दे के इधर खाने के कमरे में प्रवेश करते हुए, श्रीपत को सोये देखकर**) देखो तो कैसे सो रहा है ! कोई तकिया ही रख दिया होता इसके सिरहाने।

अंजली : बिस्तर खोला था कि बिछाऊँ। देखती हूँ, न चादर है, न तकिया और वह अचकन और पायजामा, जिनका ज़िक्र बड़े तमतराक से हो रहा था, ग़ायब हैं।

इन्द्र० : (**लेटे हुए श्रीपत की ओर स्नेह तथा दया-भरी दृष्टि से देखकर**) पर अपने तकिये तो थे।

अंजली : रखती कैसे ? मेज़ की चादर रखी हुई थी तकिया बनाकर सिरहाने, शायद करवट लेते समय गिर गयी। वह देखिये पड़ी है।

इन्द्र० : (**मेज़ के पास जाकर श्रीपत को जगाते हुए**) श्रीपत ! श्रीपत ! उठो भई...

श्रीपत पहले करवट बदलता है, फिर लम्बी 'ऊँ-ऊँह !' करता है, फिर चुटकी बजाता और जमुहाई लेता हुआ उठबैठता है।

श्रीपत : (**उल्टे हाथ से आँखें मलते हुए**) अख़्ख़ाह ! जीजाजी हैं। कहिये, आ गये आप ! मेरा ख़याल है, मैं कुछ पल के लिए सो गया था।

अंजली : (**मुँह बनाते हुए**) कुछ पल के लिए ! मालूम भी है, क्या समय हो गया है ? तीन बज चुके हैं ! अन्नो के कमरे में खाना खाया तुम्हारे कारण। यहाँ मेज़ पर तो तुम सोये हुए थे।

श्रीपत : सोचता था, नाश्ता करके ज़रा आराम के साथ दो-एक सिगरेट सुलगाऊँगा, लेकिन ज्योंही मेज़ पर टाँगें पसारकर सिगरेट पीने के मूड में बैठा कि नींद आ गयी। आपकी कसम जीजाजी, यहीं कुर्सी पर नींद आ गयी और सिगरेट...(**अपने आस-पास देखता है**) सिगरेट—वह देखिये पड़ा है...ज़रा उठाना दीदी !... (**अंजली एक बार सिगरेट की ओर देखकर फिर क्रोध से श्रीपत की ओर देखती है।**) अरे दीदी ! यह कोई साँप है, जो तुम्हें काट खायेगा।

अंजली नहीं हिलती। श्रीपत नौकर को आवाज़ देता है।

श्रीपत : राधू, राधू !

राधू : (**अंदर से**) जी आया...!

श्रीपत : (**वहीं से चिल्लाकर**) ज़रा दियासलाई की डिबिया लाना।

वकील साहब सिगरेट उठाकर श्रीपत को देते हैं।

: बात यह है जीजाजी, रात पल भर के लिए भी आँख नहीं लगी। कुर्सी पर बैठा कि ऊंघ गया।

इन्द्र० : लेकिन तुम तो मेज़ पर...

श्रीपत : ये कम्बख़्त डाइनिंग टेबल की कुर्सियाँ...ज़रा ऊँघ में एक ओर झुका कि लुढ़क गया।

इन्द्र० : लेकिन भई, बिस्तर बिछवा लेते। नहीं तो उधर बैठक में तख़्त या काउच पर सो जाते।

राधू प्रवेश करता है।

राधू : यह लीजिये दियासलाई की डिबिया साहब।

अंजली : राधू, वह चादर उठा ले जाओ और धोबी के कपड़ों में डाल दो!

राधू जाता-जाता चादर उठा ले जाता है।

श्रीपत : (वहीं बैठे-बैठे सिगरेट सुलगाकर उसका कश लेते हुए) पर मैं इस मेज़ पर कैसे सो गया, यह मुझे ख़ुद मालूम नहीं। शायद कुर्सी से गिरने पर...नींद की झोंक में...

अंजली : (कटुता से) अच्छी जगह निकाली है तुमने सोने के लिए!

श्रीपत : मैं असल में कभी-कभी सो जाया करता हूँ मेज़ पर। मैं कहता हूँ दीदी! तुम्हें याद है ना, नानाजी की मृत्यु के बाद मैंने एक दैनिक निकालने की मूर्खता की थी। पत्र का मैनेजिंग डायरेक्टर और संपादक भी मैं ही था। कई बार जब रात को संपादकीय लिखते-लिखते देर हो जाती, कसम तुम्हारी दीदी, पंखे के नीचे वहीं मेज़ पर सो जाता। दूसरे दिन जब आँख खुलती तो बारह बजे की शिफ़्ट काम पर आ चुकी होती। (हँसता हुआ) मैंने आदेश दे रखा था चपरासियों को कि मुझे सोते में हरगिज़ न जगाया जाये। (स्वयं ही ज़ोर से ठहाका मारता है) और मैं...

अंजली : तुम्हें नींद कैसे आ जाती है सख़्त खुर्री मेज़ पर?

श्रीपत : (हँसते हुए) तुम ख़ूब जानती हो दीदी, तुम्हें मख़मल के गदेलों पर नींद न आती थी और हम खुर्री चारपाई पर सो जाया करते थे। तुम्हारे कमरे के पास से भी कोई गुज़रे तो तुम्हारी नींद उचट जाती थी और हमारे कानों के पास ढोल भी बजते तो हमें ख़बर न होती। तुम्हारी कसम, मैं तो थर्ड क्लास में भी सो जाता, पर भीड़ कम्बख़्त इतनी थी कि एक बार जाकर बैठा तो उठकर कमर तक सीधी न कर सका।

अंजली : पर ऐसी भी क्या मुसीबत पड़ गयी कि सेकिंड छोड़ थर्ड में सफ़र करने लगे? नानाजी का दिया क्या...

श्रीपत : अब क्या बताऊँ दीदी, चला तो सेकिंड में ही था, पर मेरे डिब्बे में तो घोर सन्नाटा था। साथी मुसाफ़िर थे, पर मेरे लिए उनका अस्तित्व नहीं के बराबर था। (हँसता है) दोनों यूरोपियन, शायद अंग्रेज़! मुझसे तो क्या बोलते, बारह घंटे की यात्रा में कम्बख़्तों ने आपस में भी

नज़र तक न मिलायी। मैं तो ऊब गया वहाँ बैठे-बैठे। तभी एक स्टेशन पर...न जाने वह कौन-सा स्टेशन था...छोटा-सा...किसी कस्बे का स्टेशन ! अब क्या कहूँ दीदी, कैसी छवि दिखायी दी। कसम आपकी जीजाजी, बला की सुंदर थी वह लड़की। नगरों का सौंदर्य भी देखा है आपने (**शरारत से अंजो की ओर देखता हुआ हँसता है**) पीला और बीमार ! जिसे खाने के समय का इतना ध्यान रहता है कि खाना ही नहीं पचता...और एक वह लड़की थी...कुन्दन की तरह दमकता हुआ रंग और यौवन का...(**जोश में मेज़ से नीचे उतर जाता है**)... समझ लीजिये मौज पर आया सागर का ज्वार।

अंजली : (**बातचीत के इस रुख़ में पति की दिलचस्पी देखकर जिसके माथे पर तेवर चढ़ जाते हैं—क्रोध से**) मैं पूछती हूँ, आप श्रीपत की गंदी बातें ही सुनते रहेंगे या आराम भी करेंगे। खाना खाया है, अब आराम कीजिये। फिर आपको जाना होगा।

इन्द्र० : (**घबराकर**) चलो, चलो !

श्रीपत : (**ठहाका लगाता है**) वाह जीजाजी ! चल गया न आप पर भी अंजो दीदी का जादू ! अजी साहब, अगर आपका जी बातें सुनने को चाहता है तो बातें सुनिये, सोने को चाहता है तो सोइये।

अंजली : चलिये। मैं कहती हूँ, इसकी बातें तो कभी खत्म न होंगी। नानाजी कहा करते थे कि आराम की वेला...

श्रीपत : आराम करना चाहिए। अरे दीदी, कभी समय नियत करके भी आराम किया जा सकता है ? आराम किया जाता है, जब आराम को जी चाहे ! जीजाजी के सोने का वक्त है और मैं सो कर उठा हूँ, सुलाकर देख लो साथ-साथ, कौन ज़्यादा सोता है ? (**ज़ोर से ठहाका मारता है।**)

अंजली : अच्छा, हम चलते हैं। तुम उठो और नहा कर खाना खा लो। आराम का वक्त है, नौकर भी कुछ आराम कर लें। (**पति से**) चलिये।

इन्द्र० : (**श्रीपत को आँख से संकेत करते हुए, अंजो से**) तुम बिस्तर बिछवा दो अंजो, मैं आता हूँ।

अंजली : बिस्तर तैयार है।

इन्द्र० : (**वकील हैं न आख़िर**) तो ज़रा दफ़्तर में पंखा रखवा दो ! छत का पंखा खराब है और आज मैं वहीं सोऊँगा। सोऊँगा क्या, लेटे-लेटे आराम भी कर लूँगा और एक केस के बारे में रूलिंग भी देख लूँगा। राधू से कह दो कि ख़स की टट्टी पर ज़रा पानी छिड़क दे। कमरा ठंडा न हुआ तो मुझसे बैठा न जायेगा।

अंजली : (**जाते हुए**) जल्दी आ जाइयेगा। फिर आपको जाना होगा न चार बजे।। (**चली जाती है।**)

श्रीपत : (बढ़कर वकील साहब के कंधे को थपथपाते हुए) मैं कहता हूँ, क्या हो गया है जीजाजी आपको ? कसम आपकी, आप तो बिल्कुल बदल गये हैं। क्या तिलांजलि दे दी ज़िंदगी के रस-रंग को आपने ?

इन्द्र० : (लम्बी साँस भरते हुए, कंधे झटककर) अरे भई, समझौता करना ही पड़ता है जीवन में...

श्रीपत : समझौता ही किया है न आपने ? (शरारत से आँख दबाते हुए हँसता है) समझौता ज़रूर करना चाहिए। तो फिर 'दिलकुशा' के वादे का क्या रहा ? कुछ दोस्त इकट्ठे होंगे, एक साँझ तो गुज़ारी जाये वहाँ।

इन्द्र० : नहीं भाई, मैंने तो...

श्रीपत : अरे जीजाजी...अब मुझसे न उड़िये। फ़ौजदारी के वकील और पारसाई ? (हँसता है) मुझसे समझौता नहीं हो सकता। इतने बरसों के बाद मुलाकात हुई है आपसे तो...

इन्द्र० : लेकिन भई अंजो...

श्रीपत : उसे आप समझाइये, निकालिये कोई तरकीब।

इन्द्र० : (कुछ और पास आकर भेद-भरे स्वर में) लेकिन भई, उस लड़की का क्या हुआ।

श्रीपत : किस लड़की का ?

इन्द्र० : अ-भई, वही, जो तुम्हें किसी स्टेशन पर मिली थी और जिसके लिए तुम थर्ड के डिब्बे में...

श्रीपत : (हँसकर) अरे जीजाजी...बस तो जब मैंने उसे देखा, अपना डिब्बा छोड़कर उसके डिब्बे में जा सवार हुआ।

अंजली हाथ में एक सफ़ेद चादर लिये आती है।

अंजली : (चादर मेज़ पर बिछाते हुए) आप अभी तक यहीं बातें कर रहे हैं। मैं कहती हूँ, चलकर कुछ आराम कर लीजिये। फिर आपको जाना होगा। और...

इन्द्र० : (घबराकर) अरे भई, चलो...चलो (उसके पीछे चलते हुए) चलो !

दोनों चले जाते हैं।

श्रीपत : (अपने आप हँसता है।) इस घर के लोग भी पुर्ज़े हैं, कसम भगवान की, मशीन के पुर्ज़े !

कुर्सी घसीटकर बैठ जाता है और टाँगें मेज़ पर रख लेता है। मुन्नी प्रवेश करती है।

मुन्नी : जी, आप खाना खा लीजिये। कब से पड़ा ठंडा हो रहा है।

श्रीपत : आप...आप...मेरा मतलब है कि आपसे परिचय नहीं। आइये, बैठिये ! (कुर्सी की ओर संकेत करता है।)

मुन्नी : जी, मैं यहाँ की नौकरानी हूँ।

श्रीपत : खूब (ठहाका मारता है) और मैं समझा, तुम अंजो दीदी की कोई

ननद-वनद हो। क्या नाम है तुम्हारा?

मुन्नी : जी, मुझे मुन्नी कहकर पुकारते हैं।

श्रीपत : अरे, मुन्नी तो नन्हीं-मुन्नी-सी लड़की को कहते हैं, और तुम तो कसम तुम्हारी, अब नन्हीं-मुन्नी नहीं हो। आओ, ज़रा बैठो।

टाँगें मेज़ के नीचे कर लेता है। मेज पर कुहनियाँ टिकाकर ठोड़ी हथेलियों पर रख लेता है।

मुन्नी : जी, आप खाना खा लीजिये।

श्रीपत : अजी खाने का क्या है, खाये लेते हैं। तुम ज़रा बैठो...

मुन्नी : आप खाना खा लीजिये, हम लोगों के आराम का समय है।

श्रीपत : आराम का समय...आराम का समय...आराम का समय...कसम तुम्हारी, मैं तो पागल हो जाऊँगा। इस घर में जिसको देखो, उसके आराम का समय है। किसी नपे-तुले वक्त में आराम भी किया जा सकता है कभी?...मुझसे यदि कहा जाये कि अब एक बज गया है, तुम्हारे सोने का समय है, सो जाओ ताकि दो बजे उठ सको, तो कसम तुम्हारी, मेरी पलकें भी भारी न हों। मेरे कानों में एक बजे ही दो बजने लगें। नींद आती है जब आती है। चाहने पर कभी नहीं आती। क्यों मुन्नी, तुम्हें बँधे वक्त का आराम पसंद है?

मुन्नी : जी मैं...

श्रीपत : और हमारे घर में किसी तरह का बंधन नहीं। बात असल में यह है कि स्वर्गीय नानाजी ने अंजो दीदी के दिमाग़ को जकड़ रखा है। वे थे भी तानाशाह। सदा अपनी राय दूसरों पर लादा करते थे...हमारे घर में ऐसा करना महा पाप समझा जाता है। कसम तुम्हारी मुन्नी, तुम चार दिन हमारे घर में रहकर तो देखो। कितनी आज़ादी है वहाँ। दिन के हर वक्त तुम्हें वहाँ कोई-न-कोई नौकर सोता हुआ मिलेगा। (**हँसता है**) जब मालिक सोते हैं तो नौकर क्यों न सोयें।

मुन्नी : जी, आप खाना खा लीजिये!

श्रीपत : मैं कहता हूँ, कसम तुम्हारी, ममी तुम्हें बहुत पसंद करेंगी। मैं अंजो दीदी से तुम्हें माँग लूंगा।

मुन्नी : (**लटकते हुए-से कृतज्ञता-भरे स्वर में**) जी, आपकी बड़ी किरपा है साब। आप खाना...

अंजली : (**बैठक से**) मुन्नी! तुम क्या कर रही हो यहाँ? (**प्रवेश करते हुए**) चलो, जाकर आराम करो! फिर तुम्हें साँझ के नाश्ते का प्रबंध करना होगा। आज दोपहर के खाने ही को इतनी देर हो गयी।

मुन्नी : मेम साब, मैं साब को खाना...

अंजली : तुम जाओ, मैं खाना देती हूँ इनको।

मुन्नी : आप आराम कीजिये मेम साब...

अंजली : मैं जो कहती हूँ, तुम जाओ, आराम करो। मैं देती हूँ खाना।

मुन्नी : बहुत अच्छा मेम साब...(**विवश चली जाती है।**)

अंजली : सदाचार तो तुम्हें छू भी नहीं गया श्रीपत। मेरी नौकरानी पर ही डोरे डालने लगे...

श्रीपत : अरे, दीदी।...नौकरानी तो तुम्हारी बस ग़ज़ब की है। मेरी कसम दीदी इसे हमारे यहाँ भेज दो।

अंजली : शर्म तो नहीं आती श्रीपत। न बहन का ध्यान, न बहनोई का; न सदाचार का, न शिष्टता का। यही सिखाया है तुम्हें ममी और पापा ने। मैं तो भगवान को धन्यवाद देती हूँ कि नानाजी ने मुझे गोद ले लिया, नहीं...

श्रीपत : तुम्हें नानाजी की कसम दीदी, इस नौकरानी को हमारे यहाँ भेज दो।

अंजली : (**चिढ़कर**) उठो श्रीपत, अभी जी नहीं भरा तुम्हारा इतना समय गँवाकर?...चलो उठो, नहा लो। नहीं नहाते तो हाथ-मुँह धो लो!

श्रीपत : न मानो दीदी। ऐसी बनी-सँवरी नौकरानी रखोगी तो जीजाजी कभी फिसल जायेंगे। आदमी हैं न आख़िर बेचारे।

अंजली : अच्छा उठो यहाँ से, मेज़ की चादर बदल दूँ। अभी बदलकर गयी थी कि तुमने फिर जूते टिका दिये इस पर। मैं पूछती हूँ, तुमने अभी तक यह भी नहीं सीखा कि खाने की मेज़ की चादर पर जूते नहीं रखे जाते और चादर मेज़ पर बिछाने के काम आती है, तकिया बनाने के नहीं। (**बड़ी नर्मी से**) उठो मैं लाती हूँ नयी चादर। तुम इतने में तैयार हो जाओ।

चादर उठाकर चली जाती है। श्रीपत फिर मेज पर टाँगें रख लेता है और गुनगुनाता है।

संतोष तो हो जाता आशा तो उमग उठती,
देते तो वचन, चाहे करते न वचन पूरा।[1]

अपने मामा को गाते सुनकर नीरज अपने कमरे से दबे पाँव आता है।

नीरज : (**सरगोशी में**) मामाजी!

श्रीपत : आओ बेटे। क्या वक्त पर आये हो! सुनो, हम गा रहे हैं। (**गाता है।**)

---

1. पहले संस्करण में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं:

उम्मीद तो बँध जाती तस्कीन तो हो जाती
वादा न वफ़ा करते वादा तो किया होता।

यह आस का मारा दिल इस सोच में रहता है,
होता कि नहीं होता, अब उनका वचन पूरा ।[1]

: क्यों बेटे, पसंद आया हमारा गाना !

नीरज : आप बहुत अच्छा गाते हैं मामाजी । और सुनाइये ।

श्रीपत : बस बेटे । नहीं तुम चाहोगे कि क्रिकेट कप्तान बनने के बदले गवैये बनो ।

दोनों हँसते हैं ।

नीरज : मामाजी, आप सोये नहीं ?

श्रीपत : अभी सो कर उठा हूँ ।

नीरज : मैं सोया था, पर नींद नहीं आयी । मामाजी, आप ज़रा ममी से कहिये मुझे क्रिकेट खेलने की आज्ञा दे दें ।

श्रीपत : **(उसे गोद में उठाते हुए)** मैं ज़रूर कहूँगा । तुम्हारी कसम बेटे, मैं यहाँ से जाते ही क्रिकेट का सारा सामान तुम्हें भेजूंगा—बैट, विकटें, गेंद—सब । तुम हर रोज़ खेलना और अपने इन मामाजी के हक़ में दुआ करना । क्यों नीरज, याद रखोगे न अपने मामाजी को ?

नीरज : **(नीरज गले से लिपट जाता है)** मामाजी !

अंजली : **(दूसरे कमरे से)** नीरज, क्या कर रहे हो तुम यहाँ **(चादर लिये हुए प्रवेश करती हैं)** तुम्हारे तो सोने का समय है । सोये नहीं तुम क्या ?

नीरज : नींद नहीं आती ममी ।

अंजली : **(मेज़ पर चादर बिछाते हुए)** चलकर लेटो, आ जायेगी । नानाजी कहा करते थे कि नींद ना आये तो भी खाना खाने के बाद कुछ देर लेटना चाहिए । चलो, अपने कमरे में चलकर आराम करो और श्रीपत, तुम अभी तक यहीं बैठे हो ! जाओ, बाथरूम में सब कुछ रखा हुआ है । नहा लो, अगर नहाना है, नहीं तो हाथ-मुँह धो डालो । मैं खाना लाती हूँ ।

श्रीपत : मुझे खाने की ज़रा भी इच्छा नहीं दीदी ।

अंजली : तो फिर क्या खाओगे ?

बाहर खोंचेवाला आवाज़ देता है ।

खोंचेवाला : चाट चटपटी मसालेदार । पानी के बताशे, दही-बड़े ।

श्रीपत : मैं तो कसम तुम्हारी, दही-बड़े खाऊंगा ।

खोंचेवाला : (बाहर) दही के बड़े ?

श्रीपत : क्यों नीरज, खाओगे दही-बड़े ?

नीरज : (चुप)

श्रीपत : आओ तुम्हें दही-बड़े खिलायें ।

---

1. नाकामे-तमन्ना दिल इस सोच में रहता है
यों होता तो क्या होता, यों होता तो क्या होता ।

भागकर बैठक के बाहर वाले दरवाज़े में जा, आवाज़ देता है।

श्रीपत : ओ चाट वाले, ला इधर दही-बड़े और चाट।

अंजली उसे रोकने के लिए उसके पीछे-पीछे बैठक में आती है। नीरज उसका आंचल पकड़े उसके पीछे है।

नीरज : (अपने मामा और चाट वाले की ओर लक्ष्य करके अनुनय के स्वर में) ममी !

अंजली उसका हाथ झटक देती है और क्रोध-भरी दृष्टि से उसे देखती है।

श्रीपत : (मुड़कर) अरे दीदी। इस कोप-दृष्टि से बच्चे की ओर क्यों देख रही हो। मैं कहता हूँ, सब खायेंगे दही-बड़े। (फिर मुड़कर ज़ोर से आवाज़ देता है) ओ दही-बड़े वाले, इधर ला दही-बड़े और पानी के बताशे।

अंजली : श्रीपत रहने दो, इसका पेट खराब हो जायेगा।

श्रीपत : अगर तुमने बचपन ही में इसका पेट ऐसा कमज़ोर बना दिया तो कसम तुम्हारी दीदी, बड़े होते-न-होते निश्चय ही खराब होकर रहेगा।

अंजली : मैं पूछती हूँ, दही-बड़े भी कोई खाने की चीज़ है?

श्रीपत : उसके पास पानी के बताशे और मूंगी के लड्डू भी हैं—चटपटे और मसालेदार। (नौकर को आवाज़ देता है) राधू...राधू...!

राधू : (किचन से) जी साब ! (अंदर आकर) जी !

श्रीपत : खोंचेवाला बैठा है बाहर, उससे पानी के बताशे और दही-बड़े लाओ? (अंजली)से आओ दीदी, उड़ायें दो-दो ! (राधू से, जो जाने को मुड़ता है) और सुनो, मूंगी के लड्डू भी ले आना अंजो दीदी के लिए।

राधू चला जाता है।

अंजली : मुझे नहीं खाने मूंगी के लड्डू और पानी के बताशे। नानाजी कहा करते थे कि चाट...

श्रीपत : निहायत बुरी चीज़ है। लेकिन कभी-कभी बुरी बात भी कर देखनी चाहिए। बहुत भलाई को भगवान पसंद नहीं करता। (हँसता है) जिस तरह सुंदर बच्चे को कुदीठि से बचाने के लिए उसके माथे पर काला टीका लगा दिया जाता है, उसी तरह मित्र-बंधुओं की बुरी नज़र से अपनी भलाई की रक्षा करने को मैं भी कभी-कभार ऐसी-वैसी बुरी बात कर लिया करता हूँ। तभी तो आज दिन मेरी भलाई उसी तरह बनी है।

अंजली : (व्यंग्य से) भलाई ! (तिक्त मुस्कान उसके होंठों पर फैल जाती है) क्या बात है तुम्हारी भलाई की ! तुम्हीं को मुबारक हो यह भलाई !

इन्द्र० : (दफ़्तर के दरवाज़े से झांकते हैं) भई, क्या बात है? (पास आकर) झगड़ क्यों रहे हो? (श्रीपत की ओर देखकर शरारत से आँख दबाते हैं) मैं तो सो ही गया था अंजो ! तुम्हारे ज़ोर-ज़ोर से बोलने की

आवाज़ सुनी तो चला आया।

अंजली : यह श्रीपत नीरज को दही-बड़े खिला रहा है।

श्रीपत : आइये जीजाजी, दही-बड़े बिकने आये हैं, पानी के बताशे हैं और चाट। आइये, कुछ...

इन्द्र० : भाई मैंने तो छह वर्ष से कभी चाट को मुँह नहीं लगाया...

अनिमा : **(हँसती हुई प्रवेश करती है)** केवल दोने देखे हैं।

श्रीपत : भई, क्या खूब मौके पर आयी हो अन्नो। तुम्हारी कसम, दही-बड़े आये हैं, फ़र्स्ट-क्लास ! जीजाजी ने भी छह बरस से चखकर नहीं देखे और मुझे भी, भगवान झूठ न बुलवाये, सदियाँ गुज़र गयी हैं उनकी सूरत देखे। आओ बैठो ! **(राधू को आवाज देता है)** राधू, अब ले भी आ दही-बड़े !

अनिमा : मैं नहीं खाती दही-बड़े।

बाहर से कुल्फ़ी वाले की आवाज आती है।

कुल्फ़ीवाला : कुल्फ़ी मलाय की बरफ़ !

श्रीपत : लो, कुल्फ़ी खाओ। तुम्हारी कसम, कुल्फ़ी हो, फिर ऊपर से मलाई वाली हो तो और क्या चाहिए। **(जोर से राधू को आवाज देता है)** राधू, बैठाइयो कुल्फ़ीवाले को। किसी ने कहा है—भिन्नता जीवन का रस है—वेराइटी इज़ द स्पाइस ऑफ़ लाइफ़—ता आये, जो चाहे कुल्फ़ी खाये, जो चाहे दही-बड़े और जो चाहे पानी के बताशे और चाट। **(सहसा वकील साहब की ओर मुड़कर)** कहिये जीजाजी, क्या खायेंगे...? रुकिये नहीं...हाँ-हाँ, हाँ-हाँ...कह दीजिये...कह दीजिये।

राधू एक बड़े थाल में सभी चीजों की प्लेटें रखकर ले आता है। श्रीपत उससे लेकर तिपाई पर रखता है।

इन्द्र० : **(प्रकट उदासीनता से)** मैं पानी के बताशे ही ले लूँगा।

श्रीपत : तुम नीरज ?

नीरज : मैं कुल्फ़ी लूँगा।

अंजली : फिर पड़े रहोगे बीमार पेचिश से कई दिन।

श्रीपत : **(अंजो की बात सुनी-अनसुनी करके)** तुम अन्नो ?

अनिमा : मैं मूंगी के लड्डू लूंगी।

श्रीपत : अरे, मुन्नी और दूसरे नौकरों को भी बुलवा लो। इस घर में तो उन्हें भी युग बीत गये होंगे इन चीज़ों की शक्ल देखे। **(सहसा अंजो की ओर मुड़कर)** कहो दीदी, तुम कुल्फ़ी लोगी, दही-बड़े खाओगी, मूंगी के लड्डू, चाट या सभी चीज़ें ?

अंजली : **(जलकर लगभग चीखते हुए)** नानाजी कहा करते थे—दुनिया में तीन तरह के आदमी होते हैं। एक वो, जो आप भी चलते हैं और दूसरे

को भी चलाते हैं—इंजन की तरह। दूसरे वो, जो आप नहीं चलते, पर चलाओ तो चले जाते हैं—गाड़ी के डिब्बों की तरह। और तीसरे वो, जो न आप चलते हैं, न दूसरों को चलने देते हैं—ब्रेक की तरह! नाना जी कहा करते थे। श्रीपत...

श्रीपत : ब्रेक है, ब्रेक! (**गगन-भेदी ठहाका लगाता है**) वाह दीदी! लाख रुपये की बात कही तुमने। (**थाल से कुल्फ़ी की प्लेट उठाता है**) लो, इसी बात पर कुल्फ़ी खाओ।

अंजली : (**चिढ़कर**) मैं नहीं खाती कुल्फ़ी।

श्रीपत : लो नीरज, तुम लो कुल्फ़ी। दीदी पानी के बताशे लेंगी। (**ट्रे से पानी के बताशे की तश्तरी लेकर**) लो दीदी, पानी के बताशे।

अंजली : (**झुँझलाकर**) मुझे नहीं चाहिए पानी के बताशे।

श्रीपत : लीजिये जीजाजी, आप पानी के बताशे। दीदी मूँगी के लड्डू लेंगी।

अंजली : (**बेतरह खीझकर**) रखो ये मूँगी के लड्डू अपने ही पास। मैं इनके बिना भली।

श्रीपत : (**अंजली की चिढ़चिढ़ाहट की ओर ध्यान दिये बिना**) लो अन्नो, तुम लो ये मूँगी के लड्डू। दीदी का जी असल में दही-बड़े खाने को हो रहा है। (**दही-बड़े की प्लेट उठाता है**) लो दीदी, दही-बड़े, मसाला भी देखो कैसा चटपटा है।

अंजली : (**क्रोध से चिल्लाकर**) श्रीपत, तुम्हें शर्म नहीं आती...

श्रीपत : तुम्हारी इच्छा दीदी। दही-बड़े फिर हमीं खाये लेते हैं। (**दही-बड़ा मुँह में रख लेता है।**)

अंजली : (**अपने पति से**) मैं कहती हूँ, आप मस्त होकर पानी के बताशे उड़ा रहे हैं, कुछ ख़याल भी है, अब समय क्या हो रहा है—चार बजने को हैं!

श्रीपत : (**चौंककर**) क्या कहा! चार बजने को हैं। (**दही-बड़े की तश्तरी खट से रख देता है**) मेरा...मेरा कुर्ता कहाँ है?

जल्दी-जल्दी खाने के कमरे में जाकर कुर्सी से कुर्ता उठाकर उसे बाँहों में उड़सता हुआ वापस आता है।

इन्द्र० : क्यों, क्या बात है?

श्रीपत : मुझे चार बजे 'दिलकुशा' पहुँचना है। मेरे मित्र चार बजे वहाँ पहुँच रहे हैं। राघू, मेरा बिस्तर उठाओ। ताँगा रास्ते में ही पकड़ लेंगे।

दूसरा दही-बड़ा उठाकर मुँह में रख लेता है। राघू चला जाता है।

अंजली : पर बिस्तर का क्या करोगे?

श्रीपत : उधर ही से स्टेशन पर चला जाऊँगा। सात बजे की गाड़ी से जाना है मुझे।

अंजली : विस्तर तो मैंने खुलवा दिया।

श्रीपत : अच्छा, तो राधू के हाथ भिजवा देना 'दिलकुशा' होटल !

अंजली : गंदा था, पानी के टब में पड़ा है।

श्रीपत : (ठहाका लगाता है) अरे दीदी !...खैर, जब धुल जाये, तब भिजवा देना। अब तो मैं चलता हूँ।

अंजली : मुझे क्या मालूम था कि तुम आँधी की तरह आओगे और तूफ़ान की तरह चले जाओगे।

श्रीपत : (हँसता है) भगवान ने चाहा तो फिर आऊँगा अंजो दीदी और धूल की तरह टिककर बैठूंगा। अच्छा तो नमस्ते। (**हँसता हुआ दोनों हाथ मस्तक पर ले जाता है।**

अंजली : अरे, तो राधू कहाँ हैं ! उससे कहो ताँगा लाये !

आँगन के दरवाजे से निकल जाती है। वकील साहब श्रीपत को एक ओर ले जाते हैं।

इन्द्र० : (**उसके कंधे को एक हाथ से थपथपाते हुए सरगोशी में**) क्यों भई, सचमुच जा रहे हो ?

श्रीपत : (**वैसे ही धीमी आवाज में**) अरे जीजाजी, आज कौन जाता है ! रात तो 'दिलकुशा' में दिलकशी रहेगी। कहिये, चलियेगा !

इन्द्र० : अच्छा भई, बड़े गुरू निकले। दही-बड़े की प्लेट तो यों खट से रख दी मेज़ पर, जैसे बड़े लाट साहब से मिलने जा रहे हो। (**और भी धीरे से**) कहो, कुछ वो भी...

अंजली : और अंजो दीदी समझती हैं, बड़े बरखुरदार किस्म के पति हैं आप...

इन्द्र० : अरे भई, समझौता करना ही पड़ता है। तुम आ गये हो, नहीं (**लंबी साँस लेकर**) हम और देखें स्वर्ग की रँगरेलियों के स्वप्न !'[1]

दबी-सी हँसी हँसते हैं। अंजली प्रवेश करती है।

अंजली : (**आते-आते**) लीजिये, आ गया ताँगा। ख़ाली जा रहा था, आवाज़ देकर बुला लिया।

इन्द्र० : ऐ हुम ! अंजो, मैं ज़रा श्रीपत को स्टेशन तक पहुँचा आऊँ।

अंजली : हाँ, तो देर करके न आइयेगा।

नीरज : मामाजी ! (**श्रीपत से चिमट जाता है।**)

श्रीपत : (**उसे चूमकर प्यार से अलग करते हुए**) हम नीरज बेटे के लिए क्रिकेट का सामान भेजेंगे। दीदी, इसे क्रिकेट खेलने की इजाज़त दे दो। बड़ा होकर निश्चय ही क्रिकेट का कप्तान बनेगा। (**अनिमा की ओर मुड़कर**) अन्नो, मुद्दत के बाद मिले थे, पर...(**हँसता है**) अब के फिर

---

1. मूल संस्करण में निम्नलिखित पंक्ति थी :

हम और आरज़ू-ए-विसाले-परीरुख़ाँ !

मिले तो आशा है, तुम भी अंजो दीदी की तरह हमारे एक नये जीजा को बांधे हुए होगी। (स्वयं ठहाका मारता है) और अंजो दीदी, नमस्ते। दुआ है कि हमारे नानाजी का जादू तुम्हारे सिर से उतरे और तुम भी देखो कि चाट आखिर कोई वैसी बुरी चीज़ नहीं है। (ठहाका मारता है) चलिये जीजाजी।

नीरज : मामाजी नमस्ते !

लेकिन नीरज का स्वर राधू, मुन्नी और अन्नो के 'नमस्ते-नमस्ते' में डूब जाता है। श्रीपत वकील साहब के साथ सब की 'नमस्ते' का उत्तर देता हुआ निकल जाता है।

नीरज : (प्रसन्नता से उछलकर) मामाजी हमारे लिए क्रिकेट का सामान भेजेंगे !

अंजली : (क्रोध से मुड़कर) चल, हाथ धो और किताब लेकर बैठ ! भेजेंगे तुम्हारे लिए क्रिकेट का सामान मामाजी। गणित के मास्टर साहब आनेवाले होंगे...

नीरज : ममी...

अंजली : मैं कहती हूँ चल ! लेके बैठ गया कुल्फ़ी खाने। जैसे कभी मिली ही न हो कोई चीज खाने को। अन्नो, तुम ज़रा इसके हाथ धुलाना और बैठाना इसे पढ़ने की मेज़ पर (कमरे में चारों ओर नज़र घुमाती है) क्या हाल हो गया चंद घंटों में कमरे का ! (नौकर को आवाज़ देती है) राधू, राधू ! (सिगरेट के एक टुकड़े को, जो फ़र्श पर पड़ा सुलग रहा है, जाकर पांव से मसलकर बुझाती है) कुछ दिन और रह जाता तो मैं सचमुच जाकर सेना में भरती हो जाती। अभी चादर बदली थी कि फिर गंदी कर दी। (चीख़कर नौकर को आवाज़ देती है।) राधू !

राधू : (आते हुए) जी मेम साब।

अंजली : उठा ये सब चाट, दही-वड़े और मूंगी के लड्डू। तुम और मुन्नी खा लेना। और यह मेज़ साफ़ कर, चादर लाकर बदलूं। चाय का समय हो गया।

राधू चुपचाप सामान उठाने लगता है, अंजली की नजर घड़ी पर चली जाती है।

: (चौंककर) अरे, यह घड़ी रुक गयी। राम...राम...राम ! मैं भी चाबी देना भूल गयी। दस बरस से बाकायदा इसे चाबी देती आ रही हूँ। नानाजी कहा करते थे—श्रीपत ब्रेक है ब्रेक !

मेज़ को दीवार के साथ करके उस पर चढ़कर घड़ी को चाबी देती है।

: मेरे घर में ब्रेक का क्या काम ? मेरा घर इसी घड़ी की तरह चलेगा।

लगातार, सांझ-सवेरे ! (घड़ी टिक-टिक करने लगती है।) टिक-टिक, टिक-टिक और कोई चीज इस नियम को न तोड़ सकेगी। (सहसा घड़ी की टिक-टिक बंद हो जाती है) अरे यह फिर खड़ी हो गयी। राधू...राधू !

(राधू, जो सामान समेटकर जाने को होता है, अपनी मालकिन की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से ताकता है।)

अंजली : घड़ी टूट गयी राधू, घड़ी टूट गयी ! शायद मैंने इसे ज्यादा चाबी दे दी।

अंजली दोनों हाथ उठाये परेशान-सी मेज पर खड़ी है, जब पर्दा गिरता है।

दूसरा अंक

पहला दृश्य

बीस वर्ष बाद पर्दा उसी मिले-जुले खाने के कमरे और बैठक में उठता है। बीस वर्षों के इस अर्से में यद्यपि पर्दों के कपड़े, मेज़-पोश और गद्दियों तथा तकियों के गिलाफ़ बदल गये हैं, लेकिन कमरों की सजावट और सफ़ाई में कुछ वैसा अंतर नहीं आया। केवल बैठक में, किचन को जाने वाले दरवाज़े के ऊपर, अंजो दीदी का आदमकद चित्र ऐसे लगा है कि कमरे के दोनों भागों से नज़र आ रहा है। – चित्र की अंजो दीदी पहले दृश्य जैसी ही लगती है, वय में थोड़ी बड़ी और कुछ ज्यादा गंभीर। चित्र में भी उसके माथे की नस साफ़ तनी दिखायी देती है। और आँखें, लगता है, जैसे इस ऊँचाई से कमरे में होने वाले प्रत्येक कार्य-व्यापार को देख रही हैं।

खाने के कमरे में सामने की दीवार पर पांच वर्ष पुराना कैलेंडर लटक रहा है।

पर्दा उठते समय खाने की मेज़ की पांच कुर्सियां मेज के नीचे हैं, छठी पर अन्नो बैठी स्वेटर बुन रही है।

अनिमा की वेश-भूषा और बालों की बनावट में बेपरवाही वही बीस बरस पुरानी है। हां, उनमें कहीं-कहीं सफ़ेद तार दिखायी दे रहे हैं और शरीर भी कुछ मोटा हो गया है।

कुछ क्षण बाद बाहर के कमरे से ओमी तेज़-तेज़ आती है—बिलकुल अंजो दीदी की तरह—और जाकर रसोईघर के दरवाज़े पर नौकरानी को आवाज़ देती है :

ओमी : मुन्नी, नाश्ता रखो मेज़ पर! (किंचित कड़े स्वर में) तुम कर क्या रही हो? आठ बजने को आये हैं और नाश्ते का कहीं पता नहीं। (अंदर की ओर मुड़ती है, लेकिन फिर कुछ याद आ जाने से दरवाज़े

तक जाती है) और सुनो, जज साहब आज इधर ही नाश्ता करेंगे !

मुन्नी : (पृष्ठ भूमि में) बस, लिये आ रही हूँ मेम साब !

ओमी, खट-खट करती, अंदर के कमरे की चौखट पर जाती है।

ओमी : नीलू बेटे, कपड़े बदल लिये तुमने ?

अनिमा : (अंदर से) जी, हो गया तैयार ममी !

ओमी फिर खट-खट करती हुई किचन के दरवाज़े तक जाती है।

ओमी : (किचन के दरवाज़े से) मुन्नी, नीलम का नाश्ता उसके कमरे में पहुँचाओ ! और देखो, राधू को भेजो नज़ीर साहब के यहाँ। साहब को बुला लाये। आकर नाश्ता कर लें, फिर चाहे सारा दिन बैठे गप लड़ायें।

वापस आकर, कुर्सी खींचकर, अन्नो के सामने जा बैठती है।

: **(अन्नो की आँखों को अपने ऊपर टिके और उनमें मुस्कान की हल्की-सी रेखा को देखकर)** क्या करूँ अन्नो मौसी ! **(हंसती है)** शोर न मचाऊँ तो नाश्ते को बारह बज जायें।

आश्चर्य कि ओमी की चाल-ढाल, रंग-रूप—सब अंजो दीदी-सा है। बस सूरत अलग है। नहीं तो पतला-छरहरा शरीर वही, दुर्बल नसें वही, उन्नत ललाट पर हल्के तेवर वही—लगता है, अंजो दीदी ही का दूसरा रूप धरती पर उतर आया है।

अनिमा : **(उठकर कमरे में घूमते हुए)** सोचती हूँ, अगर परलोक में भी आदमी इस लोक की ख़बर रखता है और आत्मा भी कोई चीज़ है तो तुम्हें अपने पद-चिह्नों पर चलते देखकर अंजो की आत्मा बहुत प्रसन्न होती होगी। चुना भी तो बीसियों में से था उसने तुम्हें। अंजो चाहती थी ऐसी बहू, जो उसके घर को बिलकुल उसकी तरह चला सके। हम मज़ाक किया करती थीं कि तुम ऐसी बहू लाओगी, जो पानी भी डाइ-निंग टेबल पर जाकर पिये। **(फिर बैठ जाती है।)**

ओमी : मैं कहाँ कर सकी उनकी तरह ? ये कुछ करने ही नहीं देते !

अनिमा : नीरज पर अपनी माँ की प्रतिक्रिया हुई। उसने अपने मामा को अपना आदर्श बनाया। पर अंजो के रहते वह सब कहाँ होता और फिर श्रीपत मामा जैसे सभी तो नहीं बन सकते।

ओमी : मैं कोशिश करती हूँ कि नीलू अपने पिता के बदले अपने दादा-दादी पर जाये।

अनिमा : आज तुम्हें पूरे आठ बजे नाश्ता खाते देखकर मुझे उन दिनों की याद हो आयी, जब अंजो जीवित थी और मेज़ पर ठीक सुबह के आठ बजे

नाश्ता आ जाता था।

ओमी : हमारे घर में तो इन्होंने कोई नियम रहने ही नहीं दिया और मैं इन्हीं के साथ बँधी हूँ, लेकिन बच्चे को मैं अब भी ठीक समय पर खिलाती-पिलाती, पहनाती-ओढ़ाती और सुलाती-जगाती हूँ। ममी अपने नाना का ज़िक्र किया करती थीं; इनको तो वे उन जैसा नहीं बना सकीं, पर मेरा नीलू ज़रूर उन जैसा बनेगा।

अनिमा : कल से तुम जिस तरह लगी हो और आज उठते ही तुमने जिस तरह सब प्रबंध किया है उसे देखकर लगता ही नहीं कि इस घर में कभी सुस्ती का राज्य रहा है। अंजो को मरे पाँच वर्ष हो गये, इसका पता भी नहीं चलता।

ओमी : जाने क्यों अन्नो मौसी, इस घर में आते ही मुझे लगा कि अगर मैंने सुबह उठकर ठीक आठ बजे नाश्ता न लगवाया तो अच्छा न होगा। मंदिर में जैसे पूजा का समय बँधा होता है और पुजारी चूक जाये तो दिन भर उसके मन में खटक रहती है कि उससे अपराध बन आया है, इसी तरह मुझे भी लगा कि ठीक आठ बजे नाश्ता मेज़ पर न आया तो भारी अपराध हो जायेगा।

अनिमा : जभी तो मैंने कहा कि मुझे उन दिनों की याद आ गयी, जब मैं अंजो के होते यहाँ आयी थी।

ओमी : (उत्साह से) ममी का सब काम घड़ी की बाकायदगी से होता था और मैं चाहती हूँ कि हमारे घर में जो भी होता रहा हो, इस घर में सब काम वैसे ही घड़ी की तरह... **(सहसा उसकी दृष्टि सामने टँगी घड़ी पर जाती है और फिर वह कलाई पर बंधी घड़ी की ओर देखती है)** अरे, यह घड़ी तो बंद है। कल सारे कमरे की सफ़ाई की; पर्दे, तख़्त-पोश, मेज़पोश, गद्दियों और तकियों के ग़िलाफ़ बदले, घड़ी साफ़ करायी, पर चाभी देना भूल गयी। **(उठती है)** अन्नो मौसी, ज़रा मदद देना, इस घड़ी को चला दें। इसकी टिक-टिक के बिना कुछ भी ठीक न लगेगा। ज़रा इस मेज़ को वहाँ तक खिसकाने में मदद दो तो मैं इस पर चढ़कर स्वयं घड़ी ठीक कर दूँ।

अनिमा : अरे, नौकर को आवाज़ दो।

ओमी : अभी एक मिनट में ठीक कर दूँगी अन्नो मौसी। घड़ी ठीक करने वाला नौकर तो इस घर में नया रखना पड़ेगा।

अन्नो उठती है। दोनों मेज़ को दीवार तक खिसकाती हैं। मेज़पोश अलग कर और जूता उतारकर ओमी उस पर चढ़कर घड़ी को चाभी देती है। कलाई की घड़ी देखकर समय मिलाती है। आठ बजने में कुछ ही मिनट हैं। घड़ी टिक-टिक करने लगती है। ओमी चिल्लाती है।

ओमी : घड़ी चलने लगी मौसी ! जाने कब से इसे किसी ने चाभी नहीं दी ।

उछलकर उतरती है । जूते पहनती हुई जाकर चिलमची में हाथ धो, तौलिये से पोंछती है फिर अन्नो की सहायता से मेज ठीक जगह रख, मेजपोश बिछा, दोबारा हाथ धोने को जा रही होती है कि उसकी दृष्टि सामने लगे कैलेंडर पर जाती है ।

: अरे, यह कैलेंडर किसी ने उतारा नहीं ! **(पास जाकर महीने और साल का नाम पढ़ती है)** मार्च 1948...पाँच वरस से लगा है ! **(कैलेंडर उतारकर, गोल करके उसे चिलमची-स्टैंड के नीचे रखते हुए)** उसी महीने तो अचानक ममी का देहांत हो गया था ।...जब से मालूम होता है किसी ने नहीं उतारा ।

अनिमा : तुम लोग तो खैर नौकरी से आये और चले गये, पर जीजाजी तो यहीं थे । जज बनने के बाद क्या इतने सुस्त हो गये कि...

ओमी : **(फिर चिलमची में हाथ धो, तौलिये से पोंछते हुए)** नहीं, जज बनने की बात नहीं मौसी, दरअसल ममी के देहांत के बाद पापा को किसी बात का होश ही नहीं रहा । उनका तो जैसे अपने-आप पर से अधिकार ही उठ गया । नौकरों ने जो रख दिया, खा लिया; जो दे दिया, पहन लिया । ये कमरे रोज साफ़ होते रहे, लेकिन पिछले पाँच वर्ष से पापा कभी इधर नहीं आये । अपने दफ़्तर और उसके साथ के कमरों में खाते-सोते और मित्रों से मिलते-जुलते रहे । इधर की एक भी चीज़ उन्होंने बदलने नहीं दी । **(उठकर रसोईघर के दरवाजे के पास जाती है)** मुन्नी, नाश्ता रखो मेज पर । पापा का नाश्ता भी इधर रखो और उनसे आने को कह आओ ।

मुन्नी : जी, अभी जाती हूँ मेम साव !

ओमी : और वह राधू नहीं गया ? कहता उनसे जाकर कि समय से नाश्ता कर लें, फिर चाहे सारा दिन गप लगाते रहें ।

मुन्नी : गया हुआ है मेम साब !

ओमी : **(वापस आते हुए)** आज पापा शायद इन पाँच वर्षों में पहले दिन इधर नाश्ता करेंगे । **(फिर कुर्सी पर बैठते हुए)** मैं यहाँ रहती तो पापा को किसी तरह का कष्ट न होने देती । असल में उन्हें कभी आदत नहीं रही अपने-आपको देखने की । उनकी हर ज़रूरत का ध्यान ममी रखती थीं । बाथरूम में साबुन और तौलिया तक रखना वे नौकर पर न छोड़ती थीं । हम यहाँ रहे नहीं । इनकी नौकरी ही ऐसी है कि छह महीने इस शहर में, तो साल भर उस शहर में । पाँच साल की लगातार कोशिश और पापा की सिफ़ारिश के बाद अब जाकर अपने शहर में नियुक्ति हुई है । तुमने तो देखा ही था मौसी, पापा कुछ बदलने ही

न देते थे। पर मैंने कहा कि सब वैसे ही होगा, जैसा ममी के समय में होता था। हर चीज़ घड़ी की बाकायदगी से चलेगी। **(उठकर दीवार से पर्दे तक चक्कर लगाती है।)** इस घर की तो जैसे चूलें ही हिल गयी हैं मौसी। यह मुन्नी है, कितनी देर से चिल्ला रही हूँ नाश्ता रखने को। कर तो जाती ऐसी देर ममी के समय में! फिर से बैठानी पड़ेंगी चूलें इस घर की मौसी! ओवरहॉल करना पड़ेगा इस घर को! **(ज़रा-सा हँसती है, गले में घंटियाँ-सी बज उठती हैं!)**

अनिमा : जीजाजी ने अपना रहन-सहन बदल लिया है शायद!

ओमी : **(किंचित भेद-भरे स्वर में)** शायद नहीं मौसी—निश्चित रूप से। नौकरों पर जो कड़ाई ममी के ज़माने में थी, वह नहीं रही, पर अपने-आप पर कड़ाई पापा ने कहीं ज़्यादा बढ़ा दी है। ममी के मरने के बाद उन्होंने अपना जीवन बहुत ही नियमित बना लिया है। **(और भी धीमे स्वर में)** और-तो-और उन्होंने शराब को मुँह तक लगाना छोड़ दिया है।

अनिमा : जीजाजी तो लगभग रोज़ पीने लगे थे।

ओमी : बरसों तक पीते रहे। पहले तो कभी-कभी पीते थे, फिर रोज़ पीने लगे और यह घर नरक बनता चला गया। यही तो दरअसल ममी की बेवक्त मौत का कारण हुआ।

अनिमा : तो क्या अब बिलकुल नहीं पीते?

ओमी : हाथ भी नहीं लगाते! बल्कि ये और इनके दोस्त भी उनकी आँख बचाकर पीते हैं।

अनिमा : **(अंजो के चित्र की ओर संकेत करते हुए)** तब तो अंजो की जीत हुई।

ओमी : **(धीमे स्वर में)** हमने तो पापा को कभी पीते नहीं देखा मौसी। ममी के देहांत पर ही पता चला था कि रोज़ पीते थे और छिपकर पीते थे। सुनती हूँ, पहले कभी हाथ भी न लगाते थे। ममी को पसंद ही नहीं था उनका पीना। फिर पीने लगे। एक बार, बहुत पहले—मेरी शादी से भी दस-बारह बरस पहले मामा श्रीपत आये थे, बड़े फक्कड़, पियक्कण और शैलानी! जाते-जाते बहाने से पापा को साथ ले गये। जब पापा वापस आये तो नशे में धुत्त थे। उसी रात ममी को पहला दौरा पड़ा।

अनिमा : **(जैसे अपने-आप से)** मैं उन दिनों यहीं थी।

लेकिन ओमी उसकी बात नहीं सुनती। उठकर रसोईघर की ओर जाने लगती है कि मुन्नी नाश्ता लिये हुए आती है। युवा, चंचल और चपल मुन्नी अब अधेड़ दिखायी देती है, लेकिन इस बात के अतिरिक्त उसके पहरावे में कोई अंतर

नहीं। एकदम सफ़ेद धोती और ब्लाउज़ उसने पहन रखा है, बाल ढंग से बने हैं और माथे पर छोटी-सी बिंदी है।

मुन्नी : **(ओमी के पास से गुज़रते हुए)** यह नीलम बाबू को नाश्ता खिला आऊँ तो इधर भी रखती हूं।

ओमी : **(उसके साथ-साथ जाते हुए)** उसे खिलाने की ज़रूरत नहीं। अब वह बड़ा हो गया है। अपने आप खा लेगा। तुम उसको नाश्ता देकर आओ और इधर नाश्ता रखो। जज साहब को कहलवाया नहीं आने को?

मुन्नी : **(नीलम के कमरे के निकट से)** वे कहते हैं, मेरा नाश्ता राघू के हाथ यहीं कमरे में भिजवा दो।

ओमी : राघू के हाथ! **(हँसती है)** राघू में शक्ति भी है नाश्ता ले जाने की? अपना आप ही लाये-ले जाये तो बड़ी बात है। आया नहीं वह?

मुन्नी : आ ही रहा होगा मेम साब!

चली जाती है, ओमी उसके पीछे-पीछे दरवाज़े में जा खड़ी होती है।

ओमी : देखो, तुम नीलम का नाश्ता रखकर जाओ और जज साहब का नाश्ता तैयार करो। मैं उनको नाश्ता देती हूँ, इतने में तुम इधर रख दो। **(नीलम से)** देखो नीलम बेटे, अपना नाश्ता कर लो। मुन्नी को अभी तुम्हारे पापा और दादाजी का नाश्ता तैयार करना है।

वापस अन्नो के पास आती है। नीचे लिखे संवाद में, मुन्नी नीलम का नाश्ता रखकर चली जाती है।

: देखो मौसी, कहकर भी पापा नहीं आये। दरअसल ममी की अचानक मृत्यु ने पापा के दिल पर बड़ा असर किया। उन्हें लगा, जैसे वे ही उनकी मृत्यु के कारण थे।

अनिमा : एक तरह से तो उनका ख़याल ठीक है, लेकिन सच पूछो तो अंजो स्वयं अपनी मृत्यु का कारण थी।

ओमी : अब मैं क्या बताऊँ, हम तो बरेली में थे, जब हमें तार मिला। यहाँ आकर यही मालूम हुआ कि जब ममी को पहला दौरा पड़ा था तो पापा ने सौगंध खायी थी कि वे अब कभी न पियेंगे, पर उन सौगंधों के रहते भी वे पीने लगे। ममी के दौरे बढ़ते गये। नर्वें तो उनकी कमज़ोर थीं ही, इसलिए हर बार उनका क्रोध दुगने वेग से उभरता और वे पागल-सी हो जातीं। पापा कुछ दिन छोड़ देते, पर फिर पीने लगते। बरसों तक यही क्रम चला और एक बार तो लगा कि ममी सचमुच पागल हो जायेंगी, क्योंकि पापा पीते ही न थे, पीकर वे सब हरकतें भी करते थे, जिनसे ममी को चिढ़ थी। (उठकर उद्विग्नता से कमरे का एक चक्कर लगाती है) फिर ऐसा हुआ कि पापा ने पीना बिलकुल छोड़ दिया।

ममी आश्वस्त हो गयीं। तभी कुछ दिन बाद उन्हें पता चला कि वे तो लगभग रोज़ पीते हैं, कचहरी ही में उन्होंने इसका प्रबंध कर रखा है। उस दिन जब पापा घर आये तो सुनती हूँ कि ममी को ऐसा भयानक दौरा पड़ा कि फिर वे उससे नहीं उठीं।

अनिमा : मैं उन दिनों यहीं थी, मैं सब जानती हूँ।

ओमी : उसी स्थिति में ममी की मृत्यु से पापा के दिल पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उन्होंने फिर न घर, न कचहरी—शराब को कभी हाथ नहीं लगाया। अपना जीवन नियमित बना लिया उन्होंने और एकदम संन्यासी-से बन गये।

मुन्नी : (रसोई की ओर के दरवाज़े में से झाँकते हुए) जज साब का नाश्ता तैयार है मेम साब।

ओमी : (उठते हुए) मौसी, मुन्नी से इधर नाश्ता रखवाना, मैं इतने में पापा को नाश्ता करा आऊँ।

तेज़-तेज़ चली जाती है—कुछ क्षण बाद मुन्नी ट्रे लिये हुए खाने की मेज़ की ओर आती है और उसके पीछे-पीछे नाश्ते की ट्रे लिये ओमी बैठक में से होकर जज साहब अर्थात श्री इंद्रनारायण के कमरे की ओर जाती है। उसके पीछे-पीछे राघू है—इन बीस वर्षों में वह और भी बुड्ढा हो गया है। गर्दन उसकी धीरे-धीरे काँप रही है, एक हाथ भी काँप रहा है।

राघू : बहू रानी, यह मुझे दे दो...बहू रानी, यह मुझे दे दो। तुम कष्ट न करो, मैं ले जाऊँगा नाश्ता। मैं रोज़ ले जाता हूँ।

ओमी : हाँ, तुम रोज़ ले जाते हो, पर आज से मैं ले जाया करूँगी।

जज साहब के दफ़्तर में चली जाती है। राघू वहीं खोया-सा खड़ा रहता है। कुछ खदबदाता है और बेबसी से हाथ मलता-सा कमरे के आगे टहलता है। तभी बाहर के दरवाज़े से नीरज और नज़ीर बातें करते और ठहाका लगाते हुए प्रवेश करते हैं।

नीरज : (हँसते हुए) मैं इलाहाबाद में टी० आर० ओ० था तो रोज़ दफ़्तर में बीसियों अर्जियाँ आती थीं। मेरी तो वहाँ ससुराल है। कुछ तो राय साहब मुझे दूसरी जगह रहने न देते, कुछ मैं भी कोशिश न करता। जो आदमी मुझे मकान के लिए तंग करता, मैं कहता—'भाई, क्या करूँ, मुझे तो खुद मकान नहीं मिला, अपनी ससुराल में रहता हूँ।' एक सरदारजी बहुत बार आ चुके थे और मैं उन्हें अनजाने में कई बार यही जवाब दे चुका था। एक दिन जलकर कहने लगे (**पंजाबी स्वर में नकल करते हुए**) 'बादशाहो, जे साड्डी वी ससुराल एत्थे होंदी

ते असीं वी आपको कभी तंग करने न आऊँदे !'

जोर से ठहाका लगाता है। नज़ीर उसके ठहाके में योग देता है।

: ऐसे बीसियों किस्से हैं। अब गर्ज़मंदों और ज़रूरतमंदों का ख़याल करें, उन दोस्तों का ख़याल करें, जो समझते हैं कि हमें कान से पकड़कर हमसे सब करा सकते हैं; उन गांधी-टोपियों का ख़याल करें, जिन्हें पहनने वाले यह सोचते हैं कि उन्हें देखते ही टी० आर० ओ० तो दूर, कलेक्टर तक को अदब से खड़े हो जाना चाहिए और ज़रूरत पड़े तो अपने ससुर को निकालकर उनके ससुर को जमा देना चाहिए। (**जोर से ठहाका लगाती है**) मैंने इन सब ख़ुदाई फ़ौजदारों के तगादों का एक ही हल निकाल रखा है—उन सबके केस टॉप प्रायर्टी[1] पर रहते हैं, पर उनकी अर्ज़ियाँ और सिफ़ारिशें फ़ाइलों के नीचे दबी रहती हैं और कभी समय पर नहीं मिलतीं।

नज़ीर : और केस उनके टॉप प्रायर्टी पर रहते हैं !

नीरज : और केस उनके टॉप प्रायर्टी पर रहते हैं !

दोनों अनायास ठहाका मारकर हँसते हैं।

: इन गांधी-टोपियों और इनकी सिफ़ारिशों का इसके अतिरिक्त कोई इलाज नहीं।

नज़ीर : तुम्हें यकीन न आयेगा, पिछले दिनों हमारे दफ़्तर में दो चपरासियों की जगह खाली हुई। एक चपरासी का नाम ऊपर से आया—किसी मंत्री के भतीजे के साले का साला या बहनोई या जाने क्या था। जब मैंने आना-कानी की तो डायरेक्टर ऑफ़ प्रोग्राम्ज़ ने फ़ोन किया कि मंत्री महोदय ने खुद उसके नाम की सिफ़ारिश की है। मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं स्टेशन डायरेक्टर न हुआ, घसियारा हो गया, जो एक चपरासी भी अपनी इच्छा से नहीं रख सकता और एक वह ज़माना था कि हम पी० ए० तक सीधे भर्ती कर लेते थे। मैंने फ़ोन के जवाब में कह दिया कि बजट कट जाने और 'ऑल-राउंड इकॉनोमी ड्राइव'[2] के कारण मैंने वे नौकरियाँ छांट दी हैं। जब तक बजट बहाल नहीं हो जाता, मैं कोई चपरासी नहीं रख सकता। (**हँसता है**) बड़े साहब बहुत सिटपिटाये, पर उनका जूता उन्हीं के सिर। 'इकॉनोमी ड्राइव' चल रही थी, वे खुद 'बचत करो, बचत करो' का शोर मचा रहे थे, मेरे इस जवाब पर चूँ तक न कर सके।

आत्म-तोष से हँसता है। नीरज भी उसकी हँसी में योग देता

---

1 टॉप प्रायर्टी=अत्यावश्यक।

2. ऑल राउंड इकॉनोमी ड्राइव=सब ओर बचत करने का अभियान।

है। ओमी जज साहब के कमरे से निकलती है।

ओमी : अब फिर हँसियेगा, पहले नाश्ता कर लीजियेगा।

नीरज : हँसने से तो मेरी जान, नाश्ते का कोई संबंध नहीं। हम नाश्ता करते हुए भी हँस सकते हैं।

ओमी : (जिसके माथे पर अपने पति के इस फक्कड़पन से तेवर पड़ जाते हैं) कल आप कलेक्टर हो जायेंगे, पर बात आपको तब भी करनी न आयेगी।

नीरज : कलेक्टर तो खैर मैं इस जन्म में भी नहीं होता, हो भी जाऊँ तो...

ओमी : बातें फिर कीजियेगा। चलिये, नाश्ता कीजिये। चाय ठंडी हो जायेगी। (नज़ीर से) चलिये नज़ीर भाई।

नज़ीर : नहीं भाभी, अब नहीं। हम तो फिर आयेंगे, फ्रिज में कुछ बियर की बोतलें रखा छोड़ियेगा।

ओमी : लेकिन पापा ने तो...

नज़ीर : वो हम जानते हैं भाभी. जज साहब जब सैर को जायेंगे, तभी हम जमेंगे। अच्छा, बाई-बाई... (हाथ को सिर तक उठाता हुआ चला जाता है।

नीरज : अरे भाई एक प्याला चाय तो...

लेकिन नज़ीर बिना मुड़े, इनकार में हाथ हिलाता चला जाता है।

ओमी : (नीरज को साथ लिये खाने के कमरे में जाते हुए) मैंने कितनी बार कहा है कि सबके सामने आप लोफ़रों की तरह ऐसे बातें न किया कीजिये। आप अब सिटी मैजिस्ट्रेट हो गये हैं।

नीरज : सिटी मैजिस्ट्रेट होकर क्या मैं आदमी नहीं रहा?

ओमी : तो क्या आदमी का यही गुण है कि वह लोफ़र हो। जो सभ्य और शिष्ट हैं, वे क्या आदमी नहीं? पापाजी...

नीरज : (खाने की मेज़ के नीचे से कुर्सी घसीटकर उस पर बैठते हुए) तुम पापा की बात बेकार करती हो। पहली बात तो यह है कि वे हाईकोर्ट के जज हैं और जज और सिटी मैजिस्ट्रेट में बहुत फ़र्क है। जज बड़ी-सी विग लगाये, लम्बा-सा मुँह बनाये, ऊँची-सी कुर्सी पर बैठा वकीलों के बयान सुनता और गहर-गंभीर फ़ैसले देता है। हाईकोर्ट के उस गंभीर वातावरण में ज़रा-सी अशिष्टता या लोफ़री की गुंजाइश ही कहाँ है? सिटी मैजिस्ट्रेट को नगर भर के गुंडों, चोर-बाजारियों, परमिट-होल्डरों, सेठ-साहूकारों और पुलिस वालों से काम पड़ता है। और कोई भला आदमी उन भले आदमियों के साथ कैसे निभा सकता है? क्यों मौसी?

अनिमा : मैं तो न कभी सिटी मैजिस्ट्रेट की अदालत में हाज़िर हुई हूँ, न

जज की।

नीरज : **(उठकर दोनों हाथ फैलाकर आदाब बजा लाते हुए)** सिटी मैजिस्ट्रेट तो आपकी सेवा में प्रस्तुत है। जज साहब को देखने के लिए आपको उस कमरे में पधारना होगा।

ओमी : **(जो इस बीच में बराबर चाय बनाती रही है, प्याला उसकी ओर बढ़ाते हुए)** सारे मैजिस्ट्रेट आप ही की तरह लोफ़र होते होंगे?

नीरज : मेरे देखने में जितने आये हैं, वे तो लगभग मेरे जैसे ही हैं। बाकी दूध के धुले कहीं छिपे हों, तो मैं कह नहीं सकता। हर पेशे की अपनी खूबी होती है मेरी जान। मेरा ख़याल है, मैजिस्ट्रेसी ऐसे ही आदमी को चाहती है। कोई भला आदमी सफल मैजिस्ट्रेट या कलेक्टर हो ही नहीं सकता।

ओमी : **(अपना प्याला बनाकर स्वयं भी बैठते हुए)** आप अपने आईने में दूसरों को मत देखिये। चोर को सारी दुनिया चोर नज़र आती है। आपका ख़याल है कि नीलम बड़ा होकर कलेक्टर बनेगा तो अशिष्ट, असभ्य ओर लोफ़र होगा? आप विश्वास रखिये, वह एक भला, दयानतदार, सभ्य, शिष्ट और विनम्र हाकिम होगा। मैं हमेशा इस बात की शिक्षा उसे देती हूँ। देख लीजियेगा!

नीरज : तब वह क्लर्क होगा, कलेक्टर नहीं, इसका तुम विश्वास रखो।

ओमी : क्लर्क!

नीरज : डिगनीफ़ाइड—याने ऊँची किस्म का, शरीफ़ किस्म का क्लर्क—यही कोई सचिव-अचिव! फिर मैं नीलम को कलेक्टर नही बनाना चाहता, मैं उसे क्रिकेट का कप्तान बनाना चाहता हूँ।

ओमी : (नीलम में शक्ति भी है फ़ुटबॉल या क्रिकेट खेलने की? क्रिकेट का कप्तान तो आपको बनना चाहिए था।

नीरज : **(जोश से उठते हुए)** वा-वाह क्या बात कही है तुमने मेरी जान! मैं तो बना ही था क्रिकेट का कप्तान होने के लिए। मामाजी ने कहा था—'बेटे, दो घंटे पढ़ो और छह घंटे डट के खेलो, निश्चय ही तुम क्रिकेट के कप्तान बनोगे', पर ममी पीछे पड़ी थीं मुझे आई० सी० एस० बनाने के। छह घंटे पढ़ना और दो घंटे खेलना पड़ा। मन क्रिकेट में, आँखें पढ़ाई में, नतीजा तुम्हारे सामने है। न क्रिकेट के कप्तान बने, न आई० सी० एस०।

ओमी : कलेक्टर तो आप अब भी बन सकते हैं।

नीरज : वह शायद इस आज़ादी के कारण! जिनको पहले कोई साठ रुपये में भी न पूछता था; जिन वकीलों की चार रुपये रोज़ की भी प्रैक्टिस न थी, वे आजकल माननीय मंत्री बने हुए हैं। फिर मेरे जैसा नायब तहसीलदार अगर कलेक्टर हो जाये तो कौन-सी बड़ी बात है।

मामाजी कहा करते थे—जिस चीज़ पर मन हो, वही करनी चाहिए। कलेक्टरी में मेरा मन कभी था ही नहीं। मैं सदा क्रिकेट का कप्तान बनना चाहता था।

ओमी : तो आप नीलम को क्यों कलेक्टर बनने से रोकते हैं। वह तो क्रिकेट का कप्तान नहीं, आई० सी० एस० बनना चाहता है।

नीरज : आजकल आई० सी० एस० नहीं, आई० ए० एस० हो गया है।

ओमी : आई० ए० एस० !

नीरज : इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस !

ओमी : आई० ए० एस० ही सही। वह आई० ए० एस० के कंपीटीशन में बैठेगा और अगर आप बीच में टाँग न अड़ायेंगे तो निश्चय ही आई० ए० एस० होके रहेगा।

नीरज : उसके मन में बेकार ही तुमने यह ख़याल भर दिया है। जैसे आई० ए० एस० होना ही जीवन का चरम-लक्ष्य हो।

ओमी : नहीं, चरम-लक्ष्य तो क्रिकेट का कप्तान बनना है !

नीरज : कलेक्टरी का क्रिकेट की कप्तानी से क्या मुक़ाबिला ? एक तरफ़ सी० के० नायडू, मर्चेंट, हज़ारे, माँकड़ या अमरनाथ को रख दो और दूसरे पलड़े में दस कलेक्टर या कमिश्नर। मैं कहता हूँ उम्मो, बराबर तुल जायेंगे। इस ज़िंदगी का उस ज़िंदगी से क्या मुक़ाबिला—आज़ाद, खुली, हाथ-पाँव और दिमाग़ की कमाई...

ओमी : इसमें क्या हाथ-पाँव और दिमाग़ का काम नहीं ? क्यों अन्नो मौसी ? और फिर सिक्योरिटी...सुरक्षा...

नीरज : लेकिन यहाँ वह स्वतंत्रता और विस्तार कहाँ ? यहाँ तो पग-पग पर झूठ, कपट, बद-दयानती, कूटनीति, षड्यंत्र, कुटिलता और कुंठा है। सुरक्षा है, पर उस सुरक्षा का मोल बहुत बड़ा है।

ओमी : पर आपको ऐसी सुरक्षा की ज़रूरत नहीं, आप न कीजिये यह सब।

नीरज : अरे मेरी जान, मुझे कीचड़ में फेंक दो और आशा रखो कि मैं अपने कपड़ों को उसके छींटों से बचाये रखूँ, यह कैसे संभव है !

ओमी : कमल क्या कीचड़ में नहीं रहता ? मैं अपने नीलम को इस सारे कीचड़ में कमल-सा रहकर अपना कर्त्तव्य पूरा करना सिखाऊँगी।

नीरज : (हँसकर) तुम लाख सिखाओ ! इस दुश्चक्र में फँसा तो उसे अनायास यह सब करना पड़ेगा। नहीं तो वह किसी प्रांत या केंद्र की सरकार के बड़े दफ़्तर में फ़ाइलों के साथ माथा फोड़ेगा। जिस अधिकार और हुक्मरानी के सपने तुम ले रही हो, वह सब इसी छल, कपट और षड्यंत्र के कीचड़ पर टिकी है। मैं तो आज भी यह सब छोड़कर क्रिकेट का कप्तान बनना पसंद करूँ।

ओमी : तो छोड़ दीजिये न और बन जाइये क्रिकेट के कप्तान।

अन्नो के लिए चाय का दूसरा प्याला बनाती है, अन्नो मुस्कराती हुई उनकी बहस सुनती रहती है।

नीरज : लेकिन क्रिकेट का कप्तान बनने के लिए जिस अभ्यास और साधना की ज़रूरत है, वह कहाँ से आये ? उम्र का बेहतरीन हिस्सा तो मैंने इस झूठी हुक्मरानी के सपने देखने में बिता दिया। लोगों के दिलों पर जिसका शासन हो, क्रिकेट की उस कप्तानी के लिए शुरू ही से डटकर छह घंटे खेलना ज़रूरी था। मामा श्रीपत कहा करते थे...

ओमी : (चिढ़कर) ममी कहा करती थीं कि श्रीपत मामा ब्रेक हैं, ब्रेक। इस घर की आराम से चलती गाड़ी को उन्होंने एक ही बार आकर ब्रेक लगा दी।

नीरज : और मैं कहता हूँ कि ममी स्वयं ब्रेक थीं। जब तक वे ज़िंदा रहीं, उन्होंने इस घर की ज़िंदगी पर ब्रेक लगाये रखी—उसे आज़ादी से फूलने-फलने नहीं दिया—और जब मर गयीं तो ब्रेक लगाती गयीं।

ओमी : अपनी माँ के बारे में ऐसी बात करते हुए आपको शर्म नहीं आती ? अन्नो मौसी क्या कहेंगी ?

नीरज : मौसी क्या यह बात नहीं जानतीं ? रही शर्म की बात तो मैं कोई झूठी बात कह रहा हूँ ! तुम्हारा ख़याल है, पापा क्या अपना जीवन जीते हैं, तुम और नीलम क्या अपना जीवन जीते हो और मैं...मैं भी क्या अपना जीवन जीता हूँ। हम सब वही जीवन जी रहे हैं, जो ममी चाहती थीं कि जियें या ममी के नाना चाहते थे कि दुनिया जिये।

ओमी : तो क्या बुरा चाहते थे ? समय से उठना-बैठना; खाना-पीना; अपने सारे काम समय से करना और नियम से ज़िंदगी जीना क्या बुरा है। क्रिकेट के कप्तान क्या आप यों ही बन जायेंगे—बिना किसी नियम से जिये ? क्रिकेट के कप्तान तो क्या, जाने अच्छे खिलाड़ी भी आप बन पाते या नहीं, पर ममी आपको जो बने देखना चाहती थीं, उसके रास्ते पर तो उन्होंने लगा ही दिया और आप अगर बहक गये तो कलेक्टर या कमिश्नर होकर ही रिटायर होंगे।

नीरज निर्निमेष अपनी पत्नी की ओर देखता है, उसके चुप होते ही ज़ोर से ठहाका लगाता है।

बैठक में बाहर के दरवाज़े से श्रीपत प्रवेश करता है। कुछ क्षण वहीं खड़ा सुन-गुन लेता है, फिर नीचे के संवाद में खाने के कमरे की ओर आता है।

नीरज : मामा श्रीपत ममी से कहा करते थे कि तुम्हें सेना में कोई छोटी-मोटी कैप्टन या लेफ़्टिनेंट हो जाना चाहिए। उस समय तो सेना में स्त्रियाँ ली न जाती थीं, पर अब ली जाती हैं और मैं कहता हूँ, तुम्हें सच ही सेना में भरती हो जाना चाहिए।

ओमी : (चिढ़कर) मामा श्रीपत ब्रेक थे, ब्रेक...

श्रीपत : मामा श्रीपत राय पधारते हैं !

ओमी के होंठों से कुछ अजीब आश्चर्य तथा लज्जा-मिश्रित 'ओ' निकलती है। नीरज कुर्सी से उछलता है।

नीरज : मामाजी !

श्रीपत : **(उसे बाहों में भरते हुए लिपट जाता है)** कहो बेट्टे, कैसे हो ?

नीरज : **(श्रीपत को बांहों में भींचते हुए)** आपकी दुआ है मामाजी। आप कहाँ से आ रहे हैं ?

श्रीपत : बंबई से आ रहा हूँ और कलकत्ता जा रहा हूँ। सोचा, रास्ते में तुम लोगों से मिलता जाऊँ ! सदियां गुज़र गयीं तुम्हें देखे। और तो सब अच्छे हैं ?

नीरज : जी मामाजी।

श्रीपत : जीजाजी कैसे हैं ?

नीरज : चल रहे हैं मामाजी !

श्रीपत : सुना था, हाईकोर्ट के जज हो गये हैं।

नीरज : जी मामाजी !

श्रीपत : यह तुम हर बात के साथ 'मामाजी', 'मामाजी' क्या करते हो ?

नीरज : ममी कहा करती थीं कि बड़ों के साथ...

श्रीपत : ...अदब के साथ बात करनी चाहिए।

दोनों एक साथ ठहाका लगाते हैं और फिर एक-दूसरे को आलिंगन में भींच लेते हैं।

ओमी : **(नीरज से)** अब छोड़िये मामाजी को। इन्हें हाथ-मुंह धोने दीजिये। **पर्दे के पास जाकर नौकरानी को आवाज़ देती है)** मुन्नी !

मुन्नी : **(झाँकती है)** जी मेम साब !

ओमी : बाथ-रूम में नया तौलिया और साबुन रख दो, मामाजी नहायेंगे।

श्रीपत ज़ोर से ठहाका लगाता है।

श्रीपत : तो लगता है अंजो दीदी इस घर में अपनी प्रतिनिधि छोड़ गयी हैं। तुम ठीक कहते थे नीरज, अपनी पत्नी को तुम्हें सेना में भरती करा देना चाहिए। **(ओमी की ओर मुड़कर)** अरे भई, देख तो लो !— क्या मैं गंदा लगता हूँ ? क्या नहीं लगता कि अभी नहाकर चला आ रहा हूँ ?

नीरज : हाँ देखो, क्या मामाजी गंदे लगते हैं ?

अनिमा : आप नहा कहाँ आये ? आप तो चाय के पहले कभी नहाते न थे।

श्रीपत : अरे भाई...**(ध्यान से अन्नो को देखता है)** क्या अन्नो है ? माफ़ करना, मैं पहचान नहीं पाया। एक युग के बाद देखा है तुम्हें ! याद रह गयी तुम्हें चाय से पहले मेरे न नहाने की बात ? बीस बरस हो

गये, जब मैं आया था यहाँ।

अनिमा : मुझे उस मुलाकात की एक-एक बात याद है।

श्रीपत : तुम असल में मुझे जानती नहीं। किसी बात को सनक की हद तक ले जाने में मेरा ज़रा भी विश्वास नहीं। जब मैंने देखा कि मेरी वह आदत सनक बन रही है तो मैंने उसे छोड़ दिया। **(ओमी से)** तुम चाय का एक गर्म-गर्म प्याला बनाओ बेटी !

ओमी लज्जारुण मुख लिये हुए चाय बनाने लगती है)

अनिमा : चाय तो आप अपने हाथ से ही बनाकर पीते थे ?

श्रीपत : उस सनक को भी मैंने छोड़ दिया ! **(ओमी से)** दूध और चीनी दोनों एक-एक चंमच !

ओमी चीनी और दूध डालकर प्याला श्रीपत को देती है।

नीरज : **(अपना प्याला बढ़ाते हुए)** एक प्याला मेरे लिए भी बनाओ ओमी, जरा मामाजी का साथ दिया जाये। आप भी लीजिये एक और प्याला मौसी।

अनिमा : अच्छा, मैं भी ले लेती हूँ **(श्रीपत से मुस्कराते हुए)** तो आपने उस सनक को भी छोड़ दिया ?

श्रीपत : **(चाय की चुस्की लेते हुए)** किस सनक को ?

अनिमा : **(किंचित हँसते हुए)** अकेले रहने की सनक को ? यहीं, जब बहुत पहले हम मिले थे तो आपने कहा था—मैं शादी के सपने ही लेता हूँ, शादी कभी नहीं करता।

श्रीपत : **(हँसकर)** वह सनक भी मैंने छोड़ दी।

नीरज : तभी मामाजी आप इतने साफ़-सुथरे और सभ्य दिखायी देते हैं। आख़िर ममी की बातों का हुआ न असर आप पर भी !

श्रीपत : नहीं भाई, वह बात नहीं। अंजो दीदी का तो मुझ पर क्या असर होता, बात कुछ और ही है। **(चाय पीता है)**

नीरज : **(साक्षात औत्सुक्य)** वह क्या ?

श्रीपत : कुछ बरस पहले, बंबई की फ़िल्मी दुनिया में एक ऐसी औरत से भेंट हुई, जिसे मैंने बिलकुल अपने जैसा पाया। कोई फ़ैड (fad) नहीं, कोई सनक नहीं, किसी रीति-रिवाज़ के प्रति आग्रह नहीं। लगा कि अब अकेले ज़िंदगी जीने की कोई ज़रूरत नहीं और हम इकट्ठे रहने लगे। पर तब लगा कि हम स्वयं सनकी हुए जा रहे हैं। जान-बूझकर रस्म-रिवाज़, तौर-तरीके को तोड़ रहे हैं। वे देवी जी तो मुझसे भी चार कदम आगे थीं। हमीं, जो सनक की हँसी उड़ाया करते थे और फक्कड़पने को ज़िंदगी का चरम ध्येय समझते थे, अपने मित्रों में अच्छे-खासे सनकी प्रसिद्ध हो गये।

नीरज जोर से ठहाका लगाता है।

श्रीपत : और फिर वही बातें, जो अपने में अच्छी लगती थीं, उन देवीजी में ख़ासी बेतुकी लगने लगीं। तब मैंने झट आदत बदल डाली। सुबह उठकर सैर को जाने लगा; रोज़ नहाने, अच्छे कपड़े अच्छे ढंग से पहनने और लगभग वह सब करने लगा, जो अंजो दीदी किया करती थीं। तकलीफ़ तो बहुत हुई इतने दिनों की आदत बदलने में, लेकिन प्रबल हठ के साथ नयी आदत डाली। एक दिन, जब शाम को वापस घर आया तो क्या देखता हूँ कि घर आईने की तरह साफ़ है। ऐसा कि अंजो दीदी ने कभी न किया होगा। मैं हैरान कि हे भगवान, क्या माजरा है ? देवी जी से भेंट हुई तो पता चला कि वे तो मेरी प्रसन्नता के लिए वैसी फक्कड़ बनी हुई थीं, नहीं उन्हें तो उस सब गंदगी से सख़्त नफ़रत है। बस अन्नो ! वह दिन, सो आज का दिन, उन देवी-जी के घर से निकला हूँ तो फिर उधर का मुँह नहीं किया।

नीरज जोर से हँसता है।

अनिमा : उन श्रीमतीजी का भी कुछ ख़याल किया ?

श्रीपत : शुक्र है कि अभी शादी नहीं हुई थी। कोर्टशिप ही चल रही थी। शादी हो गयी होती तो न जाने क्या दुर्गत बनती ! अपने को दूसरे के अनुकूल बनाने के बदले अपने जैसा ही कोई दूसरा ढूंढ़ लिया होगा उसने।

अनिमा : आप भी खूब आदमी हैं !

श्रीपत : अरे अन्नो, मेरे सामने तो अंजो दीदी और जीजाजी की घरेलू ज़िंदगी घूम गयी और कसम भगवान की, मैं सिर पर पाँव रखकर भागा। सच ! अच्छा-भला काम चल गया था बंबई में, पर मैंने उसका मोह छोड़ा और कलकत्ता जाकर ही दम लिया।

नीरज : लेकिन जब आपने अपनी आदत बदल ही डाली थी तो...

श्रीपत : आदत तो बदल डाली थी, पर मेरी उस गंदगी और फक्कड़पने का ज़िक्र करते हुए उन देवीजी ने कुछ ऐसा मुँह बनाया और उनकी आँखों में घृणा का कुछ ऐसा भाव दिखायी दिया कि मेरी तो रीढ़ की हड्डी तक में ठंडक की लहर दौड़ गयी। मैं जान गया कि उनकी वह सफ़ाई कहाँ जाकर ख़त्म होगी।

नीरज जोर से ठहाका लगाता है।

ओमी : आप ममी की सफ़ाई के स्वभाव की हँसी उड़ाते हैं, पर आप स्वयं मानते हैं कि वही गंदगी आपको दूसरों में बुरी लगती थी।

श्रीपत : मैं सफ़ाई की हँसी नहीं उड़ाता। पर यह सफ़ाई जहाँ जाकर ख़त्म होती है, उस सनक से डरता हूँ।

ओमी : बिना सनक के कभी सफ़ाई रह ही नहीं सकती। ज़रा ढील दीजिये, सफ़ाई ख़त्म। अच्छी आदत के लिए कष्ट तो झेलना ही पड़ता है।

ममी कहा करती थीं—घर इतना साफ़-सुथरा होना चाहिए कि उसमें सफ़ाई की गंध आये। जिनकी नाक को इस गंध की आदत है, वे गंदगी कैसे सहन कर सकते हैं ? आप कुछ दिन उन श्रीमतीजी के साथ रहते तो आपकी ज़िंदगी सुधर जाती।

श्रीपत : (ठहाका लगाता है) तुम अंजो ही का दूसरा रूप हो, पर भाई, हम उस गंध से वंचित ही भले। ऐसी सफ़ाई भी क्या, जो जी का जंजाल बन जाये ! **(पाँव खाने की मेज पर रखता है।)**

ओमी : **कोने में पड़ी एक तिपाई उसके आगे रख देती है)** पाँव आप इस पर टिका लीजिये।

श्रीपत : **(ठहाका मारता हुआ उस पर पांव टिका देता है)** मैंने ग़लत कहा, तुम अंजो दीदी से एक कदम आगे हो। तुम्हें किसी हस्पताल की मेट्रन होना चाहिए।

ओमी : इस प्रशंसा के लिए धन्यवाद !

श्रीपत और नीरज, दोनों ठहाका मारकर हँसते हैं। एक चपरासी आता है।

चपरासी : **(पर्दे के बाहर बैठक से)** जय हिंद सरकार !

श्रीपत उठकर जज साहब के कमरे में जाता है। नीरज बैठक में आता है।

नीरज : क्या बात है ?

चपरासी : परेड के शरणार्थी कैंप में दंगा हो गया है। बड़े साहब ने आपको भी जाने के लिए कहा है।

नीरज : लो, यह दिन भी गया और मैं नीलम को क्रिकेट के प्रसिद्ध खिलाड़ियों की जीवनियाँ सुनाना चाहता था **(चपरासी से)** ठीक है, साहब से बोल देना हम अभी जा रहे हैं !

चपरासी चला जाता है।

ओमी : **(उसके पीछे आते हुए)** क्रिकेट खिला कर आप उसे बिगाड़ देंगे, मैंने कई बार कहा है कि उसके पढ़ने के समय आप क्रिकेट न ले बैठा कीजिये।

नीरज : मैंने आज ही उसके लिए नया बैट और विकेटें मँगायी हैं।

ओमी : बैट-विकेटें लेकर वह करेगा क्या ? उसे शौक भी हो खेलने का !

नीरज : शौक उसे हो, अगर तुम उसे डराती न रहो। मैंने तुमसे एक बार कह दिया कि मैं उसका आई० ए० एस०, वाई० ए० एस० बनना पसंद नहीं करता। वह गेंदबाज़ बनेगा। बल्लेबाज़ बनेगा, क्रिकेट का कप्तान बनेगा। जब वह देश-विदेश में अपने नाम का डंका बजाकर आयेगा तो तुम खुशी से फूली न समाओगी और मुझे धन्यवाद दोगी कि मैंने उसे क्रिकेट खेलना सिखाया। **(चलने को तैयार होता है।)**

ओमी : (उसके पीछे जाते हुए) चले कहाँ, नाश्ता तो पूरा करते जाइये, फिर जाने कब आते है वहाँ से ?

नीरज : कर तो लिया नाश्ता !

ओमी : कर लिया ! दलिये को तो हाथ तक नहीं लगाया। चलिये, चलिये, पूरा नाश्ता कर लीजिये, फिर चाहे सारा दिन शरणार्थियों के साथ जाकर माथा फोड़िये।

नीरज वापस आकर जल्दी-जल्दी दलिये के कुछ चमचे प्लेट में डालकर खाता है। श्रीपत जज साहब के कमरे से तेज-तेज आता है।

श्रीपत : जीजाजी तो सैर को चले गये। मैंने सोचा था, उनके साथ बैठकर चाय का एक प्याला पियेंगे और गप लगायेंगे।

कुर्सी पर बैठ जाता है और इस बार टाँगें मेज की दूसरी ओर रख लेता है।

ओमी : (वही तिपाई उसके पीछे से घुमाकर दूसरी ओर रखते हुए) पापा चाय पी चुके हैं और नाश्ता भी कर चुके हैं।

तिपाई को देखकर श्रीपत अचकचाकर पैर नीचे करके उठता है। ओमी मुस्कराती और अपनी बात खत्म करती हुई तिपाई रख देती है।

श्रीपत : तुम्हें तो बेटी सचमुच, किसी बड़े सरकारी अस्पताल में मेट्रन नहीं, चीफ़ मेट्रन हो जाना चाहिए। (हँसते हुए बैठता है और पांव तिपाई पर रख देता है।)

नीरज : (दलिया खत्म कर, प्याले से, जो ओमी ने इस बीच में बना दिया है, दो-एक घूंट भरके उसे रखते हुए) अच्छा मामाजी, मुझे तो क्षमा कीजिये ! मैं शरणार्थी कैंप जा रहा हूँ, वहाँ शायद दंगा हो गया है। आप आज तो हैं, शाम को मिलेंगे। (चल देता है।)

ओमी : (उसके पीछे जाते हुए) आप कपड़े तो बदलते जाइये। इन्हीं कपड़ों में क्या बाहर चले जायेंगे !

नीरज : (बैठक में) अरे क्या है इन कपड़ों में ?

ओमी : (बैठक में) नहीं-नहीं, सूट पहनकर जाइये। नेकर-कमीज़ में तो आप लोफ़र लगते हैं, अफ़सर नहीं !

दोनों बैठक से निकल जाते हैं, श्रीपत एक ठहाका लगाता है।

श्रीपत : अंजो दीदी की दाद देता हूँ कि ऐन-मैन अपनी मूर्ति छोड़ गयी हैं। (पलटकर) कहो अन्नो, मेरी ही तरह रहीं या किसी मोटे पक्के खूंटे से बँध गयीं ? (हँसता है) शक्ल से तो जरा भी नहीं लगता कि बँधी हो।

अनिमा : बीस बरस पहले जो आप सिखा गये कि शादी के सपने देखने में ही मजा है, सो अभी तक सपने देख रही हूँ। आपने तो बातों में कुछ

खाया ही नहीं। एक-आध तोस या दो-चार चम्मच दलिया लीजिये न !

श्रीपत : यह मालूम होता कि अंजो के बाद भी इस घर में ठीक आठ बजे नाश्ता बन जाता है तो खाकर न आता, पर अब तो...

अनिमा : तो भी एक गर्म प्याला चाय तो लीजिये। (उठती है और जाकर पर्दे के पीछे नौकरानी को आवाज देती है। मुन्नी...मुन्नी !

मुन्नी : (दरवाज़े में झांकती है) जी मौसीजी !

अनिमा : गर्म पानी तो रखा है न ?

मुन्नी : जी मौसीजी !

अनिमा : दो कप गर्म-गर्म चाय और ला !

मुन्नी : जी अच्छा।

आकर केतली उठाकर ले जाती है। अन्नो अपनी जगह बैठ जाती है और एक तोस पर मक्खन लगाती है।

अनिमा : बीस साल बाद आज भेंट हुई आपसे, जबकि मेरा ख़याल था कि कभी न होगी।

श्रीपत : मैं घुमक्कड़ आदमी अन्नो, कभी एक जगह टिककर नहीं रहा।

अनिमा : अंजो की मृत्यु के दिन मैं यहीं थी। ख़याल था कि आप शायद आयें, आपके तमाम पतों पर तार गये, पर उनका उत्तर डेढ़-दो महीने बाद फ्रांस से आया।

श्रीपत : यूरोप की सैर का शौक था। ज़मींदारी ख़त्म करना कांग्रेस के उद्देश्य का एक हिस्सा था, सो मैंने सोचा कि उससे पहले यूरोप हो आऊं।

अनिमा : मैं भी यूरोप गयी थी।

श्रीपत : सच !

अनिमा : लेकिन जहाँ-जहाँ गयी, आप वहाँ से पहले ही जा चुके थे।

श्रीपत : मुझे पता होता कि तुम मुझे छूने की कोशिश में हो तो मैं रुक जाता और तुम्हें पकड़ाई दे देता।

अनिमा : (लज्जारुण) नहीं, छूने की बात नहीं; पर सोचती थी, शायद कहीं अचानक मिल जायें।

श्रीपत : (रोमानी अंदाज में) जैसे बीस वर्ष पहले और आज इसी कमरे में।

दोनों एक-दूसरे की आंखों में देखते हैं। फिर सहसा श्रीपत हँस देता है। मुन्नी टी-पॉट लिये हुए आती है।

: कहो मुन्नी कैसी हो ?

मुन्नी : (लजाकर) आपकी किरपा है सरकार !

श्रीपत : सो यहीं हो ?

मुन्नी : जी सरकार !

श्रीपत : अभी भरा नहीं मन यहां से, चलो तुम्हें कुछ बाहर की दुनिया भी दिखा लायें।

मुन्नी : मालकिन सौंप गयी हैं यह सब हमें सरकार। मालिक और उनके बच्चों की सेवा में प्रान निकलें, अब तो यही मनाते हैं सरकार।

चली जाती है।

श्रीपत : **(अंजो दीदी के चित्र को देखकर)** मान गये भई अंजो दीदी तुम्हारे जादू को।

ओमी आती है।

ओमी : मामाजी, वह बिस्तर और सूटकेस आपका ही था न, बाहर बरामदे की सीढ़ियों पर।

श्रीपत : हाँ।

ओमी : आपने चपरासी से कहा क्यों नहीं कि बिस्तर और सूटकेस उठा दे।

श्रीपत : राधू को मैंने आवाज़ें दीं। फिर सोचा कि शायद राधू यहाँ नहीं है।

ओमी : अटैची और बिस्तर आपका गेस्ट-रूम में पहुँचा दिया है। बिस्तर की चादरें मैली थीं, धोबी को भिजवा दी हैं। नाइट सूट भी भिजवा दिया है। लेकिन पलँग पर बिस्तर आपको नया धुला मिलेगा। और किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो राधू से कह दीजियेगा। उसकी ड्यूटी लगा दूंगी। **(जैसे आयी थी, चली जाती है। फिर बैठक से मुड़ती है।** नाश्ता हो गया हो मौसी, तो ज़रा मेरे कमरे में आओ। खन्ना के यहाँ से आदमी कुछ साड़ियाँ लाया है, चुनने में मेरी तनिक मदद करो।

अनिमा : अभी आती हूँ।

श्रीपत : और मैं आज ही जाने की सोच रहा था।

अनिमा : आज ही क्यों ?

श्रीपत : लगता है, मैं यहाँ रहा तो फिर पहले जैसा फक्कड़ हो जाऊँगा।

अनिमा : क्यों ?

श्रीपत : इस सब में मेरा जी उलझता है।

अनिमा : **(अरमान-भरे स्वर में)** पहले जब आये थे तो कुछ ही घंटों में चले गये थे, अब आये हैं तो अब जाने की सोच रहे हैं।

श्रीपत : **(हँसकर)** बहिया में ज़िंदगी की बहे जा रहे हैं हम,
मुड़ने की बात दूर है, रुकने का बस नहीं।[1]

: ज़रा जीजाजी से मिलना चाहता था, पर देखता हूँ, उनका कमरा किसी संन्यासी का कमरा दिखायी देता है। कुछ ऐसा भय का आभास मिलता है वहाँ।

अनिमा : संन्यासियों में और उनमें कोई अंतर नहीं।

---

1. पहले संस्करण में ग़ालिब का निम्नलिखित शे'र था :

रौ में है रख्शे उम्र, कहाँ देखिए थमे
ने हाथ बाग पे है, न पा है रकाब में

श्रीपत : पर वे तो वैसे संन्यासी नहीं थे।

अनिमा : अंजो की मौत ने उन्हें संन्यासी बना दिया। अब न वे सिगरेट पीते हैं, न शराब। समय से उठते हैं, समय पर नाश्ता लेते हैं, समय पर सैर को जाते हैं।—सोने-जागने, पढ़ने-लिखने, हाईकोर्ट और घर, सैर और संध्या-वंदन—उनके समय का पल-पल बँधा है। अपने कमरे के अतिरिक्त घर के किसी हिस्से में वे नहीं जाते। इधर तो महीनों नहीं झाँकते।

श्रीपत : (**चकित**) पर क्यों, क्या यह जज बनने का असर है?

अनिमा : नहीं, अंजो की मौत का। अब वे सब-कुछ उसी तरह करते हैं, जैसे अंजो आज भी जीती है।

श्रीपत : अंजो की मौत का इससे क्या संबंध?

अनिमा : न वे उतनी शराब पीते, न अंजो ज़हर खाती।

श्रीपत : तो क्या अंजो ने ज़हर खा लिया था? मैंने तो सुना था कि बेहोशी में उसके प्राण निकल गये।

अनिमा : (**अचानक जबान को दांतों में लेती है**) हाय मेरे मुँह से क्या निकल गया! (**अनुनय के स्वर में**) पर किसी से कहियेगा नहीं! मेरे सिवा किसी को भी इस बात का पता नहीं। अंजो दौरे से नहीं मरी, उसने आत्महत्या की थी।

श्रीपत : आत्महत्या!

अनिमा : (**और भी धीमे स्वर में**) बात यह है कि जीजाजी पीने लगे थे। बरसों पहले जब आप आये थे और वे आपको स्टेशन पर छोड़कर लौटे थे तो नशे में धुत्त थे।

श्रीपत : (**हँसते हुए**) मैं जानता हूँ।

अनिमा : उस रात ज़बरदस्त झगड़ा हुआ और अंजो को पहला दौरा पड़ा। फिर इधर जीजाजी की मद्यपता बढ़ती गयी, उधर अंजो के दौरे!

श्रीपत : मुझे मालूम है!

अनिमा : उन्हीं दौरों के डर से वे छिपकर कचहरी ही में पीने लगे थे। पर अंजो को इस बात का पता न था। एक दिन जब एक दौरे में अंजो की जान पर आ बनी, तो जीजाजी ने घोषणा की कि वे अब कभी शराब न पियेंगे—बोतलें, गिलास, जग सब तोड़ दिये और फिर कभी शराब को न छूने का प्रण किया। अंजो आश्वस्त भी हो गयी और स्वस्थ भी। पर तभी अचानक एक दिन उसे पता चला कि शराब तो उन्होंने एक दिन को भी न छोड़ी थी। रोज़ पीते थे। कचहरी ही में उसका प्रबंध कर रखा था उन्होंने। उस दिन घर में जो भयानक झगड़ा हुआ, उसकी याद से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस रात अंजो को बड़े ज़ोरों का दौरा पड़ा। जब डॉक्टर दवाई दे गया और लगा कि उसे आराम

है तो उसने मन की उद्भ्रांत दशा में ज़हर खा लिया। उसके तकिये के नीचे से दो चिट्ठियाँ निकलीं। एक जीजाजी के नाम, दूसरी मेरे। जीजाजी को उसने लिखा—'मैं मर रही हूँ। अब आप शौक से पीजिये, दिन-रात पीजिये ! मैं आपको तंग करने न आऊँगी। मैं ही आपके रास्ते का काँटा थी। आशा है, आपका जीवन अब निष्कंटक बीतेगा।'

श्रीपत : मॉर्बिड ! अंजो सख़्त मॉर्बिड[1] थी।

अनिमा : मेरे नाम चिट्ठी में उसने लिखा—'एक बार की लगी यह छूटती नहीं। इन दस-पंद्रह बरसों में ज़िंदगी नरक बन गयी है। शराबी पति के साथ ज़िंदगी के बाकी दिन गुज़ारना मेरे लिए असंभव है। मैं ज़हर खा रही हूँ। रोज़ की कलह से उन्हें और मुझे दोनों को मुक्ति मिल जायेगी। पर तुम किसी से यह न कहना ! मेरा शरीर चीरा-फाड़ा जाये, मुझे पसंद नहीं। घोषणा कर देना कि फ़िट ही में अंजो की जान निकल गयी और अपने जीजाजी को शर्म दिलाना कि देखिये, आपकी शराबनोशी का क्या दुष्परिणाम निकाला...' और मैंने जीजाजी को शर्म दिलाने में अंजो की अंतिम इच्छा पूरी कर दी। लेकिन इस घटना का मुझ पर ऐसा असर पड़ा कि मैं यहाँ से जाने के बाद यूरोप के दौरे पर निकल गयी।

श्रीपत : अंजो मॉर्बिड थी, मार्बिड और ज़ालिम ! ख़ुद मरी और जीजाजी को भी मार गयी।

ओमी : **(बैठक में क्षण भर झाँककर आवाज़ देती है)** मौसी, ज़रा इधर आना।

अनिमा : आयी।

ओमी ग़ायब हो जाती है। अन्नो भी उसके पीछे चली जाती है : श्रीपत पाँव फिर मेज़ पर रख लेता है और गुनगुनाता है।

श्रीपत : यह दस्तूरे ज़बाँ-बंदी है कैसा तेरी महफ़िल में
यहाँ तो बात करने को तरसती है ज़बाँ मेरी

अपने कमरे से नीलम निकलता है। पतला-दुबला, गोरा-चिट्टा बालक, माथे पर बालों की लट बेपरवाही से बिखरी है। हाथ में कलम है।

नीलम : मामाजी, मुझे डिस्टर्ब[2] न कीजिये।

श्रीपत : **(अचकचाकर टाँगें नीचे करते हुए)** तुम कौन हो म्याँ, क्या नाम है तुम्हारा ?

---

1. मॉर्बिड=अस्वस्थ-चित्त, उद्भ्रांत।
2. डिस्टर्ब करना=व्याघात डालना।

नीलम : मेरा नाम नीलम है और मैं सिटी-मैजिस्ट्रेट साहब का लड़का हूँ।

श्रीपत : नीरज का (**हँसते हुए उठकर उसे बाँहों में उठा लेता है**) तो बेटे, मैं तुम्हारा मामा नहीं, दादा हूँ। तुम क्या कर रहे थे, जो मैंने तुम्हें डिस्टर्ब किया ?

नीलम : मैं पढ़ रहा था दादाजी।

श्रीपत : पढ़कर क्या बनोगे ?

नीलम : ममी कहती हैं कमिश्नर, पापा कहते हैं क्रिकेट का कप्तान !

श्रीपत : तुम खुद क्या बनना चाहते हो ?

नीलम : मैं तो कवि बनना चाहता हूँ।

श्रीपत : (**ठहाका लगाता है**) तुम पढ़ रहे थे या कविता कर रहे थे ?

नीलम : कविता कर रहा था।

श्रीपत : सुनाओ तो कविता।

श्रीपत उसे मेज पर खड़ा कर देता है और नीलम कविता सुनाता है :

नीलम : कैसे-कैसे वरदान मिले

बंदर को लम्बी पूँछ मिली
गदहे को लम्बे कान मिले
हाथी को सूँड़ मिली लम्बी
बुलबुल को सुंदर गान मिले।

श्रीपत : तुम्हें क्या मिला ?

नीलम : मुझको कविता करना आया
कवि का दिल, कवि के प्राण मिले।

श्रीपत : (**उसे गोद में लेते हुए**) वाह रे नीलम बेटे, तू तो बड़ा होकर टैगोर के कान काटेगा। खूब कविता किया कर ! अब के कलकत्ता पहुँचकर मैं तेरे लिए कविता की बड़ी सरल और सुंदर किताबें भेजूँगा। क्रिकेट के कप्तान और कमिश्नर कवि के सामने क्या ठहरेंगे ? वे दोनों घूमते तारों की तरह चंद दिन अपनी रोशनी दिखाकर चल देते हैं और कवि ध्रुव तारे की तरह चमकता रहता है।

नीलम : पर ममी कहती हैं कि यह सब पागलों का काम है, तुझे कमिश्नर बनकर ज़िलों पर राज्य करना है। कमिश्नर के बाद तू चीफ़ कमिश्नर, यहाँ तक कि गवर्नर बन जायेगा और पापा कहते हैं कि तू क्रिकेट खेला कर, क्रिकेट खेलेगा तो तू नायडू, मर्चेंट, माँकड़, हज़ारे और अमरनाथ की तरह प्रसिद्ध हो जायेगा और दुनिया की सैर करेगा। वे मेरे लिए नया बैट, विकेटें और गेंद मँगा रहे हैं।

श्रीपत : तू क्या बनना चाहता है ?

नीलम : मैं तो कवि बनना चाहता हूँ। दादाजी, आप पापा और ममी से कह

दें कि वे मुझे कवि बनने दें। 'मोहन' में मैंने एक कविता भेजी थी, वह छप गयी है। मैंने डर के मारे किसी को दिखायी नहीं, आप कह देंगे तो बहुत अच्छा होगा।

श्रीपत : हम जरूर कह देंगे। हम तुम्हारी ममी को समझायेंगे कि कमिश्नर एक कमिश्नरी और गवर्नर एक प्रांत पर राज्य करता है, पर कवि देश-विदेश के पाठकों के हृदयों पर शासन करता है। और तुम्हारे पापा को समझायेंगे कि कवि क्रिकेट के खिलाड़ियों से कहीं बड़ा खिलाड़ी है और घर बैठे अपनी कल्पना के बल पर देश-विदेश की सैर करता है। (**उसे नीचे उतारकर, फिर कुर्सी पर बैठते हुए**) लो, अब इसी बात पर अपने दादा के लिए दियासलाई की डिबिया लेते आओ।

नीलम : अभी लाता हूँ।

खाली सिगरेट अँगुलियों में लिये हुए श्रीपत गाता है।

श्रीपत : मथुरा में जाकर भूल गये, काहन सब व्रज की गलियों को।
पर व्रज की गलियाँ स्पंदित हैं, अब भी काहन की लातों से![1]

नीलम दियासलाई की डिबिया लाता है, श्रीपत सिगरेट सुलगाता है और दियासलाई वहीं फेंक देता है।

नीलम : दादाजी, सिगरेट नहीं पिया करते।

श्रीपत : (**हँसता है**) कौन कहता है?

नीलम : ममी कहती हैं।

श्रीपत : वे तुम्हारे लिए कहती होंगी, तुम बड़े होकर किसी के दादा बनोगे तो तुम्हें भी सिगरेट पीने की इजाज़त मिल जायेगी।

ओमी नीलम को आवज देती हुई आती है।

ओमी : नीलम तुम क्या कर रहे हो यहाँ? तुम्हारे तो पढ़ने का समय है। क्या बिना पढ़े तुम कमिश्नर बनोगे?

नीलम : मुझे कमिश्नर नहीं बनना ममी।

ओमी : तो क्या क्रिकेट के बेकार खिलाड़ी बनोगे?

नीलम : मैं कवि बनूंगा।

ओमी : चल, बन लिया कवि! अपने कमरे में बैठकर पढ़! मास्टरजी आने वाले हैं। (**कान पकड़कर उसके कमरे की ओर ले जाती है।**)

श्रीपत : अरे ओमी बेटी, तुम तो बच्चे का कान उमेठ दोगी।

ओमी : आप चुप रहिये मामाजी, अभी से ऐसी बातें करेगा तो कल क्या न

---

1. पहले संस्करण में निम्नलिखित शे'र था :
मैं और बज्म-ए-मय से यों तिश्नाकाम आऊँ।
गर मैंने की थी तोबा, साकी को क्या हुआ था।

करेगा ! और इसकी दादी इसके कमिश्नर बनने के सपने देखती थीं।
दियासलाई की तीली फ़र्श से और डिबिया मेज से उठाती हुई चली जाती है।

श्रीपत कुर्सी पर बैठ जाता है, टांगें मेज पर रख लेता है और सिगरेट का कश लगाता है।

ओमी आती है, तिपाई उठाकर श्रीपत के सामने रख देती है और तिनतिनाती हुई चली जाती है।

श्रीपत अचकचाकर पांव तिपाई पर रख लेता है। कुछ क्षण उसी तरह बैठा सिगरेट के कश लेता है। फिर पांव मेज पर रख लेता है और कुर्सी पर पीछे को झुककर धुएं के मर-गोले छत की ओर फेंकता है। दो-एक बार ऊंघता है और एक बार गिरने-गिरने को हो जाता है। अचानक उठता है। सिगरेट फ़र्श पर फेंककर, बड़ी झुंझलाहट से मेज की चादर को गोल-मोलकर, एक ओर रख देता है, उछलकर मेज पर बैठता है और चादर का तकिया बनाकर, जूतों-समेत लेट जाता है।

पर्दा गिरता है।

दूसरा दृश्य

कुछ क्षण बाद पर्दा फिर उठता है। श्रीपत पूर्ववत खाने की मेज पर जूतों-समेत सोया हुआ है। चादर उसके सिर का तकिया बनी हुई है। मेज क्योंकि इतनी लम्बी नहीं कि वह टांगें पसार सके, इसलिए उसकी एक टांग दूसरी के घुटने पर है, लेकिन दोनों टांगें एक ओर को झुकी हुई हैं और अलग हुआ चाहती हैं।

मेज के पास फ़र्श पर आधे सिगरेट का टुकड़ा पड़ा है। घड़ी में बारह बजे हैं। पर्दा फिर गिरता है।

तीसरा दृश्य

पर्दा फिर उठता है। घड़ी में चार बजने को हैं। बैठक में काउच पर बैठी ओमी स्वेटर बुन रही है। खाने के कमरे में श्रीपत पूर्ववत सोया हुआ है। सिर की चादर नीचे गिरी हुई है और टाँगें लटक रही हैं। अनिमा उसे उठा रही है।

अनिमा : उठिये, उठिये भी ! (**श्रीपत को तनिक कंधों से झकझोरती है**) और कहते थे, मैंने आदत बदल डाली है। बेचारी बहू को परेशान कर दिया। उठिये ! सोना है तो जाकर कमरे में पलँग पर सोइये !

श्रीपत पहले 'ऊँ-हूँ' करता है, फिर अँगड़ाई लेता है और उठकर बैठ जाता है। फिर इधर-उधर देखता है। सिगरेट के टुकड़े पर उसकी निगाह जम जाती है।

श्रीपत : अन्नो, ज़रा वह सिगरेट का टुकड़ा उठाना।

अनिमा : (**सिगरेट का टुकड़ा उठाकर उसके मुँह में देती है**) हालांकि आपकी जेब में पूरी डिबिया होगी। उसमें से एक सुलगा लेते तो क्या बिगड़ जाता ?

श्रीपत : ओमी जाते-जाते दियसलाई ही उठा ले गयी...

अनिमा : पर मैं तो ले आयी हूं। (**दियासलाई जलाकर सिगरेट सुलगा देती है।**)

श्रीपत : अरे भई, तुम कितनी अच्छी हो ! तुम्हें अब तक मेरी इस आदत की याद है। (**जोर से कश खींचता है।**)

अनिमा : लेकिन आपने तो अपनी आदतों को बदल लिया था।

श्रीपत : पर तुमने तो याद रखा। (**गाता है :**)

मथुरा में जाकर भूल गये, काहन सब ब्रज की गलियों को,
पर ब्रज की गलियाँ स्पंदित हैं अब भी काहन की बातों से।[1]

नीलम अपने कमरे से निकलता है।

नीलम : मामाजी, आप मुझे डिस्टर्ब कर रहे हैं।

श्रीपत : तुम कविता बना रहे हो ?

नीलम : नहीं, मैं गणित के प्रश्न कर रहा हूँ।

श्रीपत : पर तुम्हें तो कवि बनना है न ?

नीलम : ममी कहती हैं कि कवि पागल होते हैं। वे कहती थीं कि आप भी कवि हैं।

श्रीपत : और पागल हैं...

---

1. पहले संस्करण में निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :

मैं और बज़्म-ए-मय से यूँ तिश्नाकाम आऊँ।
गर मैंने की थी तौबा, साकी को क्या हुआ था।

अन्नो हँसती है।

नीलम : आप आठ बजे से मेज़ पर सो रहे हैं। ममी मुझे दिखा गयी हैं। मैं ऐसा कवि नहीं बनना चाहता। (माँ से सुनी उक्तियाँ दोहराता है) टैगोर खाने की मेज़ पर नहीं सोते थे और सरोजिनी नायडू...

श्रीपत : (मेज से उछलकर उसे बाँहों में लेकर चूम लेता है) मैं कवि नहीं हूँ, पर कवि मेज़ पर भी सोते हैं, धरती पर भी और गदेलों पर भी। यह कहीं नहीं लिखा कि मेज़ पर सोनेवाला आदमी कवि नही बन सकता। (फिर उसे चूमकर) पर तुम जाओ बेटे, जाकर गणित में मन लगाओ। तुम्हारा ध्यान जो इतनी जल्दी कविता से हट गया तो लगता है कि तुम्हारा ध्यान उसमें नहीं था।

नीलम : दादाजी हमेशा कहते हैं, हमको डिस्टर्ब न करो, क्या उनका भी ध्यान नहीं होता ?

श्रीपत : (जोर से ठहाका लगाता है) जैसे तुम गणित के सवाल करते हुए कविता या कहानी की बात सोचते हो, इसी तरह वे भी फ़ैसले लिखते-लिखते तुम्हारी दादी की बात सोचने लगते है।

ओमी : (बैठक से) नीलम, तुम वहाँ क्या कर रहे हो ? अपने दादाजी को सोने दो और जाकर अपने सवाल करो। कच्ची नींद से जग जायेंगे तो परेशान होंगे।

नीलम तत्काल अपने कमरे में चला जाता है।

श्रीपत : (जोर से ठहाका लगाते और बैठक में जाते हुए) कच्ची नींद से तो मुझे अन्नो ने जगा दिया, नीलम क्या जगायेगा।

घड़ी में चार बजते हैं।

ओमी : पापा के आने का समय हो गया...मुन्नी...मुन्नी...।

नौकरानी को आवाज़ देते हुए जाती है। बाहर से उसकी आवाज़ सुनायी देती है।

: जज साहब के आने का समय हो गया है, पानी रख दो केतली में।

श्रीपत काउच में धँस जाता है, अन्नो उसके पीछे-पीछे आकर सामने के काउच पर बैठती है।

अनिमा : आपने जहाँ दूसरी आदतें बदली, वहाँ क्या खाने की मेज पर सोने की आदत नही बदली ?

श्रीपत : कसम ले लो, जो पिछले बीस वर्षों में कभी मेज़ पर सोया हूँ। यहाँ आने से पहले सोचता था कि अबके जाऊँगा तो जीजाजी के साथ बैठ-कर गप लड़ाऊँगा। एक ही चारपाई पर उनके साथ बैठूँगा और आराम से बिस्तर में सोऊँगा। पर यहाँ आकर पता चला कि अंजो बीबी अपनी प्रतिनिधि छोड़ गयी है, जो कुछ बातों में अंजो के भी कान काटती है। तब न जाने क्या हुआ कि मैं फिर वैसे-का-वैसा हो गया।

मैं तो सच उसी क्षण चला जाता, पर एक तो जीजाजी से भेंट नहीं हुई, दूसरे रात भर का थका हुआ था, इसलिए सो गया। बाथरूम किधर है? मैं ज़रा हाथ-मुँह धो लूँ।

अनिमा : उधर नीलम के कमरे के साथ है, इधर जीजाजी के कमरे के साथ भी है।

श्रीपत जाता है और नीरज प्रवेश करता है।

नीरज : **(कोट उतारकर फेंकते हुए)** लो मौसी, अब जाकर जान छूटी है उन शरणार्थियों से?

अनिमा : बात क्या थी?

नीरज : अब आप से क्या कहें मौसी। कैंप की एक लड़की को शिकायत थी कि शरणार्थी अफ़सर ने उसे अपने घर इंटरव्यू के लिए बुलाया और छेड़खानी की। लड़की बड़े अच्छे घर की है। तकलीफ़ में है। उसने अफ़सर के मुँह पर तमाचा जड़ दिया। अफ़सर ने उसे बदचलन कहकर कैंप से निकाल दिया। एक हंगामा मचा है। बड़ी मुश्किल से मामला सुलझाया।

अनिमा : क्या होगा?

नीरज : डी० एम० शरणार्थी अफ़सर की तरक्की की सिफ़ारिश कर रहे हैं।

अनिमा : तो क्या इस सबके बाद उनकी तरक्की होगी?

नीरज : शरणार्थी उन्हें बदलवाना चाहते हैं और डी० एम० उनकी तरक्की कराना। एक तीर से दो शिकार हो जायेंगे।

ओमी आती है।

ओमी : क्या पापा नहीं आये? **(नीरज की ओर देखकर)** अब जाकर छुट्टी मिली आपको? कहिये, खाना खायेंगे या चाय-टोस्ट ही लेंगे?

नीरज : चाय-वाय तो छोड़ो। बियर की कुछ बोतलें फ़्रिज में रखवा दीं कि नहीं? नज़ीर आता होगा।

ओमी : बोतलें मैंने रख दी हैं, लेकिन क्या शाम को ही शुरू कर देंगे?

नीरज : रात को वह ख़ाली नहीं। अब मैंने कह दिया है, तुम प्रबंध कर दो।

ओमी : मैं कहती थी कि अच्छा होता, आप यहाँ न पीते!

नीरज उठकर जाता है और रेफ़्रिजरेटर से बोतलें निकालता है।

नीरज : क्यों, यहाँ क्यों न पियें? **(बोतलें लाकर तिपाई पर रखता है।)**

ओमी : पहली बात तो यह है कि पापा ने इस कमरे को उसी तरह रहने दिया, जैसे ममी के समय में था। दूसरे, ममी की जान इसी कारण गयी। तीसरे, पापा शराब को हाथ नहीं लगाते और मैं नहीं चाहती कि उन्हें बुरा लगे।

नीरज : यह तो बिलकुल बेतुकी बात है। मैं अपने घर में मेहमानों को बुलाऊँ

भी नहीं ? **(जाकर कुछ और बोतलें और बियर के मग लाता है।)**

ओमी : यदि आप नहीं चाहते कि इसी बात को लेकर यहाँ कोई दूसरी दुर्घटना हो तो आप दूसरा प्रबंध कीजिये। मैंने प्रण किया है कि इस घर में सब कुछ वैसा ही होगा, जैसे ममी के जमाने में होता था।

दोनों क्षण भर एक-दूसरे की ओर देखते हैं, फिर नीरज आँखें हटा लेता है।

नीरज : फिर तुम्हीं बताओ, कहाँ इसका प्रबंध किया जाये ?

ओमी : नज़ीर भाई के यहाँ कीजिये। या उधर अपने ऑफ़िस में कीजिये, पर इस खाने या बैठने की जगह नहीं हो सकता।

चपरासी क्रिकेट का सामान लिये प्रवेश करता है।

चपरासी : साहब, 'वृन्दा स्पोर्ट्स' का आदमी यह क्रिकेट का सामान दे गया है।

नीरज : लाओ दिखाओ ! **(उससे लेकर बैट का सामान खोलता है। उसे फ़र्श पर टिकाकर उसके हत्थे पर जोर देकर देखता है।)** और वह एलबम नहीं भेजा उसने ?

चपरासी : जी, भेजा है !

बगल में रखा दूसरा पार्सल नीरज की ओर बढ़ाता है। नीरज उसे खोलकर एक-दो पृष्ठ उलटकर देखता है और बच्चों की तरह प्रसन्न होकर नीलम को आवाज़ देता है।

नीरज : नीलम...नीलम !

नीलम : **(दूसरे कमरे से)** जी पापा ! **(हाथ में कलम लिये भागा आता है।)**

नीरज : तुम्हारे लिए क्रिकेट का सामान मँगाया है। और देखो, इस एलबम में क्रिकेट के सब खिलाड़ियों के चित्र, उनके नाम और काम समेत छपे हैं। चलो, तुम्हें दिखायें। **(मुड़कर चपरासी से)** तुम ज़रा नज़ीर साहब के यहाँ जाओ और कहो कि हाथ-मुँह धोकर चले आयें !

एक हाथ में एलबम लिये, दूसरा नीलम के कंधे पर रखे चलने को होता है।

नीलम : पापाजी, मैं तो गणित कर रहा हूँ।

नीरज : **(रुके बिना)** सुबह से तुम्हारा गणित नहीं हुआ ? पाँच बजने को आये हैं, अब एक-दो घंटे खेलो। फिर पढ़ लेना। गदहे की तरह सारा दिन पढ़ाई का बोझ ढोओगे तो गदहे बन जाओगे !

ओमी : हाथ-पैर या सिर तुड़वा लेगा तो आपको चैन आयेगा।

नीरज : **(उसकी नहीं सुनता)** चलो-चलो, तुम्हें क्रिकेट के खिलाड़ियों की तस्वीरें दिखायें, फिर कुछ क्षण खेलेंगे।

ओमी : आप उसे निकम्मा और आवारा बनाकर दम लेंगे।

नीरज : **(उसकी नहीं सुनता और अन्नो से कहता है।)** अन्नो मौसी, तुम भी जाओ !

अनिमा : तुम्हीं जाओ भाई। मैं न वैट पकड़ना जानूं, न गेंद फेंकना।

नीरज : तुम ज़रा विकटों के पीछे खड़ी हो जाना।

जोर से हँसता है और गेंद नीलम को देकर विकटें बग़ल में लिये, वैट घुमाता हुआ चला जाता है। पीछे-पीछे अन्नो जाती है।

ओमी : मौसी, नाक-मुँह तुड़वा लोगी !

अनिमा : (मुड़कर) अरे मैं रहूँगी तो नाक-मुँह टूटने से बचे रहेंगे।

हँसती हुई चली जाती है। ओमी लम्बी सांस लेकर कोने के काउच में धँस जाती है और सिलाइयां ले बैठती है। कुछ देर बाद श्री इंद्रनारायण अपने कमरे से निकलते हैं।

हालांकि शक्ल वही वकील साहब की है, पर इन बीस वर्षों ने—जिनमें वे वकील से जज हो गये हैं—उन्हें काफ़ी बदल दिया है। उनके शरीर ने मांस छोड़ दिया है। चेहरे पर आँखों के नीचे बड़े-बड़े लोथड़े हैं। पेट भी कद्रे मोटा है। चेहरे पर ताजगी नहीं। हां, संन्यासियों का-सा वैराग्य वहां अवश्य विद्यमान है।

कोने के अँधेरे में काउच पर बैठी ओमी को देखे बिना, वे किचन की ओर के दरवाजे की तरफ़ बढ़कर आवाज देते हैं।

इन्द्र० : मुन्नी···मुन्नी...राधू...बहू...

ओमी सहसा चौंककर उठती है।

ओमी : जी पापा !

इन्द्र० : क्यों बेटी, क्या श्रीपत आया था ? यह मेरे ब्लॉटिंग-पैड पर उसका बड़ा-सा नाम लिखा है।

ओमी : जी आये थे।

इन्द्र० : कब आया ? कहां है ?

उसी समय नीलम के कमरे से रूमाल से हाथ पोंछता हुआ श्रीपत आता है और जज साहब को देखते ही—'जीजाजी' —कहता हुआ बढ़कर उन्हें आलिंगन-बद्ध कर लेता है।

श्रीपत : कहिये जीजाजी, कैसे मिज़ाज हैं ?

ओमी उन्हें बातों में निमग्न देखकर जल्दी-जल्दी बियर की बोतलें उठाने लगती है कि श्रीपत की नजर उस पर पड़ जाती है।

: इन्हें यहीं रहने दो बेटी !

ओमी बोतलें वहीं छोड़कर चली जाती है।

इन्द्र० : (उसके आलिंगन से अलग होते हुए) अरे भाई, कब आये, कहां से

आये, कैसे हो ?

श्रीपत : **(हंसते हुए लम्बी सांस भरकर)**

हम यायावर, हम क्या बोलें,
कब हाथ बढ़े, कब पाँव उठे।[1]

: आप अपनी कहिये—**(दोनों हाथों से कमर थामकर, एक कदम पीछे हटकर देखता है)** आख़िर जज हो गये न, पर कसम भगवान की, शक्ल-सूरत से आप जज नहीं, चीफ़ जस्टिस मालूम होते हैं। आप हमेशा चार कदम आगे रहे जीजाजी !

इन्द्र० : तुम तो श्रीपत वैसे-के-वैसे दिखायी देते हो। तुम्हारे तो बाल तक नहीं पके। मैं तो **(टोपी उतारकर दिखाते हैं)** गंजा हो रहा हूँ। कहो, किधर रहे ? आज मुद्दतों बाद देखने को मिली है तुम्हारी सूरत। कहाँ-कहाँ रहे ?

श्रीपत : **(लम्बी साँस भरकर)** अरे जीजाजी, यह न पूछिये। यह पूछिये कहाँ नहीं रहे ? एक जहान देख डाला इस बीस बरसों में। आप अपनी कहिये !

इन्द्र० : अरे भाई, हमारी क्या पूछते हो—

सुबह होती है शाम होती है,
उम्र यों ही तमाम होती है !

खोखली-सी हँसी हँसते हैं।

श्रीपत : सुबह तो हमारी जीजाजी, बस शाम की होती है, पर हम यह कोशिश करते हैं कि वह कुछ रंगीन हो जाये। उम्र तमाम हो, पर उम्र तमाम होने का खेद न रहे। **(आवाज़ को धीमा करके)** तो कहिये, फिर रहे न 'दिलकुशा' प्रोग्राम ?

इन्द्र० : अरे भाई, मैं जज हूँ।

श्रीपत : तो 'गेलॉर्ड' सही !

इन्द्र० : **(लम्बी सांस लेते और काउच में धँसते हुए)** नहीं, मैंने तो मुद्दत हुई पीना छोड़ दिया।

श्रीपत : पहले ही आप कौन ज़्यादा पीते थे ?

इन्द्र० : नहीं, मैं पीने लगा था, पर अब तौबा कर ली है।

श्रीपत : **(बोतल का काग भक् से उड़ाते हुए)** तो फिर आज तौबा टूट जाये। **(दो मगों में ढालता है। एक मग जज साहब की ओर बढ़ाता**

---

1. पहले संस्करण में निम्नलिखित शे'र था।

कुछ बात न पूछो रिंदों की
कब हाथ बढ़े, कब पाँव उठे।

है।) जिगर ने कहा है : 'तौबा करता हूँ, तोड़ने के लिए !'[1] लीजिये, आज के दिन तोड़ दीजिये तौबा !

इन्द्र० : नहीं भाई, अंजो की मौत के बाद मैंने कसम खा ली कि मैं अब कभी नहीं पियूँगा। न मैं चोरी से पीने लगता, न उसे वैसा फ़िट आता और न वह मरती।

श्रीपत : फ़िट उसको आपकी शराबनोशी पर न आता तो किसी और बात पर आता। वह करज़ोर नसों की मॉर्बिड औरत थी और नानाजी ने उसे सिर पर चढ़ा रखा था।

इन्द्र० : जो भी हो, उसकी चिट्ठी की वे दो पंक्तियाँ सदा मेरे मन को कचोटती रहीं। मैंने दो-एक बार चाहा भी, पर पी न सका।

श्रीपत : लेकिन आपको मालूम नहीं, अंजो कितनी मॉर्बिड थी और वह अपने हठ को पूरा करने के लिए क्या कुछ न कर सकती थी। (किंचित धीमे स्वर में) वह फ़िट से नहीं मरी, उसने ज़हर खा लिया था !

इन्द्र० : (आँखें फाड़े) क्या कहते हो !

श्रीपत : मैं ठीक कहता हूँ। महज़ दौरे के बाद शराब आप शायद न छोड़ते, इसलिए उसने जहर खा लिया। और आपको बताया नहीं कि आप अंतरमन में झुँझला न जायें, उसे मूर्ख या हटी समझकर इस घटना को भूल न जायें। और जो बात वह अपनी ज़िंदगी में न कर सकी, वह उसने मर के कर दिखायी।

इन्द्र० : (अचानक उसे दोनों कंधों से पकड़कर झकझोरते हुए) तुम्हें किसने बताया ?

श्रीपत : अन्नो ने !

इन्द्र० : (अंदर की ओर बढ़ते हुए उद्वेलित स्वर में चिल्लाते हैं) अन्नो अन्नो...!

अनिमा भागी आती है। जज साहब के स्वर में कुछ ऐसी उत्तेजना, कुछ ऐसा उद्वेलन है कि ओमी भी उसके पीछे-पीछे चली आती है और अन्नो के पीछे नीरज भी झाँकता है और उसके पीछे नीलम भी।

अनिमा : क्या बात है जीजाजी ?

इन्द्र० : यह श्रीपत क्या कहता है ?

अनिमा प्रश्नसूचक दृष्टि से देखती है।

: क्या अंजो ने ज़हर खाया था ?

---

1. प्रथम संस्करण में यहाँ निम्नलिखित शे'र है :

पुकारता है यह अंदाज़ो-नाज़े-तौबा-शिकन
कि आये वो जिसे दावा हो पारसाई का।

अन्नो श्रीपत की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखती है।

इन्द्र० : क्या अंजो ने ज़हर खाया था ?

अन्नो चुप है।

: **(लगभग चिल्लाकर)** क्या अंजो ने ज़हर खाया था ?

अनिमा : **(श्रीपत से)** क्या आपको इसलिए बताया था कि आप सीधे जीजाजी को आकर बता दें।

श्रीपत : *अंजो का तिलिस्म जितनी जल्दी टूट जाये, अच्छा है। यह कोई जीवन जी रहे हैं जीजाजी ?*

ओमी : क्यों, इसमें क्या बुराई है ? संयम से, नियमितता से जीवन जीना क्या बुरा है ? आप क्या चाहते हैं कि यहाँ सुबह-शाम बोतलें खुलें, काग उड़ें, शोर और धमाचौकड़ी मचे।

नज़ीर बाहर के दरवाज़े से 'हलो' कहता हुआ आता है, पर जज साहब को देखकर चुपचाप एक ओर खड़ा हो जाता है।

श्रीपत : वह दूसरी सीमा है। यह क्या ज़रूरी है कि आदमी सदा सीमाओं पर चले। बीच का मार्ग क्या ठीक नहीं ?

ओमी : लेकिन बीच के मार्ग पर चलना क्या आसान है ? बीच का मार्ग अगर रहता तो ममी को शायद आपत्ति न होती।

श्रीपत : **(हँसकर)** अंजो मेरी बहन थी और जितना तुम अपनी सास को जानती हो, उससे अधिक मैं अपनी बहन को जानता हूँ।

ओमी : **(व्यंग्य से)** आपकी बहन भी तो आपको जानती थीं।

श्रीपत : अंजो मुझे जानती तो अपने हाथों अपने जीवन का यों अंत न करती।

नज़ीर : अपने हाथों...

नीरज : **(आगे आते हुए)** आप क्या कहते हैं...

श्रीपत : मैं ठीक कहता हूँ...अंजो मेरी बहन थी, पर वह नाना के यहाँ पली थी। वह सख़्त मॉर्बिड और ज़ालिम थी, क्योंकि हमारे नाना मॉर्बिड और ज़ालिम थे। वह घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी, पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है और इन्सान मशीन नहीं। जब इन्सान मशीन बन जायेगा तो वह दिन दुनिया के लिए सबसे बड़े ख़तरे का दिन होगा। इन्सान का मशीन बनना सनक ही का दूसरा रूप है। अंजो यदि इसे समझती तो जीजाजी को चोरी से शराब पीने और अंजो को मरने की ज़रूरत न पड़ती। लेकिन अंजो ने जब देखा कि वह ज़िंदगी में अपनी ज़िद पूरी नहीं कर सकती तो उसने ज़हर खा लिया और जिस काम को वह ज़िंदगी में न कर पायी, उसमें मरकर सफल हो गयी। इस कमरे को देखो—पाँच बरस से इसमें कोई ज़ोर से नहीं हँसा, ज़ोर से नहीं बोला। पाँच बरस से इसमें सिगरेट या शराब का एक घूँट नहीं पिया गया—पाँच बरस से यह अंजो की सनक को

पालता रहा है। पर मैं समझता हूँ, आज अंजो की सनक, उसके जुल्म, उसके तिलस्म को तोड़ना ज़रूरी है, ताकि इस घर के लोग अपना-अपना जीवन जियें। नीरज चाहे तो सिटी-मैजिस्ट्रेट होता हुआ भी क्रिकट खेले या मैजिस्ट्रेसी छोड़कर क्रिकेट खेले; नीलम आई० ए० एस० या क्रिकेट का कप्तान बने या न बने, पर कवि ज़रूर बने और जीजाजी चाहें तो एक-आध पेग पियें और एक-आध शाम 'स्टैंडर्ड' या 'गेलॉर्ड' में गुज़ारें। लीजिये जीजाजी, उठाइये ! लो भई नीरज, तुम लोग भी लो !

बियर की एक बोतल खोलकर दो मगों में ढालकर नीरज और नज़ीर को भी देता है। ओमी और अन्नो किंकर्तव्य-विमूढ़ देखती हैं।

इन्द्र० : **(गिलास उठाते हैं और अंजो के चित्र की ओर देखते हैं।)** ज़रा-सी ग़लती पर अपनी सनक में तुमने मेरे पाँच बरस रेगिस्तान बना डाले अंजो, मैं तुम्हें क्या कहूँ। इस कमरे पर बरसों से तुम्हारा जादू तारी है, पर श्रीपत ठीक कहता है, यह जादू टूटना चाहिए, इस घर को उस घड़ी की तरह नहीं, इन्सानों की तरह जीना चाहिए। **(धीरे-धीरे मग उठाते हैं, लेकिन होठों के पास तक ले जाकर हाथ रोक लेते हैं।)** नहीं भाई, मैं नहीं पी सकता। अंजो के ज़ुल्म और उसकी सनक की बात मैं मानता हूँ, पर जब उस सनक के लिए उसने जान दे दी तो उसकी रक्षा करनी ही चाहिए। जाने ज़िंदगी और कितने दिन बाकी है, क्यों इन चंद दिनों के लिए उसकी आत्मा को कष्ट दूँ ? **(मग को मेज पर रखकर अपने कमरे को चलते हैं, फिर रुकते हैं।)** लेकिन तुम पियो, मौज मनाओ, इस कमरे का जादू तोड़ो, हँसो, शोर मचाओ, जियो ! **(फिर मुड़कर जाते हुए)** लेकिन मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो...मुझे मेरे हाल पर छोड़ दो !...

सब किंकर्तव्य-विमूढ़ खड़े हैं, जब इन्द्रनारायण अपने कमरे में चले जाते हैं। पर्दा सहसा गिर जाता है।

चिट्ठी-पाती

आदरणीय,

पिछली बार आपकी रचनाओं के बारे में बातें करता हुआ मैं 'व्यक्ति अश्क' तक पहुँच गया था। अस्वस्थता के बावजूद अपनी हल्की मुस्कुराहट और बेबाक शैली में आप मुझे वह सब कुछ बताते रहे, जो अन्य 'प्रतिष्ठित और स्थापित' लोगों के लिए बताने की सीमा से परे 'नितांत निजी' और 'गोपनीय' होता है। 1964 से ही आपसे पत्राचार का जो सिलसिला बना उसने भी इस बात की काफ़ी सहूलियत दी कि मैं आपको और आपकी रचनाओं को उनके समस्त अंतरंग सूत्रों और प्रेरणाओं के संदर्भ में समझ सकूं। आपने जो पत्र समय-समय पर मुझे तथा अन्य हिंदी लेखकों को लिखे, वे पत्र अपनी प्रासंगिकता और महत्व के कारण वस्तुतः ऐतिहासिक दस्तावेज़ हैं।

कई बार यह बात मेरे मन में आयी है और मैंने आपके 'एक मात्र प्रकाशक' से कहा भी है कि आपके पत्रों का संकलन प्रकाशित किया जाना बहुत ज़रूरी है। पत्रों में, मैंने हमेशा महसूस किया है, आपके लम्बे और बीहड़ अनुभवों की एक दुनिया है, जो हमारे आसपास की जिंदगी के स्पंदनों से भरी एक जीवित दुनिया है।

... ...

मुझे सहूलियत रही कि मैंने आपके पत्र आपकी फाइल में भी आपके 'एकमात्र प्रकाशक' की मेहरबानी से देखे। मैं चाहूँगा कि हिंदी के लाखों पाठकों तक आपके पत्र प्रकाशित होकर आयें। इससे आपके अत्यधिक विवादास्पद व्यक्तित्व के चारों तरफ़ फैलाये कुहरे छटेंगे और कई 'ऐतिहासिक मूर्तियों' का ध्वंस होगा जो समकालीन रचनाधर्मिता के हित में होगा।

30 दिसंबर, 74

आपका
पंकज सिंह

अश्क के नाम : दूसरों के पत्र

1. प्रेमचंद

गनेश गंज, लखनऊ
23 मार्च, 1932

डियर उपिन्दर,

आशीर्वाद। कई दिन हुए तुम्हारी हिंदी कहानी मिल गयी। उसके पहले 'फूल का अंजाम' उर्दू की चीज़ मिली। मैं इस हिंदी कहानी में जरूरी इसलाह[1] करके 'हंस' में दे रहा हूँ। लेकिन तुमने नरेन्द्र को बिला काफ़ी असबाब[2] के शादी करने पर आमादा[3] कर दिया। वो शादी से बेज़ार है। मताहल ज़िंदगी[4] का मंज़र देखकर उस ज़िंदगी से उसकी तबीयत और बरगश्ता[5] हो जाती है। फिर यकायक वो शादी करने पर तैयार हो जाता है। महज़ इसलिए कि उसकी मँगनी हो गयी है। शादी के बाद की ज़िंदगी ज़रूर ख़ुशनुमा है। लेकिन यह कौन कह सकता है कि जिन मियाँ-बीवी को उसने लड़ते देखा था, उनकी ज़िंदगी भी शबाब के अव्वली बहार[6] में उतनी ही दिलकश न रही होगी। तुम्हें कोई ऐसा सीन दिखाना चाहिए था जिससे इन्सान को अपनी तन्हाई वबाल-ए-जान[7] हो जाती, या मियाँ-बीवी में जंग होने पर भी उनमें कुछ ऐसा ख़ुलूस[8] होता, जो इन्सान को शादी की जानिब मायल[9] करता। मौजूदा हालत में किस्सा कन्विंसिंग—यकीन अंगेज़[10] नहीं है। 'फूल का अंजाम' इससे अच्छा है। उसमें एक नुकता है। एक असली [illegible] है। लेकिन उर्दू (में) लेकर मैं क्या करूँ।

फ़िलसफ़ाना[1] मजामीन बहुत ही आला दर्जे के हैं। रोमां रोलां का 'विवेकानन्द' ज़रूर पढ़ो। उनकी 'गांधी' भी पढ़ने काबिल है। मार्ले की 'लिट्रेरी ब्यायग्र-फियां[2]' लाजवाब हैं। डा० राधा कृष्ण की फ़िलासफ़िकाना किताबें, टॉल्सटॉय का 'What is Art' वगैरह किताबें ज़रूर देखनी चाहिएँ।

अख़्तर साहब से मेरा सलाम कहना। मैं एक हिंदी किस्सा लिख रहा हूँ। वह आपके लिए महफ़ूज़[3] है।

मुख़्लिस ख़ैर अंदेश[4]

धनपतराय

2. माखनलाल चतुर्वेदी

कर्मवीर, खण्डवा

17-5-34

प्रियवर अश्कजी,

सप्रेम नमन ! आपका लाहौर का पत्र मुझे मिल गया था। आपकी अभी तक मेरे पास चार कहानियाँ पहुँची हैं। एक कहानी तो 'कर्मवीर' में प्रकाशित हो गयी—नामानिशान। शेष में से एकाध किसी मासिक पत्र के लिए भिजवाने की बात सोच रहा हूँ। मैं जो कुछ आपसे कह आया हूँ, उसे भूला नहीं हूँ।

मैं आपका प्रबंध 'भारती' में पढ़ूँगा। आप यदि कृपया एक बार याददिहानी कर देंगे तो मैं उस पर अपने टूटे-फूटे विचार भी लिख भेजूँगा।

खण्डवा में गर्मी बहुत पड़ रही है। बीच के कुछ दिनों तो भारत भर में सबसे अधिक गर्मी थी, परंतु अभी मैं सही हूँ।

श्रीमती उपेन्द्रनाथ से मेरा नमन कहिये। योग्य सेवा लिखते रहिये। छोटी कहानियाँ कुछ और भिजवाइये। आपके शिमला के पते पर 'कर्मवीर' जाता है या लाहौर के ? आप चिंता न कीजिये, बढ़े चले जाइये। लगातार उद्योग के पश्चात हिंदी साहित्य में एक दिन आपका स्थान होगा।

आपका अपना

माखनलाल चतुर्वेदी

3. प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस

बनारस कैंटोनमेंट

9 जुलाई, 1936

डियर उपेन्द्रनाथ,

दुआ। तुम त'अज्जुब कर रहे होगे कि मैंने तुम्हारे ख़त का जवाब क्यों नहीं दिया। बात यह है कि मैं पंद्रह दिन से कैदी-ए-बिस्तर हो रहा हूँ। हाजमे की

1. साहित्यिक और दार्शनिक 2. साहित्यिक जीवनियाँ 3. सुरक्षित 4. भला चाहने वाला।

शिकायत है, जिगर और तिहाल[1] की ख़राबी। कोई काम नहीं करता।

तुम्हारी परेशानियों का किस्सा पढ़कर रंज हुआ। इस महाजनी दौर में पैसे का न होना अज़ाब[2] है। ज़िंदगी ख़राब हो जाती है। लेकिन इसके साथ यह भी न भूलना कि इफ़लास[3] और मसायब[4] का एक इख़लाकी पहलू[5] भी है। उन्हीं आज़माइशों में इन्सान इन्सान बनता है और उसमें इस्तेहकाम[6] आता है।

हिंदी में वही कैफ़ियत है, जो उर्दू में है। किताबें नहीं बिकतीं। पब्लिशर कोई नयी किताब छापते नहीं। कलम पर ज़िंदा रहना मुश्किल हो रहा है। बस किसी अख़बार में जान देने के सिवा कोई रास्ता नज़र नहीं आता। अगर आदमी का काबू हो तो किसी देहात में जा बैठे, दो-एक जानवर पाल ले और ज़िंदगी गांव वालों की ख़िदमत में गुज़ार दे। शहर में रहकर, ख़ासकर बड़े शहर में, तो सेहत, ज़िंदगी, सब कुछ तबाह हो जाती है।

फ़िलहाल इतना ही। थक गया हूँ। अब लेटूंगा।

दुआ गो
प्रेमचन्द

4. अज्ञेय

विशाल भारत, कलकत्ता
7 जुलाई, 37

भाई,

पत्र मिला। अस्वास्थ्य का पढ़कर दुःख हुआ। आजकल भ्रमण करना ठीक नहीं है। ख़ास कर इस तरफ़। आपके न आने से यद्यपि मैं मिलने से वंचित रह जाऊँगा तथापि उचित यही है कि आप लौट जायें।

कहानी के बारे में आपका अनुरोध पढ़कर विस्मय भी हुआ दुःख भी। अनुमति तब मांगिये जब आप रॉयल्टी दिला सकें या कुछ और प्रबंध कर सकें। नहीं तो जैसे और सब लोग डाकू वृत्ति करते हैं, वैसे ही आप भी कर लीजिये। लेखक कुछ पाने का अधिकार नहीं रखता, तो अनुमति देने-न-देने वाला भी क्यों हो? उसका अस्तित्व भूल जाइये। Only the publisher and the bookseller matters. यही हिंदी की परंपरा है। आप बेधड़क जो चाहें छाप-छपा लीजिये।

कहानी मिली थी। अच्छी थी। जुलाई अंक में छप गयी है।

देखिये, मेरा भी एक काम आप कर सकते हैं? मैं अक्टूबर में लाहौर आऊँगा—पूजा की छुट्टियों में। चाहता हूँ, उन दिनों वहाँ के रेडियो पर दो चार बोल सकूँ, जिससे आने-जाने का खर्च निकल आवे। क्या आप इस बारे में कुछ कर सकते हैं? यदि आप प्रबंध कर सकें तो समयानुसार मैं [illegible] दूँ। विषय आप तय कर लें, या मेरी राय से तय कर लें। [illegible]

dencies in
बारे में बोल सकता है न। Modern Hindi Poetry, new ten हो सकता है,
Hindi Fiction, Some Hindi writers.—ऐसा कुछ विषय ave an in-
या फिर कहानी सुना सकता हूँ, या फिर Do our writers h -संपादक की
feriority Complex—ऐसे किसी विषय पर बोल सकता हूँ — mental de-
हैसियत से ! फिर दो विषय और भी हैं—The problems of आपने मेरा
fectives in India या The Teaching of the blind (इस प ी तो हिंदी में
लेख पढ़ा होगा—इन विषयों का मैंने अध्ययन किया है।) कहा ी में भी बोल
होगी, पहली श्रेणी का भाषण में अंग्रेजी में पसंद करूंगा, यद्यपि हि विश्वभारती
सकता हूँ। शांति निकेतन में अंग्रेजी में बोला था, वह भाषण
Quarterly में छपा है। ।

कृपया पता करके सूचित करें। मुझे आशा है कि प्रबंध हो सके मिला ?

पत्र की प्रतीक्षा में रहूँगा। एक पत्र मैंने पहले भी लिखा था। सस्नेह-आपका

० वात्स्यायन

स० ही

5. भुवनेश्वर

रोड, लखनऊ

92/7 लाटूश 6 जुलाई,

प्रिय उपेन्द्रनाथ,

पत्र मिला, तुमसे मेल-जोल पैदा करने में और उसकी इस तरह शुरुआत
होने में भाई मेरा तो सम्मान है। तुम्हारी इस बेतकल्लुफ़ी का शु क्रिया। श्रीपत
राय ने खूब ख़ामोशी इख़्तियार की है। और मैं यहाँ रोज़ 'यामा' का इंतज़ार कर
रहा हूँ। ज़रा मेरी तरफ़ से गिला कर देना। तुमने मेरा कौन-सा नाटक चुना है ?
'कारवाँ' तो मेरी non age की चीज़ है और इधर की चीज़ें छप नहीं पायीं।
अगर लखनऊ आओगे तो दिखलाऊँगा, वरना तुम्हारे ही judgement पर छोड़ता
हूँ। मुझे भरोसा है तुम मेरे जैसे साहित्यिक हरिजन के प्रति न्याय ही करोगे।
ज़िंदगी में छपने और पढ़ने लायक बहुत कम हुआ है। वैसे तो आता है दाग़ हाय
सितम का शुमार याद।

खैर, जन्म—6 जून, 1914। स्थान—लखनऊ। शिक्षा—गवर्मेंट स्कूल
शाहजहाँपुर (चार साल), बरेली कालेज, बरेली (दो साल) रचना काल 1933।
पहला एकांकी नाटक—'श्यामा एक वैवाहिक विडंबना'—1933, हंस। बड़े
नाटक भी लिख रहा हूँ। Progressive writing और हिंदुस्तानी का कायल हूँ
और लिट्रेचर को better life के लिए एक propaganda मानता हूँ। Are you
coming to Lucknow. Kindly write to me, if you are

सप्रेम

भुवनेश्वर

6. जैनेन्द्र

दरियागंज, दिल्ली
3-3-39

भाई अश्क,

अच्छे वक़्त पत्र आया। मैं उसकी ज़रूरत में था। सुनो, पैसा फ़िक्र के लायक चीज़ नहीं है, न ख़र्चने लायक है। खैर, न आने की बात न करो। ऐसा ही हो तो ख़र्च यहाँ ले लेना, या कहो पहले भेज दूँ। वाह, यह भी कोई बात है कि लेखकों के लिए कुछ काम हो और मैं उसे कर रहा होऊँ और तुम अनुपस्थित रहो।

उस विषय में काम ? यह तो है ही कि लाहौर के साहित्यिक मित्रों का पूरा contingent उपस्थित हो। धर्म प्रकाश बाबू ज़रूर। विशेष है जनमत का उस विषय में enlightenment।

भले आदमी, कैसा ख़त लिखते हो ? कवि हो बैठे हो न ? कविता के वक्त जो चाहे लिखो, पर राम के लिए पस्ती की बात न करो। मुझे तो देखो, खाने को पैसा नहीं, पीछे बीवी-बच्चे। पर मैं भी हूँ कि राम भरोसे किश्ती छोड़ रखी है। एकबारगी ही तय कर लिया है इस बारे में अक्लमंदी को किसी भी सूराख़ से अपने पास नहीं फटकने दूँगा। फ़िक्र अक्ल की लक्षण है और जो अक्ल जैसी हरजाई चीज़ को पास रखता है, वह किस भरोसे कवि बनता है ! सुना ? इसलिए कविता की पुस्तक छपी है तो धता बताओ पैसे की फ़िक्र को। सलाम,

तुम्हारा
जैनेन्द्र

7. बलराज साहनी

हिंदी भवन, शांति निकेतन
20-4-39

भाई उपेन्द्र,

तुम्हारा पोस्टकार्ड और पुस्तक बहुत दिन हुए मिली, किंतु दमयन्ती की परीक्षा थी, इसलिए बीस दिन भर कलकत्ते में पड़ा रहा, शिथिल। शिथिल तो मैं वैसे भी काफी हूँ। मुझे कुछ शक होता है कि तुम्हारे पत्र का मैंने जवाब लिखा ज़रूर था। कहीं दे ही तो नहीं चुका। मुझे याद है कि तुम्हारे दोनों तरफ़ छपे हुए पोस्टकार्ड ने मुझे काफ़ी विनूदित किया था। अच्छा है यार किताबें लिख रहे हो। लेकिन यह तुमने कैसे सोच लिया कि मैं तुम्हें भूल गया ? अगर भूल चुका होता तो कम अज़ कम एक किताब लिखने की फ़ुर्सत तो मिलती ही। देखो, तुम कितनी लिख गये हो। हाँ पुस्तक पढ़ने में मजा आया। क्रिटिक तो हूँ नहीं, कवियों के प्रति मेरे मन में एक सहज श्रद्धा है, जिसको तुमने बढ़ा ही दिया है, घटाया नहीं। तुम हिंदी पदों में एक प्रकार की सादगी और तीव्रता ले आये हो, जो किसी-न-किसी दिन तुम्हारे व्यक्तित्व की बढ़ती हुई विषमता और विचारोग्रता पर अवलंबित

होकर तुम्हारी कविता को और भी समृद्ध कर देगी। अमर होने की कोशिश कर रहे हो न यार? हम पहले ही जानते थे। ऊपर से जितने मासूम नज़र आते हो भीतर से उतने ही चालाक हो।

सस्नेह
वलराज (साहनी)

8. भगवतीचरण वर्मा

2-चक्रवीर रोड साऊथ, कलकत्ता
1 दिसंबर, 1939

भाई अश्क,

तुम्हारी प्रीतिलड़ी मिली। यह तुम्हारी प्रीति कहाँ लड़ी? कब लड़ी? कैसे लड़ी? ये ऐसे सवाल हैं जिन्हें मैं पहले ही पूछ लेता मगर यहाँ मेरी तक़्दीर इस बुरी तरह से लड़ रही थी कि दम मारने को भी फ़ुरसत नहीं मिली। बहरहाल, इतना कह सकता हूँ कि पत्र खूब निकल रहा है, मैं तो उसके नाम से उसे Vallabhite या Theosophite या Kokshastrite समझे था, लेकिन पढ़ने पर मालूम हुआ कि पत्र निकालने वालों के ideals, common place से ऊँचे हैं।

अमे—कवि कैसे बन गये एकाएक। कविताएँ भी ज़रा मज़ेदार लिख रहे हो। कौन-सा romance ज़िंदगी में एकाएक उफ़ना पड़ा, यह न पूछूँगा, no personal questions! फिर भी इतना कहूँगा कि मेरे भाई, कहानी लिखते जाओ। और साथ ही कहानियाँ लिखकर मुझे भेजते जाओ।

'विचार' सन् 1940 से निकलेगा यानी 1 जनवरी से। साप्ताहिक 64 पेज होंगे। अब मेरे पास matter की कमी है। कम-से-कम दो महीने का matter मेरे पास होना ही चाहिए। इसलिए मुझे इतना कहना है कि जितनी कहानियाँ तैयार हों, सबकी-सब वापिसी डाक से मेरे पास भेज दो। भाई, इधर दो-एक महीने मदद कर दो—भगवान तुम्हारी मदद करेगा, तुम्हारे दिमाग़ को तरो-ताज़ा बनायेगा, लिखने के लिए मसाले मिलेंगे। आप तो जवाब देंगे ही। सिर्फ़ इतनी अर्ज़ है कि आप निहायत ज़रूरी समझकर जल्दी-से-जल्दी मैटर भेजेंगे।

उम्मीद करता हूँ कि मज़े में होंगे।

तुम्हारा
भगवतीचरण

9. राजेन्द्रसिंह बेदी

55, लाहौर कैंट
जनवरी 10, 1941

डियर उपिन्दर,

चंद दिन हुए, लाहौर जाने पर मुझे पता चला कि तुमने गुज़श्ता दिन फ़ोन

किया था और मिलने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की थी। मुझे भी तुमसे मिले मुद्दत गुज़री है, लेकिन उस दिन टेलीफ़ोन का मामूली-सा वाकिय: एक सानिह:[1] में तब्दील हो गया, क्योंकि दफ़्तरी गधों ने काम का वोझ उठाने, पटखने में मुझे तुम्हारे मुत'अल्लिक इत्तला भी नहीं दी। बख़ुदा यह मा'सूमियत मौलीना सलाहुद्दीन[2] की हाशा-ो-कल्ला[3] की मानिंद नहीं है और न मेरा, यह ख़लिश-ो-इज़्तराब[4] उसकी बड़ी-बड़ी मूँछों और फैलती हुई आँखों की मसनू'ई[5] हैरानियों की मानिंद है। अगर मुझे यह पता चल जाता तो यह नामुमकिन था कि मुझ-सा मा'सूम गधा अपना वोझ फेंककर अपने कान हिलाता हुआ, अपनी तमाम वफ़ादारी के साथ अपने आक़ा के थान पर आ खड़ा होता।

अगले दिन इत्तफ़ाकन लाहौर जाने पर मुझे श्रीपतजी मिले, जिन्हें मैं वापसी पर अपने साथ छावनी लेता आया। वो मेरे यहाँ एक रात ठहरे। मैं कोई डॉक्टर तो नही हूँ, लेकिन मुझे उनके फेफड़ों के बहुत मज़बूत होने पर कोई शुब: न रहा। कम-अज़-कम उनके फेफड़े तुम्हारे फेफड़ों से ज़्यादा मज़बूत हैं और हमारी तरह उनमें कोई वरम[6] नहीं। बल्कि हमारे पड़ोसी तक क़ायल हो गये[7]। जिस तरह तुम्हारे जाने के वाद हवा में एक नामानूस[8]-सा ख़ला[9] महसूस होता है, इसी तरह उनके चले जाने पर भी एक सुकून-सा महसूस हुआ।

तुम्हारी शादी की ख़ुशख़बरी हम तक पहुँची। मैं भी बहुत ख़ुश हुआ और सतवन्त भी। लेकिन यह ख़ुशी और ज़्यादा होती अगर यह ख़बर मुझ तक तुम्हारे तवस्सुत[10] से पहुँचती। हमने तुम्हारी दावत का इंतज़ार भी किया। उस दावत का, जो कि वक्त-ए-मुकर्रर[11] से बहुत पहले हम ऐसे अकरबा[12] को दी जाती है। अब सोचता हूँ, तुम्हारी शादी होगी। अब उपिन्दर नाथ की शादी होगी !! अब शादी हो ही जायेगी !!! और अकेले-अकेले वो ब्याह करेगा। काश ! यह अकेले-अकेले लफ़्ज़ हमारी मजलिसी ग्रामर में ग़लत न होता ! हालाँकि सब लोग जानते हैं कि मर्द तब'अन[13] कसीरुल-अज़दवाज[14] वाकिय: हुआ है। मैंने इस ख़त के साथ कृष्ण को भी एक ख़त लिखा है। वो भी लाहौर अपना डेरा लेने आया था और अव यकीनन दिल्ली में 'डेरे' के साथ मशगूल होगा। मैंने तुम्हारी शादी की इत्तला भी उस तक पहुँचा दी है और लिख दिया है कि 108 श्री उपिन्दर नाथ की शादी—ख़ाना-आबादी 6 फरवरी 1941 को ब-मुकाम दीना नगर[15] में होनी करार पायी है और बहुत-कुछ उछल-कूद के बाद श्री उपिन्दर नाथ अश्क एक सियाने कौवे की तरह सरे-शाम अपने घोंसले को वापस लौट रहे हैं और उनकी कायँ-

---

1. दुर्घटना 2. प्रसिद्ध उर्दू आलोचक और संपादक 'अदबी दुनिया 3 हरगिज़ नहीं 4. खटक और परेशानी 5 कृत्रिम 6 सूजन 7. मान गये 8. अपरिचित 9. शून्य 10 द्वारा 11. नियत समय 12. करीबी दोस्तों 13. स्वभावत: 14. ज़्यादा शादियाँ करने वाला 15 अश्कजी अपनी उस शादी के प्रति आश्वस्त नहीं थे. आख़िरी वक्त तक कौशल्याजी से शादी करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ठीक पता नहीं दिया। शादी उनकी गुरदासपुर होने जा रही थी, दोस्तों के पूछने पर उन्होंने दीनानगर कह दिया था।

होकर तुम्हारी कविता को और भी समृद्ध कर देगी। अमर होने की कोशिश कर रहे हो न यार ? हम पहले ही जानते थे। ऊपर से जितने मासूम नज़र आते हो भीतर से उतने ही चालाक हो।

सस्नेह
बलराज (साहनी)

8. भगवतीचरण वर्मा

2-चक्रवीर रोड साऊथ, कलकत्ता
1 दिसंबर, 1939

भाई अश्क,

तुम्हारी प्रीतिलड़ी मिली। यह तुम्हारी प्रीति कहाँ लड़ी ? कब लड़ी ? कैसे लड़ी ? ये ऐसे सवाल हैं जिन्हें मैं पहले ही पूछ लेता मगर यहाँ मेरी तक़्दीर इस बुरी तरह से लड़ रही थी कि दम मारने को भी फ़ुरसत नहीं मिली। बहरहाल, इतना कह सकता हूँ कि पत्र खूब निकल रहा है, मैं तो उसके नाम से उसे Vallabhite या Theosophite या Kokshastrite समझे था, लेकिन पढ़ने पर मालूम हुआ कि पत्र निकालने वालों के ideals, common place से ऊँचे हैं।

अमे—कवि कैसे बन गये एकाएक। कविताएँ भी ज़रा मज़ेदार लिख रहे हो। कौन-सा romance ज़िंदगी में एकाएक उफ़ना पड़ा, यह न पूछूँगा, no personal questions ! फिर भी इतना कहूँगा कि मेरे भाई, कहानी लिखते जाओ। और साथ ही कहानियाँ लिखकर मुझे भेजते जाओ।

'विचार' सन् 1940 से निकलेगा यानी 1 जनवरी से। साप्ताहिक 64 पेज होंगे। अब मेरे पास matter की कमी है। कम-से-कम दो महीने का matter मेरे पास होना ही चाहिए। इसलिए मुझे इतना कहना है कि जितनी कहानियाँ तैयार हों, सबकी-सब वापिसी डाक से मेरे पास भेज दो। भाई, इधर दो-एक महीने मदद कर दो—भगवान तुम्हारी मदद करेगा, तुम्हारे दिमाग़ को तरो-ताज़ा बनायेगा, लिखने के लिए मसाले मिलेंगे। आप तो जवाब देंगे ही। सिर्फ़ इतनी अर्ज़ है कि आप निहायत ज़रूरी समझकर जल्दी-से-जल्दी मैटर भेजेंगे।

उम्मीद करता हूँ कि मज़े में होंगे।

तुम्हारा
भगवतीचरण

9. राजेन्द्रसिंह बेदी

55, लाहौर कैंट
जनवरी 10, 1941

डियर उपिन्दर,

चंद दिन हुए, लाहौर जाने पर मुझे पता चला कि तुमने गुज़श्ता दिन फ़ोन

किया था और मिलने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की थी। मुझे भी तुमसे मिले मुद्दत गुज़री है, लेकिन उस दिन टेलीफ़ोन का मामूली-सा वाकिय: एक सानिह:[1] में तब्दील हो गया, क्योंकि दफ़्तरी गधों ने काम का बोझ उठाने, पटखने में मुझे तुम्हारे मुत'अल्लिक इत्तला भी नहीं दी। बख़ुदा यह मा'सूमियत मौलीना सलाहुद्दीन[2] की हाशा-ने-कल्ला[3] की मानिंद नहीं है और न मेरा, यह ख़लिश-ने-इज़तराब[4] उसकी बड़ी-बड़ी मूँछों और फैलती हुई आँखों की मसनू'ई[5] हैरानियों की मानिंद है। अगर मुझे यह पता चल जाता तो यह नामुमकिन था कि मुझ-सा मा'सूम गधा अपना बोझ फेंककर अपने कान हिलाता हुआ, अपनी तमाम वफ़ादारी के साथ अपने आक़ा के थान पर आ खड़ा होता।

अगले दिन इत्तफ़ाकन लाहौर जाने पर मुझे श्रीपतजी मिले, जिन्हें मैं वापसी पर अपने साथ छावनी लेता आया। वो मेरे यहाँ एक रात ठहरे। मैं कोई डॉक्टर तो नही हूँ, लेकिन मुझे उनके फेफड़ों के बहुत मज़बूत होने पर कोई शुब: न रहा। कम-अज़-कम उनके फेफड़े तुम्हारे फेफड़ों से ज़्यादा मज़बूत हैं और हमारी तरह उनमें कोई वरम[6] नहीं। बल्कि हमारे पड़ोसी तक क़ायल हो गये[7]। जिस तरह तुम्हारे जाने के बाद हवा में एक नामानूस[8]-सा ख़ला[9] महसूस होता है, इसी तरह उनके चले जाने पर भी एक सुकून-सा महसूस हुआ।

तुम्हारी शादी की ख़ुशख़बरी हम तक पहुँची। मैं भी बहुत ख़ुश हुआ और सतवन्त भी। लेकिन यह ख़ुशी और ज़्यादा होती अगर यह ख़बर मुझ तक तुम्हारे तवस्सुत[10] से पहुँचती। हमने तुम्हारी दावत का इंतज़ार भी किया। उस दावत का, जो कि वक्त-ए-मुकर्रर[11] से बहुत पहले हम ऐसे अकरबा[12] को दी जाती है। अब सोचता हूँ, तुम्हारी शादी होगी। अब उपिन्दर नाथ की शादी होगी !! अब शादी हो ही जायेगी !!! और अकेले-अकेले वो ब्याह करेगा। काश ! यह अकेले-अकेले लफ़्ज़ हमारी मजलिसी ग्रामर में ग़लत न होता ! हालाँकि सब लोग जानते हैं कि मर्द तब'अन[13] कसीरुल-अज़दवाज[14] वाकिय: हुआ है। मैंने इस ख़त के साथ कृष्ण को भी एक ख़त लिखा है। वो भी लाहौर अपना डेरा लेने आया था और अब यकीनन दिल्ली में 'डेरे' के साथ मशगूल होगा। मैंने तुम्हारी शादी की इत्तला भी उस तक पहुँचा दी है और लिख दिया है कि 108 श्री उपिन्दर नाथ की शादी—ख़ाना-आबादी 6 फरवरी 1941 को ब-मुकाम दीना नगर[15] में होनी करार पायी है और बहुत-कुछ उछल-कूद के बाद श्री उपिन्दर नाथ अश्क एक सियाने कौवे की तरह सरे-शाम अपने घोंसले को वापस लौट रहे हैं और उनकी कायँ-

---

1. दुर्घटना 2. प्रसिद्ध उर्दू आलोचक और संपादक 'अदबी दुनिया 3 हरगिज़ नहीं 4. खटक और परेशानी 5 कृत्रिम 6 सूजन 7. मान गये 8. अपरिचित 9. शून्य 10 द्वारा 11. नियत समय 12. करीबी दोस्तों 13. स्वभावत: 14. ज़्यादा शादियाँ करने वाला 15 अश्कजी अपनी उस शादी के प्रति आश्वस्त नहीं थे, आख़िरी वक्त तक कौशल्याजी से शादी करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ठीक पता नहीं दिया। शादी उनकी गुरदासपुर होने जा रही थी, दोस्तों के पूछने पर उन्होंने दीनानगर कह दिया था।

कायँ का मतलब है—हरचन्द दाना कुनद-कुनद नादाँ, वलेक वाद अज़ हज़ार रुस्वाई।[1]

मैं तो समझता हूँ, यह अच्छा हुआ कि महवर[2] रेनाला खुर्द से दीनानगर उठ गया। वरना हम तुमसे वेतकल्लुफ़ न हो सकते। रेनाला खुर्द की हेड मिस्ट्रेस तो यकीनन हमें, और तुम्हें भी यकीनन पीटती, अगर हम अपनी ज़िदगी की परायमर[3] में किसी लफ़्ज़ के हिज्जे ग़लत अदा करते।

खैर, मेरी और सतवन्त की तरफ़ से पेश्गी दावत है कि अपना हनीमून यहाँ, हमारे पास मनाना। बैठक, जो हमारे मकान का सबसे अच्छा कमरा है और बाकी मकान से बिलकुल अलहदा है, तुम्हें दे दिया जायेगा। समझे ? क्या समझे ?[4]

तुम्हारा
राजिन्दरसिंह बेदी

10. शमशेर बहादुर सिंह

काशी
28-8-41

भाई अश्कजी,

आप इलाहाबाद तक आये थे न ? बनारस वहाँ से कुछ दूर तो न था। मेरे अर्से तक ख़ामोश रहने का बुरा मान गये हो ? मुझको, बहरहाल, यह अच्छा न लगा तुम यहाँ तक न आये।

और क्या लिखूँ ? तुम्हारे पहले ख़त का एक जुमला दिल ने खूब अच्छी तरह अपना लिया है—इस दुनिया से कुछ अधिक उम्मीद न रखो। बात यह है कि इस ज़र्री असूल को मैं भूल गया था। इधर कितने हफ़्ते काफ़ी तकलीफ़ से बीते हैं—हाँ, मानसिक। क्या कहा जाये।—शारीरिक भी। जिस्म में nervous exhaustion सा है। मगर अब चंगा होता जा रहा हूँ—शुक्र है डॉक्टर का।—तुम अपने पहले ख़त में अपने आपको बहुत कुछ समझा चुके हो। admire करता हूँ। चाहता हूँ, इसी तरह मैं भी कर्मठ बन सकूँ।

बनूँगा। बीमार नहीं रहूँगा। स्नेह के लिए शुक्रिया। बार-बार न दूँगा।

'कहानी विशेषांक' के लिए आपने (अब 'आप' चलने दीजिये। यह 'दफ़्तरी' पैराग्राफ़ है) जो चीज़ भेजी है, बहुत माकूल है और बहुत 'वाज़ेह' है। कहानी आप भेज नहीं सकते थे—श्रीपतजी को लिखे आपके पत्र से मालूम हुआ।

यह बताइये, आप 'मोपासाँ' पर सफ़ा-डेढ़ सफ़ा लिखने की फ़ुर्सत निकाल सकेंगे ? कृष्णचंद्र साहब को इसके लिए ज़हमत देते-देते भी दे न सका। चाहता

---

1. जो नादान होता है, वह अकसर वही करता है जो अक्लमंद करता है लेकिन हज़ार बदनामियों के बाद 2. केन्द्र 3. पहली किताब 4. भगवतीप्रसाद वाजपेयी का तकिया-कलाम जिसे दोस्तों ने अपना लिया था।

हूँ, आपमें से एक साहब एक Skit इस पर लिखें—विशेषांक के लिए। हिंदी के मौजूदा चोटी के कहानीकार ही दूसरे देश-युग के कहानीकारों पर लिखें तो पाठकों को नयी अंतरदृष्टि नसीब हो। खैर। यह सब बिलकुल अपनी तरफ़ से कह रहा हूँ।

आशा है आनंद से होंगे। भाई कान्तिचंद्र मिलें तो मेरी याद दिला देना। उत्तर के विलंब के लिए माफ़ करना।

तुम्हारा
शमशेर

11. **श्रीपतराय**

14, हेस्टिंग्स रोड, प्रयाग
3 दिसंबर, 1947

प्रिय उपेन्द्र,

तुम्हारा 13 नवंबर का पत्र पहले यहाँ आया, फिर यहाँ से बनारस भेजा गया जहाँ मुझे वह 20 के लगभग मिला था। बनारस से लौटने पर 24 को 'गिरती दीवारें' की प्रति मिली जिसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ। कृतज्ञता से कम से मुझे संतोष ही नहीं हो सकता !) कहने दो कि तुम्हारे पत्र और तुम्हारे स्नेह के बोझ के नीचे मैं अधमरा हो गया हूँ। फ़ीलिंग का मेरा अपना एक स्तर है जहाँ बहुत कम विचार और लोग पहुँच पाते हैं। वहाँ पर तुम्हारे लिए और तुम्हारे विचार के लिए इतना स्थान है कि मैं घंटों बैठा मूक चिंतन में वे पुराने दिन दुहराया करता हूँ जब मैं तुम्हारे साथ लाहौर में या प्रीतनगर में रहा था। उन विचारों का विश्लेषण मुझे बताता है कि तुम्हारे प्रति जो मेरा स्नेह है वह इतना गहरा है कि उसे बाहरी किसी अवलंबन की कभी आवश्यकता नहीं होती—अपने आप में संपूर्ण वह एक संसार है जहाँ किसी बाहरी संपर्क के अभाव में भी विचारों का आदान-प्रदान, आदान से अधिक प्रदान, अनवरत चलता रहता है। तुम्हारे प्रति लगभग मेरा वही भाव है जो अपनी प्रेयसी के प्रति होता है। समय था जब मैं मित्रों के संसर्ग में ही समय व्यतीत करता था—उनसे दूर रहते हुए भी—पर उसके बाद, 'घटनाओं' के impact से मैं एक मुसीबत में जा फँसा जिसने जान ही ले डाली। उसके विषय में बाद में लिखूँगा। तब से, इच्छा और स्वभाव के विरुद्ध, तुम लोगों का ध्यान घटने लगा। इसे मैं अपने लिए हितकर नहीं मानता। और अब देखता हूँ कि तुमको युगों से लिखा ही नहीं, जैसे मैं तुम्हें भूल ही गया हूँ। पर चेतना के किसी गहनतम स्तर पर तुम और तुम्हारी स्मृति इतने जाज्वल्यवान रूप में वर्तमान थे कि संसार की समस्त धूलि उसके आलोक को छिपा न सकती। बहुत कुछ खो चुकने के बाद, बहुत-कुछ झेल चुकने के बाद अब परास्त हो गया हूँ और स्मृतियों के अपने संसार को ही वास्तविक मानने लगा हूँ। वहाँ कोई क्षति मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकती—इतना बड़ा विश्वास क्या इस प्रकार की अंतर्मुखी गति-

हीनता के लिए पर्याप्त नहीं ? यह अस्ल में निष्क्रियता का तर्क है, चाहो तो ठुकरा सकते हो, झुठला शायद न सको। इसी सबके बोझ के नीचे दबकर आज निर्जीव हो गया हूँ, जैसे अब कोई जादू की छड़ी, किसी भी प्रकार का सम्मोहन इस शरीर में प्राण न भर सकेगा, इस लोम में कि जो निष्प्राण हो चुका है ! यह मात्र ennui (क्लांति) नहीं है, यद्यपि वह तो है ही, इसके पीछे बड़ा तिक्त और विरक्तिकर जीवन का अनुभव भी है। कुछ इस प्रकार के अनुभव से प्रेरणा लेकर महान् हो जाते हैं, कुछ पराजय स्वीकार करके नष्ट हो जाते हैं। 'नष्ट' होना तो शायद मेरे लिए संभव नहीं, पर प्रेरणा भी अभी कुछ नहीं मिल रही है। इन आठ-दस महीनों का मेरा जीवन वैसे अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण रहा है—इस दृष्टि से कि मैं बहुत कुछ अनुभव कर सका हूँ जो शायद कभी उपयोगी भी हो। पर प्रत्यक्ष तो मैं languish ही कर रहा हूँ। प्रेम का भी एक अजीब ही अनुभव हुआ। इतना अधिक प्रेम कि जिसे व्यक्ति समेट ही न सके—इससे बड़ा सुख भी और क्या है ? लेकिन इतना प्रेम भी असह्य हो जाता है और, कारण कुछ भी हो, मुझे सुख नहीं देता। क्या है जिसका अभाव मुझे इस प्रकार devitalise कर रहा है ? मैं केवल उसका क्षीण आभास पाता हूँ; मेरा निजी घटियापन, या इसका बोध है जो मुझे चैन नहीं लेने देता। न-जाने क्यों अपने पर इतनी आस्थाहीनता है। यह सब है जिसके बोझ के नीचे दबकर तुम जैसे स्नेही बंधुओं के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व से विमुख दीख रहा हूँ, जबकि अपने मन में आज भी उतना ही sanguine हूँ जितना कि कभी था कि तुम लोगों के प्रति विश्वासघात कभी नहीं होगा। फिर न-जाने क्यों यह विचार बराबर बना रहा कि पत्र लिखकर तुमको अनावश्यक strain में न डालूँ। कौशल्याजी को समय-समय पर लिखता रहा—यद्यपि मानता हूँ कि वह भी सर्वथा अपर्याप्त था—और तुम्हारा समाचार पाता रहा। कुछ कर सकने की स्थिति में अपने को पा नहीं सका, आने का भी कुछ बना नहीं, और सब मिलाकर बड़ी अप्रीतिकर आत्मताड़ना के mood में रहा। लिखकर मैं शायद अभी भी साफ नहीं कर सका कि अस्ल बात क्या है—शायद इसलिए कि मेरे विचार स्वयं भी स्पष्ट नहीं हैं—लेकिन कहीं ग़लती अवश्य है। उसका परिमार्जन जैसे ही संभव हुआ, अवश्य करूँगा। यह है, मेरे प्यारे दोस्त, मेरी दास्तान—या सफ़ाई ?—और चाहो तो मुझे मुआफ़ कर दो। अपनी बात बहुत कह गया हूँ और आगे भी कहूँगा लेकिन तुम मेरी बात ही तो सुनना चाहते हो न ? अपनी बात तो तुम कहोगे, मैं भला क्या कहूँगा।

कौशल्याजी ने तुमको वह बात बताकर जो मैंने केवल उनसे कही थी मेरे साथ विश्वासघात किया हैं। उन्होंने एक अच्छी पत्नी—जो कि वह आवश्यकता से अधिक हैं—का काम किया हो तो नहीं जानता, लेकिन एक मित्र के प्रति तो अन्याय ही किया है। मेरा secret केवल उनके लिए था क्योंकि उनसे इतनी intimate बात करते मुझे संकोच नहीं होता, जो तुमसे करते होता है। लेकिन उन्होंने जब उसे तुम तक पहुँचा ही दिया है तो अब चारा भी क्या है। पूरी बात

ही जान लो—यद्यपि वह इतनी साधारण है कि उसका जो भी महत्व मेरे लिए हो तुम्हारे लिए वह लगभग निरर्थक ही है। 'लगभग' इसलिए कहता हूँ कि अभिन्न मित्र के नाते संभव है तुमको मेरी अत्यंत आत्मीय बातों से कुछ दिलचस्पी हो। ज़हरा साहब के भाई से मेरी गत 4-5 वर्षों से बड़ी घनी आत्मीयता है। उनके घर भी बहुत गया हूँ पर उनकी बहनों से साधारण परिचय के अतिरिक्त किसी भी प्रकार का सीधा संपर्क न था। यों भी मैं औरतों के सम्मुख जाते बहुत घबड़ाता हूँ, यहाँ तक कि लोगों का अनुमान है कि मैं स्त्रियों से घृणा करता हूँ। भाई से परिचय का अर्थ तो यह नहीं कि बहनों से भी हो। गत वर्ष उनकी सबसे छोटी बहिन को लाहौर एक इंटरव्यू के संबंध में जाना था। उनकी बड़ी बहिन ने मुझसे कहा कि आप उसे लाहौर तक पहुँचा दीजिये। मेरे पास समय न था, मैंने इनकार कर दिया। लाहौर में तुम भी नहीं थे, सोचा यह व्यर्थ का बेगार कौन करे। वे स्वयं आयीं मैंने क्षमा माँग ली। तब तै यह पाया कि वे इलाहाबाद से एक और परिचित सज्जन को लेकर दिल्ली जायें जहाँ उनके भाई थे और वे तब उनको लाहौर ले जायेंगे। मुझसे गाड़ी आदि का समय पूछा गया। गाड़ी मुग़ल-सराय से मिलती थी, बनारस से नहीं। तब मैंने offer किया कि मुग़लसराय जाकर उनको गाड़ी पर बिठाल आऊँगा। सवेरे 4 बजे चलकर मुग़लसराय गया पर वहाँ गाड़ी छूट गयी। उनको वापस बनारस लाया। अब दिल्ली के रास्ते जाने का समय नहीं बचा और विवश हो मुझे ही उनको लाहौर ले जाना पड़ा। वहाँ और रास्ते में उन्होंने जिस विश्वास और आत्मीयता का परिचय दिया उससे मैं चकित रह गया। और बाकी की कहानी तो वही पिटी हुई बात है जिसमें मैं स्वयं कोई नवीनता नहीं पाता। कौशल्याजी का कहना सही है कि जब feelings इतनी गहरी हों तब निश्चय करने में तो कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अगर होती है तो कहीं साहस की कमी है। पर और भी अनेक considerations होते हैं। उनका परिवार कट्टर धार्मिक परिवार है—यद्यपि केवल दो पुश्त पहले ये लोग हिंदू थे और बनारस की सबसे पुरानी बस्ती के लोग थे—जिसमें मुहर्रम और नमाज के सिवा कुछ होता ही नहीं। यों ये लोग landed aristocracy के हैं और इनके कुछ संबंधियों का शिजरा सीधे मुग़ल सम्राट् अकबर तक पहुँचता है। एक तो मुसलमान और फिर शिया, तुम सोच ही सकते हो कितने कट्टर होंगे ये लोग, और फिर ज़हरा साहब का ऐसा स्वभाव कि किसी को दुःख नहीं पहुँचाया जाये, चाहे उनके जीवन का सुख ही नष्ट हो जाये। बड़ी मुसीबत का सामना है। पर तुम जानते ही हो मैं तो practical आदमी हूँ। कुछ-न-कुछ रास्ता तो निकल ही आयेगा। एक व्यर्थ की इल्लत में फँस गया। मुझ पर तुम दिल खोलकर हँस भी सकते हो। कौशल्याजी ने लिखा है कि मैं पंचगनी आऊँ। सोचता हूँ कि काश हम परियों के युग में होते और मेरे पंख लगे होते तो मैं सीधा तुम्हारे पास आ पहुँचता। अभी अनेक कठिनाइयाँ हैं। मैं अपना व्यवसाय छोड़कर प्रयाग बैठा हूँ, यही कम नहीं है। बनारस से इतनी दूर जा बैठना संभव नहीं। और मेरी इन

मित्र का अकारण ही इतने दिनों के लिए वाहर चला जाना उनके माता-पिता न चाहेंगे—यद्यपि उनके यहाँ मेरी वड़ी साख है—और इसलिए उनको कैसे लाऊँ। उनकी बड़े दिन की छुट्टियाँ होंगी—वे बी० टी० कर रही हैं न—तब लखनऊ जाने की बात है, उनकी आँखें दिखलाकर चश्मा वदलवाना है, पर उससे अधिक दूर जाना संभव न होगा। पर देखो फिर चेष्टा करूँगा और तभी कौशल्याजी के ताज़े पत्र का जवाब भी लिखूँगा।

अब तुम्हारी और बातों के वारे में। इधर मैं अपना कार-वार नहीं देख रहा। कारण अनेक हैं। मेरा दिल कभी इस वनियागिरी में नहीं था। अब अधिक दिन इस निकम्मे बोझ को ढोना संभव न होगा। इसलिए अब मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ। अब तो शांतिपूर्वक दिन बिताने की लालसा है। 'निशानियाँ' की प्रति मिली थी, श्री वाजपेयीजी का पत्र भी मिला था, पर आज-कल व्यापार की दशा ख़राव है और फिर मैं निष्क्रिय जो हो गया हूँ। इसलिए कुछ काम न आ सकूँगा। 'अंकुर' की बिक्री वड़ी ख़राव रही, मैं विवश हो गया। पर हिसाब-किताब के अतिरिक्त भी तुम्हारा मुझ पर पूरा-पूरा अधिकार है। यदि में तुम्हारे किसी काम आ सकता हूँ तो अवश्य आऊँगा। यदि संभव हुआ तो कुछ रुपये का प्रबंध करूँगा। अभी तो बस किसी तरह यहाँ का ढाँचा सँभाल रहा हूँ। 'अंकुर' की अभी बहुत-सी प्रतियाँ वची हैं।

'गिरती दीवारें' पढ़ूँगा। उसकी प्रशंसा तो वहुत सुन रखी है। पढ़ने पर अपनी सम्मति तुमको लिखूँगा और समालोचना भी लिखने की सोचता हूँ।

'प्रतीक' में तुम अवश्य लिखो। 'प्रतीक' के पहले तीन अंक तुमको भेज रहा हूँ। लिखना कैसा लगा। कहानी अवश्य भेजना।

चंद्रगुप्तजी हैं दिलचस्प आदमी। वे हैं कहाँ? बंवई में तो नहीं? पंजाव का जो विनाश हुआ है उसकी तुलना इतिहास में तो मिलती नहीं। क्या हुआ तुम्हारे परिवार के अन्य लोगों का? नरेन्द्र कहाँ है? भाई साहब दिल्ली में क्या करने का विचार करते हैं? बड़े कष्ट मे होंगे। माँजी तो सकुशल हैं न? कौशल्याजी के मामाजी आदि का क्या हुआ? उनके दोनों भाइयों का क्या हाल है? सब समाचार जानना चाहता हूँ।

तुम्हारा अपना स्वास्थ्य कैसा है? विस्तारपूर्वक लिखो।

नीलाभ को बहुत-बहुत प्यार।

कौशल्याजी को दो-चार दिन बाद लिखूँगा। उनको प्रणाम।

सस्नेह,
तुम्हारा
श्रीपत

12. राहुल सांकृत्यायन

कालिम्पॉग
22-11-49

प्रिय अश्कजी,

आपकी 'दो धारा' सारी और 'पिंजरा' बहुत कुछ पढ़ गया। आपकी लेखनी का मैं पहले से ही कायल हूँ और आपने अपनी इन दोनों कृतियों में निराश नहीं किया। मैं चाहता हूँ आपकी यशस्वी लेखनी इसी तरह और सफलता प्राप्त करती ऊपर से ऊपर चढ़ती जाये।

कौशल्याजी का, 'दो धारा' द्वारा, एक नया आविष्कार हुआ है। मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि कहीं-कहीं वे आपसे भी आगे बढ़ गयी हैं। मैंने पढ़ने पर जहाँ-तहाँ लिखा था—'ठेस' पर—'माद्री गंधारिकाओं की स्वच्छता। बहुत अच्छी अश्क से भी।' 'थकान' पर—'प्रसाद गुण अप्रयास हृदयगंम।' 'निम्मो' पर—'पुरुष के हाथ की जैसी कहानी, टूटी-फूटी अधखिली कली सी।'

आपका
राहुल सांकृत्यायन

13. यशपाल

अल्मोड़ा
14-5-50

प्रिय अश्क,

एक मास पूर्व जब मैं अल्मोड़ा आया था तो आते ही एक पत्र तुम्हें लिखा था। कोई उत्तर नहीं आया। जान पड़ता है बहुत व्यस्त हो। या नयी चीज लिखने में या प्रकाशन के संघर्ष में ?

यहाँ आने के बाद मुझे 'सरगम' का वह अंक मिला जिसमें तुम्हारी कहानी 'काला साहब' छपी है। इससे पहले नहीं मिला था—क्योंकि नियमित रूप से नहीं मिलता। वह कहानी मुझे बहुत ही जची। मुझे क्या, यहां जिससे भी ज़िक्र आया उसी ने उसकी तारीफ़ की। मुझे तो जितनी कहानियां तुम्हारी याद हैं, उन सबमें वह ज़ोरदार जान पड़ी। इसमें कसूर दूसरी कहानियों का नहीं, मेरी पसंद की बात है, मुझे विद्रूप बहुत पसंद आता है। यह बात बहुत दिन से तुम्हें लिखना चाहता था। लेकिन रह गया। कल रानी खेत से उपरेती यहाँ आये। तुम्हारा ज़िक्र रहा। बीती रात तुम्हें स्वप्न में देखा इसलिए आज उठकर यह कार्ड लिख रहा हूं—हालाँकि clearance नहीं होगा।

मैं यहां आकर काफ़ी व्यस्त रहा हूँ। तीन कहानियों के अतिरिक्त एक छोटी नयी पुस्तक 'बात-बात में बात' लिख डाली है। इसके विषय ऐसे हैं—'साहित्य का प्रयोजन और रूप—'रामराज प्रजातंत्र और मज़दूर तानाशाही'—रामराज और मज़दूर राज की नैतिकता'—'सेवा ग्राम के दर्श' आदि ! इधर कुछ रोज़ से 'गांधी-

वाद की शव परीक्षा' को नये सिरे से लिख रहा हूँ—क्योंकि पहले लिखा अव असंतोषजनक जान पड़ने लगा है। मिसेज़ अश्क और गुड्डे का क्या हाल है? उपरेती कहता था कि तुम शायद रानीखेत आओगे।

'बरगद की बेटी' क्या अभी नहीं छप सकी?

तुम्हारा
यशपाल

14. सआदत हसन मंटो

मदीर[1] : उर्दू अदव
मकतबा-ए-जदीद, लाहौर
4-9-50

प्यारे अश्क,

तुम्हारी बीमारी का सुनकर वहुत अफ़सोस हुआ। खुदा तुम्हारी इन नित-नयी परेशानियों को ख़त्म करे।

उम्मीद है, अब तक तुम्हारी कमज़ोरी दूर हो चुकी होगी। तवील[2] नहीं तो कोई छोटा-सा अफ़साना या ड्रामा ही लिखकर रवाना कर दो। 'उर्दू अदव' नंवर में तुम्हारी शमूलियत[3] में ज़रूरी समझता हूँ।

'उर्दू अदव' मकतबा-ए-जदीद की मिलकियत है। हकुलख़िदमत[4] किताबों की शक्ल में तुम्हें रवाना कर दिया जायेगा।

मेरी और सफ़िया की तरफ़ से कौशल्या भाभी को सलाम

तुम्हारा
सआदत हसन मंटो

15. फणीश्वरनाथ रेणु

लेडी सिफटन चाइल्ड वेलफेयर सेंटर
सब्ज़ी वाग, पटना।
1-7-55

भाई साहब,

एक-डेढ़ सप्ताह के अंदर ही 'संकेत' के लिए रचना भेज रहा हूँ।—विश्वास करें। मुझे दुख है, बहन डेज़ी के हाथों रचना नहीं भेज सका। उनसे माफ़ी मिल चुकी है—अब, आप लोग माफ़ कर दें।

मैं इधर 'हज़ार चक्कर' में फँसा रहा। लिखाई-पढ़ाई कच्छप गति से चल रही है। पत्र लिखकर समय-समय पर 'सुधि' लिया करें—यही निवेदन है।

कौशल्या'दि कैसी हैं? उन्हें मैं भक्तिपूर्ण प्रणाम भेज रहा हूँ। बच्चों को

---

1. संपादक 2. लम्बा 3. शामिल होना 4. पारिश्रमिक

प्यार। मैं 'संकेत' के लिए ही आज-कल लिख रहा हूँ। प्रयाग आने की बात बहुत दिनों से सोच रहा हूँ!...और देखिये न! घर में मेरी कैसी दुर्गति हो रही है। लतिका को काम करते-करते बोलने की आदत है—बोले जा रही है...'मैं पहले ही कह रही थी word मत दो। क्या समझेंगे लोग तुम्हें?...वह 'भद्र महिला' भी क्या सोच रही होंगी मन में।...बड़ी डींग हाँकते हो, महिलाओं की इज़्ज़त करता हूँ।...क्या समझ रहे होंगे लोग।'...

10/7 से पहले ही रचना भेद दूँ—संभव है। साबित करना है—कि मैं 'भद्र लोग' हूँ!...हर बार ऐसा ही होता है—वह challenge दे बैठती है 'भद्रता' को। ...किस्सा फिर कभी। और...लछमी दातिन?? ममता की वकालत नहीं करूँगा। पत्रोत्तर शीघ्र देंगे। कल शाम को भाई नागार्जुन के साथ 'आलोचना' में प्रकाशित 'मूल्यांकन' पढ़ा। पढ़ रहे थे नागार्जुनजी ही!...मैं क्या कहूँ? धन्यवाद देता हूँ भगवान को। इसी तरह 'दोख-गुन' बताये जाइयेगा तो दूसरे टेस्ट मैच' में भी सेन्चुरी तो बना ही लूंगा।—प्रयाग के बंधुओं के दर्शन की लालसा बड़ी तीव्र हो रही है। भारतीजी, कांताजी, शरद, आदि को हमारा प्यार-भरा नमस्कार, बड़ों को प्रणाम।

तो आपको पाँच-सात साल पहले की बात याद है? हमारे दोस्तों ने 'लाल आसमान' भेंट करने चाय पर बुलाया था—चम्मच के अभाव की पूर्ति दियासलाई की 'काठी' से आपने की थी—'काठी' को रसगुल्ले में गड़ाकर खाते-खाते आपने बातें जारी रखी थीं।

लतिकाजी मज़े में हैं। एंटिनेटल, प्रि-नेटल, पोस्ट-नेटल और प्राइमी और मल्टी—बस, दिन-रात यही धंधा है।

पत्रोत्तर देंगे तो?

रचना मैं 10/7 तक तो अवश्य भेज दूंगा।

यहाँ के साहित्यिक बंधुओं के बारे में मैं कुछ नहीं बता सकूंगा। आप तो जानते ही हैं कि पटने में रहकर भी मैं पटने से बाहर रहता हूँ।

प्रणाम ग्रहण करें आप। मैं स्वस्थ हूँ। आपका क्या हाल है? हम दोनों तो 'समगोत्री' ठहरे। बीच-बीच में check-up कराते रहिये। मैं इसी बरसात में करा रहा हूँ।

आपका
रेणु

16. सफ़िया मंटो

31, लक्ष्मी मैन्शंस
द माल, लाहौर
27-8-55

अश्क भाई जान,

वा'द आदाब के अर्ज़ है, आपके ख़त आये को कई दिन गुज़र गये हैं। रोज़ मैं

सोचती हूँ कि आपको जवाब लिखूं, मगर लिख नहीं सकती। आपके भेजे हुए और पचास रुपये मिल गये हैं, जो ईद से एक-दो दिन पहले ही मिले थे, मगर आपको रसीद से मतला[1] न कर सकी। बड़ी शरमिंदा हूं। आपका यह एहसान मैं कभी न भूलूंगी। खुदा आपको सेहत दे। आमीन सम आमीन।[2]

आपका बकाया[3] मजमून[4] अबके 'नकूश'[5] में देखा। आपने बड़ा मुफ़स्सल[6] मजमून लिखा है। मुझे सारा बहुत पसंद है। आपने बिलकुल सच्ची बातें लिखी हैं और जो आपको और कौशल्या बहन को सआदत साहब का दुख हुआ है, वो इसी मजमून से जाहिर होता है।

'नकूश' वाले तुफ़ैल ने दो-तीन मर्तबा फ़ोटोग्राफ़र भेजा है कि आपकी और बच्चियों की तस्वीर मिसेज अश्क ने मांगी है। मैंने उससे नहीं उतरवाई क्योंकि तुफ़ैल भी वैसा ही नाशर[7] है, जैसे कि सब होते हैं। मेरा तो इन सबकी शक्ल देखने को दिल नहीं चाहता। पहले भी मेरे खाविंद का खून पीते रहे हैं और अब भी वो यही चाहते हैं। वो तो अभी तक यही कहते हैं कि मंटो ने हमसे बहुत रुपया लिया हुआ है। तुफ़ैल ने मुझे खत लिखा है कि मंटो ने मेरा कोई साढ़े तीन सौ रुपया देना है। अब वो मैं पूरा तो नहीं लेता, लेकिन मुझे दो रसीदें लिखकर भेज दें—सौ-सौ रुपये की। एक इस्मत के मजमून की और एक अश्क के मजमून की। आप यकीन मानिये, मुझे आग लग गयी, इसलिए मैंने फ़ोटो उतरवाने से इनकार कर दिया। मैंने कहा, मैं खुद ही फ़ोटो भेज दूंगी। मगर अभी तक मैं कौशल्या बहन का काम नहीं कर सकी; उम्मीद है, कभी उतरवाकर भेजूंगी। कौशल्या बहन से कहिये, वो मुझे मुआफ़ कर दें। मुझे पता है, वो मुहब्बत के तहत ही मांग रही हैं। मगर आप यकीन मानिये, मेरी अभी तक तबीयत सँभली नहीं। बहुतेरा कोशिश करती हूँ, अपना दुख भूलने की, मगर इतना बड़ा दुख है कि भुलाना मुश्किल है। बस, यह हालत है कि कुछ करने को दिल नहीं चाहता। बस, दिल यह चाहता है कि अकेली बैठकर अपना दिल ठंडा करती रहूँ। मगर इन छोटी-छोटी बच्चियों की वजह से कभी ऐसा नहीं कर सकती। मैं कहती हूँ कि वो बेचारियाँ दुखी होंगी मेरी यह हालत देखकर। इसलिए बड़े सब्र से काम लेती हूँ। वैसे सच भाई साहब, जैसे आप इतनी दूर से मेरे साथ इतनी हमदर्दी करते हैं, इसी तरह मेरे भाई भी मेरे बेहद हमदर्द हैं और माशाअल्लाह उम्मीद है कि हमेशा मेरे साथ ऐसा ही सुलूक करेंगे। मगर यह जो फ़िक्र है और ग़म है, इसका इतनी जल्दी कम होना बड़ा नामुमकिन है। वक़्त खुद ही मरहम लगायेगा।

अच्छा अब ख़त को बंद करती हूं। मेरी तरफ़ से कौशल्या बहन को बहुत-बहुत दुआएँ दीजिये। ख़ुदा आप सबको खुश रखे। बच्चियाँ बिलकुल ठीक हैं।

आपकी बहन
सफ़िया

---

1. ख़ुदा यह दुआ कबूल करे 2. सूचित 3 शेष 4. अश्क का मजमून—मंटो मेरा दुश्मन 5 लाहौर की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 6. सविस्तार 7. प्रकाशक

17. गजानन माधव मुक्तिबोध

नागपुर
1955

प्रिय अश्कजी,

पत्र पाकर बड़ा सुख हुआ। इतनी जल्दी आप क़दम बढ़ा लेंगे, इसकी आशा न थी—क्योंकि साधारण रूप से दोस्त-लोग मित्र-परिवार इस ओर उदासीनता ही बताते देखे गये हैं।

और, सच कहूँ तो मैंने पिछले पत्र में मात्र इसी भावना से श्री धर्मवीर भारती का उल्लेख किया। जो मित्र कहलाते हैं—और वे वस्तुतः मित्र हैं—यह भी नहीं पूछते कि भाई, तुम्हारे प्रकाशनों का क्या !! शायद, इस संबंध मे वे स्वयं कुछ नही कर सकते। उनकी अक्षमता तो आर्थिक है, किंतु, यदि वे चाहें तो—तो कम-से-कम बातचीत तो करवा ही सकते हैं या रास्ता दिखा सकते हैं। श्री धर्मवीर भारती ने कम-से-कम इस संबंध में कुछ पूछ-ताछ तो की। इस बारे में, मैं आज भी उनका कृतज्ञ हूँ। जैसा कि मैं अन्य मित्रों के बारे में, जिनमें आप भी शामिल हैं, रहूँगा। किंतु, श्री भारती के सुझाव को मैंने उसी समय अस्वीकार कर दिया। तो अब मैं उन्हें क्यों लिखूँगा कि आप मेरी पुस्तकें छपवाइये। यह हो नही सकता। मैं उन्हें कतई नहीं लिखूँगा। यदि मेरे स्थानांतर का प्रश्न इतनी गड़बड़ न करता तो शायद मैं आपसे यह भी नहीं कहता कि मुझे प्रकाशक दिलवाइये। मैंने अपने पत्र में, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, सिर्फ़ इसीलिए उनका उल्लेख किया था कि मेरे मित्रों के पास यह बात पहुँच जाये कि वे तो कभी मेरे पुस्तक प्रकाशन के लिए रास्ता नहीं बताते, किंतु अन्य लोग हैं, जो इस संबंध में भी सोच लेते हैं।

किंतु, प्रश्न मेरा ही नहीं है। एक नयी पीढ़ी भी तैयार हो रही है। उनका क्या होगा ? वे ग़रीब मध्यवर्ग से निकले हैं। उनके पास साधनों के अभाव के अलावा, संपर्कों के नितांत अभाव के साथ ही, उनके जो भी तथाकथित संपर्क हैं वे अपने ग़रीब मध्यवर्ग से ही हैं। ऐसी स्थिति में, आप उनके बारे में क्या सोचते हैं ? क्या प्रकाशनों के लिए, उन्हें पहले उपन्यास से ही शुरू करना पड़ेगा ? क्या वे मर-खप जायें ? वस्तुतः अश्कजी, आप मेरे बुज़ुर्ग हैं, आदरणीय हैं, इसलिए मैंने पूरी-की-पूरी समस्या आपके सामने रखी। यह समस्या आपने भी अनुभव की है, और किसी ढंग से अपना रास्ता निकाला है। लेकिन, जो प्रगतिशील माना जाने वाला खेमा है, क्या इस संबंध में उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है ? इस प्रगतिशील खेमे को, आपके ज़रिये चुनौती देने के अभिप्राय से मैंने श्री धर्मवीर भारती के नाम का पिछले पत्र में, उल्लेख किया था, और इस संबंध मेरा कोई अन्य हेतु न था।

ऐसी स्थिति में, श्री भारती को मैं पत्र कदापि न लिखूँगा। और आपसे सिर्फ़ यही कहूँगा कि आप इस बारे में कोई रास्ता सुझायेंगे। ऐसा रास्ता—जो स्वाभिमान की रक्षा करते हुए अपनाया जा सके।

आशा है, आप पत्रोत्तर अवश्य देंगे। यदि मेरे हाथ से ग़लती हुई हो तो मुझे हार्दिक क्षमा करेंगे।

आप ही का
ग० मा० मुक्तिबोध

18. डॉ० नामवरसिंह

डकन कालेज, पूना
1-6

भाई अश्कजी,

इस पत्र की प्रेरणा 'बड़ी-बड़ी आँखें', उपन्यास पढ़ने से मिली है। आज एक मित्र के पास इसे देखा तो एक बैठक में पढ़ गया। यहाँ का वातावरण ही कुछ इतना नीरस है कि यह उपन्यास हृदय को कुछ अधिक आर्द्र कर गया। इसलिए इस पत्र को पत्र ही समझें, कोई गहरी समीक्षा नहीं। उपन्यास के ये कुछ वाक्य अब भी गूँज रहे हैं—

'हो सकता है समझौता ज़िंदगी की शर्त हो, लेकिन आदमी के पास कुछ तो ऐसा हो जहाँ वह किसी से समझौता न करे!'

'ज़िंदा रूह ही घायल हो सकती है।'

वाणी की बड़ी-बड़ी पनियारी आँखें सचमुच ही हृदय की आँखें बन जाती हैं, वे दूसरों का दुख-दर्द महसूस करने की संवेदनशीलता देती हैं, मौन होकर सबको सहते हुए भी ढोंग के विरोध की शक्ति देती हैं।

यह उपन्यास आपके पूर्ववर्ती 'घोर' यथार्थवादी तथा तथ्यवादी उपन्यासों से काफ़ी भिन्न है और पूर्ववती संस्कारों से आपकी यह पृथकता मुझे अच्छी लगी। शायद इस दिशा में बढ़ने की प्रेरणा आपको चेख़व और तुर्गनेव—प्रस्तुत प्रयत्न में विशेषत: तुर्गनेव से मिली है क्योंकि वाणी के चित्रण में लिज़ा का माडल ही नहीं बल्कि लैंड स्कैप-चित्रण में भी A nest of the gentry की प्रेरणा दिखायी पड़ती है। शायद इसीलिए यह उपन्यास देवनगर के यथार्थवादी चित्रण के बावजूद कुल मिलाकर Lyrical हो गया है।

चरित्रों में 'माथे के तेवर पर मुस्कान का हेंगा फेरकर' बोलने वाले देवाजी का चित्रण बड़ी सफलता के साथ हुआ है, किंतु चेतन और जगमोहन की तरह बेचारे संगीत को फिर आत्मीयता का दंड भोगना पड़ गया। नबी के मसले में उसकी दृढ़ता दिखायी पड़ती है ज़रूर, फिर भी वह अंतर्मुखी तथा पलायनवादी ही रह जाता है। वाणी से इस तरह उसका भागे-भागे फिरना, घनिष्ठतम मित्र नंदलाल का घर यूँ ही छोड़ देना, नहर के टहलने से बाज आना, वग़ैरह बहुत-सी बातें संगीत के चरित्र की दुर्बलता के उदाहरण हैं।

उपन्यास के अंत में पात्रों पर जो टिप्पणियाँ दी गयी हैं, वे मुझे नितांत अनावश्यक लगीं। इन टिप्पणियों के द्वारा ज्ञानीजी के चरित्र को जो सँभालने की

कोशिश की गयी है, वह लीपा-पोती से कुछ अधिक नहीं है।

शब्दों के प्रयोग कहीं-कहीं बेहद खटकते हैं, जैसे पृ० 108 पर संपादन अथवा अनुवादन। 'अनुवादन' से अनुवाद की जगह पीछे बाजा 'बजाने' का अर्थ निकलता है। इसी तरह 'सफ़ेद गर्दन पर उभरे लोम-रंध्र' (124) की बात मेरी समझ में नहीं आयी—लोम-रंध्र का उभरना तो मैंने अभी तक नहीं देखा।

कुल मिलाकर उपन्यास gripping लगा। क्या आप अब यह महसूस करते हैं कि 'फिर अचानक कोई व्यक्तिगत दुःख या अभाव हमारी आँखों पर छाया हुआ परदा उठा देता है और ग़रीबी, भूख और मौत को रोमानी दृष्टि से देखने वाली हमारी आँखें रोमानी दृश्यों के पीछे दुःख को भी देखने लगती हैं...'

काश ऐसा हो पाता !

आशा है, स्वस्थ और प्रसन्न होंगे। कौशल्याजी को प्रणाम, बच्चों को प्यार।

जब 18 जून[1] के बाद यहाँ से उधर आऊँगा तो इस पर विस्तार से बातें होंगी।

आपका

नामवर

19. डॉ० रामदरश मिश्र

गोरखपुर

12-6-56

आदरणीय भाई,

पटने के एक कालेज में मेरी नियुक्ति का प्रश्न है। आप मेरी साहित्यिक योग्यता से संबद्ध एक प्रमाण पत्र भेजने का कष्ट करें तो बड़ी कृपा हो। इसमें जितनी शीघ्रता हो सके करें। आपके नाम से लोग वहाँ अत्यधिक प्रभावित हैं इसलिए आपका प्रमाणपत्र अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं प्रसन्न हूँ। आप सपरिवार सकुशल होंगे।

आपका

रामदरश मिश्र

20. यशपाल

विप्लव-कार्यालय, लखनऊ

30-4-57

भाई अश्क,

अभी तुम्हारा पत्र मिला। पत्र मिलने से तो प्रसन्नता ही हुई परंतु पत्र की बातों से जिस ग़लतफ़हमी का आभास मिलता है वह प्रसन्नता की बात नहीं

---

1. नामवरजी ने इस पत्र में सन का उल्लेख नहीं किया है। वैसे अश्कजी की स्मृति के अनुसार यह पत्र 1955 या 56 का होना चाहिए।

समझी जा सकती। वह दूर हो जानी चाहिए।

मुझे यह याद नहीं आता कि मैंने दिल्ली में तुमसे कहा हो कि जब तक तुम्हें मुझसे काम था तुमने मेरी ख़ातिरदारी की। अगर ऐसी बात कही होगी तो तुम्हारे परिहासपूर्ण स्वभाव में सहयोग देने के लिए ही, शिकायत के लिए नहीं। ग़नीमत यह है कि तुमने यह नहीं लिखा कि मैंने ऐसी बात तुम्हारी पीठ पीछे किसी दूसरे से कही। तुमसे कही तो उसका तुकी-बतुर्की जवाब दे सकते थे या हँसकर टाल सकते थे। मैं अपने को इतना समर्थ नहीं समझता हूँ कि लोग अपने कामों के लिए मेरी खुशामद करें या मुझसे आशायें बाँधें।

इलाहाबाद में ठहरने के विषय में यह कभी नहीं सोचा कि तुम्हारे यहाँ नहीं ठहरूँगा। तुम या कौशल्याजी लखनऊ आयें तो तुम लोगों के लिए हमारे यहाँ और हम लोग इलाहाबाद जायें तो तुम्हारे यहाँ जगह होनी चाहिए। विशेष परिस्थितियों की बात दूसरी है। ऐसा भी हुआ है कि कौशल्याजी लखनऊ थोड़े समय के लिए आयीं और सुविधा के विचार से नरही में ही ठहर गयीं। मगर हम लोग एक बार इलाहाबाद में किसी दूसरी जगह ठहर जायें तो यह मनमुटाव की प्रमाण नहीं समझा जाना चाहिए। मैं यह आशा भी नहीं करता था कि 'नया पथ' में मेरे लेख से तुम नाराज़ हो जाओगे। तुम्हारे उत्तर न देने का भी कोई कारण नहीं है। व्यक्तिगत संबंधों को बिगाड़े बिना भी हम लोग अपना-अपना दृष्टिकोण प्रकट कर सकते हैं। जिन लोगों ने मुझे बुलाया है, उनकी सुविधा का भी तो ख़याल रखना होगा। मुलाकात तो होगी ही। यहाँ सब ठीक-ठाक हैं। कौशल्याजी को नमस्ते, दोनों लड़कों को प्यार।

सस्नेह
यशपाल

21. ओंप्रकाश

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8 फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली-6
जुलाई 30, 1961

प्रिय अश्क,

तुम्हारे नये शेर की तारीफ़ में मैंने अभी-अभी भैरवजी को लिखा है—मुझे यह शेर बहुत अच्छा लगा—'मेरे पैरों के निशाँ अब भी परेशाँ हैं यहाँ!' हमेशा रहेंगे, इन्हें मिटाने वाला कौन होता है? कौन इस राह पर चलने का ख़तरा सर उठायेगा? लेकिन हैरानी है कि तुमने इस शेर को इलाहाबाद या जालंधर या लाहौर या बंबई में न कहकर कालिम्पौंग में जाकर कहा! यह खूबी भी है।

यह जानकर बहुत खुशी हुई—मुझे जो कुछ भी होता है, 'बहुत' होता है और मनोविज्ञान-शास्त्री कहते हैं कि जो कुछ होना चाहिए, संयत मिकदार में होना चाहिए—लेकिन विवश हूँ, क्या करूँ—सच ही बड़ी प्रसन्नता हुई कि तुम

दो-तीन छोटे उपन्यास लिखने का निश्चय कर चुके हो। यह भी क्या पूछने की बात है हम 'नयी कहानियाँ' में उन्हें प्रकाशित करना चाहेंगे या नहीं ? यह 'नयी कहानियाँ' का सौभाग्य होगा। लेकिन तुमने डिलिवरी की तारीख 9 माह बाद जो डाली है, वह ठीक नहीं है। एक मानसिक कृति के लिए इतना लम्बा समय ? तुम कृपा कर यह भी लिखो कि कितने रुपये एक उपन्यास के लिए तुम्हें भेजने होंगे—सॉर्ट ऑफ़ बुकिंग के लिए ! तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा रहेगी।

राकेशजी का पत्र उन्हें यथा-समय पहुँचा दिया था। वह मज़े में हैं। तुम कब तक वहाँ से लौटने का प्रोग्राम बनाये हुए हो ? तुम्हारी कोई कहानी तो दीपावली विशेषांक में जायेगी न ? अवश्य ही जानी चाहिए।

कोई सेवा ?

सस्नेह
ओंप्रकाश

22. जगदीश चतुर्वेदी, रवीन्द्र कालिया

पत्रांक का लेख : वाह, भई खूब !

केन्द्रीय शिक्षा निदेशालय
दिल्ली-6
6-1-1964

भाई अश्कजी,

ज्ञानोदय का 'पत्र : परिशिष्टांक' देखा।

मात्र एक लेख कई दिनों तक याद रहेगा, कुछ तीखी चुभन और शिष्ट व्यंग से भरा हुआ। नटों के खेल और नटों से व्यक्तित्व वालों पर आपके व्यंग्य इसी प्रकार चलते रहें तो हिंदी तथा साहित्य दोनों का भला हो।

हम लोगों ने उसका दो बार संयुक्त पाठ किया। कुछ फ़िकरे तो यहाँ चर्चा का विषय बने हैं। बधाई !

आपके
जगदीश चतुर्वेदी, रवीन्द्र कालिया,
श्याममोहन श्रीवास्तव, कृष्णगोपाल

23. अमृतलाल नागर

चौक, लखनऊ
1-6-73

अश्क भाई,

पिछले डेढ़ माह में जितनी जल्दी-जल्दी हाई ब्लड प्रेशर का शिकार हुआ उस तरह यदि कुछ और पहले से होता तो सीना तानकर कहता हूँ कि दोषी मैं नहीं मेरी बीमारी है। इस स्थिति में बस यही कह सकता हूँ कि ऐ बाबा-ए-अदम्य,

मेरे बड़े भाई, मिलने पर मुझे दो जूते मारकर अपना क्रोध शांत कर लेना। अपने महा आलस्य और निकम्मेपन के इस लम्बे दौर का बयान क्या करूँ, ख़ुद अपने से ही नफ़रत-सी हो गयी है। आलस के दौरे तो अक्सर आते रहे हैं पर इतनी लम्बी अवधि तक कभी अल्प-प्राण नहीं रहा। भीतर वाला जानता है कि मेरी यह दुर्दशा अस्थायी है। स्रोत पाने के लिए धरती फोड़ते-फोड़ते अब जो कंकड़ की सख़्त चट निकल आयी है तो मन ने घबराकर सुस्ताने का बहाना साध रखा है। ख़ैर, अपने चि० पौत्र के नाम की तरह मेरी सुगतिशीलता भी अदम्य है, जल्द ही जीत जाऊँगा।

मुँह-देखी न मानना, तुम्हारा ख़त मुझे सबसे अधिक प्यारा लगा। इसका एक मात्र कारण यही है कि 'मानस का हंस' पर तुमसे पत्र पाने की आशा मैंने नहीं की थी। यह पत्र प्रकाशक को भेजने की इच्छा भी अब तक मेरे निकम्मेपन के कारण ही प्रतिफलित नहीं हुई। अब हो जायेगी। तुमसे भी अधिक चि० नीलाभ और दूधनाथ सिंह की प्रशंसा मुझे अपने लिए कीमती लगी। यह साबित करता है कि मेरी स्पिरिट ग़लत नहीं। तुमने यह बात सही लिखी है कि राम माने कर्तव्य। यह कर्तव्य परायणता ही मेरी रामभक्ति है। मेरा नाम बिल्कुल ग़ैबी नहीं है, और जितना कुछ है भी उसे यथार्थ के धरातल पर लाकर उजागर में देखना चाहता हूँ। यही तो मेरा संघर्ष है।

तुमने अपना उपन्यास लिखना छोड़कर 'मानस का हंस' पढ़ा और ख़ास करके अपने सृजनात्मक अहम् की प्रबलता के समय भी उसे पढ़कर केवल सराहा ही नहीं, बल्कि मुझे पत्र भी लिखा, यह तुम्हारी निश्छल उदार प्रकृति का स्पष्ट प्रमाण है। राम करे तुम्हारी कर्म सिद्धियाँ और तुम्हारा यश दिनों-दिन बढ़े। भाभी जुलजुल बूढ़ सुहागन और तुम जुलजुल बूढ़ सुहागे हो।

चि० बेटों, सौ० बहुओं और उनके आयुष्मान नन्हें-मुन्नों को हार्दिक शुभाशीष। तुम्हें और सौ० भाभी को सादर सप्रेम नमस्कार।

सदा तुम्हारा
अमृतलाल नागर

24. सज्जाद ज़हीर (बन्ने भाई)

वाई-24, हौज़ ख़ास, नयी दिल्ली
3 अगस्त, 1973

बहुत प्यारे अश्क,

मैं काफ़ी अर्से हिंदुस्तान से बाहर रहा हूँ। जून की 26 को वापस आया। फिर सीधे शिमले गया। वहाँ से वापसी पर डाक का पुलंदा देखा, जिसमें तुम्हारा ख़त भी था। 18 जून का। उसे पढ़कर हँसी भी आयी। कोफ़्त भी हुई।

यार, तुम्हारा नाम उपिंदरनाथ ग़लत रखा गया है, तुम्हारा नाम तो 'वहम नाथ अश्क' होना चाहिए था।

भाई मेरे, मेरे फ़रिश्तों को भी इसकी ख़बर नहीं थी कि कल्चरल फ्रीडम

वालों ने बंगलौर में अदीबों के लिए कोई सेंटर खोला है। तो फिर मैं यह इशारा कैसे करता कि तुम अगर बंगलौर जा रहे हो तो वहाँ जा रहे हो।

बात यह है कि मैं दो साल पहले मैसूर यूनिवर्सिटी की दावत पर मैसूर गया था—'उर्दू अदब पर गांधीजी का असर' पर एक मक़ाला[1] पढ़ने। उस वक्त उस सेमिनार के अदीब मेहमानों को, मैसूर सरकार की जानिब[2] से, शहर मैसूर से कोई बीस मील के फ़ासले पर एक बड़े ख़ूबसूरत, अंग्रेज़ गर्वनर के ज़माने के, महल और बाग़ में ले जाया गया, जिसे अब मैसूर सरकार ने 'अदीबों के घर' (राइटर्ज़ होम) का दर्जा दे दिया है। हमें यह बताया गया कि राइटर्ज़ यहाँ कमरा लेकर जितने दिन चाहें रह सकते हैं और चमन और सुकून[3] के माहौल में रहकर लिख-पढ़ सकते हैं। मुझे यह जगह बड़ी अच्छी लगी थी।

मेरा इशारा इसी 'राइटर्ज़ होम' की तरफ़ था और मैंने जब तुमसे सुना कि तुम मैसूर जा रहे हो तो मेरा ख़याल इसी 'होम' की जानिब गया।

इस मुआमले में असल शरारत उन इलाहाबादी दोस्तों की है, जिन्होंने तुम जैसे शक्की-मिज़ाज, वहमी और हद दर्जे के भोले-भाले इन्सान को यह बावर करवा दिया[4] कि मेरा इशारा प्रभाकर पाधे के सेंटर की तरफ़ है। मेरी ग़लती यह है कि तुमने जब बंगलौर जाने की बात की तो मैंने उसे ग़ौर से नहीं सुना। हम शुमाली हिंदुस्तान[5] वाले सारे साउथ इंडिया को मद्रास कहते रहे हैं। मैंने जो अदीबों का घर देखा था वह मैसूर के नवाह[6] में है, बंगलौर में नहीं है।

मियाँ, मैं इतना अहमक तो नहीं हूँ कि एक तीस बरस से भी ज़्यादा पुराने साथी और दोस्त को, जिसकी बेशबहा तहरीरें[7] उसकी इन्सान-दोस्ती और तरक्की-पसंदी का खुला और बैयन[8] सबूत है, रिज़अत पसंद[9], अमरीका नवाज़ खुद परस्त अनासर[10] की गोद में धकेल दूँ।

धर्मवीरजी को मैं भी जानता हूँ। उनके साथ हमारे ख़ानदानी तअल्लुकात हैं। यह उन्होंने बहुत अच्छा किया कि तुमको और कौशल्या को मेहमान बनाकर इतने दिन रखा। काश कि हमारे मुल्क में उनकी तरह के शरीफ़ और अदब-नवाज़ और मुहज़्ज़ब[11] लोग और भी होते।

मुझे इसका बहुत रंज है कि इस ग़लतफ़हमी की वजह से तुम जैसे हस्सास तबीयत के इन्सान को इतना दुख पहुँचा।

लेकिन इसमें मेरी कोई ग़लती नहीं थी। मैं तुमसे अब भी वैसी ही मुहब्बत करता हूँ और तुमसे प्यार करता हूँ और तुमको अपना दोस्त, रफ़ीक़ और साथी समझता हूँ, जैसा कि उस वक्त जब बरसों पहले हम बंबई में थे। बहुत प्यार।

तुम्हारा
बन्ने

---

1. निबंध, 2. तरफ़, 3. शांति, 4. यकीन दिला दिया, 5. उत्तरी भारत। 6. पास-पड़ोस-परिसर, 7. अमूल्य रचनाएं, 8. स्पष्ट, 4. प्रतिक्रियावादी, 5 तत्वों 11. सभ्य।

25. कौशल्या अश्क

5, खुसरोबाग़ रोड
इलाहाबाद
26-8-74

अश्कजी,

मैंने अपने पिछले पत्र में लिखा था कि मुझे रेडियो के लिए एक कहानी लिखनी है, लेकिन मुझे कुछ सूझ ही न रहा था कि क्या लिखूँ। कॉन्ट्रेक्ट मैं कैंसिल भी न करना चाहती थी और ख़ासी परेशान थी। आप यहाँ हैं नहीं, इसलिए दो बार निर्मल के गयी और उसके साथ डिसकस करके लिखना शुरू किया। बीच-बीच में जाने कितनी बार छोटी-छोटी घरेलू समस्याओं के कारण उठना पड़ा, फिर भी कहानी मैंने 4-5 दिन पहले तैयार कर ली। 24-8-74 को ब्राडकास्ट था, 19-8-74 को पूरी करके मैंने टाइप करा ली। निर्मल को पसंद आ गयी तो मेरे दिमाग़ से एक बोझ उतर गया और मैं ख़ुश थी कि अब आपको लम्बा पत्र लिखूँगी। और यह भी बताऊँगी कि मैंने उपन्यास का एक और अंश लिख लिया है। तभी पता चला कि उमेश की दवाइयाँ ख़त्म हो गयी हैं, फल-वल भी उसके लिए लाने थे। दवाइयों का ज़िम्मा निनी ने ले लिया और मौसिमी आदि लेने चौक चली गयी कि आकर निश्चितता से आपको लिखूँगी। आने पर आपका 12-8-74 का पत्र मिला। लिखने को सोचा हुआ सब दिमाग़ से हवा हो गया और आपका पत्र मेरे सामने रह गया जिसे मैं दो-तीन बार पढ़ गयी।

जब मैं आपके आने का एक-एक दिन गिन रही हूँ, आपके इस पत्र ने मुझे कितना उदास कर दिया होगा, इसका अनुमान शायद आप न लगा सकें। मैं रात भर सो नहीं सकी।

मैं क्या कहूँ! मेरा व्यवहार निश्चित ही ऐसा रहा होगा कि 30-32 वर्ष बाद भी आप ऐसा सोचते और महसूस करते हैं। यह अनजाने में, लापरवाही में, या फिर आप पर over-confidence के कारण हुआ हो, लेकिन आपको तकलीफ़ पहुँचाना या अपने जीवन से असंतोष इसका कारण हरगिज हरगिज़ नहीं था। मैं कोई सफ़ाई नहीं दे रही। मुझे सचमुच बहुत अफ़सोस होता है कि आपको इतनी तकलीफ़ हुई और आज 30-32 वर्षों बाद भी (बीच-बीच में भी आपने कई बार कहा है) वह तकलीफ़ बनी है। इसके लिए आप जो भी सज़ा मुझे दें, मैं उसे लेने के लिए सहर्ष तैयार हूँ। अपनी बेवकूफ़ी, या जो भी नाम आप उसे देना चाहें, कहिये ग़लती की सज़ा पाकर मुझे संतोष ही होगा।

आपकी दूसरी शिकायत बिलकुल ठीक है, मैं शत प्रतिशत आपसे सहमत हूँ कि मैं आपके लिए समय नहीं निकाल पायी, जो कुछ मुझे आपके लिए करना चाहिए था, नहीं कर पायी। पिछले 8-10 बल्कि कुछ ज़्यादा ही वर्षों से जैसी परिस्थितियाँ

हमारे देश की, हमारे व्यवसाय की और हमारे घर-परिवार की रही हैं, उनमें मैं दिन-रात जोड़-तोड़ में लगी रही हूँ। किसी तरह गाड़ी चलती रहे, मेरा दिमाग़ सारा समय इसी में परेशान रहा। हम इकट्ठे रहते हैं और हमें एक-दूसरे का देखना पड़ता है, जिसे भी तकलीफ़ होती है, मैं अपने को उधर ही मोड़ लेती हूँ, जिसकी ज़रूरत सामने आती है, उसे पूरा करने में जुट जाती हूँ। यह और बात है कि सबके लिए करने के प्रयास में मैं किसी के लिए भी पूरी तरह नहीं कर पायी और मुझे लगता है कि कोई भी मुझसे ख़ुश-संतुष्ट नहीं। आपको मैं अपने से अलग नहीं मानती, कई बार आपके हिस्से की ज़िम्मेदारी और परेशानी भी मैं चुपचाप अपने ऊपर ले लेती हूँ, बारहा आपको पता भी नहीं लगने देती। घर चलाने और समस्याएं सुलझाने के प्रयास में मैं फिरकी की तरह इधर-से-उधर छटपटाती घूमती रहती हूँ और न आपके लिए और न अपने लिए ही समय निकाल पायी। मैं सब जानती-समझती हूँ, महसूस भी करती हूँ, लेकिन सच कहूँ तो कई वर्षों से मुझे चैन नहीं मिला—न शारीरिक, न मानसिक ! उस समय भी जब मैं हँसती-बोलती हूँ, सब चीजों में हिस्सा लेती हूँ, मेरे मन के एक कोने में उधेड़-बुन चलती रहती है। इस सबके बावजूद मुझे कुछ समय निकालकर आपके निकट रहना चाहिए था। आप दिन-रात काम करते रहते हैं, आपका ऐसा सोचना और महसूस करना बिलकुल ठीक है। यही मनाती हूँ कि परिस्थितियाँ कुछ सुधर जाएँ और आपको ज़रा भी तकलीफ़, रत्ती भर भी शिकायत न होने दूँ !

दिल्ली से आकर मैं बीमार हो गयी थी। तब मैं सोचती थी कि मैं जल्दी-से-जल्दी ठीक हो जाऊँ, आपकी अनुपस्थिति में मुझे कुछ न हो, लेकिन आपका पत्र पढ़कर मुझे लगा कि मेरा सोचना व्यर्थ ही था, क्या फर्क पड़ता है और ग़ालिब ने ठीक ही लिखा है :

ग़ालिब-ए ख़स्ता के बग़ैर कौन से काम बंद हैं

......

आपका पत्र मुझे 19 अगस्त को मिला था, उस समय मैं चाय पी ही रही थी। पत्र पढ़कर मैंने रख लिया कि रात को या कल उत्तर दूंगी। तभी पता चला कि सेतु की टीचर ने अपनी ग़लती की सजा उसे दिलायी। उसका उतरा-सहमा चेहरा देखकर खून खौल उठा। रात के एक बजे तक गुड्डा वह पत्र टाइप करता रहा जो हमें उसके हैडमास्टर को देना था। गुड्डे ने शायद विस्तार से आपको सेतु के बारे में लिखा है, वह कह रहा था कि मैं पापा को सेतु के स्कूल के बारे में सारा हाल लिख रहा हूँ। एक बजे लेटी तो फिर आपका पत्र सामने आ गया और लेटे-लेटे जाने मैंने कितने ही पत्र आपको मन में लिख डाले। थोड़ी देर बाद उमेश आया (मैं खाने वाले कमरे में सोती हूँ, गुड्डा इधर अकेले सोने नहीं देता) पता चला कि बिम्मा को तकलीफ़ हो जाती थी, पर उस रात ज़्यादा हो गयी। उठकर उसे कॉफ़ी बनाकर दी। थोड़ी देर बाद फिर उमेश आया, शायद पानी लेने। तब पता

चला अनु को तेज़ बुखार हो गया है। फिर उठकर गयी, देखा तो उसे कनपेड़े भी निकल आये थे। उसके अगले दिन टुकु भी बुख़ार और कनपेड़ों से पड़ गया। बिम्मा उस दिन से यानि 19-8-74 की रात से जो पड़ी तो कल कुछ ठीक हुई है। तीन दिन और तीन रातें उसका साँस उखड़ा रहा, वह भी जगती रही, मैं भी। फिर कई तरह के इंजेक्शनों के बाद साँस की तकलीफ़ कुछ ठीक हुई तो खाँसी इतनी बढ़ गयी कि अगली दो-तीन रातें फिर जगते बीतीं। खाँसी से उसका साँस फूल जाता था और वह बेहाल हो जाती थी। कल से उसे खाँसी का भी आराम है और साँस का भी और हमें भी कुछ साँस आया है। परसों से टुकु 103 बुख़ार में पड़ा रहा, आज वह भी ठीक है और मैं आपको पत्र लिखने बैठी हूँ।

इस बीच आपका 15-8-74 का पत्र भी मुझे मिल गया। आपका स्वेटर मैं सरदारा सिंह को भेज दूंगी।

आपकी कविता मुझे बहुत अच्छी लगी।

शकुन्तलाजी को जितने पाऊंड दे सकें दे आइये और आने की तैयारी कीजिये। हम सब प्रतीक्षा कर रहे हैं।

......

'सेतु और अनु अब ठीक हैं, टुकु को भी आज बुख़ार नहीं हुआ और बिम्मा भी ठीक है यद्यपि कमज़ोर है। मेरी तबीयत ठीक है। अब मैं एलडक लेना शुरू करूँगी। आप चिंता न करें। अपने स्वास्थ्य का खयाल रखें और प्रोग्राम का पता दें।

......

शकुन्तलाजी और सेठ साहब को नमस्कार और बेटे-बहुओं और बच्चों को स्नेह दीजियेगा।

सभी आपको याद करते हैं, प्रणाम कहते हैं, आपकी बाट देख रहे हैं। प्यार से।

आपकी
शल्य

अश्क के पत्र : दूसरों के नाम

1. महादेवी वर्मा

5, खुसरोबाग रोड, इलाहाबाद
23-3-53

आदरणीया,

आपका संक्षिप्त पत्र और हिसाब का ब्यौरा मिला। उस पर आपने यह नहीं लिखा कि यह रुपया मुझे किस खाते में मिला है। कृपया इस पर यह ब्यौरा टाइप करा दें तो मैं हस्ताक्षर कर दूँ।

यों तो इसकी आवश्यकता नहीं थी, पर डेढ़ महीना पहले मैं दक्षिण भारत, मध्य प्रदेश तथा मध्य भारत के दौरे से लौटा हूँ, मद्रास, उज्जैन तथा ग्वालियर में लोगों ने मुझसे कहा कि मुझे 'साहित्यकार संसद' से 2000 रुपया मिला। जब मैंने कहा कि हाँ, महादेवीजी ने सरकार का स्टाइपेंड दिलवाया था तो मुझसे कहा गया कि नहीं, आपको 'साहित्यकार संसद' से मिला है और महादेवीजी ऐसा कहती थीं।

मुझे विश्वास नहीं कि आपने ऐसी झूठी बात कही हो, मद्रास में मैंने यही कहा कि नहीं, आपको भ्रम हुआ है, उनका मतलब उसी रुपये से होगा, पर जब नागपुर, उज्जैन और ग्वालियर में भी मुझसे यही बात कही गयी तो लगा कि यह बात चाहे आपने न कही हो, पर जब आपका दल दक्षिण भारत की यात्रा पर गया था, तब किसी ने यह बात ज़रूर कही है।

आप मेरे धर्म-संकट का अनुमान लगा सकती हैं। मैं इस बात को स्वीकार भी नहीं कर सकता और बिना आपसे जाने अपनी ओर से कोई बात कहना भी मेरे लिए मुश्किल हो जाता है।

तब मैंने सोचा था कि इलाहाबाद पहुँचकर आपसे मिलकर एक बयान दे दूँगा, ताकि मेरी पोजीशन साफ़ हो जाये। मैं आपसे मिलने वाला था, पर आने के कुछ दिन बाद मैंने एक ऑपरेशन कराया जो बिगड़ गया और आज डेढ़ महीने से पड़ा हूँ।

अब आपने यह अवसर दिया है। तो मैं ये पंक्तियाँ लिखकर इस सम्बन्ध में स्थिति जानना चाहता हूँ।

जहाँ तक 'साहित्यकार संसद' का संबंध है, मुझे इतना याद है कि मैंने उसके भवन में तीन महीने गुज़ारने के अतिरिक्त कोई रुपये की सहायता नहीं ली। यहाँ तक कि 'संसद'-भवन में अपने खाने-पीने का खर्च मैं स्वयं ही करता रहा।

सरकार से रुपया लेकर देने अथवा कठिनाई के दिनों में मुझे 'संसद' में तीन महीने रखने में आपका जो एहसान है, वह मैं मानता हूँ, पर यह हिसाब की बात है और इसमें मेरे स्वाभिमान का प्रश्न है, इसलिए कृपा कर आप इस स्थिति को साफ़ कर दीजिये।

आप जानती हैं कि इसी स्वाभिमान की रक्षा में मुझे भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक दौरे करने पड़ रहे हैं। यदि बार-बार मुझे एक झूठी बात सुनने को मिले तो तबीयत झल्लाती है और उसका उत्तर देना आवश्यक हो जाता है, मैं नहीं चाहता, मैं कोई ऐसी बात कहूँ, जो आपको बुरी लगे सो आपसे पूछ रहा हूँ।

आप जानती हैं कि मैं स्पष्टवादी हूँ। सीधी बात, अप्रिय भी क्यों न हो, मुझे अच्छी लगती है। आप मुझे 'साहित्यकार संसद' में ले गयी थीं और कौशल्या गुड्डे की पढ़ाई के लिए चिंतित थी, तो आपने कहा था, कि आप क्यों चिंता करते हैं। साल भर आप यहीं रहिये। मुझसे आपने यही कहा था, इसलिए इतना सारा सामान ट्रक पर लादकर मैं श्रीपत के यहाँ से 'संसद'-भवन में ले गया। यदि दो-एक महीने की बात होती तो मैं वह सब सामान न ले जाता। पर तीन महीने के बाद ही जब आपने हमारे लिए ऐसा मकान तय कर दिया, जिसमें रसोई करने तक की व्यवस्था न थी और आपने अनुरोध किया कि हम उस मकान में उठ आयें तो मैंने समझ लिया कि 'संसद'-भवन में आप अब हमें और नहीं रखना चाहतीं। तब दिसंबर की सर्दी में रोज़ इक्के पर बच्चे के साथ, मेरी बीमारी के बावजूद, कौशल्या मकान खोजने शहर आती रही और आखिर उसने मकान ढूंढ़ लिया। लोगों ने मेरे 'साहित्यकार संसद' से 'निकाले जाने' के बारे में तरह-तरह की अफ़वाहें उड़ायीं तो मैंने आप ही से कारण पूछा था, पर आपने यह कहकर टाल दिया था कि आप तो जानते ही हैं।

सच्ची बात यह है कि मैं नहीं जानता था। मुझे आश्चर्य हुआ था, पर चूँकि मैं आपका संकेत समझ गया था, इसलिए मकान ढूंढ़ने में हमने स्वास्थ्य की परवा नहीं की। आपको याद होगा कि नये घर में आते ही कौशल्या इतनी बीमार हो गयी थी कि उसे बम्बई से अपनी भाभी को बुलाना पड़ा था।

यदि आप मुझे ठीक स्थिति बता देतीं, तो मुझे दुख न होता। बाद में लोगों की बातों की पुष्टि हो गयी। 'साहित्यकार संसद' के उद्घाटनोत्सव पर स्वयं सियारामजी शरण गुप्त ने पांडेयजी के सामने बता दिया कि उन्होंने मज़ाक किया था कि 'साहित्यकार संसद' को आपने टी० बी० का अस्पताल बना दिया है। उन्होंने ऐसा क्रूर मज़ाक क्यों किया और आपने उसका विरोध क्यों न किया, यह दूसरी बात है, पर यदि आप मुझसे कह देतीं कि देखो भाई अश्क, मैं तो सेक्रेट्री हूँ, लोग तुम्हारी बीमारी के कारण आपत्ति करते हैं, तो मुझे कम-से-कम आपसे गिला

न रहता।

दूसरे कारणों की मैं यहाँ चर्चा नहीं करता, यद्यपि वाद की घटनाओं से वे भी ठीक निकले। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि मैं साफ स्थिति पसंद करता हूँ। अब 'संसद' के किसी साथी ने यह प्रसिद्ध कर दिया है कि 'संसद' ने मुझे दो हज़ार रुपया दिया है। क्योंकि बड़े प्रतिष्ठित लोगों ने मुझसे इस बात की चर्चा की है और एक ने यह भी कहा कि नहीं, आपको अलग रुपया मिला है, इसलिए निम्न-लिखित बातों के संबंध में मैं ठीक स्थिति से अवगत होना आवश्यक समझता हूँ :

1. (क) संसद से मुझे आज तक कितना रुपया मिला है?
   (ख) वह रुपया किस-किस खाते में मिला है?
2. जिन दिनों मैं 'संसद'-भवन में रहता था, क्या मैं अपने खाने-पीने पर स्वयं ख़र्च न करता था?
3. सरकारी रुपयों के अतिरिक्त 'संसद' से मुझे कौन-सा रुपया मिला है?

मुझे रसीद देने में कोई आपत्ति नहीं, पर रसीद पर ब्योरा दर्ज होना चाहिए कि किस खाते में मुझे यह रुपया मिला है। यह ब्योरा आते ही मैं तत्काल रसीद भेज दूंगा।

इस लम्बे पत्र के लिए मुझे क्षमा कीजियेगा। मैं स्वय अस्वस्थ हूँ, पांच दिन से रोज डॉक्टर आता है, पर राजनीतिज्ञ-सी शांति मेरे पास नहीं, ज़रा-सी बात मुझे खा जाती है, इसलिए कष्ट के लिए मुझे क्षमा करते हुए आप इस पत्र का उत्तर भेज देंगी, ऐसी आशा करता हूँ।

सादर
उपेन्द्रनाथ अश्क

2. मोहन राकेश

दिल्ली
27-4-59

प्रिय राकेश,

तुम्हारा 29 जून का पत्र मिला। पढ़कर मन उदास हो गया। तुम समझदार आदमी हो, मैं तुम्हें क्या लिखूं? मैं तो यहां आता ही तुम्हारे कारण था कि कुछ दिन इकट्ठे रहेंगे, नहीं इस गर्मी में पंद्रह-बीस दिन का प्रोग्राम कभी न बनाता। चलने के एक दिन पहले तुम्हारा तार मिला कि तुम श्रीनगर पहुंच गये। मैं चल चुका था, फिर इनकार करना बुरा लगा। हमें यहां तुम्हारी अनुपस्थिति बुरी तरह खल रही है, और तो कोई मित्र यहां है नहीं, जिसके साथ दो-चार घंटे बैठा जाये। काम साथ ले आया हूं, सो उकताहट नहीं होगी।

वो दूसरे दिन गयीं। उनका पहला पत्र शायद इसलिए तुम्हें नहीं मिला कि उन्होंने पोस्ट मास्टर के बदले स्टेशन मास्टर की मार्फत भेजा था जो शायद डी० एल० ओ० से वापस होकर पहुँच जायेगा।

बहरहाल वो अमृतसर चली गयी हैं।

एक दिन राजेन्द्र यादव के साथ गुजारा। उसकी कहानियों को लेकर उसे ख़ासा खींचा। वही कौशल्या को स्टेशन पर छोडने भी गया था। मैं तो नाटक देखने चला गया था।

अपनी जिन कमजोरियों की ओर तुमने इशारा किया है, वो वास्तव में कमज़ोरियाँ नहीं, गुण हैं। जिस लेखक के पास यह नहीं होतीं उसकी आग कई वार बुझ जाती है, क्योंकि जव एक वार वह समझौता करना शुरू कर देता है तो समझौते करता चला जाता है और आख़िर में समझौते भरी ज़िंदगी वाकी रह जाती है और उसका अपना व्यक्तित्व कहीं नहीं रहता। लेकिन इन बातों से विक्षोभ के वदले Strength आनी चाहिए। आज मेरे खिलाफ़ जो इतने लोग हैं कि कहीं कोई मित्र नज़र ही नहीं आता तो क्या इसके कारण वही कमजोरियाँ नहीं, जिनका तुमने उलेख किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' के संवंध में जो वातें हुईं, उनको मन पर नहीं लाना चाहिए। उस सिलसिले में बहुत लोगों से बातें हुई हैं, उम्मीद तो करता हूं कि संगीत नाटक एकेडेमी से उसे Prize मिल जायेगा, मैंने सबसे भर कर उसकी तारीफ़ की है। मेरा अपना नाटक भी था पर मुझसे पूछा गया तो नगेन्द्र, दिनकर, नेमि और निर्मला जोशी तथा दूसरे सबसे उसकी प्रशंसा की है और इस वात पर ज़ोर दिया है कि अगर किसी नाटक को पुरस्कार मिलना चाहिए तो उसी को मिलना चाहिए। लेकिन इन मामलों में वहुत से ज़ोर लग जाया करते हैं। नरेश मेहता अपने नाटक को हिंदी के सब नाटकों से श्रेष्ठ समझते हैं। विष्णु के 'डॉक्टर' और 'तथागत' पर भी जोर लग रहा है। पर उम्मीद तो यही है कि 'अषाढ़ का एक दिन' सफल हो जायगा। न भी हो तो चिंता न करनी चाहिए। इन पुरस्कारों आदि से कुछ तय नहीं होता। आज ही शाम मैंने हबीब तनवीर से नाटक की तारीफ़ की थी। धीरे-धीरे नाटक अपनी सत्ता सिद्ध कर देगा।

माथुर साहब से अभी नहीं मिला। कौशल्या की अरदल में घूमता रहा। मिलूंगा तो बात चलाऊँगा। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि ये बातें दिल पर लगाने वाली नहीं हैं। मेरा नाटक 'कैंद' दो वार रेडियो से reject हुआ और दो वार national programme के तौर पर हुआ। बुख़ारी के ज़माने में रेडियो की नौकरी के दौरान में मैंने उसे लिखा था। तभी वो reject हुआ था। उसी ज़माने में वह inter-Station play के तौर पर दो साल वाद हुआ। फिर आज़ादी के वाद यह एक वार reject हुआ और फिर national drama के तौर पर ब्राडकास्ट हुआ। सो भाई इन वातों को ज़रा भी मन पर नहीं लगाना चाहिए और डटकर काम करना चाहिए।

हाँ, एक वात ज़रूर है अपनी दयानतदारी और integrity को अंतर में

छिपाये दुनिया में चलना चाहिए, उसके बारे में कहना बेकार है। गुटबंदियों को तुम रोक नहीं सकते। सबसे मिलो और सबसे अलग रहो। इस के सिवा कोई चारा नहीं। एक-न-एक वक्त कोई-न-कोई गुट तुम्हें गाली देता रहेगा। मेरे साथ सदा ऐसा हुआ है। पर Ibsen ने एक जगह लिखा है—the Strongest man is he who fights alone और मुझे तो इस पंक्ति से बड़ी शक्ति मिली है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि आदमी जान-बूझकर लड़ाई करता फिरे। जब आदमी दूसरों से कुछ पाना चाहता है तो उसके लिए दूसरों को कुछ देना बड़ा ज़रूरी है। यह समझौता करना नहीं, साथ की शर्त है। कहीं उसूल की बात पड़ जाये तो आदमी को डट जाना चाहिए, पर ज़रा-ज़रासी बात पर पिनक जाना ठीक नहीं। तुम मानो चाहे न मानो, पर मैं भैरव के निकट रहता हूँ। तुम्हारे लिए उनके दिल में बड़ी इज्ज़त है, पर उनके अपने विचार हैं और उन्हें रखने का उन्हें पूरा अधिकार है। आदमी को दूसरे का पक्ष सोचकर चलना चाहिए। मैं अभी तक तुमसे सहमत नहीं हुआ कि तुम्हारा वह लेख पहले नहीं छपा तो कोई कहर टूट गया। इस ज़रा-सी बात को इतना तूल देना मुझे (तुम चाहे मुझसे सहमत न हो) maturity का अभाव लगा। मेरे ख़िलाफ़ श्रीपत ने कितना सख़्त नोट लिखा, पर मैंने तो Co-operation से हाथ नहीं खींचा। कारण यह कि मैं 'कहानी' के महत्व को Personal egos से ज्यादा समझता हूँ। भैरव ने जितने बड़े पैमाने पर Co-operation प्राप्त की है, उतनी दूसरा कोई नहीं कर सकता और उनके हाथ मज़बूत करने चाहिए क्योंकि कहानी का आंदोलन कहानी-लेखकों का ही आंदोलन है। आज कविता के मुकाबले में कहानी आगे आ गयी है, इसका श्रेय 'कहानी' को है और सारे मत-भेदों के बावजूद उससे सहयोग करना ज़रूरी है। मार्कण्डेय अपनी बात चाहे जैसे कहें, तुम अपनी अपने ढंग से कहो और दूसरे अपने ढंग से! जिसकी बात ज़ोरदार होगी, उसे पाठक स्वीकार कर लेंगे। दूसरी पत्रिकाओं में बात कहने के बदले उसी में कहनी चाहिए।

ख़ैर, पत्रों में ये बातें नहीं हो सकतीं। तुम उपन्यास ख़त्म करके महीने पंद्रह दिन को इलाहाबाद ज़रूर आओ। मन भी बहल जायेगा और बातें भी करेंगे।

रही तुम्हारी भटकन, तो भाई उसके लिए या तुम्हें घर बसाना चाहिए या अपनी तमाम वृत्तियों को लिखने में लगाना चाहिए। घर का सुख हो या महत्वाकांक्षा—अंधी और दुर्दमनीय महत्वाकांक्षा—दूसरा कोई मार्ग नहीं। अगर घर बसाये बिना मन कहीं नहीं टिकता तो घर बसाओ। थोड़ा-सा Practical होना बड़ा ज़रूरी है। वरना कुंठित होना अनिवार्य है। मैंने दोनों तरह की जिंदगी जी देखी है और अपने अनुभव के बल पर यह कहता हूँ। औरत बड़ी भारी शक्ति है और हमदर्द औरत तो आदमी को कहाँ से कहाँ पहुँचा सकती है।

मैं तो जितना ज़्यादा परेशान होता हूँ, उतना बेहतर लिखता हूँ। मुझे साहित्य ही में त्राण मिलता है। तुम्हारा मैं नहीं कह सकता। सब आदमी एक जैसे नहीं होते। यही उम्मीद करता हूँ कि अब तुम यहाँ की टुच्ची बातों से दूर चले गये

हो तो उन बातों को भूलकर उपन्यास में मन लगाओगे और उसे लिखकर ही लौटोगे।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

3. राजकमल चौधरी

5, खुसरोबाग़ रोड
इलाहाबाद, 21-11-61

प्रिय राजकमल,

तुम्हारा पत्र मिला। उपन्यास (नदी बहती है) की प्रतियाँ भी मिलीं। मैं उपन्यास पढ़ भी गया। रात ही मैंने उसे ख़त्म किया और बहुत देर तक नींद नहीं आयी। तुमने बहुत से प्रश्न उठाये हैं, जो अनास्था के क्षणों में आज ही नहीं, पहले भी ऐसी घड़ियों में इंसानों के दिलों में उठे हैं। आदमी स्वार्थी है, कामी है, कमीना है, अर्थ से बँधा है, समझौते करता है, टूटता है, बिकता है, मरता है...लेकिन इन प्रश्नों के उत्तर में दसियों प्रश्न मेरे दिमाग़ में उभरते रहे और पत्र के माध्यम से वे सब प्रश्न क्या लिखूं, कभी फ़ुर्सत से मिलोगे तो हम बात करेंगे। तुम्हारी बात को मानकर चलूं तो अपने जीवन को किसी तरह explain नहीं कर सकता, जबकि सुख-सुविधा और सिक्योरिटी को छोड़, अच्छी नौकरियों से पल्ला छुड़ा, रेडियो और सिनेमा की दुनिया से संबंध तोड़, कमर तोड़ने वाले संघर्ष में लगा रहा हूँ। निराला के जीवन को कैसे एक्सप्लेन करूँ ? फिर तुम ही मसूरी की सुख-सुविधा को छोड़, कलकत्ते में क्यों भटक रहे हो ? आदमी स्वार्थी, कामी, यश और धन का लोलुप, पग-पग पर अर्थ और सत्ता से समझौते करने वाला, कायर और डरपोक है—पर क्या आदमी सिर्फ़ इतना ही है ? क्या वह मात्र पशु है ? यदि तुम्हारी यह मान्यता ही एकमात्र सत्य है तो मैं जिंदगी की हज़ारों दूसरी घटनाओं को एक्सप्लेन नहीं कर सकता। दसियों घटनाएँ दिमाग़ में आती हैं, जब नितांत अपरिचित एकदम स्वार्थ-रहित होकर सहायता देते हैं, नितांत अपरिचित नुकसान सहकर दूसरों को लाभ पहुँचाते हैं...बीसियों घटनाएँ मेरे दिमाग़ में आती हैं।

फिर तुमने साम्यवादियों को अत्यंत बुरे रंग में चित्रित किया है, ऐसे लोगों को मैं भी जानता हूँ, पर मैं ऐसे साम्यवादी को भी जानता हूँ जो गत बीस वर्षों से सब सुख-सुविधा अपने ऊपर हराम किये हुए तिल-तिल अपनी सेहत गँवा रहा है और शत्रु भी जिसकी प्रशंसा करते हैं।...

और बीसियों बातें तुम्हारे उपन्यास को पढ़कर मन में आती रहीं।

उस समय भी जब इंसान अपने ही हाथों अपना ख़ात्मा करने के किनारे खड़ा है, उसके इस रूप को देखकर दूसरे (वह चाहे उसका 5 प्रतिशत अंश भी क्यों न हो) रूप के बारे में आस्था बँधती है।

हो सकता है कि मैं जन्म से ही आशावादी हूँ और तुम कलकत्ता की भूल-

भुलैयाँ में अपनी आस्था खो रहे हो। यदि जीवन यही कुछ है तो तुम क्यों मसूरी की सुख-सुविधा तजकर चले आये हो? यह प्रश्न बार-बार मेरे मन में आता रहा।

बहरहाल, कभी मिलोगे तो मैं तुमसे बातें करूँगा। तुम्हारे पास बड़ा ही ओज-पूर्ण, प्रवाहमान स्टाइल है, लेकिन डर लगता है कि इस सब के बावजूद तुम महज भटककर न रह जाओ।

तुमने जाने किसकी उक्ति दोहरा दी है कि महान कला नितांत निरुद्देश्य होती है। मेरा इसमें विश्वास नहीं है। किसी ऐसी पुस्तक का नाम बताओ, जिसे दुनिया ने महान माना हो और जो नितांत निरुद्देश्य हो।

फिर एक प्रश्न मेरे दिमाग़ में यह भी आया कि तुमने इस पुस्तक को 'गर्मराख के लेखक' के नाम क्यों डेडिकेट किया। क्या 'गर्मराख' में तुम्हें अनास्था ही अनास्था मिली है? या चुनौती के रूप में तुमने इसे पेश किया है?

जहाँ तक उपन्यास के पात्रों, उनके चरित्र-चित्रण और दूसरी बातों का संबंध है, कभी जब तुम मेरे सामने बैठे होंगे तभी मैं बातें करूँगा, जब मैं रू-ब-रू तुम्हारी बात भी सुन सकूँ और अपनी भी कह सकूँ। जाने तुम किन लेखकों को पसंद करते हो, जाने तुम्हारी प्रेरणा के स्रोत कौन से हैं? तुम्हारे बारे में मैं नहीं कह सकता, अपने बारे मैं कह सकता हूँ—मुझे यदि जीवन में इतनी अनास्था हो तो मैं एक पंक्ति भी न लिखूँ और आत्महत्या कर लूँ। पर ज़िंदगी के विराट रूप को देखता हूँ तो इस सबके साथ बहुत कुछ ऐसा भी दिखायी देता है जो सारी कटुता सोख लेता है और ज़िंदगी में उपादेय ढंग पर जीने की प्रेरणा देता है। अब उस पक्ष का कितना कुछ साहित्य में आ पाता है, यह कहना मुश्किल है. पर उसका कुछ अंश भी आ पाये तो समझता हूँ कि प्रयास विफल नहीं, उसी को बचाये रखने के लिए तो शेष सबका पर्दा फ़ाश करने की ज़रूरत है।

मैं generalizations में भटक गया, पर तुमने अपने उपन्यास में बड़े general remarks दिये हैं।

तुम्हारी शैली का मैं कायल हूँ, यही डर है कि इतनी अतुल प्रतिभा ग़लत जगह लगाकर तुम अंत में कुंठित न हो जाओ। मैंने इसी जीवन में ग़लत जीवन-दृष्टि के कारण प्रतिभाशालियों को कुंठित होकर ख़त्म होते देखा है।

कुछ बातें मुझे खटकी हैं। एक जगह तुमने शब्द 'वहशीयत' लिखा है, जबकि 'वहशत' होना चाहिए था, 'ब्रोकेन' या 'ब्रोकन' की जगह बार-बार 'ब्रोक्न' लिखा है; 'ब्लाउज़' स्त्रीलिंग में लिखा है; 'गरज' को बार-बार 'गरज़' लिखा है और चूंकि ऐसे प्रयोग कम हैं और ग़लत हैं, इसलिए वे इतनी सुंदर शैली में मक्खन में पत्थर के रेज़ों की तरह खटकते हैं।

मैं रचनाएँ बड़े ध्यान से पढ़ता हूँ। जब भी कभी मिलोगे, विस्तार से बातें करेंगे। मुझे न कथानक भूलेगा, न पात्र, न वह जो अच्छा लगा, न वह जो बुरा।

'निराला' के बारे में एक अपूर्ण संस्मरण मैं तुम्हें भिजवा रहा हूँ। एक मित्र

के अनुरोध पर स्थानीय दैनिक के लिए लिखा था, पर बीमारी के कारण पूरा नहीं कर सका। अभी एक मित्र का अनुरोध आया था कि उसी तरह भेज दूं, पर तुम्हें भेज रहा हूं। अपूर्ण है, पर अपने में पूर्ण है। शीर्षक कोई अच्छा-सा दे देना। निराला के मनोविज्ञान के कुछ नुक्ते मैंने इसमें देने का प्रयास किया है। यदि तुम्हें यह पसंद न आये, इसे न छापना चाहो, या तुम्हारे संकलन की स्कीम सिरे न चढ़े तो इसे लौटा देना। 'राग-रंग' वाली बात न दोहराना।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

4. मोहन राकेश की माताजी के नाम

इलाहाबाद
31-1-61

आदरणीय माताजी,

आज सुबह से कौशल्या तीन बार एक ही बात कह चुकी है और बेकार झल्ला रही है, यहाँ तक कि उसने मेरा काम करना मुश्किल कर दिया है। उसका कहना है कि कल, जब आप और अनिता बैठी थीं, मैंने ठीक से व्यवहार नहीं किया और फ़ज़ूल मज़ाक करता रहा।

देखिये माताजी, मेरी हँसोड़ तबीयत है। मैं तो अपनी माँ से भी मज़ाक कर लेता था और मेरी माँ मुझे 'माँ-मशकरा' कहा करती थीं। आप भी माँ ही हैं। पर शायद आप मेरी आदत से परिचित नहीं, इसलिए हो सकता है, आपको बुरा लगा हो। यदि ऐसी बात हो तो आप मुझे क्षमा कर दीजियेगा। आगे के लिए मैं ध्यान रखूंगा।

असल में कौशल्या गुड्डे पर बिगड़ रही थी और मैं उसका ध्यान बटाना चाहता था। पर उसका मूड बिगड़ जाये तो जल्दी ठीक नहीं होता। सवेरे-सवेरे उसने मुझे परेशान कर दिया है। कल का ग़ुस्सा, लगता है, उसका उतरा नहीं। वह बार-बार यही कहती है कि आपने बुरा माना है, आप ज़रूर चाय पीतीं, यदि मैंने मज़ाक न किया होता। यदि सचमुच ऐसी बात है, तो मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ और अपना बच्चा समझकर आप मुझे क्षमा कर दीजियेगा।

सादर-सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

5. लक्ष्मीचंद्र जैन

इलाहाबाद
29-9-64

प्रिय लक्ष्मीचंद्रजी,

आशा है आप, कुंथा भाभी तथा बच्चे सकुशल और सानंद हैं।

मैं आपको कई दिनों से पत्र लिखना चाहता था, लेकिन मेरी आँखें ख़राब हैं, दूसरी भी कई परेशानियाँ हैं, इसलिए नहीं लिख सका। रमेश वक्षी को मैंने लम्बा पत्र लिखा था। आशा है, मेरी बात आप तक पहुँच गयी होगी।

आज मैं दूधनाथ को देखने फाफामऊ अस्पताल गया था। उसकी दशा पहले से कुछ अच्छी है। वजन भी कुछ बढ़ा है लेकिन उसे नब्बे दिन लगातार इंजेक्शन लेने होंगे। हम इस कोशिश में हैं कि उसे सारे इंजेक्शन इसी अस्पताल में लग जायें। न होगा तो फिर आप उसे वृंदावन के सैनीटोरियम में कुछ महीने भिजवाने की जरूर व्यवस्था कर दीजियेगा। उसका केस ओपन (open) केस है और जब तक वह निगेटिव नहीं हो जाता, उसे अस्पताल अथवा सैनीटोरियम ही में रहना चाहिए। जैसी भी स्थिति होगी मैं आपको इस सिलसिले में फिर लिखूंगा।

यद्यपि दूधनाथ का इलाज अस्पताल में हो रहा है लेकिन उसकी पत्नी बाहर अलग से रहती है, अस्पताल शहर से बहुत दूर है, रोज उसे वहाँ जाना पड़ता है। उसका अपना स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं और मेरा ऐसा ख़याल है कि शायद वह बच्चे से भी है, इसलिए उन्हें कुछ रुपयों की बहुत ज़रूरत है। इन सब बातों को देखते हुए मैंने रमेश वक्षी के पत्र में आपसे दूधनाथ का कोई संग्रह छापने की प्रार्थना की थी।

दूधनाथ से मालूम हुआ कि श्री मोहन राकेश ने उन्हें एक पत्र लिखा है कि आप उसके गद्य-पद्य का एक मिला-जुला संग्रह छाप देंगे और पेशगी रायल्टी भी दे देंगे। वास्तव में शुरू के दिनों की परेशानी में, जब दूधनाथ को खून आ रहा था और उससे इस सिलसिले में बात करना मुश्किल था, मैंने ही निर्मलाजी और दूधनाथ के पुत्र श्री सुरेन्द्रनाथ से बात करके यह सुझाव दिया था। लेकिन आज दूधनाथ से बात करने पर यह मालूम हुआ कि उसकी आठ छपी हुई कहानियां और एक अप्रकाशित लम्बी कहानी उनके पास है और नौ कहानियों का अच्छा-खासा संग्रह बन जाता है। उसके पास एक खंड-काव्य और एक कविताओं का संग्रह है। उसकी यह इच्छा स्वभाविक ही है कि ये तीनों पुस्तकें अलग-अलग छप जायें। यदि आप ऐसा कर सकें तो बहुत अच्छा हो। मैंने इधर दूधनाथ की कुछ कहानियां और कविताएँ पढ़ी हैं और वह मुझे नवीनतम कथाकारों में अत्यंत सशक्त दिखायी देता है। आप इस विरवे को सींचने में सहायता देंगे तो हो सकता है आगे चलकर यह छतनार पेड़ हो जाये।...लेकिन यदि आप ऐसा न कर सकें तो फिर वैसा ही संग्रह जिसमें गद्य-पद्य दोनों हों, तैयार कर दिया जायेगा। उस सूरत में आप कृपया लिखियेगा कि आप कितने पृष्ठों तक का चाहेंगे। यह भी लिखियेगा कि क्या आप चाहेंगे कि कोई उसकी भूमिका भी लिखे अथवा उसे प्रस्तुत करे। जिस आदमी से आप यह काम कराना चाहें, मैं उनकी सेवा में स्वयं पत्र लिखूंगा। इतना ही है कि यह काम जरा जल्दी होना चाहिए। इलाहाबाद में आप किसी से चाहें तो काम जल्दी भी हो जायेगा।

मैंने राकेश को भी इस सिलसिले में पत्र लिखा है।

मेरी आँखें इधर कुछ महीनों से ख़राब चली आ रही हैं। मैं 13 ता० को बंबई जा रहा हूँ। वहाँ किसी स्पेशलिस्ट को आँखें भी दिखाना चाहता हूँ और जनरल चेक-अप भी कराना चाहता हूँ। यदि उससे पहले आप मुझे इस पत्र का उत्तर दे दें तो मैं रचनाओं के संकलन तथा उनकी प्रेस-कॉपी कराने अथवा टाइप आदि कराने का काम अपने किसी सहयोगी को सौंप जाऊँ। आप अत्यधिक व्यस्त रहते हैं, लेकिन आशा है इस सिलसिले में आप मुझे दो पंक्तियाँ जल्दी ही लिखेंगे।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

6. ज्ञानरंजन

5, खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद

13-2-65

प्रिय ज्ञान,

तुम्हारा 8-2-65 का मित्र मिला। यह जानकर अफ़सोस हुआ कि तुम यहाँ से जाते ही टाइफ़ाइड का शिकार हो गये। तबीयत तो तुम्हारी यहाँ से ही ख़राब थी और फिर उस ख़राब तबीयत की ओर तुमने ध्यान भी नहीं दिया इसलिए बीमार पड़ जाना अस्वाभाविक नहीं था। देखो भाई, मेरी बात का बुरा नहीं मानना, तुम मेरे अज़ीज़ हो और जिसे मैं अज़ीज़ मान लेता हूँ, उससे दुराव नहीं रखता और मन की बात कह देता हूँ। अच्छा लिखने के लिए अनियमित जीवन जीना ज़रूरी नहीं है। जो आदमी यह समझता है कि बिना ख़ूब पिये उक्चकोटि का साहित्य नहीं लिखा जा सकता, वह कहीं बहुत ही ग़लत है। यह ठीक है कि अनियमित और असंतुलित जीवन जीने वालों ने भी उच्चकोटि की रचनाएँ लिखी हैं। लेकिन संसार के साहित्य में नियमित रूप से जीवन जीने वाले और इस पर भी उच्चकोटि का साहित्य लिखने वालों की संख्या भी उनके बराबर मिल जायेगी। मुझे यह अपने अहं का अपमान लगता है कि मैं अच्छा लिखने के लिए पान या सिगरेट या शराब या असंतुलित या अनियमित जीवन का सहारा लूँ। देखने वाली आँख की ज़रूरत है और भावप्रवण मन की ओर ये दोनों चीज़ें भगवान ने तुम्हें दी हैं। फिर और किसी का सहारा न लो तो अच्छा है। रही कुंठा तो उसे भुलाने के लिए लेखन से बेहतर कोई नशा नहीं।

मेरी बात का बुरा न मानना, बुरी भी लगे तो मुझे क्षमा करना। मैंने कभी कविराज हरनामदास के लिए एक पुस्तक लिखी थी। उसकी तैयारी में दस-पंद्रह पुस्तकें पढ़ी थीं। उन्हीं में से किसी में मैंने पढ़ा था कि प्रकृति अपने साथ किये गये अनाचारों का सख़्त बदला लेती है और अनुभव से मैं इस बात का सत्य जान गया हूँ।

आशा है, तुम मेरी बात पर ध्यान दोगे।

अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखो और उत्तरोत्तर अच्छा लिखो। जब ठीक हो जाना मुझे किताबें भेजना, अभी उनकी चिंता न करो। डॉक्टरों के कहने के मुताबिक पूरा परहेज़ रखो। टाइफ़ाइड का रिलैप्स अच्छा नहीं होता।

मैंने इधर कितनी ही कविताएँ नयी लिखी हैं। हो सका तो तुम्हें एक प्रति भिजवाऊँगा। उपन्यास भी नया मैंने शुरू कर दिया है। दो-तीन चैप्टर लिख भी लिये हैं। कुछ दिन पहले सर्दी खा गया, इसलिए काम रुक गया। मुझे तो अपनी शक्ति को बचाकर ही चलना है, आँखें ख़राब हो गयी हैं, इसलिए रात को देर तक काम करना बंद कर दिया। पान में तमाखू भी बंद कर दिया है और बड़ी बाकायदगी से ज़िंदगी जीने लगा हूँ।

सुरेन्द्रपाल और बुद्धिसेन तुम्हें याद करते हैं और तुम्हारे स्वास्थ्य का पूछते हैं।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

7. दूधनाथसिंह

7, मॉरिस होटल

कसौली (शिमला हिल्ज़)

15-7-65

प्रिय दूधनाथ,

आशा है तुम निर्मल और अनिमेष (यदि मैं बच्चे का नाम भूल नहीं गया) सब स्वस्थ और सानंद हैं।

मैं यहाँ 30 को पहुँचा था। अब लगभग settle हो गया हूँ। दो-तीन चैप्टर उपन्यास के मैंने इलाहाबाद में लिखे थे। यहाँ आकर उन्हें फिर से लिखा है और अब लगता है कि उपन्यास चल पड़ेगा। पहले डेढ़-दो सौ पृष्ठ सदा मुश्किल होते हैं, जहाँ तार बँधा तो दिक्कत नहीं होती। मैं केवल इस कोशिश में हूँ कि मुझे जो कुछ लिखना है, उसे एक बार jot down कर लूँ। फिर अगले वर्ष उसमें व्यवस्था लाते हुए दोबारा लिखूँगा। मुझे सबसे बड़ी कठिनाई, पहले rough version में होती है। दूसरे version में मेरा मन लग जाता है। यही मनाता हूँ कि इस हिस्से में जो लिखना चाहता हूँ, उसे rough लिख ले जाऊँ। सारे-का-सारा लिख ले जाऊँगा, यह तो नहीं सोचता। तीन सौ टाइप्ड पेज जितना भी लिख ले जाऊँ तो अपना श्रम सफल समझूँगा।

चूँकि मैं तुम्हारे यहाँ लगभग हर सुबह जाने का आदी हो गया था—इसलिए मुझे तुम्हारी, बच्चे की और निर्मल की बड़ी याद आती है। प्रायः आँखों में वह चित्र आ जाता है जो सुबह-सुबह तुम्हारे यहाँ आने पर देखने को मिलता था।—बच्चा चारपाई पर लेटा है, तुम बनियाइन पहने रात की कसलमंदी उतार रहे हो और निर्मल किचन में व्यस्त है—कई दिनों में देखे भिन्न-भिन्न चित्र आँखों में

आते हैं।

कसौली अत्यंत एकांत, स्वच्छ और देखने वाली आँख के लिए सुंदर जगह है। बरसाती शामों को जैसा सौंदर्य मैंने यहाँ देखा है, कहीं नहीं देखा। आ सको तो सात-दस दिन के लिए आओ। आने-जाने का तुम प्रबंध कर लो, यहाँ तुम्हारा कुछ ख़र्च मैं नहीं होने दूंगा। अपने हाल-चाल देना और लिखना कि इधर क्या लिख-लिखा रहे हो और इलाहाबाद में क्या सरगर्मियाँ हैं?

निर्मल और बच्चों को मेरा ढेर-सा स्नेह देना।

तुम्हार
उपेन्द्रनाथ अश्क

8. लज्जावतीजी (प्राचार्या, कन्या महाविद्यालय, जालंधर)

इलाहाबाद
26-9-1965

आदरणीया बहनजी,

कौशल्या के नाम आपका तार और पत्र मिल गया था। उमा का तार और पत्र भी मिल गया है। हमारा बहुत-बहुत आभार स्वीकारिये। एक तो मैं बहुत बीमार हो गया था, फिर घबरा भी गया। जालंधर आने का पक्का मन था। कौशल्या उस हालत में भी आना चाहती थी, लेकिन मैं कुछ ऐसी कमजोरी महसूस कर रहा था कि सीधा कालका से इलाहाबाद पहुँच गया, गाड़ी आठ घंटे लेट थी। शाम के सात बजे की बजाय रात को अढ़ाई बजे पहुँची।

इतने दिन लेटे-लेटे और लड़ाई की ख़बरें सुनते-सुनाते बीत गये हैं। शक्ति भी नहीं थी और यों भी किसी काम में मन नहीं लगा, अब मन को सुस्थिर करके काम में लगाने की सोच रहा हूँ।

कौशल्या आपको स्वयं पत्र लिखना चाहती थी। लेकिन वह और बहू सुबह स्टेशन पर कैंटीन में सैनिकों को चाय पिलाने जाती हैं और फिर दिन भर अस्पताल में आये हुए घायलों के लिए सामान इकट्ठा करती रहती हैं। हम जिस मुहल्ले में रहते हैं, उसे लूकरगंज कहते हैं। कौशल्या ने यहाँ लूकरगंज समाज स्थापित किया है और यहाँ के मिलिट्री अस्पताल में पचास टॉयलेट पैकेट भेजने की व्यवस्था की है। हर एक टॉयलेट पैकेट में कंघी, शीशा, तेल की शीशी, डेंटल क्रीम, ब्रुश और तौलिया है।

इसके साथ ही विस्थापितों के लिए वे सूती व ऊनी कपड़े एकत्रित कर रही हैं। उमा ने अपने पत्र में लिखा था कि जालंधर के निकट ही एक पूरे-का-पूरा गाँव तवाह हो गया है। यहाँ की महिलाएँ चाहती हैं कि ये सब कपड़े ऐसी जगह जायें जहाँ वे जरूरतमंदों के हाथ पड़ें। क्या ऐसा संभव है कि हम कपड़े इकट्ठा करके आपको भेज दें और आप अपनी लड़कियों के द्वारा ठीक जगह बाँट दें? कपड़े ऐसे इकट्ठे किये जा रहे हैं जो एक-दो साल काम दे सकें।

आपके निकट ही आदमपुर में ही बमबारी हुई है। प्रकट है कि काफी लोग विस्थापित हो गये होंगे और उनको ज़रूरत भी होगी। उमा के पत्र से मालूम हुआ था कि आपकी लड़कियाँ काफ़ी सरगर्म हैं। सो अगर ये कपड़े ठीक जगह पहुंच जायें तो कौशल्या का प्रयत्न सफल हो जाये।

यों कौशल्या का मन अभी पंजाब में अटका हुआ है। हो सकता है वह सारे कपड़े लेकर स्वयं आ जाये और आपसे, उमा से मिल भी आये। और यह काम भी कर जाये।

इस संबंध में दो पंक्तियाँ वापसी डाक से लिखने की कृपा कीजियेगा।

सादर

उपेन्द्रनाथ अश्क

9. अमृत राय

इलाहाबाद

7-1-66

प्रिय अमृत,

मैं तुम्हें पहले पत्र लिखना चाहता था, लेकिन सख़्त बीमार हो गया, फिर मुझे संगीत-नाटक अकादेमी के समारोह के सिलसिले में दिल्ली जाना पड़ा, जहाँ पंद्रह दिन लग गये। चलने से पहले मैंने सुना था कि अमित की तबीयत अब काफ़ी बेहतर है और तुम जनवरी के शुरू में आ जाओगे। मैं दिल्ली से चला था तो सोचता था कि तुम आ चुके होगे और मैं तुम्हें घर पर पहुँचकर नये वर्ष की बधाई दूँगा। लेकिन पता किया तो मालूम हुआ कि तुम पाँच तारीख़ तक आने वाले थे, पर अब तुम्हारा आना अनिश्चित रूप से स्थगित हो गया है। सुनकर बहुत चिंता हो गयी है। बच्चे का अब कैसा हाल है? तुम कब तक आ रहे हो? लिखना!

भगवान में तो मेरा कुछ वैसा विश्वास नहीं, लेकिन यही मानता हूँ कि अमित का स्वास्थ्य पूरी तरह ठीक हो जाये और तुम और सुधाजी दोनों प्रसन्न-चित्त लौटो।

सुधाजी को मेरा नमस्कार और बच्चे को स्नेह देना।

तुम्हारा

उपेन्द्रनाथ अश्क

10. नेमिचंद्र जैन

20 फरवरी, 67

प्रिय नेमि,

तुम्हारा 11-2-67 का पत्र समय से मिला। सख़्त बुख़ार की हालत में ये चंद पंक्तियाँ लिखवा रहा हूँ (दमे से छूटा तो बुख़ार पीछे पड़ गया)। देर के लिए क्षमा करना।

चालाकी की बात मैंने इसलिए लिखी थी कि कमलेश्वर से और फिर राकेश से मुझे मालूम हुआ था कि जिस अंक में मेरा नाटक छपना था उसमें तुम रेगे का छाप रहे हो और उसके अगले अंक में (बिना मेरा नाटक वापस किये या मुझे मेरे पत्र का उत्तर दिये) राकेश के 'लहरों के राजहंस' का नया संस्करण।

बहरहाल, भाई तुम मेरा मसौदा वापस कर दो। जब तुम मुझसे फिर कोई सहयोग चाहोगे, मैं सदा प्रस्तुत रहूँगा, इसका तुम विश्वास रखो।

अपने पत्र के अंतिम पैरे में तुमने मेरी अस्वस्थता पर जो व्यंग्य किया है, वह तुम लोगों को शोभा नहीं देता। एक बार भारतभूषण ने भी ऐसा व्यंग्य किया था तो मैंने उसे लिखा था कि जवानी का या स्वास्थ्य का या धन का या यश का मान समझदार लोग नहीं किया करते। बीमारियों के सामने बड़े-बड़ों को हेकड़ी भूल जाती है। ज़िंदगी में केवल 1931 से 1941 तक के दस साल को छोड़कर मैं प्राय: बीमार रहा हूँ। इसमें मेरा कोई दोष नहीं। लेकिन मैं इस बात की दाद जरूर चाहता हूँ कि इतनी सख़्त बीमारियों के बावजूद मैं ज़िंदा हूँ और लिखता हूँ। जिन लोगों को मेरे अस्वास्थ्य से भी ईर्ष्या है, उनके स्वास्थ्य की ही शुभ-कामना मैं कर सकता हूँ, क्योंकि मैं ही जानता हूँ कि बीमारियों के हाथों कितना परेशान हूँ और कितना रुपया हर महीने डॉक्टरों की भेंट होता है।

बहरहाल, नाटक का मसौदा भेज दो। मैंने तो पूरे-का-पूरा रिवाइज़ करके छाप दिया है। रिकॉर्ड के लिए वह फ़ाइल में पड़ा रहेगा। जैसाकि मैंने लिखा था, भूमिका लिखनी बाकी है, बीमारी से छुट्टी पाऊँगा तो लिखूँगा।

रेखाजी को मेरा नमस्कार।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

11. डॉ० नगेन्द्र

इलाहाबाद
16 अक्तूबर, '67

प्रिय नगेन्द्र,

तुम्हारा 22-9-67 का हस्ताक्षर-रहित कार्ड मिला कि तुम्हें मेरी नवीन कृति 'बड़े खिलाड़ी' यथासमय मिल गयी। तुम्हारे इस बेपरवाह कार्ड का मैं बहुत आभारी हूँ। तुम मेरे पुराने मित्र हो और तुम्हारे साथ रेडियो की अपनी नौकरी के दिनों में मैंने कुछ समय बहुत अच्छा बिताया है, जिसकी याद मुझे अब भी बाकी है। हिंदी के उन लेखकों से, जिनके साथ मेरे कभी अच्छे संबंध रहे, मुझे काफ़ी अपमान और उपेक्षा मिली है—कुछ से केवल ईर्ष्यावश और कुछ से इस-लिए कि मैंने जीवन-यापन के लिए किसी बहुत बड़ी नौकरी, कुर्सी अथवा पद-प्रतिष्ठा को नहीं चुना और स्वतंत्र लेखक बनकर रहने का ही फ़ैसला किया और दिल्ली के जीवन में (जिसे मैं बहुत अच्छी तरह जानता हूँ) केवल बड़ी कुर्सी,

किसी मंत्री का साहचर्य, किसी महत्वपूर्ण कमेटी की सदस्यता अथवा ऐसे ही शक्ति-स्थानों का महत्व है। लेकिन मुझे नहीं याद, किसी ने तुम्हारे जैसा मेरा अपमान किया हो। मैंने अपनी पुस्तकों का सारे-का-सारा सेट तुम्हें भेंट किया है और सदा नयी पुस्तकें तुम्हें भेजता रहा, लेकिन कभी तुमने व्यक्तिगत भेंट में अथवा लिखकर यह नहीं जनाया है कि तुमने कभी कोई पुस्तक पढ़ी भी है। और तुम आलोचक भी हो और एक विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी।

मैं तुमसे हज़ार बार मिलने पर भी यह बात कभी न कहता, अगर तुमने बिना हस्ताक्षर की ये बेपरवाह पंक्तियाँ न लिखा भेजी होतीं। मैं तुम्हारी व्यस्तता को भी जानता और तुम्हारी पद-प्रतिष्ठा को भी, तो भी यह मुझे बहुत बुरा लगा है। जो आदमी मेरी रचनाओं की निंदा करता है, मैं उसे उस आदमी से बेहतर मानता हूँ, जो उनकी कभी चर्चा नहीं करता। तुम्हारे साथ कभी मैत्री न होती तो मैं यह बात कभी न लिखता।

ताज़ा साप्ताहिक 'हिंदुस्तान' में तुम्हारी जीवनी का एक खंड 'गद्य की ओर' पढ़ा...विशेषकर इसलिए कि मैं इधर स्वयं अपनी विस्तृत जीवनी लिख रहा हूँ। मुझे यह परिच्छेद अच्छा लगा। विशेषकर आगरे में श्री महेन्द्र के घर वाली घटना का यथार्थ चित्रण। इसी साहस और दयानतदारी से पूरी जीवनी लिख जाओगे तो वह सचमुच महत्व की होगी।

भाभी को मेरा नमस्कार देना।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

12. डॉ० रामविलास शर्मा

इलाहाबाद
12 जून, 1968

प्रिय डॉक्टर साहब,

उस दिन मैं सुबह कहीं काम से चला गया था। घर आया तो मुझे पत्नी ने बताया कि आपका फ़ोन आया था और आप दूसरे दिन सुबह आयेंगे। तब मुझे हैरत भी हुई थी और ख़ुशी भी। हैरत इसलिए कि आपको मेरी याद कैसे आयी? और ख़ुशी इसलिए कि आपसे मिले मुद्दत हो गयी है और आपके साथ आगरा में बिताये गये कुछ समय की, विशेषकर आपके मित्र के घर कैरम की बाज़ी खेलने की, सुखद याद अब भी बाकी है और आपकी फक्कड़ई के लिए मन में एक आदर है—आपकी आलोचना से असहमति के बावजूद! बहरहाल, आप नहीं आ सके, इसका मुझे भी खेद रहा।

आपका 30 मई का कार्ड समय से मिल गया था, पर मैं आजकल 'गिरती दीवारें' का तीसरा खंड लिख रहा हूँ। मैंने सोचा कि हाथ का परिच्छेद खत्म करके आपके पत्र का उत्तर दूँ, इसलिए थोड़ी देर हो गयी। आशा है, आप क्षमा

करेंगे।

आपने पूछा है कि यदि मैंने 'साहित्यकार संसद' के बारे में कहीं लिखा है तो आपको सूचित करूँ।

मैं सोचता रहा कि मैंने कहाँ लिखा है ? मेरी पत्नी ने बताया कि 'गर्म राख' की भूमिका में थोड़ा उल्लेख है। सो मैंने उपन्यास मँगाकर देखा। उसके 10वें और 11वें पृष्ठ पर निम्नलिखित पंक्तियाँ हैं :

> " 'गर्म राख' मैंने 1948 में आरंभ किया। उस वर्ष मैं लम्बी बीमारी से मुक्ति पाकर पंचगनी से इलाहाबाद आया था। जगह की तंगी थी। मेरे साथ मेरी पत्नी और बच्चा भी था। काफी परेशानी के बाद सितंबर में संसद भवन रसूलाबाद में रहने की व्यवस्था हो गयी। आयोजकों का अनुरोध था कि मैं कम-से-कम वहाँ साल भर ठहरूँ। रहने की व्यवस्था वहाँ हो गयी और खाने-पीने का खर्च यू० पी० सरकार के अनुदान से चल जाता था। साल भर तक 200 रु० मासिक मुझे मिलने को था। तब मैंने सोचा कि इस बीच मैं एक उपन्यास लिख डालूँ और 'गर्म राख' आरंभ कर दिया।"

इसके बाद उपन्यास के पहले परिच्छेद का और उसकी शैली का उल्लेख है और फिर 13वें पृष्ठ पर यह ब्यौरा है :

> "इस व्यंग्य-विद्रूप और हास्य से भरी शैली में जब मैंने एक परिच्छेद समाप्त किया तो वह मुझे बड़ा अच्छा लगा। उसी रौ में पाँच परिच्छेद लिख गया।
>
> "किंतु तभी चिरगाँव वासी गुप्त-बंधुओं के एक क्रूर मज़ाक का बहाना लेकर (बिना वह बात मुझे बताये) 'साहित्यकार संसद' के आयोजकों ने उसी स्नेह और सौहार्द्र से, जिससे कि वे मुझे वहाँ ले गये थे, मुझे संसद भवन छोड़ने का संकेत दिया। मेरे वहाँ और ज़्यादा दिन रहने का उनके लिए कुछ उपयोग भी शायद न रह गया था, क्योंकि मुझे संसद भवन में आश्रय देने का प्रचार केन्द्रीय मंत्रालय तक कर, जो वाहवाही अथवा धन मिल सकता था, वे लूट चुके थे। इससे ज़्यादा उन्हें कुछ अभीष्ट नहीं था। संकेत उन्होंने सूक्ष्म किया, पर मेरे लिए वह काफ़ी था। मैंने पत्नी से मकान देखने का आग्रह किया। दिसंबर का महीना था। मैं बीमारी से उठा था। मेरी पत्नी नन्हें से बच्चे के साथ प्रातः सात बजे इक्के पर बैठती और चार-पाँच मील का मार्ग तय कर रसूलाबाद से शहर आती, दिन भर मकान खोजती। फिर शाम को रसूलाबाद पहुँचती। इलाहाबाद में उन दिनों सब कुछ मिल सकता था, पर मकान नहीं और 'संसद' के आयोजकों का 'सौहार्द्र-भरा अनुरोध' था कि हम निश्चित तिथि तक भवन खाली कर दें। अपने उस अनुरोध को बल देने के लिए, उन्होंने 'कृपापूर्वक' साठ रुपये महीना किराये पर एक ऐसा मकान भी (टैगोर टाउन में) खोज दिया, जिसमे रहने का एक छोटा कमरा था, दो शौचालय थे, पर रसोई-घर नदारद था। हमने वचन दे दिया कि मकान न मिला तो हम उसी महँगे दड़बे में उठ जायेंगे। लेकिन मेरी पत्नी

ने उस तिथि से एक दिन पहले अनवरत लगन से मकान खोज लिया।

"पत्नी इस प्रयास में बीमार हो गयी, दूसरी कई उलझनें पैदा हो गयीं और उपन्यास लिखना छोड़कर घर का ख़र्च चलाने के लिए कुछ व्यवस्था करने की फ़िक्र पड़ी और उपन्यास तब पाँच परिच्छेदों तक ही रह गया।"

'गर्म राख' 1952 में छपा था। तब इसके उत्तर में महादेवीजी ने कहीं (किसी पत्र में ही) यह वक्तव्य दिया था कि 'साहित्यकार संसद' अस्पताल नहीं था कि टी० बी० के बीमारों को रखा जाता। उन दिनों ठाकुर श्रीनाथ सिंह महादेवीजी के विरुद्ध आंदोलन चलाये हुए थे, वही वे पत्र लेकर आये थे और उन्होंने चाहा था कि मैं उसका उत्तर दूं। मैं बहुत ही कड़ा उत्तर देने वाला था, क्योंकि यह तो मुझे 'साहित्यकार संसद' ले जाते वक्त ही उन्हें पता था कि मैं टी० बी० का मरीज़ रहा हूँ और ए० पी० लेता हूँ और यह भी कि मैं नेगिटिव होकर ही सैनेटोरियम से लौटा था और किसी दूसरे को मुझसे बीमारी लगने का ख़तरा नहीं था और वहाँ ले जाने से पहले महादेवीजी मुझे कई बार चाय पिलातीं और खाना तक खिलाती रही थीं। मेरे वहाँ जाने से कुछ ही दिन पहले निराला वहाँ से आ चुके थे और मैं सविस्तार लिखने वाला था कि कोई स्वाभिमानी वहाँ कभी नहीं रह सकेगा और वहाँ केवल गंगाप्रसाद पांडेय और महादेव माली ही रहेंगे...लेकिन यह जानकर कि मैं बहुत सख़्त उत्तर लिखने जा रहा हूँ पाठकजी (श्री वाचस्पति पाठक) ने मुझे रोक दिया। ग़लत या सही, मैं उन्हें बड़े भाई के समान मानता रहा हूँ। उन्होंने मेरे शुरू के साहित्यिक जीवन में मेरी बड़ी सहायता की है और चाहे बाद में कई बार तकलीफ़ भी पहुँचायी है, पर मैं उनके एहसान नहीं भूला। इसके अलावा उन्होंने मुझे एक ऐसी बात कही कि मेरा क्रोध शांत हो गया। उन्होंने कहा—'अश्क, महदेवीजी का दुर्व्यवहार तुम्हारे लिए तो कुबड़े की पीठ पर लात-सा साबित हुआ। न उन्होंने वैसा बुरा व्यवहार किया होता, न कौशल्याजी क्रोध में प्रकाशन शुरू करतीं। तुम्हें तो उनका शुक्रगुजार होना चाहिए। तुम्हारा प्रकाशन जम गया है, तुम काहे छोटे बनते हो ?'...और मैं उनकी बात मान गया।

यों उन दिनों की स्मृति आज भी कभी-कभी ख़ून खौला देती है। इतनी बातें हैं कि पूरा संस्मरण चाहती हैं और शायद मैं जीता रहा तो कभी लिख भी दूंगा।

आप किसलिए यह सूचना चाहते हैं ? यदि आपको और सूचनाओं की ज़रूरत हो तो 'गर्म राख' के इस उद्धरण के हवाले से आप कुछ प्रश्न बनाकर लिख भेजें तो मैं संक्षेप अथवा विस्तार से, जैसा आप चाहेंगे, और सूचना आपको भेज दूंगा।

मैं अज्ञेय के टुच्चेपन के कारण परेशान न हो गया होता तो कभी रसूलाबाद न जाता। लेकिन शायद पाठकजी सच कहते हैं, मेरे तो भले के लिए ही यह सब हुआ।

भाभी को मेरा प्रणाम दीजियेगा और मित्रों को याद दिलाइयेगा।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

13. छोटे भाई कैलाशनाथ शर्मा

इलाहाबाद
जून 16, 1968

प्रिय कैलाश,

दुकान बनवाने के सिलसिले में इंद्रजीत का एक पत्र आया है। मैं उसकी प्रतिलिपि भेज रहा हूँ। मेरी यह राय भी है और अनुरोध भी कि उसे दुकान बनवा लेने दो। केवल सक्सेशन सर्टिफ़िकेट लेने से और दुकान बनवाने से वह उसकी नहीं हो जायेगी। वह सक्सेशन लेकर सरकार से रुपया कर्ज़ लेकर दुकान बनवा लेगा। किराये से सरकार का कर्ज़ उतार देगा। दुकान फिर भी सभी की रहेगी। तुम जब चाहोगे मैं तुम्हारा हिस्सा दिलवा दूँगा। मुहल्ले वाले तो यही चाहते हैं कि भाइयों में बने नहीं और हमारे माता-पिता की निशानी ख़त्म हो जाये, वर्षों से टूटी पड़ी दुकान किसी को कुछ नही देती। यदि हमारा एक भाई उसे बनवा लेता है और उसमें रहता है और हमारे माता-पिता का नाम हमारे जन्म-स्थल में कायम रहता तो हमारे लिए इससे बढ़कर संतोष की बात कोई दूसरी नहीं हो सकती। भले ही हम वहाँ न रहें। छै-के-छै भाई कभी समय से इकट्ठे न हो पायेंगे। इसलिए इंद्रजीत ने भाई साहब की सलाह से जो किया है, उसी तरह करो। समन आयें तो उसे न लो अथवा पेशी पर न पहुँचो और वह सरकार से कर्ज़ लेकर दुकान बनवा ले। अपनी ग़फ़लत से किला मुहल्ला वाली जगह हमने अपने हाथ से निकल जाने दी। यह भी ऐसे ही निकल जायेगी। न खायेंगे, न खाने देंगे वाली नीति अच्छी नहीं। कोई वहाँ न रहे और मकान टूट-फूट जाये, इससे यह अच्छा है कि हमारा एक भाई वहाँ रहे और माता-पिता का नाम मुहल्ले में कायम रहे।

तुम्हें कोई बात अखरती हो तो जाकर इंद्रजीत से बात कर लेना और मुहल्ले वालों की बात न सुनना। मुहल्ले वाले निहायत टुच्चे हैं और हमारे पुराने शत्रु हैं। खाता-पीता भाई फिर भी कभी काम आ जाता है। बिखड़े-उखड़े भाई से कोई लाभ नहीं। यही मनाओ कि सब भाई यदि न भी मिल-जुल पायें तो अपने-अपने घर सुखी और संपन्न रहें।

आशा करता हूँ, तुम कोई अड़चन न डालोगे और इंद्रजीत को दुकान बनवा लेने दोगे।

मैं इधर कई कारणों से बहुत परेशान रहा हूँ। सेतु बीमार रहा है, आजकल अन्नू बीमार है। हाथ भी कुछ तंग है, लेकिन बुरे-भले दिन आते रहते हैं। सब ठीक हो जायेगा। सीता और बच्चों को प्यार देना।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

14. ममता कालिया

इलाहाबाद
दिसंबर 1968

प्रिय ममता,

मैं तुम्हें ख़त लिखने की सोच ही रहा था। गुड्डे (नीलाभ) की शादी है—27, 28, 29 को—कालिया यहाँ है, तुम भी आ जाती तो हमारी खुशी द्विगुणित हो जाती। फिर तुम आकर उसे तसल्ली भी दे जातीं और उत्साह भी बढ़ा जातीं। जब से वह आया है, उसने और नीलाभ ने दसियों मकान देख डाले हैं और कई बार एक-एक जगह दिन में तीन-तीन बार जाते रहे हैं। कालिया तो कभी-कभी उखड़ जाता है और जैसा कि मैं उसके स्वभाव से परिचित हो गया हूँ। जैसे वह बिना कोई नोटिस दिये बोरिया-बँधना उठाकर आया है, वैसे ही परेशान होकर वापस चल देता, लेकिन मैं इसे पसंद नहीं करता, इसलिए देर-सवेर जगह उसे मिल जायेगी, और प्रेस लगा लेगा तो सफल भी हो जायेगा, अगर तुम्हारे प्रोत्साहन ने उसका साथ दिया।

मैं दिल्ली गया हुआ था, जब वह यहाँ पहुँचा। दिल्ली में हम दोनों मियाँ-बीवी बहुत बीमार हो गये। आये तो थके और परेशान, लेकिन पिछले चार-पाँच दिन में बिना एक बार भी कॉफ़ी हाऊस गये, उसने जिस तरह हमें सहारा दिया है, उससे बड़ी राहत मिली है।

रात कौशल्या ने तुम्हें पत्र लिखा है, मैं लिखने ही जा रहा था कि तुम्हारा आक्रोश-भरा पत्र मिला है। तुमने लिखा है कि 'शायद तुम्हें दो-चार आवारा दोस्त मिल गये हैं...' पिछले एक हफ़्ते से लगभग दिन-रात जिन आवारा दोस्तों के साथ वह रहा है वे मैं, मेरी पत्नी और नीलाभ तथा उमेश ही हैं...पत्नियों की यह आम आदत है कि वे कभी भला नहीं सोचतीं। मैं कभी घर से बाहर नहीं जाता, पर यदि कभी चला जाऊँ और मुझे कहीं देर हो जाये तो मेरी पत्नी सदा यही सोचेगी, कि मैं किसी ट्रक या मोटर के नीचे आ गया हूँ। वह कभी कोई अच्छी बात नहीं सोचेगी, इस मामले में तुम भिन्न नहीं हो, हालाँकि तुम बहुत पढ़ी-लिखी हो और कहानीकार हो और तुम्हें केवल अपनी तकलीफ़ की बात सोचने के बदले अपने पति की तकलीफ़ की बात भी सोचनी चाहिए। जो आदमी दिन-रात खट रहा हो, उसकी पत्नी यदि कोई ऐसी वाहियात बात लिख दे तो उसे कितनी तकलीफ़ पहुँचेगी, यह भी सोचना चाहिए।

मैं स्वयं जालंधर का रहने वाला हूँ और वहाँ के लोग प्राय: व्यर्थ का औपचारिक पत्र-व्यवहार नहीं करते। पत्र न आये तो समझो सब ठीक है। औपचारिक पत्र आने लगें तो संदेह करना चाहिए कि कहीं कुछ गड़बड़ है।

दूसरी बात यह है कि शादी के दिन की याद पत्नियाँ रखती हैं, पति नहीं रखा करते। उन्हें उस दिन की याद दिलाते रहना चाहिए, पर बदले में वे भी याद दिलायें, ऐसी आशा नहीं रखनी चाहिए। यदि वे भी याद दिलाने लगें तो

समझना चाहिए कि कहीं घपला है। नॉर्मल स्थिति नहीं है।

ज़रा-ज़रा-सी बात पर अपने अहं को स्टेक पर नहीं लगाना चाहिए।

हम दो-तीन दिन से तुम्हें फ़ोन करने की सोच रहे थे। फ़ोन नंबर होता तो अब तक तुम्हें यहाँ की सारी गतिविधि का पता मिल चुका होता।

बहरहाल, कालिया ठीक है। मेरे ही पास है। जब तक उसकी ठीक व्यवस्था नहीं हो जाती, मैं उसे यहीं रखूंगा, सो तुम चिंता न करो। हिम्मत कर सकती हो तो दो-तीन दिन के लिए आ जाओ, उसका हौसला बढ़ा जाओ और हमारी ख़ुशी भी।

मेरी किसी बात का बुरा न मानना। अपनी बच्ची समझकर मैंने ये चंद पंक्तियाँ लिख दी हैं।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

15. से० रा० यात्री

5, खुसरोबाग़ रोड इलाहाबाद
13 अगस्त 69

प्रिय यात्री,

तुम्हारा 5-8-69 का पत्र मिला। पहला भी मिला था। मैं उपन्यास तथा 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' में संकलित एकांकियों की भूमिकाएँ लिखने में व्यस्त हूँ। इसलिए पत्र का उत्तर नहीं दे सका।

अपने पत्र में तुमने दूधनाथ के संदर्भ में मुझे जो ताना दिया है, उससे मुझे तकलीफ़ हुई। मैं यदि किसी की अच्छी रचना की प्रशंसा करता हूँ तो कोई बुरा नहीं करता। दूधनाथ में प्रतिभा है और उसकी दृष्टि भी गहरी है। इसे तो सभी मानते हैं। अब उसके वैयक्तिक चरित्र में ख़ामियाँ हैं तो उसका मैं क्या कर सकता हूँ। मैंने तो उसके साथ कोई बुराई नहीं की, यदि इस पर भी उसने वह लिखना उचित समझा है—कदाचित अपनी आर्थिक ज़रूरतों अथवा अंतर्मन में बद्धमूल होकर बैठी हुई ईर्ष्या के कारण—तो मैं क्या कर सकता हूँ। उसने मेरी कहानी के ख़िलाफ़ ही नहीं लिखा, शेष अच्छी कहानियों के ख़िलाफ़ भी लिखा है और काशीनाथ की बहुत अच्छी कहानी की सनद ही नहीं दी। प्रकट ही उसमें आत्म-विश्वास की कमी है। कायरता भी है, क्योंकि उसने यह सब छद्म नाम से किया है। मुझे उसके सारे प्रयास में बचपना और कच्चापन लगा है। पक्का आदमी छद्म नाम से लिखे और सारे शहर को पता चल जाये, ऐसा कभी हो सकता है? अब वह यदि कसमें खा-खा कर कहता है कि वह विवेक उपाध्याय नहीं है तो अपने आप ही को ठगता है, दूसरे को नहीं।

मेरी यह ट्रैजिडी है कि जिनसे मैं स्नेह करता हूँ अथवा जिनका भला करना चाहता वे ही पलट कर मुझे काटते हैं और कभी-कभी मार भी खा जाते हैं। लेकिन

इसमें कुछ किया नहीं जा सकता। कल को तुम भी यही कर सकते हो और दूसरे मुझे ताना दे सकते हैं।

तुम्हारा उपन्यास मैंने पढ़ लिया है। शायद तुमने अपनी कहानी का उपन्यास बनाया है, क्योंकि इसी विषय पर मैं तुम्हारी कहानी पढ़ चुका हूँ। उपन्यास दिलचस्प बना है। बहुत अच्छा बन सकता था, अगर तुम इस पर साल-छह महीने मेहनत करते। भाषा निहायत त्रुटिपूर्ण है। कहीं क्लिष्ट संस्कृत है तो कहीं बे-मतलब फ़ारसी। शे'र जितने लिखे हैं, सब ग़लत। किसी से ज़रा भी पूछने का तरद्दुद तुमने नहीं किया। बहरहाल बहुत ही ज़रूरी परिवर्तन करके और शे'र ठीक लिखकर मैंने उपन्यास जीत को दे दिया है। और वह जल्दी ही छप जायेगा।

... ...

कहानी-संग्रह तुमने जीत को नहीं भेजा। मैं लखनऊ चला गया था, परसों फिर जाऊँगा। मुकदमे में उलझा हूँ।

सस्नेह
अश्क

16. **गिरिराज किशोर**

5, खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद
6-11-72

प्रिय गिरिराज,

परसों 'सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार समिति' के तार के साथ ही तुम्हारा तार मिला। मेरा आभार स्वीकार करो।

एक प्रवाद-नुमा प्रसंग इलाहाबाद में दो दिन से खूब प्रचलित है। यारों ने चला दिया है कि अश्क को यह पुरस्कार 'एक ऐतिहासिक दस्तावेज़' पर मिला है। ('एक दस्तावेज़' के नाम से 100 पृष्ठों का वह पत्र छपा है, जो मैंने राधे बाबू को लिखा था।)

लोग जाकर दिनेश से यही कहते हैं। वह उन्हें समझाने लगता है कि नहीं, यह पुरस्कार उन्हें सारे साहित्य पर मिला है। और लोग मज़ा लेते हैं।

सस्नेह
अश्क

17. पं० कमलापति त्रिपाठी

इलाहाबाद
7-2-73

प्रियवर त्रिपाठीजी,

आपका कृपा पत्र मिला और मालूम हुआ कि आप अब जल्दी इलाहाबाद नहीं आने वाले हैं। मैं आपको अपने वृहद उपन्यास के तीनों खंड एक साथ स्वयं भेंट करना चाहता था, लेकिन इधर महीनों से उपन्यास लिखने में तल्लीन रहने के कारण मैं समाचार पत्र की मोटी-मोटी ख़बरें ही पढ़ता हूँ। बाहर से बड़े लोगों के आने की सूचनाएँ अंदर स्थानीय कालमों में छपती हैं और जब वे चले जाते हैं तो उनके भाषण और चित्र मुख-पृष्ठ पर छपते हैं। मुझे भी इस बार आपके आने का पता आपके जाने के बाद ही चला। बहरहाल, मैं अलग रजिस्ट्री से अपने वृहद उपन्यास के तीनों खंड और अपने 25 एकांकियों का वृहद संग्रह भेज रहा हूँ। चौथा खंड, जो लगभग 900 पृष्ठों का बनेगा, मैं तीन चौथाई लिख चुका हूँ। दिन-रात लगा हूँ। अक्तूबर तक ख़त्म कर दूँगा। इस वर्ष छप जायेगा तब उसे भी आपकी सेवा में भेजूँगा।

......

मैं समझता हूँ, यह शरीर छोड़ने से पूर्व मुझे इस वृहद उपन्यास को समाप्त करना ही चाहिए। हिंदी क्षेत्रों में तो मेरे प्रति रागद्वेष (कुछ मेरे अक्खड़ स्वभाव के कारण ही) इस उपन्यास के मूल्यांकन की बाधा है, लेकिन विदेशों में, जहाँ केवल कृतियाँ हैं और व्यक्ति नहीं, जहाँ-जहाँ हिंदी पढ़ाई जाने लगी है, यह उपन्यास महत्ता पा रहा है। आपका आशीर्वाद तो मिल ही गया है, ख़त्म तो कर ही ले जाऊँगा—बीमारियों और बुढ़ापे के बावजूद—दस वर्ष और भी ज़िंदा रह गया तो!

इधर उड़ती हुई ख़बर आयी है कि पुस्तक चयन समिति ने पहले तय किया था कि प्रमुख लेखकों की बिना सबमिट की हुई पुस्तकों को भी चुनेंगे, लेकिन अब वह फ़ैसला रद्द कर दिया है, सो अब मेरी कोई पुस्तक नहीं चुनी जायेगी।

मैंने तो सबमिशन न करने का फ़ैसला किया ही था सो उसका दंड भुगतने को तैयार हूँ। हाँ, आपने वचन दिया था कि बिना सबमिशन के भी पुस्तकें चुनी जायेंगी और मैं चिंता न करूँ। सो अपने वचन और आश्वासन की लाज आप ही जानें—रखें या न रखें!

एक दिलचस्प बात लिखकर पत्र खत्म करूँगा। मैंने सुना है कि श्री सी० बी० राव, श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी तथा श्री श्रीलाल शुक्ल भी कमेटी के मेम्बर हैं। अन्य पुस्तकों की बात मैं नहीं करता (यद्यपि कुछ तो समय-समय पर उन्हें भेजी हैं) लेकिन उपन्यास के ये तीनों खंड तो बहुत पहले उनको जा चुके हैं। श्रीनारायण जी ने तो मुझे उसकी प्रशंसा में पत्र भी लिखा था। इस पर भी कमेटी का ज़ोर

देना—कि उपन्यास दोबारा सबमिट हो और जब तक ऐसे नियम का (जिसे आप भी ग़लत मानते हैं) पालन नहीं होगा, लेखक को दंड मिलेगा—हास्यास्पद है। बहरहाल, वे सब विद्वान लोग हैं, आप मुख्य मंत्री हैं, अपनी बात आप लोग जानें, मैंने तो ज़िंदगी भर संघर्ष किया है, कुछ वर्ष और कर लूँगा। मैं आदी हूँ। आप सहायता न भी कर सकें, संभव हो तो उपन्यास पढ़ियेगा और आशीर्वाद दिये रखियेगा।

सादर सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

18. परेश

5, खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद
7-11-74

डियर परेश,

मैं लगभग छह महीने बाद विदेश से लौटा हूँ। 15 दिन की रूस यात्रा पर निकला था। लेनिनग्राद, रीगा, मिंस्क, कीव होता हुआ जब मास्को पहुँचा तो वहाँ सोवियत लेखक संघ के दफ्तर में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय का निमंत्रण पड़ा था। एक पुरानी पाठिका और मित्र ने मॉस्को से लंदन तक का रिटर्न टिकेट भेज दिया और मैं मॉस्को से लंदन फलाँग गया। गत पाँच महीने में मैंने इंग्लिस्तान के विभिन्न नगर ही नहीं देखे, हॉलैंड और वेस्ट ज़र्मनी भी गया हूँ, केम्ब्रिज, लंदन, लाइडन, यूत्रेख़्त (हालैंड) तथा बॉन (पश्चिम जर्मनी) के विश्वविद्यालयों में भी भाषण दिये हैं, इटली जाने का प्रोग्राम था, वहाँ से पत्र भी आ गया था, लेकिन मेरे पीछे घर में सख़्त बीमारी का दौर-दौरा हुआ और मैं सारे प्रोग्राम रद्द करके कुछ दिन पहले वापस इलाहाबाद आ गया।

डाक देखने पर तुम्हारा 9-9-74 का निहायत दिलचस्प पत्र देखा है। असल में तुम बहुत ही प्यारे इंसान हो और अपने बारे में बहुत ही प्यारे भ्रम पाले हुए हो। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी और न जाने किस-किस की ख़ुशामद करके तुमने एक कुर्सी सम्हाल ली है और अपने ही कथन के अनुसार मूर्ख छात्र-छात्राओं में घिरे रहते हो, जो (आम छात्रों की तरह) मन में चाहे अपने अध्यापक को नितांत चूतिया समझती हों, पर मुँह पर 'सर' 'सर' कहती रहती हैं और हर मूर्ख अध्यापक की तरह तुम्हें भी अपने औलिया होने का विश्वास हो गया है।

तुमने बड़ी कृपा कर मेरी पुस्तक पर जो क़रीब दो-तीन घंटे व्यय किये, उसके लिए मैं तुम्हारा हृदय से बहुत आभारी हूँ। इंटरव्यू अच्छे नहीं लगे, इसमें मेरा कोई दोष नहीं। कभी तुम इस योग्य हुए कि लोग तुम्हारे इंटरव्यू लें और वे छपें तो मैं सीखूँगा कि बढ़िया इंटरव्यू कैसे होते हैं। अभी तो पूछने वालों ने अपनी

समझ के अनुसार प्रश्न पूछे हैं और मैंने अपनी समझ के अनुसार उत्तर दिये हैं।

हाँ, यह ठीक है कि मैं छींकता भी हूँ तो छप जाता है, भारत ही में नहीं, विदेशों में भी छपता है, लेकिन उसका कारण मेरी पचास वर्षों की साहित्य-साधना है। तुम या नयी पीढ़ी का कोई कथाकार इतना श्रम और साधना करेगा तो उसका भी छींकना-खाँसना छपेगा, लेकिन इसकी आशा नहीं, क्योंकि तुम लोगों ने येन-केन-प्रकारेण सुरक्षा ओढ़ ली है और इत्मीनान से पसर गये हो। कब्ज़ के मारे व्यक्ति की तरह ज़ोर लगाकर एकाध रचना निकालते हो और फिर अगले वर्ष-दो-वर्ष उसी को निहारते रहते हो। सिवा पुराने समर्पित लेखकों को अपनी कुंठा-भरी सूचनाएँ देने के अब तुम लोगों के पास करने को कुछ रह नहीं गया है।

तुम्हारी सूचनाओं से मुझे धक्का नहीं लगा, जिस व्यक्ति ने केवल अपने मन के सुख के लिए लिखा है, उसने वह सुख पा लिया, शेष की वह चिंता क्यों करे, फिर जिसकी रचनाओं के अनुवाद देशी और विदेशी भाषाओं में निरंतर छप रहे हों, जिसकी एक-एक कहानी को भिन्न-भिन्न लोग एक ही भाषा में अनुवाद करके छपवा रहे हों, (अंग्रेज़ी में 'काले साहब' के तीन वर्शन छप चुके हैं—दो तो अमरीका ही में छपे हैं) उसे पटियाला में बैठे हुए अपने किसी कुंठित युवा मित्र की सूचना से क्या धक्का लगेगा।

नहीं, यह वो पुस्तक नहीं, जिसके लिए दूधनाथ तुम्हारा लेख चाहता था। वह मेरी कहानियों पर समीक्षाओं का संग्रह है।

हाँ, तुम ठीक कहते हो, मेरी कोई कहानी सेक्सी नहीं, वे मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं, जो सेक्स के फलक पर उकेरी गयी हैं।

एक बात में तुम मुझे अपने तमाम मित्रों की अपेक्षा अच्छे और दयानतदार लगे हो कि जब तुम लेख लिखना ठीक नहीं समझते, तुमने कहानियाँ लौटाने की बात लिखी है। मैं आभार मानूँगा, अगर तुम चारों कथा-संग्रह तत्काल वापस कर दो, ताकि किसी अन्य मित्र को इस संदर्भ में कष्ट दिया जा सके।

हाँ, मुझे इस बात का अफ़सोस है कि मैंने इनफ़ॉर्मल-सा पत्र लिखा। मैं यह भूल ही गया कि अपना मित्र परेश, जो कभी चंडीगढ़ से पैदल कसौली मिलने आ गया था, अब अध्यापक बन गया है और छात्र-छात्राओं की 'सर' 'सर' सुनकर उसे अपने ब्रह्मज्ञानी होने का विश्वास हो गया है। वह अनवकाश का मारा है। बहरहाल, अब यदि तुम्हें कभी कष्ट देने की ज़रूरत पड़ी तो इलाहाबाद से पटियाला पहुँचूँगा और करबद्ध तुम्हारी सेवा में फ़ॉर्मल प्रार्थना करूँगा कि मित्र, सारा हिंदी संसार तुम्हारी समीक्षा और तुम्हारे विचार जानने को आतुर है; जैसे भी हो, कृपा कर समय निकालो और इस ग़रीब लेखक की कहानियों का उद्धार करो। तुम यदि इन्हें कहानियाँ मान लोगे तो सारा हिंदी संसार मान लेगा, वरना यह ग़रीब कथाकार 50 वर्षों की मेहनत के बावजूद गुमनामी के गर्त्त में जा पड़ेगा।

इन अनपेक्षित सूचनाओं के लिए मैं तुम्हारा हृदय से आभारी हूँ, अपनी धारणाएँ भी लिख भेजोगे तो कृतकृत्य हो जाऊँगा। भविष्य में जब तुम कूड़ेदान से मेरे किसी उपन्यास का उद्धार करने जाओगे तो शायद पाओगे कि मेरे उपन्यास और कहानियाँ तो पाठकों के पास पहुँच गयी हैं और तुम अपनी तमाम महान रचनाओं के साथ वहाँ फँस गये हो और वहाँ से निकल नहीं पा रहे हो—स्थान विशेष का पूरा ज़ोर लगाने के बावजूद !

तुम्हारी सूचनाएँ पाकर अभी इतना ही, शेष विस्तार से तुम्हारी धारणाएँ पाने पर !

......

सूचना नहीं, मेरी धारणा है कि तुम 'प्यारे' ही नहीं 'परम बुद्धिमान' इंसान भी हो।

ढेरों प्यार के साथ !

तुम्हारा
उपेन्द्रनाथ अश्क

19. सतवन्त कौर (श्रीमती राजेन्द्रसिंह बेदी)

5, खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद
21-10-76

प्रिय सतवन्त,

आशा है, तुम स्वस्थ और सानंद हो। मैं यहाँ आते ही तुम्हें ख़त लिखना चाहता था, लेकिन यहाँ बहुत-सी परेशानियों में उलझ गया और आज लिखता हूँ कल लिखता हूँ, करते हुए इतने दिन हो गये।

पहली बात तो मैं तुम्हें यह लिखना चाहता था कि गुड्डे की तबीयत इंदौर में ख़राब हो गयी थी, इसलिए वह वापस इलाहाबाद आ जायेगा।...बाद में वह आ भी गया, लेकिन मैं काम में लगा रहने की वजह से तुम्हें ख़त नहीं लिख सका।

दूसरी बात में यह लिखना चाहता था कि मैंने बम्बई में तुमसे जितनी भी बातें की उनमें कुछ बहुत सख़्त थीं। तुम्हें बुरा भी लगा होगा। लेकिन जब मैंने देखा कि तुम दोनों ने धीरे-धीरे अपनी ज़िंदगी टूटने के कगार पर ला दी है तो चूँकि मैं दोनों को बहुत प्यार करता हूँ, इसलिए मैंने कोशिश की कि मैं किसी तरह बेदी को घर वापस लाऊँ। देखो भाई, प्यार शर्तों से नहीं जीता जाता। बेदी घर आ जाता, फिर धीरे-धीरे अक़लमंदी से उसको उस तरफ़ से हटा लेतीं। अकलमंद औरतों ने हमेशा ऐसा किया है। मैंने बेदी को भी बहुत समझाया, वह मानता भी है, पर जब मर्द को घर में शांति न हो, सुबह-शाम की किल-किल हो, तो वो क्या करे। अब चंद बरसों का खेल है, क्यों अंत समय तुम लोग शहर में अपनी मिट्टी पलीद करते हो ? बेदी को तो मैंने मना लिया था। तुम नहीं

मानी, इसका अफ़सोस है।

मैं नवंबर में अपना इलाज कराने बम्बई आऊँगा। कौशल्या मेरे साथ आयेगी। वह तो तुम्हारे पास ही रहेगी। मैं देखूंगा, जैसा होगा करूंगा।

मेरी बातों पर फिर ठंडे दिल से विचार करना। उन लोगों की मत सुनो जो मुँह-देखी बात करते हैं। बिगड़ जाने के बावजूद बात बनाओ। तुमने पंजाबी कहावत सुनी होगी :

घर बिगड़े अपना, जगत दी बुरियाई
घर बने अपना, जगत दी वड़ियाई

कौशल्या सत श्री अकाल कहती है, बच्चे प्रणाम भेजते हैं।

सस्नेह
उपेन्द्रनाथ अश्क

20. राजेन्द्रसिंह बेदी

5, ख़ुसरोबाग़ रोड
इलाहाबाद-211001
फ़रवरी, 1979

प्यारे बेदी,

हम दोनों सोच-सोचकर परेशान थे कि जाने बेदी की कैसी तबीयत है, किसी ने ख़बर ही नहीं दी। तभी शकील चंदा का ख़त मिला। कदरे तसल्ली हुई कि तुम्हारी हालत पहले से बेहतर है। मैंने तुम्हें भी लिखा है। अब शकील चंदा को भी लिखा है कि वह डॉ० यू० के० सेठ को 532900 पर फ़ोन करके इत्तला दे दे कि तुम माटुंगा वाले फ़्लैट में आ गये हो, ताकि वो तुम्हें आकर देख जायें और हमें ठीक-ठीक जानकारी दे सकें।

यूँ तो बंबई में एक-से-एक बड़ा डॉक्टर है और तुम बहुत ही अच्छे और एक्सपर्ट हाथों में होगे, लेकिन मैंने हमेशा डॉक्टर सेठ को बहुत ही मेहरबान, अदबनवाज़ और लायक डॉक्टर पाया है। मेरी यह इस्तदुआ[1] है कि शकील चंदा के ज़रिये उनसे कॉण्टैक्ट करके तुम उन्हें दिखा दोगे और उनकी राय ले लोगे।

चूंकि मुझे इस बरस 'गिरती दीवारें' का पाँचवाँ हिस्सा लिखना शुरू करना है और लाहौर के हुदूदअर्बा[2] की याद धुँधला गयी है, कौशल्या भी अपना वतन देखना चाहती है, इसलिए मैंने पाकिस्तान जाने की स्कीम बनायी थी। सरकार मान भी गयी थी, लेकिन भुट्टो की सज़ा-ए-फाँसी की वजह से वहाँ के हालात मख़दूश[3] हो गये हैं। दिल्ली जाकर पता चलेगा, कि वहाँ कब जाना मुमकिन हो सकेगा। चूंकि पुषी की तबीयत भी अच्छी नहीं और तुम भी बीमार हो, इसलिए कौशल्या बहुत

---

1. दरख़्वास्त, ख़्वाहिश, 2. भूगोल, 3. संकट-ग्रस्त।

परेशान है। मैं दिल्ली जाकर कोशिश करूँगा कि हालात कुछ साज़गार हो जायें तभी पाकिस्तान का प्रोग्राम बनायें। दिल्ली से वापस आकर मैं कौशल्या को बंबई भेजूंगा। अगर तुम्हारा मन हो और डॉक्टर इजाज़त दें तो कुछ दिन को इलाहाबाद आ जाओ। बीमारी जब आ ही गयी है तो मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम अपनी बुनियादी कुव्वत-ए-इरादी[1] से काम लेकर उसका मुकाबला करोगे और उसे अपने ऊपर हावी न होने दोगे। अगर दायाँ हाथ काम नहीं करता तो बायें से लिखने की मश्क करोगे। अगर दिमाग़ का दायाँ हिस्सा कदरे मफ़लूज[2] हो गया है तो प्रैक्टिस करके बायें हिस्से से काम लेने की कोशिश करोगे। मैंने एक मज़मून में पढ़ा था, कि हम लोग दिमाग़ के दायें हिस्से से ही काम लेते हैं और प्रैक्टिस करने पर दिमाग़ के दूसरे हिस्से से भी काम लिया जा सकता है। मैं दूर बैठा हूँ और तुम्हारी बीमारी के पूरे कवायिफ़[3] से वाकिफ़ नहीं। यही कहना चाहता हूँ कि हत्तुलइमकान[4] कोशिश करके, इस पर काबू पा लोगे और हौसला नहीं हारोगे।

माटुंगा में तुम्हारे पास कौन है? क्या गुड्डी भी इधर आ गयी है? त्रिलोचन क्या तुम्हारे पास ही है? मुमकिन हो तो शकील चंदा से मुफ़स्सल[5] ख़त लिखवाना।

कौशल्या तुम्हें बहुत याद करती है और प्यार भेजती है। मेरे दिल्ली से वापस आते ही वह बंबई का प्रोग्राम बनायेगी।

हम दोनों और हमारे बेटे-बहुएँ तुम्हारे जल्द-अज़-जल्द रू-ब-सेहत[6] होने की दुआ माँगते हैं।

प्यार से तुम्हारा
अश्क

21. नीलाभ

44-के, केदार बिल्डिंग,
सब्ज़ी मंडी, दिल्ली
14-6-80

प्यारे बेटे,

तुम्हारा 6-6-80 का पत्र मिला। तुमने मुझे एक बहुत बड़ी चिंता, असमंजस और परेशानी से मुक्त कर दिया। हालाँकि तुम मेरे बेटे हो, तुम्हें क्या धन्यवाद देना, पर मैं सचमुच आभारी हूँ।

मुझे ख़याल था—गुड्डा कहेगा, मैंने इतनी मेहनत से मकान बनवाया, अब आप बेचने पर तुल गये हैं। मैंने तो तुम्हें लिखा ही था कि ग़लती हो गयी, उसमें अपना दोष भी मैं मानता हूँ। लेकिन मैं ग़लती को multiply करने के पक्ष में

---

1. इच्छाशक्ति 2. फ़ालिज-ज़दा, 3. परिस्थिति, 4. यथा संभव; 4. विस्तार से, 5 स्वस्थ।

नहीं, इसीलिए बहुत सोच-विचार के बाद मैंने यह तय किया है।

ओं प्रकाश ने कहा था, तय कीजिये। हम काग़ज़ बनवाकर नीलाभजी के दस्तख़तों के लिए भेज देंगे। तुम्हारी अनुमति चाहिए थी, बाकी जैसे होगा, तुम्हें सूचित करेंगे।

मैंने तुम्हें दो-तीन पत्र और लिखे हैं। तुम्हारा दिल दुखाने के लिए नहीं लिखे। दूसरों की दृष्टि से अपने कृत्य का जायज़ा लेने का अवसर देने के लिखे हैं। तुम उन्हें पढ़ लेना। बिना बुरा माने जो बात ठीक लगे, वह मानना और अपनी ज़िंदगी को बेहतर बनाना।

अगर मकान बिक जाता है तो इधर की चिंता मत करना। तुम जिस उद्देश्य से गये हो, उसे पूरा करना।

जैसा कि मैंने तुम्हें लिखा था—यहाँ रावत हो या कुबेर, यादव हो या प्रभा दीक्षित—सभी का ख़याल है कि तुम वहाँ सुख-सुविधा की ज़िंदगी में ग़र्क़ हो जाओगे। लोगों को इस बात की भी चिंता है कि नीलाभ प्रकाशन अब कैसे चलेगा।

तुम नीलाभ प्रकाशन की चिंता न करना। अपनी ज़िंदगी की ऐसे योजना बनाना कि तुम बेहतर-से-बेहतर लिख सको। मानता हूँ, नीलाभ प्रकाशन नीलाभ से बड़ा नहीं। मैं ज़रूरत पड़ने पर एक मिनट में उसको भी बेच सकता हूँ, यदि वह हमारे उद्देश्य के मार्ग की बाधा बनता है।

तुम सोच-समझकर बस सुलक्षणा के बारे में फ़ैसला करो, फिर अपनी ज़िंदगी को ऐसे ढालो कि तुम्हें ही नहीं, मुझे और तुम्हारी माँ और भाई-भाभी को भी तुम्हारे कृतित्व पर गर्व हो।

तुम्हारी माँ को तुम्हारे जाने का दुख नहीं। उसे शायद सबसे ज़्यादा गर्व हुआ कि तुम casually बैठकर चुने गये। उसे बहुत-सी छोटी-छोटी बातों का दुख है। अब मैं तुम्हें वैसा कोई पत्र नहीं लिखूँगा। यह ज़रूर कहूँगा कि ऐसी प्यार करने वाली माएँ बहुत कम मिलती हैं। ठीक है उसमें दोष है कि रूठती है तो पत्थर हो जाती है। खुल के नहीं कहती, पर तुम यदा-कदा उसे अलग से लिखते रहोगे तो ख़ुश हो जायेगी। रूठी माओं को मनाते देर नहीं लगती। उसका स्वास्थ्य भी ठीक नहीं, strain भी उस पर ज़्यादा है। मैं साल भर से बाहर हूँ। बहुत-सी बातों का उसके मन पर दबाव है। उसकी तबीयत ठीक नहीं, सेतू फ़ेल हो गया है। उसका और टुक्कू के स्कूल का प्रबंध करना है। अंग्रेज़ी टीचर रखना है, कुछ इनकम टैक्स की उलझनें हैं, आगे प्रकाशन का प्रोग्राम बनाना है। सो मैं एक बार परसों विवेक विहार जाकर चौकीदार को रुपये देकर इलाहाबाद जाऊँगा।

फिर विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारे जाने का अफ़सोस नहीं, दूसरी बातों की परेशानी है।

तुमने बहुत ही अच्छा पत्र लिखा है। ऐसे ही पत्रों की मुझे अपेक्षा थी। मेरा

आशीर्वाद और प्यार लो। भगवान तुम्हें स्वस्थ और सानंद रखे और तुम अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल होओ।

प्यार से

पापा

पुनश्चः

हाँ, तुम्हारे जाने के बाद बुढ़ापे का ख़याल तो आने लगा है। तुम्हारे साथ बाप-बेटे का रिश्ता नहीं, दोस्ती का रिश्ता भी था। मैं तो अब वहाँ बहुत ही अकेला हो जाऊँगा। सौभाग्य से मेरे पास बहुत काम है, वरना सचमुच बूढ़ा हो जाता।

अश्क

22. रवीन्द्र कालिया

158, सडबरी हाइट्स एवेन्यू
ग्रीनफ़र्ड, मिडलसेक्स, यू० के०
21-8-83

प्रिय कालिया,

आशा है, तुम ममता और बच्चे सब तरह से स्वस्थ और प्रसन्न हो।

इधर कई दिनों से तुम्हारी याद आ रही है। तुम्हें तो शायद कौशल्या से, उमेश से मेरी ख़ैर-ख़बर मिल जाती होगी, पर मुझे सिवाय इस बात के कि तुमने 'अंजो दीदी' और 'लौटता हुआ दिन' में से एक किताब छापने की हामी भर ली है, और तुम्हारा कुछ भी पता नहीं चला। न इलाहाबाद ही की कोई ख़बर मिली है।

यूँ तो इधर कई वर्ष से इलाहाबाद का साहित्यिक माहौल उत्तरोत्तर निर्जीव होता चला गया है, तो भी वहाँ की नयी पौध में कुछ सुगबुगाहट होती है या नहीं ?

इधर मिश्रा का एक पत्र मिला है, जिससे इस बात का आभास मिला है कि तुम लखनऊ में किसी पत्र-पत्रिका की संपादकी के लिए प्रयत्नशील हो और शायद 5000/ पर चले जाओ।

जिस आदमी का अपना प्रेस बढ़िया चल रहा हो वह किसी की ग़ुलामी करे, वह कितनी भी lucrative क्यों न हो, यह प्रकटतः सही नहीं लगता—विशेषकर उस स्थिति में, जब उसका साहित्यिक कार्य भी चल रहा हो। लेकिन जितना मैंने इस समस्या पर सोचा है, मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि यदि तुम्हें साहित्य को कुछ महत्वपूर्ण देना है तो तुम्हें अपने अंतर में प्रायः सिर उठाने वाली उत्कंठाओं की पूर्ति कर लेनी चाहिए और उन लालसाओं को अपने सिस्टम से निकालकर पूरे मन से साहित्य-सृजन करना चाहिए। तभी तुम अपने साहित्य का कुछ इंपैक्ट छोड़ पाओगे। 'धर्मयुग' अथवा ऐसे ही किसी प्रमुख पत्र की संपादकीय ऐसी ही चीज़ है। दूसरी राज्य सभा की सदस्यता है। मैं जब तुम्हारे बारे में सोचता हूँ तो लगता है

कि तुम्हें उसको भी ले देखना चाहिए। हो सके तो मंत्री-वंत्री बन के भी देख लेना चाहिए। जब तक अपने सिस्टम से, इन तमाम इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति कर, उन्हें निकाल नहीं देते, तुम लिखते भले रहो, पर समर्पित रचनाकार नहीं हो सकते। मेरे मन में टीचर, पत्रकार, एडवोकेट, स्टेज-ऐक्टर, फ़िल्म-ऐक्टर बनने की बड़ी साध थी। मैंने एक-एक कर अपनी तमाम आकांक्षाएं पूरी कर देखीं और जब मुझे अनुभव प्राप्त हुआ कि लिखने जैसा सुख कहीं दूसरे पेशे में नहीं मिल सकता, तभी मैं बड़ी-से-बड़ी नौकरी छोड़ सका और तभी जिंदगी को साहित्य-साधना में लगा सका। यदि मैं मन की इन लालसाओं को पूरी न करता तो शायद पूरे मन से साहित्य का नहीं हो सकता। तुमने प्रेस चलाते हुए उतना बड़ा उपन्यास लिखा है; जाहिर है, तुम्हें इसमें ज्यादा सुख मिलता होगा। जब इस पर भी तुम्हें संपादकी लुभाती है तो जरूर उसे कर देखो। हो सकता है, तुम्हारी मूल-प्रवृत्ति पत्रकार की हो और तुम साहित्यकार से बेहतर पत्रकार प्रमाणित हो सको। या फिर यह भी कि उसकी अपेक्षा साहित्य-सृजन तुम्हें बेहतर लगे और तुम पूरे मन से उसमें लगो—भले ही राज्यसभा से होते हुए। हो सकता है, वे अनुभव तुम्हारे साहित्यकार के के बहुत काम आयें। मेरी शुभकामनाएँ तुम्हारे साथ हैं।

मैं लंदन में जिस दिन उतरा, उसी रात दमे का भयंकर दौरा पड़ा। मई का महीना, बहुत तकलीफ़ रही। हल्की तकलीफ़ तो अब भी है (इस वक्त रात के दो बजे हैं, हल्की साँस फूली है और मैं उसे भुलाने को तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ) लेकिन थोड़ी दवा से यह काबू में आ जाती है। सिवा इस शारीरिक तकलीफ़ के, यह दौरा ख़ासा सफल रहा है।

'उर्दू मरकज़' ने मेरे सम्मान में लंदन विश्वविद्यालय में ख़ासा बड़ा जलसा किया। बी० बी० सी० के बर्मिंघम स्थित टी० वी० यूनिट ने मेरे व्यक्तित्व को लेकर एक घंटे की डॉक्यूमेंटरी बनायी। बी० बी० सी० की उर्दू-हिंदी सर्विसों में मेरे इंटरव्यू प्रसारित हुए। पंजाबी सभाओं ने गोष्ठियाँ कीं, विश्व प्रूडेंशियल क्रिकेट कप तथा विंबलडन टेनिस चैंपियनशिप के मैच देखे, 'गिरती दीवारें' के दो निहायत कठिन परिच्छेद लिखे, और भी दो-एक ऐसी उपलब्धियों की संभावना है, जिनकी मुद्दत से आरज़ू थी। एक परिच्छेद और लिख लूँ तो उपन्यास चल पड़ेगा। बीमार तो हूँ, पर यह काम ख़त्म करके अक्तूबर में आऊँगा।

एक महीना हो गया, घर से ख़त नहीं आया। जरा एक बार फ़ोन पर या दो मिनट को जाकर वहाँ की ख़ैर-ख़बर लेकर मुझे लिखना।

तुम्हारा
उपेन्द्रनाथ अश्क

23. कौशल्या अश्क

158, सडबरी हाइट्स एवेन्यू
ग्रीनफ़र्ड मिडल सेक्स, यू० के०
3-9-83

शल्य मेरी जान,

आख़िर तुमने (मेरे बार-बार कहने के बावजूद) दिन-रात काम करके रात-रात भर जागकर और गुड्डे की और मेरी ओर से बेकार परेशान होकर अपनी सेहत बेतरह ख़राब कर ली ना। देखो मेरी जान, गुड्डे ने अपने अफ़सरों से कह दिया है। वे उसे जनवरी के अंत तक छोड़ने को तैयार हो गये हैं। उसकी एक महीने की छुट्टियाँ शेष हैं, यदि वह चाहे तो महीने की छुट्टियों के बदले में दिसंबर में आ सकेगा। अगर तुम लिख दोगी तो वह पूरी कोशिश करेगा कि दिसंबर में आ जाये। मकान बेचने की उसे चिंता है। रोज़ लोग देखने आते हैं।

रही मेरी बात तो जैसा तुम जानती हो, मेरा यहाँ आने का मन नहीं था, गुड्डे के यहाँ मैंने दुविधा न देखी होती और उसने प्यारी चिट्ठी न लिखी होती तो मैं कभी न आता। आने के बाद मैं बीमार ही हो गया। यहाँ खाँसने, जोर-ज़ोर से डकार लेने (जैसा कि दमे में साँस घुटने पर होता है) ओर हाय-वाय करने की (जैसा कि पिताजी की तरह मेरी भी आदत है) कोई सुविधा नहीं है। गुड्डा और सुलक्षणा थके-हारे रात देर से सोते हैं, उनके या टुक्कू के (जिसे मेरी तरह जल्दी नींद नहीं आती) जग जाने का डर रहता है। मैं दबे-घुटे रात गुजार देता हूँ।

लेकिन जैसा कि मेरी आदत है हर मुसीबत से कुछ-न-कुछ लाभ उठाना चाहता हूँ। बुरे हालात में भी क्या बेहतर-से-बेहतर कर सकता हूँ, वह करना चाहता हूँ। मैं मई में इसलिए आया था कि यहाँ विश्वविद्यालयों में सत्र जारी होते हैं, जून से सितंबर तक छुट्टियाँ होती हैं, मैंने पत्र लिखे थे और मुझे आशा थी कि शायद पेरिस या इटली से डौल बन जाये, मैं जा सकूँ और गुड्डे को भी ले जा सकूँ। अक्तूबर में जो मैं दो सप्ताह रहना चाहता हूँ तो सिर्फ़ इसलिए कि निकोल बलबीर ने लिखा था कि पूरी कोशिश करेगी बुलाने की, बुलायेगी तो गुड्डे को भी ले जाऊँगा।

अब सिर्फ़ दो काम रह जाते हैं, किताबों का एक सेट मेरे लंदन रवाना होने से पहले चला था। मैं डोगरा से मिल चुका हूँ, आर्डर बना पड़ा है, बुध को लाऊँगा। उम्मीद है, '74 के बाद की किताबें उसमें होंगी। उर्दू के सेट के लिए भी कह रखा है। आ जाये तो उन्हें देने की भी व्यवस्था करूँगा। इंडिया हाउस की लायब्रेरियन ने भी किताबें लेने के लिए कहा है, और भी कुछ लोगों ने कहा है। उम्मीद करता हूँ दो-चार दिन में किताबें आ जायेंगी और यह काम निबटाकर मैं सितंबर के अंत में आ सकूँगा।

लेकिन यह सब तो नॉर्मल स्थिति की बातें हैं। अगर तुम समझती हो कि मुझे तत्काल आ जाना चाहिए तो मेरे मन की बात मत सोचना तुम्हें मेरे सिर की

सौगंध है, अपने मन की बात सोचकर मुझे तार देना, मैं सब कुछ जैसा है, वैसा छोड़कर जो पहली फ़्लाइट मुझे मिलेगी, उससे आ जाऊँगा। क्योंकि अब मैं सिवा तुम्हारे किसी और के प्रति अपना कोई कर्तव्य नहीं मानता। हालाँकि मैंने कभी कहा था कि साहित्य मेरे लिए सर्वोपरि है, पर यदि कल तुम कहो कि अश्कजी सब साहित्य-वाहित्य छोड़ दीजिये, हम शेष वर्ष सिर्फ़ अपने लिए बितायेंगे तो भगवान साक्षी है, मैं छोड़ दूंगा। साहित्य मैं केवल अपने दिमाग़ की over activity से परेशान होकर अपनाये हुए हूँ और कोई अन्य उद्देश्य अब मेरे सामने नहीं हैं। यश और धन की हकीकत मैं ख़ूब जानता हूं। और यदि मेरी इतनी किताबों से किसी का कुछ भला नहीं होने वाला तब एक किताब और न लिखी गयी तो कोई अंतर नहीं पड़ेगा।

मैं तुम्हारी और अपनी क्षीण होती शक्ति को जानता था। तभी मैंने कहा था कि मैं मकान बेच देता हूँ। नीलाभ प्रकाशन दे देता हूँ। हम बच्चों को पर्याप्त धन देकर कहीं छोटी जगह चले जायेंगे और शेष दिन अपेक्षाकृत शांति से गुज़ारेंगे, पर तुम्हें स्वीकार नही हुआ। तुम अपने तीसरे बच्चे—नीलाभ प्रकाशन—को भी सँभालना चाहती हो—तो मेरी जान बिना स्वास्थ्य ठीक रखे, यह सब कैसे होगा! तुम्हें ब्लडप्रेशर है, महीनों तीन-तीन बजे तक जगोगी, चार-चार प्रूफ़ इकट्ठे पढ़ोगी तो कैसे स्वस्थ रहोगी।

उमेश को केरल जाना था, तभी मैंने सोचा था कि वह केरल हो आये, तब मैं दिल्ली पहुँचूंगा। वह उधर का काम निबटाकर मुझे लिवा ले जायेगा। लेकिन यह तभी संभव होता यदि तुम अपना स्वास्थ्य ठीक रखतीं। जब तुम्हें ब्लडप्रेशर परेशान करने लगा है तो तुम्हें सब्र और शांति के साथ मुहावरे की भाषा में चीज़ों और कामों को taking it easy लेना सीखना होगा। अगर तुम्हारी तबीयत मेरा पत्र मिलने तक सँभलती है, तुम्हारा मन और डॉक्टर दोनों कहते हैं तो उमेश को केरल भेज दो। उसकी ग़ैरहाजिरी में दुकान बंद कर दो। दुबे और राकेश को घर बुला लो। किताबों के प्रूफ़ मत पढ़ो, थोड़ा लेट छप जायेंगी तो कहर नहीं टूटेगा। आकर उमेश छपवा लेगा।

मैं यह इसलिए लिख रहा हूँ कि गुड्डा आता है तो आते ही तो काम में नहीं लगेगा। छह मास उसे सब कुछ सेट करने में लग जायेंगे। फिर उमेश ने केरल में काम किया है तो यदि इस साल भी नहीं होता तो उसकी मेहनत असफल होती है और उसका साहस घटता है।

लेकिन यदि सेहत पर कंट्रोल नहीं रहा, तो सब कामों को गोली मारो, मुझे तार दे दो (तार यह पत्र मिलते ही मुझे हर हाल में दो, मैं प्रतीक्षा करूँगा) तुम्हारा तार मिलते ही मैं उसके मुताबिक पहली फ़्लाइट से या कुछ रुककर जैसा तुम चाहोगी आ जाऊँगा।

मैं तो जब उपन्यास लिख ले जाने का या दूसरे बड़े-बड़े प्रोग्रामों की सोचता हूँ तो तुम्हारे ही बल पर। क्योंकि तुम्हारे बिना मैं जानता हूँ, मैं बेहद कमज़ोर

आदमी हूँ और शायद ज़्यादा दिन नहीं रह सकता, मुझे बहुत भय लगता है, इसीलिए मैंने 'अप्रैल की चाँदनी' में अपनी जो इच्छा प्रकट की थी, वह मेरे अंतर्मन से निकली आवाज़ है।

साथ निबाहना है मेरी जान, तो सेहत का पूरा ख़याल रखते हुए (कि अब शरीर में वह पुरानी शक्ति नहीं रही) निबाहो, यूँ बीमार पड़कर मेरे इस पहले से टूटे शरीर को मत तोड़ो। मैंने लिखा था :

जिस्म तो छीज गया अज़्म नहीं छीजा है,

पर यह अज़्म, यह इरादा जिसके बल पर कायम है, वह तुम्हीं हो, वरना—

मैं चिराग़ लेके हवा की ज़द पे जो आ गया हूँ तो इसलिए

मैं यह जानता हूँ कि मेरे हाथ पे एक हाथ ज़रूर है।

और वह हाथ तेरा है मेरी जान, और यदि चाहती हो कि मैं उपन्यास लिख लूँ तो वह हाथ मेरे हाथ पर रहना चाहिए—मज़बूती के साथ !

बहुत प्यार से

अश्क

24. आनंद स्वरूप वर्मा

5 खुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद

11-11-84

प्रिय आनंद स्वरूप,

मैं तुम्हें पहले पत्र लिखना चाहता था, लेकिन मैं बंबई से थका-हारा और अस्वस्थ लौटा था और कई दिन तक कुछ भी करने के योग्य नहीं हो सका।

सर्वप्रथम तो मैं उस संपादकीय टिप्पणी के लिए तुम्हें धन्यवाद देना चाहता हूँ, जो तुमने 'सहारा' के किसी पिछले अंक में उन असामाजिक तत्वों के ख़िलाफ़ दी, जो इलाहाबाद में मुझे परेशान कर रहे हैं। उसमें सिर्फ़ ज़रा-सी ग़लती थी—वे मेरे निजी मकान से मुझे नहीं निकाल रहे, बल्कि उस बँगले को छीनना चाहते थे, जो डॉ० संपूर्णानंदजी के कारण इलाहाबाद के ज़िला अधिकारी ने मेरी पत्नी के नाम 1949 में एलाट किया था, जिसके बरामदे में 'नीलाभ प्रकाशन' शुरू हुआ और जहाँ तब से अब तक 'नीलाभ प्रकाशन' के गोदाम हैं। ये लोग मुझे दं. वर्षों से परेशान कर रहे थे, मेरा लड़का लंदन चला गया था, मैं बीमार हो गया था। उनके हौसले इतने बढ़ गये कि एक दिन आठ-दस आदमी एक पिस्तौल वाले के साथ ग़ैरकानूनी तौर पर बिना इजाज़त लिये चढ़ आये और धमकाने लगे कि हमने बँगला ख़रीद लिया है (न उन्होंने रजिस्ट्री दिखायी, न कोई नोटिस दिया) आप ख़ाली कर दीजिये। जब मैंने कहा कि यह बाक़ायदा एलॉटिड है, आपने ख़रीद लिया है तो आप किराया लीजिये तब उन्होंने कहा कि हम कानून-वानून नहीं मानते। आप ख़ाली नहीं करेंगे तो हम बीच की दीवार तोड़ देंगे और किताबें उठाकर फेंक देंगे। वग़ैरह...वग़ैरह...थोड़ा-बहुत सामान होता तो शायद मैं ख़ाली

कर देता, पर चारों कमरों में छत तक किताबें भरी हुई हैं, कहाँ ले जाता ? सो मेरी पत्नी ने मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री को चिट्ठियाँ लिखीं। उनका एग्रेशन तो रुक गया, लेकिन वे ज़ोर वाले लोग हैं। शहर में कितने ही बँगलों पर उन्होंने अधिकार कर लिया है। बाद में मुझसे बात करने वे मेरे घर आये थे तो उनके साथ दो कांग्रेसी नेता भी आये थे। सो तलवार तो हमारे सिर पर लटकी ही है और मेरा लिखना-पढ़ना बंद है।

आज नीलाभ ने सहारा का ताज़ा 45वाँ अंक दिया। उसके बीच के पृष्ठ पर जिस मित्र ने भी 'कलंकित कौम के कुछ सवाल' शीर्षक से टिप्पणी लिखी है, उसको मेरी ओर से साधुवाद देना। समस्या को जिस कोण से श्री सिंह ने उठाया है, वह कहीं गहरे में मन को कचोटता है। हाँ, यह बात सही नहीं कि महात्मा गांधी की हत्या पर महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के खिलाफ़ मराठों में क्रोध का लावा नहीं लपका था—लपका था, क्योंकि मैं उनका साक्षी हूँ। पुणे से महाबलेश्वर तक महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों के घर जला दिये गये थे, लेकिन न तो किसी का सामान लूटा गया था, न किसी की हत्या की गयी थी। मैं पंचगनी में था। जिस डॉक्टर से ए० पी० और इंजेक्शन लेता था, उसका भव्य बँगला और एक्स-रे की मशीन जला दी गयी थी। लेकिन उसे पहले से सूचना मिल गयी थी और वह गहने-पत्ते लेकर सपरिवार निकल गया था। बाद में मालूम हुआ था कि उसके विरोधी काँग्रेसी मुसलमान डॉक्टर की साज़िश थी और मेरे वहाँ रहते ही वह मुसलमान डॉक्टर पंचगनी छोड़ गया था।

तुम्हारे टिप्पणीकार ने ठीक ही असामाजिक लोगों के कुकृत्यों का पर्दाफ़ाश किया है। इलाहाबाद में भी जहाँ छात्रों वग़ैरा ने महज़ क्रोध के उबाल में सिक्खों पर हमले किये, उन्होंने सामान तोड़-फोड़कर चाहे बिखरा दिया हो, लेकिन लूटा नहीं, जबकि यह आम देखने में आया कि पुलिस खड़ी है और हिंदू ही नहीं, मुसलमान असामाजिक तत्व भी सामान लूट-लूटकर लिये जा रहे हैं।

उत्तर भारत में इतने सारे शहरों में जो यह सब हुआ है तो उसमें टी० वी० का भी कम हाथ नहीं। पिछले कुछ महीनों से मैंने देखा कि टी० वी० के प्रोग्रामों में लगातार हिंदुओं की कट्टर धार्मिकता, अंध-श्रद्धा, वहम-परस्ती को उभारा जा रहा था। पिछले दो महीनों में विज्ञान के इस जमाने में देशवासियों को वैज्ञानिक ढंग से सोचना सिखाने के बदले 'ओं नमो शिवाय', 'किसान और भगवान' (उर्फ़ धन्ना भगत) और 'संतोषी माता' जैसी—जनता में अंध-श्रद्धा फैलाने वाली—कोरी काल्पनिक फ़िल्में दिखायी गयी हैं। इंदिराजी के शव पर जब भीड़ ने 'खून का बदला खून' के नारे लगाये तो कैमरा वहाँ से तत्काल हटाया नहीं गया साउंड बंद नहीं किया गया। ऐसे में यह भयानक रक्तपात हुआ तो कौन-सी हैरत है। जब देश की सुरक्षा-व्यवस्था और पुलिस इतनी भ्रष्ट हो गयी कि प्रधानमंत्री का निवास-स्थान भी सुरक्षित नहीं रहा तो हमा-शुमा की कौन बात है। इसके अलावा

जब उत्तर प्रदेश के भू० पू० मुख्य मंत्री ने खुलेआम यह कहा कि यदि हम असामाजिक तत्वों की मदद लेंगे तो उनको कुछ देना भी पड़ेगा, और जब सभी नगर निवासी जानते हैं कि शहरों का प्रशासन और कांग्रेसी नेता बड़े-बड़े असामाजिक नेताओं की अर्दल में रहते हैं तब यदि आज सिक्ख लूटे गये हैं तो हैरत की बात नहीं। खेदजनक बात यह है कि कल कहीं मुसलमान भी लूटे जा सकते हैं और परसों कहीं हिंदू भी।

एक कविता भेज रहा हूँ। लिखी तो दो महीने पहले थी, पर मैं वेदी (राजेन्द्र सिंह) को देखने बंबई चला गया। आकर बीमार हो गया। इस बीच इंदिराजी चली गयीं। सो इसमें दो-चार शब्दों का परिवर्तन कर, भेज रहा हूँ। पसंद आये तो 'सहारा' में छाप लो। यदि छापने का फैसला करो तो सिर्फ़ इस बात का ख़याल रखना कि प्रूफ़ की कोई भद्दी ग़लती न चली जाये। गद्य में उतना अंतर नहीं पड़ता पर कविता में शब्द ग़लत छप जायें तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। स्पेसिज़ का भी ख़याल रखना।

'सहारा' की सफलता की कामना करता हूँ। जो यत्किंचित सहयोग बनेगा, दूंगा।

तड़ित कुमार और दूसरे मित्रों को मेरा स्नेह देना। अब तो करीब आ गये हो, कभी इलाहाबाद भी आओ।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

25. **उदय प्रकाश**

ख़ुसरोबाग़ रोड, इलाहाबाद

23-2-85

प्रिय उदय प्रकाश,

तुम्हारा नया कविता-संग्रह 'अबूतर कबूतर' एक बार पढ़ गया हूँ। यदि मैं जवान होता, मेरे पास कुछ समय होता तो मैं इसे दो-तीन बार पढ़ता और इस पर इत्मीनान से एक लम्बी समीक्षा लिखता, जैसा कि मैंने कभी सुरेन्द्रपाल, श्रीकांत वर्मा या रघुवीर सहाय के संग्रहों पर लिखी थीं, लेकिन मेरे पास समय नहीं है, इसलिए मैं तुम्हें फ़िलहाल हार्दिक बधाई देता हूँ और मनाता हूँ कि जगूड़ी, देवताले या ज्ञानेन्द्रपति आदि की तरह तुम चुपा या भटक न जाओ, बल्कि लगातार लिखो और जो नया लेकर हिंदी के काव्य-क्षेत्र में उतरे हो, धरती की बू-बास, गांव की मिट्टी, लोक-जीवन के मुहावरे और अपने इर्द-गिर्द के परिवेश से रंग लेकर उसे विस्तार दो; अपने अंदर की आग को जिलाये रखो; न चुको, न बुझो, दिप-दिप जलते हुए गंध और प्रकाश फैलाओ। मैं तुम्हारी सफलता की कामना करता हूँ।

पहली ही कविता मुझे इतनी प्यारी लगी कि दोबारा-सहबारा पढ़ने को मन होता है। यही 'शहर को छोड़ते हुए आठ कविताएँ' के बारे में कहना चाहता हूँ। अचानक उन्हें पढ़ते हुए शमशेर की बहुत पहले लिखी हुई कुछ सेंसुअस कविताओं की याद हो आयी, जहाँ दाँत कुरेदने के लिए प्रेयसी द्वारा होंठों में दबाया गया तिनका कवि के हृदय में कहीं गहरे गड़ता चला जाता है। यह भी कि उन्हें पढ़ते हुए उस विवश भूख पर थोड़ी जुगुप्सा भी हुई थी, जिसकी याद आज तक शेष है, पर तुम्हारी इन कविताओं में कुछ अजीब-सी मिठास और दर्द है।...

'भाई रे' कविता मन को बेतरह छू गयी और...

लेकिन मैं तो विस्तार से इम्प्रेशन देने लगा, जैसा करना ग़लत है। किसी अच्छी कृति को दो-तीन बार पढ़कर ही उसके बारे में इम्प्रेशन देने चाहिएँ।

सो ज़रा फ़ुर्सत निकालकर फिर पढ़ूँगा और लिखूँगा।

मुझे नहीं मालूम था, तुम 'दिनमान' में काम करते हो, वरना तुमसे अब तक मिला होता।

सस्नेह

उपेन्द्रनाथ अश्क

पहले मुहल्ले के स्तर पर ही सफल होना है। अश्क जी की निगाह राष्ट्रीय स्तर की नाट्य-समस्याओं को ले कर है, पर अपने एकांकियों में उनकी चिन्ता मुहल्ले से बँधी है।

—डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

अश्क के संस्मरणों को पढ़ते हुए लगता है कि अश्क 'भूले' नहीं हैं—जानबूझ कर उन्होंने बातों और चीज़ों से अपने को छुड़ाने की और उन्हें घटाने-बढ़ाने की कोशिश नहीं की है। कड़वी-मीठी बातों को और जीवन के 'गर्म-सर्द' को याद करते हुए, वे किसी ओर बच कर नहीं निकल जाना चाहते। जो कुछ बीत गया है, उसे लिखते हुए, उसका 'सामना' करते हुए, वे उसे फिर 'जीवित' कर देते हैं। इसीलिए उनके संस्मरणों में ताज़गी है और एक अपनापन है।

—प्रयाग शुक्ल

इस दिशा में 'मंटो मेरा दुश्मन' का विशेष महत्व रहेगा, क्योंकि इसमें पहली बार संस्मरणों की दिशा में हिन्दी लेखक ने मनुष्य को बिलकुल मनुष्य के धरातल पर समझने की कोशिश की है, सम्पूर्ण सहानुभूति से और बेलाग साहस से अपनी वर्ण्य वस्तु का यथार्थ चित्रण किया है।

—धर्मवीर भारती

अश्क जी हरफ़न मौला लेखक हैं। शायद चम्पू छोड़ उन्होंने सभी कुछ लिखा है....अश्क जी की शैली ललित कम, बोलती-चालती अधिक है, यानी बात हो या बतंगड़—अश्क जी समां बाँध देते हैं।

—हिन्दी शंकर्स वीकली, दिल्ली

आपने जो पत्र समय-समय पर मुझे तथा अन्य हिन्दी लेखकों को लिखे, वे पत्र अपनी प्रासंगिकता और महत्व के कारण वस्तुत: ऐतिहासिक दस्तावेज़ हैं।....पत्रों में, मैंने हमेशा महसूस किया है, आपके लम्बे और बीहड़ अनुभवों की एक दुनिया है, जो हमारे आस-पास की ज़िन्दगी के स्पन्दनों से भरी एक जीवित दुनिया है।

—पंकज सिंह